तत्त्वार्थसार

[आचार्य अमृतचन्द्र]

हिन्दी टीका सम्पादन

मुनि अमितसागर

Jain Education International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसार

आचार्य उमास्वामी का 'तत्त्वार्थसूत्र' जिनशासन का महान् ग्रन्थ है। जैन जगत में यह इतना लोकप्रिय हुआ कि इस पर वृत्ति, वार्तिक एवं भाष्य के रूप में लगभग एक दर्जन टीका-ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनमें प्रमुख हैं— स्वामी समन्तभद्र कृत 'गन्धहस्तिमहाभाष्य', आचार्य पूज्यपाद कृत 'सर्वार्थसिद्धि', भट्ट अकलंकदेव का 'तत्त्वार्थराजवार्तिक', आचार्य श्रुतसागर सूरि रचित 'तत्त्वार्थवृत्ति', स्वामी विद्यानन्दि प्रणीत 'तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकालंकार'। इसी परम्परा में आध्यात्मिक आचार्य अमृतचन्द्र सूरि (10वीं शती) की प्रस्तुत कृति 'तत्त्वार्थसार' है जो आ. उमास्वामी के 'तत्त्वार्थसूत्र' की शैली में लिखा गया संस्कृत श्लोकबद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसका स्वतन्त्र वैशिष्ट्य इसलिए भी है कि कृतिकार ने इसमें कई स्थानों पर तत्त्वों के विवेचन में नवीन दृष्टि प्रदान की है, और इसके लिए उन्होंने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' का विशेष आश्रय लिया है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ नौ अधिकारों में निबद्ध है। पहले आठ अधिकारों में जीव से लेकर मोक्षतत्त्व की निरूपणा है। नौवाँ अधिकार 'उपसंहार' है, जिसमें सातों तत्त्वों को जानने के उपाय से लेकर निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया गया है।

यह ग्रन्थ पचास वर्ष पहले 'गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला' वाराणसी से पं. पन्नालाल साहित्याचार्य के हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ था। ग्रन्थ के महत्त्व को देखते हुए मुनिश्री अमितसागर जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ की भावानुगामिनी विस्तृत हिन्दी टीका लिखकर कृतिकार के मूल भाव को वर्तमान परिवेश देने का प्रयास किया है।

आशा है, जैनधर्म-दर्शन के अध्येताओं और शोधार्थियों को यह ग्रन्थ अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक-50

श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित

तत्त्वार्थसार

सम्पादन एवं हिन्दी टीका

मुनि अमितसागर

भारतीय ज्ञानपीठ

द्वितीय संस्करण : 2010 ☐ मूल्य : 380 रुपये

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ISBN 978- 81-263-1966-4

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण 9; वीर नि. सं. 2470; विक्रम सं. 2000; 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनके मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की ग्रन्थसूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

•

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐण्ड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

Acharya Amritchandra Suri's
TATTVARTHASAR

Hindi Commentary

Muni Amitsagar

BHARATIYA JNANPITH

Second Edition : 2010 □ **Price : Rs. 380**

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ISBN 978- 81-263-1966-4

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9; Vira N. Sam. 2470; Vikrama Sam. 2000; 18th Feb. 1944)

MOORTIDEVI GRANTHAMALA

FOUNDED BY

Sahu Shanti Prasad Jain

In memory of his illustrious mother Smt. Moortidevi

and

promoted by his benevolent wife

Smt. Rama Jain

In this Granthamala critically edited Jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc. are being published in the original form with their translations in modern languages. Catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and popular Jain literature are also being published.

•

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at :Vikas Computer and Printers, Delhi-110 032

© All Rights Reserved by Bharatiya Jnanpith

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

आज तक हम सबने क्या-क्या नहीं सुना है! राजा-रानियों की कहानियाँ सुनी हैं, सेठ-सेठानियों की कहानियाँ सुनी हैं, पशु-पक्षियों की कहानियाँ सुनी हैं और भी न जाने कितनी, किन-किन की कहानियों को सुना है। तभी तो आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने आध्यात्मिक ग्रन्थ 'समयसार' में कहा है—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।4।।

इस समस्त जीवलोक को कामभोग विषयक बन्ध की कथा, एकत्व के विरुद्ध होने से आत्मा का अत्यन्त अहित करनेवाली है, ऐसा जानते हुए भी इस जीव ने उस काम (स्पर्शन-रसना सम्बन्धी) तथा भोग (घ्राण-चक्षु-कर्ण-सम्बन्धी) बन्ध की कुकथा को एवं चारों संज्ञाओं से संस्कारित चारों विकथाओं को अनादिकाल से एक बार नहीं, अनन्त बार बड़ी रुचि एवं लगन से सुना—श्रद्धान किया। इन्हीं विषयों की जिज्ञासा होने से इनका अनन्त बार परिचय-ज्ञान लिया। जैसा ज्ञान वैसा ही चारित्र के द्वारा अनुभव करने को ये जीव अनन्त बार पुरुषार्थ करने में लगे रहते हैं।

इसी कारण से समस्त संसारी प्राणी संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच परावर्तन रूप अनन्त संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।

मोहरूपी महाबलवान पिशाच, जो इस समस्त लोक को अपने एक छत्र राज्य से अपने वश करके बैल की भाँति जोतकर कर्मरूपी भार को जीव के द्वारा जबर्दस्ती वहन करवाता है।

अत्यन्त वेगवान् तृष्णारूपी रोग की दाह से सन्तप्त होने पर जिसके अन्तरंग में क्षोभ और पीड़ा है ऐसा मृग, मृगमरीचिका के वशीभूत होकर मरुस्थल में भटकता है, उसी प्रकार यह जीव, मृगतृष्णा के समान श्रान्त-सन्तप्त होकर पंचेन्द्रिय-विषयों की ओर तीव्रगति से दौड़ रहा है।

यदि कथंचित् कोई जीव, किसी कारण से संसार के विषयभोगों की कुकथा से चारुदत्त के समान अजान-उदासीन भी होता है तो अन्य दूसरे विषयासक्त जीव, उसे पंचेन्द्रिय-विषयों की शिक्षा देकर अपना आचार्यत्व प्रकट करते हैं, एक-दूसरे को सिखाते हैं, समझाते हैं, प्रेरणा देते हैं, इसलिए काम-भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा सभी भोगाभिलाषियों के लिए अत्यन्त सुलभ है।

आज के भौतिकता के समय में भी प्रत्यक्ष-अनुभव में आ रहा है कि काम-विकारों को बढ़ाने वाले भौतिक सुख-साधन घर-घर में कितने सुलभ हैं! सुबह से अखबार, टी.वी., नेट, मैग्ज़ीन आदि से जीवनचर्या प्रारम्भ होकर रात्रि में विश्राम तक इन्हीं का अवलम्बन लिए हुए है।

परन्तु अपने ही निर्मल भेद-विज्ञानरूपी ज्योति से स्पष्ट दिखाई देनेवाली एकत्व-विभक्त आत्मा, यद्यपि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सदा अन्तरंग में प्रकट रूप से प्रकाशमान है तो भी वह कषायचक्र के साथ एकरूप किए जाने से अपने सच्चे स्वरूप को पहचानता नहीं है और जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानते हैं, उनकी संगति-सेवा नहीं करते। यह तो लोकप्रसिद्ध है कि डॉक्टर, मास्टर, वकील, इंजीनियर, व्यापारी, जौहरी आदि बनना हो तो यथाक्रम से योग्य पदवालों के नीचे रहकर संगति-अभ्यास करना होता है।

उसी प्रकार यदि अध्यात्म को समझना है तो, जिन्होंने अध्यात्म जिया है, पिया है, जीवन में उतारा है, उनकी संगति करने से उस आत्मतत्त्व के गूढ़तम रहस्य समझ में आ सकते हैं। अन्यथा उस एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा को न हमने कभी सुना-श्रद्धान किया, न कभी परिचय-ज्ञान किया, न कभी अनुभवरूप आचरण किया, क्योंकि जब एकत्व-विभक्त आत्मा की सुकथा सुनाने-बताने वाले सुलभ होते हैं तब उनसे जानने-सुनने वाले दुर्लभ होते हैं और जब जानने-सुननेवाले सुलभ होते हैं तब बताने-सुनानेवाले दुर्लभ होते हैं। अतः आत्मा की एकत्व-विभक्त सुकथा अत्यन्त दुर्लभ है।[1]

इस आत्मा का अस्तित्व कब से है? कैसा है? कहाँ है? कब तक है? इसके अस्तित्व का विकासक्रम क्या है? इत्यादिक प्रश्न मन में जन्म अवश्य लेते हैं।

कौन थे? क्या हो गये? और क्या होंगे अभी?
आओ यहाँ सब बैठकर इस बात को सोचें सभी।

इस जीव का अनादि निवासस्थान निगोद है। निगोद के दो भेद हैं—नित्यनिगोद और इतरनिगोद। जो जीव, नित्यनिगोद से निकलकर संसार की त्रसादि पर्यायों को पंच-परावर्तन रूप काल से व्यतीत करके पुनः निगोद में जाता है उसे इतरनिगोद कहते हैं।[2]

नित्यनिगोद सातवें नरक के नीचे कलकल नामक पृथ्वी में है, जहाँ उनका निवासस्थान है। अनन्त स्कन्धों के समूह में से 'एक स्कन्ध' में असंख्यात लोकप्रमाण 'अण्डर' होते हैं। उनमें से 'एक अण्डर' में असंख्यात लोकप्रमाण 'आवास' होते हैं। उनमें से 'एक आवास' में असंख्यात लोकप्रमाण 'पुलवि' होती हैं। उनमें से 'एक पुलवि' में असंख्यात लोकप्रमाण 'निगोद शरीर' होते हैं। उनमें से 'एक निगोद शरीर' में अनन्तानन्त निगोद जीवों का अवस्थान पाया जाता है। वहाँ पर एक निगोद शरीर के अनन्त जीवों का सामूहिक रूप से एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण होता है।

इन्हीं नित्य निगोदिया जीवों में से छह महीने, आठ समय में छह सौ आठ जीव निकलकर संसार की व्यवहार राशि में आते हैं एवं इतने ही समय में छह सौ आठ जीव संसार की व्यवहार राशि से निकलकर मोक्ष चले जाते हैं, जिससे संसारी जीवों की व्यवहार राशि बराबर बनी रहती है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यह जीव, नित्य निगोद से निकलकर व्यवहार राशि में कैसे आता है?

इस प्रश्न का एक उत्तर, हमेशा विद्वानों द्वारा दिया जाता रहा है। जैसे कोई एक भड़भूँजा (चना फोड़ने वाला) जब भाड़ भूँजता है, तब कोई विरला चने का दाना भाड़ से उचटकर भाड़ के बाहर आ जाता है, वैसे ही नित्यनिगोद से जीव व्यवहार राशि में निकलकर आ जाता है।

इस दृष्टान्त में भाड़ से उचटकर बाहर निकलनेवाले चने की प्रवृत्ति का विश्लेषण करना अत्यन्त आवश्यक

---

1. स.सा.गा. 4
2. धव. पु. 14, 5-6

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि यह चने का दाना भाड़ से उचटकर बाहर कैसे आया? कौन-सा निमित्त है? कौन-सी पात्रता उस चने को भाड़ से बाहर निकालने में सहायक होती है?

जब चनों को भाड़ में भूँजते हैं तब उसके पहले उन चनों को पानी में भिंगोकर फुलाते हैं, पुनः भाड़ में भूँजते हैं। भाड़ में भूँजते समय भट्टी की गर्मी से गीले चनों के दानों में वाष्प का निर्माण होता है। जिस चने के दाने में एक निश्चित अनुपात में वाष्प बन जाती है वह वाष्प विस्फोट करती है। यदि वह चने का दाना भाड़ में नीचे की तरफ हो तो वहीं फूटकर नीचे ही रह जाता है, लेकिन भाड़ की ऊपर की सतह पर हो तब विस्फोट के कारण भाड़ से उचटकर बाहर निकल आता है।

ठीक इसी प्रकार से नित्यनिगोदिया जीव, निगोद से निकलकर व्यवहार राशि में आते हैं। इस प्रक्रिया में नित्यनिगोद से निकलनेवाले जीव का कारण 'जघन्य कापोत लेश्या के आठ मध्यम अंश के परिणाम कहे हैं', क्योंकि नित्य निगोदिया जीवों की जघन्य कापोत लेश्या होती है और उसमें भी उस लेश्या के असंख्यात परिणाम होते हैं।[3]

"कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्ति लेश्या"।[4] जैसे—गर्मी और पानी के संयोग से वाष्प बनती है वैसे ही कषाय से प्रभावित होकर योगों में जो परिवर्तन आता है उसे लेश्या कहा जाता है।

जिस प्रकार से भाड़ के चने को भाड़ से बाहर उचटाने में वाष्प कारण है उसी प्रकार जघन्य कापोत लेश्या के महत्त्वपूर्ण आठ मध्यम अंश इस जीव को नित्यनिगोद से बाहर निकालने तथा व्यवहार राशि में लाने के लिए कारण हैं। अतः इस जीव का नित्यनिगोद से व्यवहार राशि में आना अत्यन्त कठिन है।

एक निगोदशरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है। अतः इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुका के समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता (हीरा) की कणिका का प्राप्त होना दुर्लभ है। उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण गुणों में जिस प्रकार कृतज्ञता का गुण प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है, उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है। उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यंचों की बहुलता होती है, इसलिए जिस प्रकार चौपथ पर रत्नराशि का प्राप्त होना अतिकठिन है, उसी प्रकार मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना भी अतिकठिन है, और मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद उसके च्युत हो जाने पर, पुनः उसकी उत्पत्ति होना कठिन है जितना कि जले हुए वृक्ष के पुद्गलों का पुनः उस वृक्ष पर्यायरूप से उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित् पुनः इसकी प्राप्ति हो जावे तो देश, कुल, इन्द्रियसम्पत् और नीरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न हो तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्य-जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अतिकठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषय-सुख में रमना भस्म के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है। ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है। इस प्रकार का विचार करनेवाले इस जीव के बोधि को प्राप्त कर कभी भी प्रमाद नहीं होता है।[5]

जिस प्रकार नित्यनिगोद से निकलकर यह जीव अत्यन्त कठिनता से त्रसादि पर्यायों को प्राप्त कर मनुष्य

---

3. ध. पु. 2/1,1/422/6
4. सर्वा. सि., वृ. 265
5. सर्वा. सि., वृ. 809।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पर्याय की पूर्णता को प्राप्त करता है उसी प्रकार हमारा तो सोचना यह है कि उससे भी अधिक कठिन इन सबकी प्राप्ति की दुर्लभता का श्रद्धान-ज्ञान का होना है कि हमें यह मनुष्य पर्याय कितनी कठिनता, दुर्लभता से मिली है, इसलिए इस भावना का नाम बोधिदुर्लभ भावना रखा गया है।

विश्व के हर मजहब, संस्कृति, धर्म-सम्प्रदाय में इस मनुष्य पर्याय की महिमा का महत्त्व बताया गया है। मानव-देह को अमूल्य-रत्न की उपाधि से मण्डित किया गया है :

''नर तन रतन अमोल इसे पानी में मत डालो।''
''बड़े भाग मानुस तन पावा, सुर दुर्लभ सब ग्रन्थनि गावा।''

यहाँ तक कि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले भी इस मनुष्य देह की महिमा का वर्णन करते हैं :

''बहु पुण्य पुंज प्रसंग से शुभ देह मानव का मिला।
तो भी अरे! भवचक्र का फेरा न एक कभी टला।।''[6]

ईश्वर को सृष्टिकर्ता माननेवाले ईश्वरवादी भी मनुष्य को ईश्वर की अमूल्य-अनुपम कृति मानते हैं। अत: यह तो सर्वसम्मत, सत्य एवं निर्विवाद सिद्ध है कि मनुष्य-जीवन अत्यन्त दुर्लभ एवं सर्वश्रेष्ठ है।

क्या हम सबने कभी इस बात पर दृष्टिपात किया कि आखिर चौरासी लाख योनियों में से मनुष्य योनि का जीवन ही सर्वश्रेष्ठ क्यों है?

प्रथम, कोई कहता है कि मनुष्य जीवन में धन-वैभव, वस्त्रालंकार, भोग-उपभोग आदि के द्वारा आनन्द-सुख की अनुभूति होती है अथवा ''खाओ-पीओ मौज करो'', इस संसार में हम इन्द्रिय सुख भोगने के लिए ही जन्मे हैं। भौतिक सुखों से ही मनुष्य-जीवन का मूल्य है, इसी से मनुष्य जीवन की महानता है।

द्वितीय, कोई कहता है कि मनुष्य-जीवन से मात्र दान-पूजा, व्रत-तप, प्रार्थना-ईशाराधना कर देवत्व पदवी या कुछ लौकिक-अलौकिक शक्तियों का संग्रह किया जा सकता है, अत: मनुष्य-जीवन श्रेष्ठ है।

तृतीय, कोई कहता है कि इस मनुष्य भव से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अत: यह मनुष्य जन्म कीमती है, श्रेष्ठ है, उत्तम है।

प्रथम कथन के समाधान में हम सबका यह प्रश्न है कि आज तक कोई मनुष्य इस संसार में धन-वैभव आदि के आनन्द से कभी तृप्त हुआ है क्या? ''मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की''। भोगों की आनन्द-आकांक्षाओं ने अनेक रोग-शोक-रोष एवं विसंवादों को ही जन्म दिया है, अत: अनेक महापुरुष इस धन-वैभव के स्वरूप को अच्छी तरह जान-समझकर वैरागी हुए हैं। अत: इस धन-वैभव आदि से मनुष्य जीवन की सार्थकता सिद्ध नहीं होती है।

द्वितीय धारणा से भी यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य पर्याय से मात्र देव पदवी की साधना करना कौन-सी महानता है? क्योंकि स्वर्गों के देव भी पुन: इस मनुष्य जन्म की कामना करते हैं, अत: देव पदवी, स्वर्गों की चाह भी, मनुष्य के लिए आधी-अधूरी है।

तृतीय अवधारणानुसार जो कोई यह कहता है कि मनुष्य भव से मोक्ष की प्राप्ति होती है, तब हर कोई व्यक्ति मोक्ष पद का अभिलाषी क्यों नहीं है? तब मनुष्य भव का महत्त्व, उसकी महानता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है?

---

6. अमूल्यतत्त्वविचार : श्रीमद् राजचन्द्र

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अब हम सूक्ष्मरीति से चिन्तन-मनन-विचार करते हैं। मनुष्य पर्याय की महानता क्यों हैं ? संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य जाति का प्राणी ही एक ऐसा प्राणी है जो संसार की चर-अचर, जड़-चेतना आदि समस्त वस्तु-पदार्थों का मूल्य, उनकी उपयोगिता समझता है। परमाणु से लेकर परमात्मा और पशु से लेकर महात्मा, इन सबका मूल्यांकन करनेवाला मनुष्य ही होता है। बस, इसी क्रम में भूल इतनी-सी है कि जो मनुष्य इन सबकी कीमत-मूल्य रखता है, वह स्वयं में अपनी यथार्थ कीमत भूला हुआ है। यदि यह मनुष्य अपनी कुछ कीमत करता भी है तो सांसारिक, तुच्छ, भौतिक, विनाशीक सुख-साधनों से अपनी कीमत जोड़कर अपनी अमूल्यता को व्यर्थ कर देता है।

कुछ आत्मप्रवादी मात्र आत्मा के श्रद्धान-गुणानुवाद को ही श्रेष्ठ मानकर मनुष्य पर्याय का विपर्यास करते हैं, मनुष्य देह को आत्म-साधना में व्यर्थ समझते हैं। वे कहते हैं कि अनुभव में मात्र चैतन्य आना इतना ही श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है।

इसके समाधान में तो इतना ही कहना है कि विश्व में आत्मा का श्रद्धान (अस्तित्व) तो नास्तिक के अतिरिक्त सभी धर्म (मत) वाले मानते हैं, अतः सभी आत्मार्थी सम्यक्त्वी सिद्ध हो जावेंगे, अतः सर्वज्ञ की वाणी में जैसा आत्मा का पूर्ण स्वरूप कहा है वैसा श्रद्धान होने से निश्चय सम्यक्त्व होता है।[7]

इतने पर भी यदि कोई कहता है कि आत्मा की महिमा गाना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्मा को ही मोक्ष जाना है, इस शरीर को नहीं, अतः इसमें मनुष्य जीवन का कोई मूल्य नहीं है।

यदि आत्मा के मोक्ष जाने में मनुष्य पर्याय का कोई महत्त्व नहीं है तब तो आत्मा को निगोद पर्याय से ही मोक्ष चला जाना चाहिए, क्योंकि निगोद जीव के सबसे कम कर्मों की प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभाग हैं, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर बोधिदुर्लभ भावना का ही महत्त्व नहीं रहेगा, जिसमें जीव की दुर्लभ पर्यायों का कथन किया गया है। मात्र निगोद एवं मोक्ष ये दो ही पर्यायें नियत हो जाएँगी। मोक्ष जाने के लिए निगोद जाना होगा, परन्तु ऐसा है नहीं।

जिस प्रकार मिट्टी, ताँबा, पीतल, लोहा, चाँदी, सोने के पात्र, बर्तन की अपेक्षा सामान्य हैं फिर भी सिंहनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहरता है, यदि स्वर्णपात्र के अलावा अन्य किसी पात्र में सिंहनी का दूध दुहा जाता है तो वह पात्र ही फट जाता है। उसी प्रकार केवलज्ञान की शक्ति, मोक्ष दिलाने की पात्रता इस मनुष्य देह में ही है, अन्य किसी भी देह में यह पात्रता नहीं है।

यदि तत्त्वज्ञान की चर्चा मात्र से ही मोक्ष मिल सकता है तो सर्वार्थसिद्धि के देवों के विमान से सिद्ध शिला मात्र बारह योजन की दूरी पर है, वहाँ के अहमिन्द्र देव तेतीस सागर प्रमाण काल तक तत्त्वज्ञान की चर्चा करते रहते हैं, वहीं से उन्हें मोक्ष हो जाना चाहिए, लेकिन सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्रों को भी मनुष्य पर्याय की अमूल्यता का ज्ञान होता है। तप कल्याणक के दिन सौधर्मेन्द्र भी मनुष्यों को अपना इन्द्रत्व भेंटकर तीर्थंकर भगवान की पालकी उठाने के लिए विह्वल हो उठता है।

"नर काया को सुरपति तरसै सो दुर्लभ प्राणी।"

जहाँ एक ओर मनुष्य देह को अमूल्य रत्न, देवदुर्लभ पर्याय आदि कहा है, वहीं दूसरी ओर इस मनुष्य देह को अशुचि, अपवित्र, वीभत्स, निन्दित, घिनावनी, मल-मूत्र की पिटारी आदि कुत्सित शब्दों द्वारा सम्बोधित किया गया है।

---

7. स.सार., प्र.अ.,मं.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दक्षिण भारत के महानतम कवि तिरुवल्लुवराचार्य, जिन्होंने दो हजार वर्ष पूर्व तिरुक्कुरल काव्य लिखा था, आज जिसका अनुवाद विश्व की अस्सी प्रमुख भाषाओं में है जिसे तमिल देश में पाँचवाँ वेद माना जाता है, प्रायः हर धर्म-संस्कृति के लोग जिसका समादर करते हैं[8], उसमें एक बहुत ही श्रेष्ठ आध्यात्मिक वाक्य संकलित है, जिस वाक्य को पढ़-सुनकर एक नयी आध्यात्मिक सोच का जन्म होता है :

आत्मनो वै निजावासः किंस्विन्नास्तीह भो जनाः।
हीनस्थाने यतो देहे भुङ्क्ते वासेन पीडनम्।। 10।।

—हे आत्मन्! क्या तेरा कोई निज घर नहीं है, जो तू ऐसे अपवित्र शरीर में निवास करता है?[9]

इस अमर वाक्य में विचारणीय विषय यह है कि आचार्य इस भगवत् स्वरूप आत्मा का अपना कोई निज घर मानते हैं, अतः उन्होंने अपनी आत्मा से ही यह प्रश्न कर दिया। जैसे कोई, किसी आवारा, बे-सहारा भटकते हुए व्यक्ति को देखकर कह देते हैं कि इसका अपना कोई रहने का निज घर-द्वार या ठिकाना नहीं है, जो यह इधर-उधर असहाय परिभ्रमण कर रहा है! उसी प्रकार इस चैतन्य चमत्कारमयी भगवान् आत्मा का निज घर मल-मूत्र भरा शरीररूपी पिटारा नहीं हो सकता है।

कवि दौलतराम ने भी कहा है :

''हम तो कबहुँ न निज घर आये,
पर घर फिरत बहुत दिन बीते
नाम अनेक धराए...
हम तो कबहुँ न...''

संसार के जीव जब दुःख से घबराते हैं तब अपने हित के बारे में सोचते हैं। अपने हित के बारे में सोच शुरू होना ही अपने घर की याद आना है, वैरागी होना है। वह वैरागी अपने बन्धुवर्ग को इस प्रकार सम्बोधन करता है :

''आपिच्छ बन्धुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाण-दंसण-चरित्त तव वीरियायारं।।202।।'' प्रवचनसार

अर्थ—जो मुनि होना चाहता है, वह पहले ही बन्धुवर्ग (सगे सम्बन्धियों) से पूछता है, गुरुजनों (बड़ों) से तथा स्त्री और पुत्रों से अपने को छुड़ाता है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करने के लिए वह इस प्रकार अपने बन्धुवर्ग से कहता है—

अहो! इस पुरुष के शरीर के बन्धुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ! इस पुरुष का आत्मा किंचित् भी तुम्हारा नहीं है, इस प्रकार तुम निश्चय से जानो; इसलिए मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा, आज अपने आत्मारूपी अनादि बन्धु के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुष के शरीर के जनक (पिता) के आत्मा, अहो! इस शरीर की जननी (माता) के आत्मा, इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है, ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिए तुम इस

---

8. तिरु., भा. ज्ञा. पी., प्र.
9. तिरु., अ. 6

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अनादि जनक-जननी के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुष के शरीर की रमणी (स्त्री) के आत्मा, तू इस पुरुष के आत्मा को रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चय से जान, इसलिए तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादिरमणी के पास जा रहा है।

अहो! इस पुरुष के शरीर के पुत्र के आत्मा, तू इस पुरुष के आत्मा का जन्य (पैदा किया पुत्र) नहीं है, ऐसा तू निश्चय से जान, इसलिए तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अनादि जन्य के पास जा रहा है। इस प्रकार बड़ों से, स्त्री, पुत्रों से अपने को छुड़ाकर पंचाचार अंगीकार करता है।[10]

इस प्रकार से जो भव्य जीव, संसार-शरीर एवं भोगों के क्षणिक, तुच्छ सुख के यथार्थ स्वरूप को समझकर विषयभोगों से ऊब जाते हैं, तब वे सच्चे एवं अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिए वैराग्य धारण कर लेते हैं। इस परम वैराग्य को धारण करना ही अपने निज घर की ओर चल देना है, जिसे आचार्यों ने 'मोक्षमार्ग' कहा है।

अपने हित को चाहनेवाला कोई एक बुद्धिमान निकट भव्य था। वह अत्यन्त रमणीय भव्यजीवों के विश्राम के योग्य किसी एकान्त आश्रम में गया। वहाँ उसने मुनियों की सभा में बैठे हुए, वचन बोले बिना ही, मात्र अपने शरीर की आकृति से मानो मूर्तिमान्, मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले, युक्ति तथा आगम में कुशल, दूसरे जीवों के हित का मुख्य रूप से प्रतिपादन करने वाले और आर्य पुरुषों के द्वारा सेवनीय प्रधान निर्ग्रन्थ आचार्य के पास जाकर, विनय के साथ पूछा—"भगवन्! आत्मा का हित क्या है?" आचार्य ने उत्तर दिया—"आत्मा का हित मोक्ष है।" भव्य जीव ने पुनः पूछा—"मोक्ष का क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है?" आचार्य ने कहा कि—जब आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्ममल कलंक और नोकर्म (शरीर) को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है, तब उसके अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप जो सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।[11]

विश्व के अधिकांशतः धर्म-मत-सम्प्रदाय भी मोक्ष को स्वीकार करते हैं, परन्तु उन सबके मोक्ष सार्वकालिक न होकर अल्पकालिक एवं सदोष माने गये हैं। वह मोक्ष अत्यन्त परोक्ष है, अतः अपने को तीर्थंकर मानने वाले अल्प ज्ञानी प्रवादी लोग मोक्ष के स्वरूप को स्पर्श नहीं करने वाले और असत्य युक्ति-रूप वचनों द्वारा उसका स्वरूप सर्वथा अन्य प्रकार से बतलाते हैं। यथा—(1. सांख्य) : पुरुष का स्वरूप चैतन्य है जो ज्ञेय के ज्ञान से रहित हैं। किन्तु ऐसा चैतन्य सत्स्वरूप होकर भी असत् ही है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसका स्व-पर व्यवसाय लक्षण कोई आकार अर्थात् स्वरूप प्राप्त नहीं होता। (2. वैशेषिक) : बुद्धि आदि विशेष गुणों का नाश होना ही मोक्ष है। किन्तु यह कल्पना भी असमीचीन है, क्योंकि विशेष लक्षण से रहित वस्तु नहीं होती। (3. बौद्ध) : जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार आत्मा की सन्तान का विच्छेद होना ही मोक्ष है। किन्तु जैसे गधे के सींग केवल कल्पना के विषय होते हैं, स्वरूपसत् नहीं होते, वैसे ही इस प्रकार का मोक्ष भी केवल कल्पना का विषय है स्वरूपसत् नहीं है। यह बात स्वयं उन्हीं के कथन से सिद्ध हो जाती है।[12]

---

10. प्र. सा., गा. 202. पृ. 481-82
11. सर्वा. सि., मंगलाचरण वृ. 1
12. सर्वा.सि., मंगलाचरण वृ. 2

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष जाने के पहले सभी मजहब, धर्म, संस्कृति, सम्प्रदाय के व्यक्ति को किसी-न-किसी द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ आदि की पूर्ण श्रद्धा का अवलम्बन जरूरी है, जिससे उनके अपने-अपने भेद-प्रभेद परिभाषाएँ एवं स्वरूप हैं, उपादेयता है, जिनकी श्रद्धा-विश्वास के बिना उस धर्म का स्वरूप पुष्ट नहीं होता है।

मोक्ष जाने की प्रक्रिया में इन द्रव्य, तत्त्व एवं पदार्थों आदि का श्रद्धान-ज्ञान-अनुभव करने का मुख्य प्रयोजन क्या है? समस्त प्राणियों में मनुष्य जीवन ही पूर्ण विकसित, विवेकवान आदि विशेषताओं को धारण करता है। मनुष्य की प्राकृतिक जिज्ञासाएँ, चाहे जीव सम्बन्धी हों या अजीव सम्बन्धी हों, हमेशा जाग्रत रहती हैं। इन जीवाजीव सम्बन्धी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए कोई-न-कोई हेतु निमित्त कारण खोजता रहता है। इस खोज में मनुष्य, किसी-न-किसी ऐसे व्यक्ति, शक्ति, ईश्वर, प्रभु-परमात्मा, ज्ञानी-विज्ञानी, प्रबुद्ध पुरुष को सम्मिलित करता है, जिससे उनके अपने विचारों की पुष्टि हो सके।

द्रव्य शब्द का उल्लेख जैन और वैशेषिक दर्शन में विशेष रूप से मिलता है। जैन दर्शन में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को द्रव्य कहते हैं तथा वैशेषिक दर्शन में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल और मन इन नौ को द्रव्य कहा है। वैशेषिक दर्शन सम्मत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन, शरीर की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य में गर्भित हो जाते हैं और आत्मा की अपेक्षा जीव में गर्भित रहते हैं। आकाश, काल और आत्मा (जीव) ये तीन द्रव्य दोनों दर्शन में स्वतन्त्र रूप से माने गये हैं। वैशेषिक दर्शनाभिमत 'दिशा' नामक द्रव्य आकाश का ही विशिष्ट रूप होने से उसमें गर्भित हो जाता है। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य की अवधारणा वैशेषिक दर्शन में नहीं है, ये दोनों द्रव्य जैन दर्शन में ही निरूपित हैं।

जैन मतानुसार मूल द्रव्य जीव और अजीव ये दो ही हैं, लेकिन अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं, अतः इन छह द्रव्यों में जीवद्रव्य चेतन है और शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं अथवा पुद्गलद्रव्य दृश्यमान होने से सबके अनुभव में आ रहा है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जिसमें पाया जाता है वह पुद्गल द्रव्य है, अतः जो भी वस्तु रूपादि से सहित होने के कारण दृश्यमान है, वह सब पुद्गल द्रव्य है। जीव के साथ अनादि से लगे हुए कर्म और नोकर्म (शरीर) स्पष्ट रूप से पुद्गल द्रव्य हैं। जीव द्रव्य अमूर्तिक होने से यद्यपि दिखाई नहीं देता है तथापि स्वानुभव के द्वारा उसका बोध होता है। जो सुख-दुःख का अनुभव करता है और जिसे स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान आदि होते हैं, वह जीव द्रव्य है। ज्ञान-दर्शन इसके लक्षण हैं। जीवित और मृत मनुष्य के शरीर की चेष्टा को देखकर जीव का अनुमान अनायास हो जाता है।[13]

हमेशा से ही जीवद्रव्य के बारे में हर धर्म-मजहब की अवधारणा किसी-न-किसी अपेक्षा से अलग-अलग है। जैसे—कोई जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं। कोई कई तत्त्वों के संयोग से जीव बनता है ऐसा मानते हैं। कोई शरीर को ही जीव मानकर श्रद्धान करते हैं। जीव को सुख-दुःख देने वाला कोई ईश्वर-प्रभु-परमात्मा है। जीव के अच्छे-बुरे परिणामों-कर्मों का फल भगवान देता है। सृष्टि (जीव) को बनाने वाला कोई ईश्वर, ब्रह्मा है। सृष्टि की रक्षा करने वाला ईश्वर विष्णु है। सृष्टि का संहार करने वाला ईश्वर महेश है। मृत्यु के समय जीव को यमराज, यमदूत, फरिश्ते, काल, मृत्यु आदि ले जाते हैं। ऐसी अनेक अवधारणाएँ हमें कई संस्कृतियों-संस्कारों से पढ़ने-सुनने को मिलती हैं।

जैनाचार्यों ने जीवादि द्रव्यों के स्वरूप की पूर्णता का कथन आगम, युक्ति, प्रमाण, नय, निक्षेप आदि के द्वारा सिद्ध ही नहीं किया, बल्कि अन्य लोगों की कल्पित तथा दूषित मान्यताओं का खण्डन भी किया है।

मुख्य रूप से जीवद्रव्य की संख्या अनन्त है तथा एक जीव के प्रदेशों की संख्या असंख्यात है। जीव को

13. तत्त्वा.सा., प्रस्ता. पं. पन्ना सा.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य, अस्तिकाय, तत्त्व, पदार्थ मानकर इसका विशेष विश्लेषण किया जाता है तभी सभी दूषित भ्रान्तियाँ दूर होती हैं।

जैन दर्शन में अजीव द्रव्यों का विभाजन धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं काल, इन पाँच प्रकार से किया है। इनमें से प्रथम चार एवं एक जीवद्रव्य इन पाँचों को पंचास्तिकाय कहा है, क्योंकि इनके अनेक प्रदेश होते हैं। काल द्रव्य का एक ही प्रदेश है, अतः वह काय नहीं है।

अपनी भाषा में समझें तो यूँ कह सकते हैं कि छहों द्रव्य अस्ति (सत्) रूप तो हैं, क्योंकि द्रव्य का लक्षण सत् कहा है।[14] किन्तु छहों द्रव्य 'सत्' होते हुए भी, प्रथम पाँच द्रव्य कायवान् (बहुप्रदेशी) हैं, अतः ये पाँच द्रव्य अस्ति के साथ कायवान् होने से अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य अस्तिरूप तो है लेकिन कायवान् नहीं है इसलिए कालद्रव्य को अस्तिकाय नहीं कहा अर्थात् कालद्रव्य की काय रूप अस्ति नहीं होने से कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है।[15]

जैन सिद्धान्त के नियमानुसार अजीव द्रव्यों में अनेक परिवर्तन होने पर भी कभी इनका नाश नहीं होता है, इसी कारण से इन द्रव्यों को 'सत्' कहा है।[16] यदि इन द्रव्यों में परिवर्तन न हो तो सभी द्रव्यों में कूटस्थता का प्रसंग आ जाएगा।

जहाँ पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण ये असाधारण गुण पाये जाते हैं[17] वहीं अन्य द्रव्यों में ये गुण नहीं पाये जाते हैं; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व आदि साधारण गुण एवं चेतनत्व, जड़त्व आदि अलग-अलग असाधारण गुण पाये जाते हैं जिन्हें स्वाध्याय करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है।

धर्म, अधर्म एवं आकाश एक-एक, क्रिया रहित, अखण्ड द्रव्य हैं।[18] जीव और पुद्गल द्रव्य क्रिया सहित, अनेक द्रव्य हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होता हुआ भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण नहीं होता है। ये सभी द्रव्य लोकाकाश में अवगाहन करते हैं।[19]

सामान्य रूप से धर्म और अधर्म का अर्थ 'पुण्य' और 'पाप' रूप से लिया जाता है, लेकिन यहाँ धर्म-अधर्म द्रव्य का सम्बन्ध पुण्य और पाप से न होकर उन अजीव द्रव्यों की उस निष्क्रिय शक्ति से है जो गति स्थिति करने वाले, जीव और पुद्गल को क्रमशः गति-स्थिति में उदासीन रूप से सहकारी होते हैं, उपकार करते हैं।[20]

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीव और पुद्गल की अपनी गति-स्थिति नहीं होती है, बल्कि धर्म-अधर्म द्रव्य दोनों माध्यम हैं, जिनके द्वारा जीव और पुद्गल की गति-स्थति में उदासीन रूप से सहायता मिलती है।[21]

जैनाचार्यों ने धर्मद्रव्य को समझाने के लिए गाथा में कहा है—'तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई।'' जैसे—पानी चलती हुई मछली को चलने में उदासीनरूप से सहायता करता है, ठहरी हुई मछली को पानी नहीं चलाता है। वैसे ही गमन करते हुए जीव और पुद्गल को गमन करने में सहकारी धर्मद्रव्य होता है। ठहरे हुए जीव और पुद्गल को धर्मद्रव्य नहीं चलाता है।

---

14. तत्त्वा. सू., अ. 5, सू. 29
15. द्र. सं., गा. 24-25
16. तत्त्वा.सू., अ. 5, सू. 30
17. तत्त्वा.सू., अ. 5, सू. 23
18. तत्त्वा.सू., अ. 5, सू. 6-7
19. तत्त्वा.सू., अ. 5 सू. 12
20. तत्त्वा.सू., अ.5, सू. 17
21. द्र.सं., गा. 17-18

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शंका—धर्मद्रव्य को समझाने के लिए जल और मछली का ही उदाहरण क्यों दिया है?

समाधान—जल में रहनेवाले समस्त जीव-जन्तुओं में से मछली ही ऐसा जीव है जो हजार फुट ऊपर से नीचे गिरते हुए जल के सहारे ऊपर की ओर जा सकता है। मछली चाहे तो उस गिरते हुए जल के बीच रुक भी सकती है जल उसे नीचे नहीं गिरा सकता है, अत: गाथा में 'अच्छंता णेव सो णेई' कहा है अर्थात् ठहरे हुए जीव, पुद्गल को धर्मद्रव्य चला नहीं सकता है, क्योंकि धर्मद्रव्य गति में प्रेरक निमित्त नहीं है, उदासीन निमित्त है। इससे सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार गिरते हुए जल के सहारे मछली ऊपर की ओर गमन कर सकती है। उसी प्रकार धर्मद्रव्य के सहारे जीव सिद्धालय तक गमन करते हैं। पुद्गल परमाणु भी एक समय में चौदह राजु लोकाकाश तक गमन कर सकता है। वैज्ञानिक धर्मद्रव्य को ही 'ईथर' कहते हैं।

लोक-व्यवहार में प्रचलित मान्यता है कि ईश्वर की मर्जी के बिना तो पेड़ का पत्ता तक भी नहीं हिल सकता है अर्थात् जीव और पुद्गल के गमनागमन में किसी ईश्वर का सहयोग होता है। वह अज्ञात ईश्वरीय शक्ति और कोई नहीं, बल्कि धर्मद्रव्य (ईथर) ही है।

ठहरते हुए जीव और पुद्गल को ठहरने में अधर्मद्रव्य सहायक होता है। जैसे—ठहरते हुए पथिक को वृक्ष की छाया ठहरने में सहायक है।[22]

जैनाचार्यों ने अधर्मद्रव्य को समझाने के लिए गाथा में दृष्टान्त दिया है—''छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।'' इस छाया और पथिक के दृष्टान्त में, जिस प्रकार चलते हुए पथिक को छाया रोकती नहीं है उसी प्रकार अधर्मद्रव्य, गमन करते हुए जीव और पुद्गल को रोकता नहीं है।

शंका—अधर्मद्रव्य को समझाने के लिए छाया और पथिक का ही दृष्टान्त क्यों दिया?

समाधान—जिस प्रकार छाया वृक्ष के नीचे आस-पास ही रहती है, ऐसा नहीं है कि छाया वृक्ष के ऊपर हो और वृक्ष नीचे हो; अत: जब कोई चलता हुआ पथिक वृक्ष की छाया देखकर वहाँ रुकना चाहता हो तब वह उस वृक्ष की छाया में रुक जाता है। यदि उसे उस वृक्ष की छाया में नहीं रुकना है, तब उस वृक्ष की छाया के नीचे से निकलते हुए भी, वृक्ष की छाया उसे रोकती नहीं है। अत: गाथा में ''गच्छंता णेव सो धरई'' कहा है। वैज्ञानिक अधर्म द्रव्य को 'मूमेंट्स् आफ एनर्सिया' 'जड़त्व आघूर्ण' का सिद्धान्त कहते हैं। अधर्मद्रव्य की वह जड़ता रुकते हुए जीव और पुद्गल को रुकने में सहायक होती है।

अधर्मद्रव्य, धर्मद्रव्य का प्रतिलोम है। ये दोनों नित्य, अवस्थित एवं अरूपी हैं। इनमें स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण का अभाव है। ये लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में व्याप्त हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं एवं दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं।[23] प्रदेशत्व गुण के कारण धर्मद्रव्य एवं अधर्म द्रव्य का आकार लोकाकाश की श्रेणी के आकार का है, क्योंकि इन्हीं के सहारे जीव और पुद्गल की गति-स्थिति होती है।

अजीव द्रव्यों में महत्त्वपूर्ण आकाश एक अखण्ड, अनन्तप्रदेशी द्रव्य है, क्योंकि इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म एवं काल—ये सभी द्रव्य अपने-अपने प्रदेश संख्यानुसार व्याप्त होकर रहते हैं, अत: जैन दर्शन में आकाश द्रव्य के लोकाकाश एवं आलोकाकाश—ये दो भेद किये हैं। लोकाकाश में ही जीवादि द्रव्यों का निवास होता है। लोक के बाहर अनन्त अलोकाकाश है।[24] द्रव्यों में प्रदेशत्व गुण के कारण आकाश का आकार समघन चतुरस्र है।

---

22. द्र.सं., गा. 18
23. तत्त्वा.सू., अ. 5, सू. 4, 13, 6, 8
24. द्र.सं., गा. 19-20

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आकाश द्रव्य की अवगाहन शक्ति असीम है। लोकाकाश के एक प्रदेश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म एवं काल के प्रदेशों को अवगाहन प्रदान करने की सामर्थ्य है।[25]

जैसे—कोई एक व्यक्ति किसी जंगल में से एक हजार प्रकार की वनस्पतियों के एक-एक पत्ते लाकर उनका काढ़ा बनाए एवं उस काढ़े में से एक सुई की नोंक के बराबर काढ़ा बाहर निकाले तो उस सुई की नोंक के बराबर काढ़े में एक हजार प्रकार की वनस्पतियों का सत्त्व (अस्तित्व) है। ठीक इसी प्रकार दश हजार, पचास हजार, एक लाख आदि प्रकार की वनस्पतियों के पत्ते को काढ़े में उबालें, उसमें भी एक सुई की नोंक के बराबर काढ़े में दस हजार, पचास हजार, एक लाख आदि प्रकार की वनस्पतियों का सत्त्व रहते हुए भी उस सुई की नोंक के बराबर काढ़े का न तो कोई आकार बढ़ता है न वजन बढ़ता है। ठीक इसी प्रकार से आकाश के एक प्रदेश पर कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणाएँ समा जाती हैं। यह सब आकाशद्रव्य के अवगाहन गुण का प्रभाव है। आगम में ऊँटनी के दूध एवं शहद का दृष्टान्त अवगाहन शक्ति के लिए दिया है।

जैन दर्शन में अचेतन एवं मूर्तिक पदार्थ को पुद्गल कहा गया है।[26] जिस द्रव्य में पूरण-गलन, संयोजन-विभाजन हो सके वही पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल के सरल या आणविक और स्कन्ध या यौगिक दो आकार होते हैं।[27] जब किसी पौद्गलिक वस्तु का विभाजन किया जाता है तब अन्त में एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ वस्तु का अन्य और कोई विभाजन सम्भव नहीं होता है, इसी अविभाज्य अंश को अणु कहा जाता है।[28]

भेद, संघात एवं भेद-संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।[29] स्कन्ध के भेद करने से भी स्कन्ध बनता है। अनेक अणुओं के संघात (मिलने) से स्कन्ध बनता है, परन्तु भेद-संघात से भी स्कन्ध बनता है। जैसे—लोहे की हथौड़ी से जब पत्थर तोड़ते हैं तब पत्थर के टूटने से भेद तो हो जाता है, साथ ही लोहे की हथौड़ी का अंश पत्थर के टुकड़ों के साथ ही संघात (चिपक) हो जाता है।

मूर्तद्रव्य में आठ प्रकार का स्पर्श, पाँच प्रकार के रस एवं वर्ण तथा दो प्रकार की गन्ध होती है। जीव की प्रत्येक क्रिया पुद्गल के रूप में अभिव्यक्त होती है अर्थात् पुद्गल से इन्द्रिय अनुभव की सभी वस्तुएँ बनी हैं, जिनमें प्राणियों के शरीर, वचन तथा मन भी सम्मिलित हैं।[30] इससे सिद्ध होता है कि जीव तत्त्व, पुद्गल द्रव्य के आधार से संसार में परिभ्रमण करता है, जिसे कर्म कहते हैं।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत एवं आतप ये पुद्गल द्रव्य की दश पर्यायें हैं।[31]

शब्द—शब्द के अनेक भेद-प्रभेद होते हैं, लेकिन शब्द में पुद्गल के स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण गुण होते हैं। इसे वैचारिक युक्ति से समझ सकते हैं। शब्द का उद्गम स्थल रसना है लेकिन कर्णेन्द्रिय के द्वारा उसका वेदन होता है।

---

25. द्र.सं., गा. 27
26. तत्त्वा.सू., अ. 5, सू. 5
27. तत्त्वा.सू., अ. 5, सू. 25
28. तत्त्वा.सू., अ. 5, सू. 27
29. तत्त्वा.सू., अ. 5, सू. 26
30. तत्त्वा.सू., अ. 5, सू. 19-20
31. द्र.सं., गा. 16

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्द में स्पर्श के आठ गुण—

1.	हल्का—धीरे से शब्द बोलना	हल्के शब्द सुनना
2.	भारी—जोर से शब्द बोलना	जोर से शब्द सुनना
3.	ठण्डा—क्षमा से शब्द बोलना	क्षमा से शब्द सुनना
4.	गरम—क्रोध से शब्द बोलना	क्रोध से शब्द सुनना
5.	रूखा—द्वेष से शब्द बोलना	द्वेष से शब्द सुनना
6.	चिकना—राग से शब्द बोलना	राग से शब्द सुनना
7.	कड़ा—अनुशासन से शब्द बोलना	अनुशासन से शब्द सुनना
8.	नरम—प्रमाद से शब्द बोलना	प्रमाद से शब्द सुनना

शब्दों में पाँच रस—वैसे तो रस रसना इन्द्रिय के द्वारा वेदन होता है, फिर भी शब्द बोलने का माध्यम तो जिह्वा इन्द्रिय है।

1. खट्टा—कुछ शब्दों को सुनकर मन खट्टा हो जाता है।
2. मीठा—कुछ शब्दों को सुनकर मन मीठा हो जाता है।
3. चरपरा—कुछ शब्दों को सुनकर मन में ईर्ष्या-जलन होती है।
4. कडुवा—कुछ शब्दों को सुनकर मन में कडुवापन आ जाता है।
5. कषायला—कुछ शब्दों को सुनकर मन में कषाय उत्पन्न हो जाती है।

शब्दों में दो प्रकार की गन्ध—वैसे गन्ध नासिका इन्द्रिय के द्वारा जानी जाती है फिर भी जिन शब्दों को सुनकर मनुष्य नाक-मुँह सिकोड़ने लगता है, नाक चढ़ा लेता है, अत: शब्दों का प्रभाव नासिका इन्द्रिय पर भी होता है।

1. सुगन्ध—जिन शब्दों को सुनकर सभ्यता की गन्ध आती है, मन खुश होता है।

2. दुर्गन्ध—जिन शब्दों को सुनकर असभ्यता की दुर्गन्ध आती है, नाक-मुँह सिकोड़ने लगते हैं वही शब्द की दुर्गन्ध है।

शब्दों में पाँच प्रकार के वर्ण—यद्यपि वर्ण चक्षु इन्द्रिय के द्वारा जाना जाता है फिर भी जिन शब्दों के द्वारा व्यक्ति का उद्देश या क्रिया अभिव्यक्त होती है उससे उनके रंगों का पता चल जाता है।

1. काला—कृष्ण लेश्यायुक्त शब्द काले हैं। जिन शब्दों को सुनकर व्यक्ति पता लगा लेता है कि कुछ दाल में 'काला' है अर्थात् उसका मन काला है।
2. नीला—(हरा+पीला) नील लेश्यायुक्त शब्द नीले हैं। जिस शब्द को सुनकर आँखें हरी-पीली हो जाती हैं।
3. हरा—कपटपूर्ण शब्द हरे हैं। जिन हरे-भरे शब्दों को सुनाकर व्यक्ति दूसरों को ठगता है।
4. पीला—दया, दान युक्त शब्द पीत लेश्या है।
5. सफेद—न्यायपूर्ण, वीतराग शब्द शुक्ल लेश्या है। दूध-का-दूध, पानी-का-पानी, बे-दाग छवि आदि शब्दों की धवलता का कथन करना।

इस प्रकार शब्द में पुद्गल के गुण पाये जाते हैं, अत: शब्द पुद्गल की पर्याय है, न कि आकाश का गुण। बन्ध—बन्धादि की दशाएँ भी अनेक प्रकार से अनुभव में आती हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्म—आज के कई वैज्ञानिक आविष्कार इन्हीं पुद्गल पर्यायों के रूप हैं, जिन्हें साफ्टवेयर कहते हैं। इसके अन्त्यसूक्ष्म और आपेक्षिक सूक्ष्म ये दो भेद हैं।

स्थूल—जिन्हें हार्डवेयर कहते हैं वे स्थूल हैं। इसके अन्त्य स्थूल और आपेक्षिक स्थूल ये दो भेद हैं।

संस्थान—अनेक प्रकार की आकृतियाँ संस्थान हैं।

भेद—भेद यानि टुकड़े। इसके भी उत्कर आदि छह भेद हैं।

तम—प्रकाश का प्रतिपक्षी तम कहलाता है। नेगेटिव।

छाया—जो प्रकाश को रोककर उत्पन्न होती है। पाजेटिव।

उद्योत—चमक या प्रकाश उद्योत है।

आतप—उस चमक या प्रकाश के ओज को आतप कहते हैं।

इस प्रकार पुद्गल की दश पर्यायें हैं। ये सैनी पंचेन्द्रिय प्राणी के अनुभवगम्य हैं और इनका प्रभाव प्राणी मात्र पर दिखता है।

पुद्गल का सबसे सूक्ष्म अंश परमाणु या अणु है। आकाश के जितने हिस्से-भाग या स्थान को अविभाज्य पुद्गल परमाणु घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं।[32] इस लक्षण के अनुसार जितना बड़ा अणु है उतना आकाश का एक प्रदेश है एवं जितना आकाश का एक प्रदेश है उतना बड़ा एक पुद्गल परमाणु है।

इस प्रकार एक प्रदेश या परमाणु का लक्षण बनाने पर प्रश्न उठता है कि आकाश का एक प्रदेश का आकार कैसा है; जिससे परमाणु का आकार निकाला जा सके?

इसके समाधान के लिए हम सबसे पहले आकाश की संरचना का विश्लेषण करते हैं। जब जीव और पुद्गल लोकाकाश में गति करते हैं तब गति श्रेणी के अनुसार होती है।[33] आकाश प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।[34] जिस प्रकार वस्त्र में ताना (खड़ा धागा) बाना (आड़ा धागा) होता है, उसी प्रकार आकाश प्रदेशों की पंक्ति भी ताना-बाना रूप होती हैं, जिससे उनके बीच समघनचतुरस्र (सम चौकोर) स्थान बनेगा, उसे आकाश का एक प्रदेश कहा जाता है। ऐसे समघनचतुरस्र आकाश प्रदेश में जो अविभाज्य पुद्गल का, अंश समा जाता है वह अणु है। इससे सिद्ध होता है कि परमाणु का आकार समघनचतुरस्र है।[35] कोई भी चौकोर वस्तु षट् पहल (चारों तरफ के चार एवं ऊपर नीचे के दो) एवं आठ कोने (हर एक मोड़ के ऊपर नीचे के दो कोने, ऐसे चारों मोड़ों के आठ) वाली होती है। जैसे—पुस्तक के आकार में चारों तरफ के चार पहल एवं ऊपर-नीचे के दो पहल ऐसे कुल छह पहल हैं; एक मोड़ में दो कोने से चार मोड़ों में आठ कोने होते हैं।

महापुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य परमाणु को गोल मानते हैं।[36] अब सूक्ष्म रीति से यह विचार करना है कि परमाणु चौकोर के अलावा गोल कैसे हो सकता है?

इस प्रसंग में हमें पुनः परमाणुओं के भेद-प्रभेदों को समझना होगा। परमाणु दो प्रकार का होता है—कारणरूप और कार्यरूप।[37] अणुओं के चार भेद भी हैं कार्य, कारण, जघन्य एवं उत्कृष्ट। स्कन्धों के अवसान को कार्य परमाणु जानना। जो चार धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) का हेतु है वह कारण परमाणु जानना। स्कन्ध के विघटन से उत्पन्न होनेवाला कार्य परमाणु और जिन परमाणुओं के मिलने से कोई स्कन्ध बनता है

32. द्र.सं., गा. 27
33. तत्त्वा. सू., अ. 2, सू. 26
34. सर्वा. सि., वृ. 312
35. आ.सा., अ. इ, श्लो. 13, 24
36. महा. पु., सर्ग 24, श्लो. 148
37. न.च., वृ. 101

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वे कारण परमाणु हैं।[38] जब कारण परमाणु का एक गुण स्निग्धता या रूक्षता रूप होने से सम या विषमबन्ध के अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है। एक गुण स्निग्धता या रूक्षता के ऊपर दो गुणवाले और चारगुण वाले का समबन्ध होता है तथा तीन गुणवाले का और पाँच गुणवाले का विषमबन्ध होता है, यह उत्कृष्ट परमाणु हैं।[39]

यह जीव, प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्व वितर्क वीचार की भूमिका में द्रव्यपरमाणु एवं भावपरमाणु का पृथक्त्वरूप ध्यान करता है।[40] द्रव्यपरमाणु से द्रव्य की सूक्ष्मता एवं भावपरमाणु से भाव की सूक्ष्मता कही गयी है। भाव शब्द से उन्हीं जीवद्रव्य का स्वसंवेदन परिणाम ग्रहण करना चाहिए। उनके भाव का परमाणु अर्थात् रागादि विकल्परहित सूक्ष्मावस्था है, क्योंकि वह इन्द्रिय और मन के विकल्पों का विषय नहीं है।[41] भावपरमाणु के क्षेत्र की अपेक्षा तो एक प्रदेश है। व्यवहार काल का एक समय है और भाव की अपेक्षा एक अविभागी प्रतिच्छेद है। वहाँ द्रव्यपुद्गल के गुण की अपेक्षा तो स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण के परिणमन का अंश लीजिए तथा जीव के गुण की अपेक्षा ज्ञान का तथा कषाय का अंश लीजिए। ऐसे द्रव्य परमाणु (पुद्गल परमाणु) एवं भाव परमाणु (एक अविभागी प्रतिच्छेद) यथासम्भव समझना चाहिए।[42]

द्रव्यपरमाणु को चौकोरपने की सिद्धि तो आकाश प्रदेश के द्वारा सिद्ध है, लेकिन भावपरमाणु का आकार कैसा है यह समझना है।

जहाँ-जहाँ भावपरमाणु की परिभाषाएँ हैं, उनके विश्लेषण से भावपरमाणु का माप-आकार निकल सकता है।

प्रथम, परमात्मप्रकाश की टीकानुसार, ''भाव शब्द से उस ही आत्म द्रव्य का स्वसंवेदन परिणाम ग्रहण करना चाहिए।'' यहाँ स्वसंवेदन का अर्थ मतिज्ञान लेना, क्योंकि स्वसंवेदन, मतिज्ञान का ही पर्यायवाची नाम है।[43] इस भावपक्ष में भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि आचार्यों ने आत्मद्रव्य लिया है, आत्मतत्त्व नहीं। अत: जब इस जीवद्रव्य की सबसे छोटी पर्याय, सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के मरण के तीसरे समय में सबसे जघन्य अवगाहना होती है, जिसका आकार गोल होता है,[44] अत: आत्मद्रव्यगत ज्ञान का आकार भी तदाकार ही होगा, जिससे भावपरमाणु संयोगी अवस्था में गोल कहा जाता है।

दूसरा, भावपरमाणु इन्द्रिय और मन के विकल्पों का विषय नहीं है। इस कथन के अनुसार जीव के जब विग्रहगति में कार्मण काययोग होता है तब उस जीव के इन्द्रिय और मन का सम्पर्क नहीं होता है, क्योंकि कार्मण शरीर निरुपभोग होता है अर्थात् इन्द्रिय और मन के विषयों को ग्रहण नहीं करता है।[45] ऐसे (संयोगी अवस्था में) जीव के, उस विग्रहगति के तीसरे समय की सूक्ष्मावस्था में कार्मण शरीर के साथ सबसे जघन्य अवगाहना गोल होती है।

तीसरा, राजवार्तिककार के कथनानुसार भावपरमाणु को, जीव के गुण अपेक्षा ज्ञान का तथा कषाय का अंश लिया है। इस अपेक्षा से भी सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यापर्याप्तक जीव के तीसरे समय में जो जघन्य गोल अवगाहना होती है, वहाँ ज्ञान एवं कषाय के जघन्य अंश होते हैं, अत: जिनसेनाचार्य द्वारा कथित जिस परमाणु का आकार गोल सिद्ध होता है वह भावपरमाणु है।

---

38. पं. का., गा. 80, ता. वृ.
39. नि.सा., गा. 25, ता. वृ.
40. सर्वा. सि., वृ. 906
41. पर. प्र., टी.
42. रा.वा., अ. 9., सू. 27, वा. 733
43. तत्त्वा.सा., अ. 1, श्लो. 19/श्लो. वार्ति. भा. 1
44. धव. पु. 11/4, 2, 5; 20/34/8
45. तत्त्वा. सू., अ. 2, सू. 44

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आज आधुनिक विज्ञान का विकास भी जैन धर्म के तत्त्वार्थसूत्र के अनुश्रेणी गति[46] इस सूत्र के अनुसार ही हो रहा है। टी.वी., कम्प्यूटर, दूर संचार व्यवस्था आदि इसी सूत्र की देन हैं। जब भी टी.वी. या कम्प्यूटर पर चित्र बनाते हैं तब उनकी स्क्रीन पर ग्राफ्स बनते हैं। उन्हीं ग्राफ्स के अनुपात से चित्र बनते हैं। समय बताने वाली इलेक्ट्रानिक घड़ियों में भी समय की संख्या ग्राफ्स द्वारा ही उभरकर आती है। शून्य भी गोलाकार न होकर चौकोर बनकर आता है। दो आदि की संख्याएँ भी ऐंगिल से मुड़कर ही बनती हैं, यही अनुश्रेणी गति का सिद्धान्त है।

छहों द्रव्यों में अन्तिम द्रव्य है काल, क्योंकि उसमें भी द्रव्य के लक्षण पाए जाते हैं।[47] काल द्रव्य सभी द्रव्यों का उपकार करता है।[48] यदि काल द्रव्य न हो तो सभी द्रव्य कूटस्थ (अपरिवर्तनीय) हो जाएँगे, जिससे सभी द्रव्यों की सभी व्यवस्थाएँ—अवस्थाएँ अपरिवर्तनीय होने से सभी द्रव्यों में अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। कालद्रव्य सभी द्रव्यों की पर्यायों में परिवर्तन कराने में उदासीन कारण है, क्योंकि द्रव्यों के उत्पाद-व्यय की गणना कालद्रव्य के द्वारा ही होती है अन्यथा काल द्रव्य के वस्तुत्व गुण का अभाव होने से काल द्रव्य की महत्ता ही समाप्त हो जाएगी।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से कालद्रव्य को समय (टाइम) के रूप में स्वीकार किया है, जिसका व्यावहारिक विभाजन घड़ी, घण्टा, मिनट, सैकेण्ड आदि के रूप में किया जाता है। 'समय' निश्चय काल का एक रूप है, परन्तु जीव और पुद्गल की गति द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण 'परिणाम' कहा जाता है।

एक शुद्ध पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक मन्दगति से गमन करने में जितना काल लगता है उसे एक समय कहते हैं, अतः एक समय का माप एक पुद्गल परमाणु की मन्दगति से निकाला गया है।[49]

शंका—वैसे तो एक शुद्ध पुद्गल परमाणु तीव्रगति से लोकाकाश में चौदह राजु गमन कर सकता है, इस तीव्रगति में भी वह पुद्गल परमाणु लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों को छूता हुआ एक ही समय में जाता है, अतः एक समय के भी असंख्यात समय भेद होना चाहिए?[50]

समाधान—नहीं, क्योंकि जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने हाथ से एक चावल को मन्दगति से उठाकर एक समान दूरी पर आराम से पहुँचा देता है, वही व्यक्ति एक मुट्ठी भर चावल तीव्रगति से उससे भी अधिक दूरी तक पहुँचा देता है। इस प्रसंग में एक चावल की समान दूरी एवं मन्दगति तथा एक मुट्ठी चावल की अधिक दूरी एवं तीव्रगति का विश्लेषण समझना जरूरी है। जहाँ एक चावल को तीव्रगति से एक समय में उठाकर दूर तक रखने में मुट्ठी भर चावल के बराबर समय का भेद नहीं हुआ, समय तो एक ही लगता है। उसी प्रकार एक समय में तीव्रगति वाले पुद्गल परमाणु का लोकाकाश के चौदहराजु के असंख्यात प्रदेश छूने से समय भेद नहीं है। इससे सिद्ध होता है समय अविभाज्य है।

समय को कालाणु भी कहते हैं, लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रत्नों की राशि के समान स्थित है।[51] कालाणु का आकार भी जैसे—आकाश प्रदेश के आकार के समान परमाणु है वैसा ही कालाणु

---

46. तत्त्वा. सू., अ. 2, सू. 30
47. तत्त्वा. सू., अ. 5, सू. 29-30
48. तत्त्वा. सू., अ. 5, सू. 22
49. प्र. सा., गा. 139 ता. प्र.
50. प्र. सा., गा. 139 त. प्र.
51. द्र. सं., गा. 22

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का आकार समघनचतुस्र छह पहल, आठ कोणवाला है, क्योंकि द्रव्य का प्रदेशत्व गुण के लक्षणानुसार कालद्रव्य का कोई-न-कोई आकार होना चाहिए।

कालद्रव्य को समझाते समय आचार्यों ने कालाणुओं को रत्नों की राशि का ही उदाहरण क्यों दिया, गेहूँ आदि धान्य या सामान्य रेती, कंकड़ों आदि के ढेर का उदाहरण क्यों नहीं दिया?

गेहूँ आदि धान्य की राशि घुन जाती है, सड़ जाती है, रखी-रखी पुरानी होकर आपस में चिपक भी जाती है। सामान्य रेत या कंकड़ की कीमत भी सामान्य है, लेकिन रत्नराशि घुनती-सड़ती नहीं है; आपस में रखी चिपकती भी नहीं है, पुरानी भी नहीं होती। लोक व्यवहार में जिस प्रकार रत्न कीमती होते हैं, वैसे ही काल या समय अमूल्य होता है। जैसे—रत्नराशि सड़ती-घुनती, चिपकती नहीं है वैसे ही कालाणु का स्वरूप है, इन्हीं सब कारणों से कालद्रव्य को रत्नराशि की उपमा दी गयी है।

काल द्रव्य के दो भेद हैं। पहला निश्चय काल, दूसरा व्यवहार काल। निश्चय काल वर्तना लक्षण वाला है एवं व्यवहार काल परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व लक्षण वाला है।[52]

समय दर्शाने वाली घड़ी में घण्टा-मिनट एवं सेकण्ड के काँटे लगे होते हैं। घड़ी की जिस बीच की धुरी में काँटे लगे होते हैं वह धुरी निश्चय काल का प्रतीक है, क्योंकि वह धुरी अपने में ही वर्तन कर रही है, लेकिन उसके सहारे घूमने वाले घण्टा, मिनट, सेकण्ड के काँटे व्यवहार काल के प्रतीक हैं।

साहित्यिक कल्पना—इन छहों द्रव्यों से संसार का व्यवहार—व्यापार चलता है। जीव द्रव्य सरस्वती रूप है। जिस प्रकार सरस्वती ज्ञान की मूर्ति कही जाती है, वैसे ही यह जीव ज्ञानमय होने से सरस्वती है। पाँच अजीव द्रव्य लक्ष्मी (धन) के रूप हैं। पुद्गल द्रव्य का व्यापार सर्वत्र अनुभव में आता है। धर्मद्रव्य गमनागमन रूप टोल टेक्स के रूप में प्रयोग होता है। अधर्म द्रव्य, आरक्षण का रूप है। आकाश द्रव्य अन्तरिक्ष, आकाश का भी हवाई क्षेत्र होने से टेक्स या क्रय-विक्रय होता है। काल द्रव्य समय सीमा के अनुसार कार्य करना-कराना अर्थात् काल द्रव्य के द्वारा धन कमाना है।

इस प्रकार जीव द्रव्य को छोड़कर, पाँच अजीव-अचेतन द्रव्य हैं जिनके कारण विश्व में अनेक चमत्कार, आविष्कार दिखाई देते हैं। जीव द्रव्य को इन्हीं अजीव द्रव्यों की अनेक परिणमनशील पर्यायों से प्रभावित मानकर, कोई-कोई इन्हें ईश्वरीय, दैविक-भौतिक आदि अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकार कर पूजनीय-वन्दनीय-नमस्करणीय, संग्रहणीय आदि बना लेते हैं और भटक जाते हैं, अतः जैनाचार्यों ने इन जीव-अजीव द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप को सामने रखकर मनुष्यों की कपोल-कल्पित भ्रान्तियों-कुधारणाओं पर कुठाराघात किया है।

तत्त्व—द्रव्य के बाद जैनशास्त्रों में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का वर्णन आता है। तत्त्व शब्द का प्रयोग जैनदर्शन के सिवाय सांख्य दर्शन में भी हुआ है। सांख्य दर्शन में प्रकृति, महान् आदि पच्चीस तत्त्वों की मान्यता है। वस्तुतः संसार में जिस प्रकार जीव और अजीव ये दो ही द्रव्य हैं, उसी प्रकार जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व हैं। जीव के साथ अनादिकाल से कर्म और नोकर्म रूप अजीव का सम्बन्ध हो रहा है और उसी सम्बन्ध के कारण जीव की अशुद्ध परिणति हो रही है। जीव और अजीव का परस्पर सम्बन्ध होने का जो कारण है वह आस्रव कहलाता है। दोनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर जो एकक्षेत्रावगाहरूप परिणमन होता है उसे बन्ध कहते हैं। आस्रव के रुक जाने को संवर कहते है। सत्ता में स्थित पूर्व कर्मों का एक देश दूर होना निर्जरा है और सदा के लिए आत्मा से समस्त कर्म और नोकर्म का छूटना मोक्ष है।[53]

---

52. तत्त्वा. सू., अ. 5, सू. 22

53. तत्त्वा. सा. प्र. पृ. 11

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व शब्द की निष्पत्ति 'तत्+त्व' में 'खरि च' इस सूत्र द्वारा होती है। तत् सर्वनाम पद है, त्व प्रत्यय भाववाची है, ऐसे तत्त्व शब्द बना है। ''उसी भाव रूप।'' जो वस्तु जिस रूप है उसका उसी रूप होना 'तत्त्व' कहलाता है।[54] 'तस्य भावस्तत्त्वम्'—जीवादि वस्तुओं के प्रकरण में ये सात तत्त्व अपना बहुत महत्त्व रखते हैं। इनका यथार्थ निर्णय हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[55] यही इस ग्रन्थ का मूल विषय है।

पदार्थ—व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः।[56] व्यक्ति, आकृति और जाति आदि पदार्थ हैं। अर्थोऽभिधेयः पदस्यार्थः पदार्थः।[57] अर्थ अर्थात् अभिधेय पद का अर्थ सो पदार्थ है। अतः जानने योग्य या प्रयोजनभूत अथवा व्यापक अर्थ को पदार्थ कहते हैं।

द्रव्य, गुण और पर्याय अभिधेय भेद होने पर भी अभिधान का अभेद होने से 'अर्थ' हैं। जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं ऐसे अर्थ 'द्रव्य' हैं। जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं ऐसे अर्थ 'गुण' हैं। जो द्रव्यों के द्वारा क्रम परिणाम से प्राप्त किये जाते हैं। ऐसे अर्थ 'पर्याय' हैं।[58] इस कथनानुसार द्रव्य, गुण, पर्याय इन तीनों को अर्थ कहा जाता है। जो सब पदार्थों को द्रव्य, गुण और पर्याय सहित जानता है वही सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि पदार्थ वास्तव में द्रव्यमय है। द्रव्य गुणमय है। द्रव्य और गुणों से पर्याय होती है, अतः निश्चय से ज्ञान का विषयभूत पदार्थ द्रव्यमय होता है। सब द्रव्य गुणमयी होते हैं। द्रव्य व गुणों से पर्याय होती हैं।[59]

पद + अर्थ = पदार्थ। द्रव्य, गुण एवं पर्यायें अर्थ हैं। इन तीनों पद-अवस्थाओं से जो सहित हो वह पदार्थ है। जैसे—स्वर्ण, पीलापन, आभूषण। स्वर्ण द्रव्य है, पीतत्व उसका गुण है, आभूषण उसकी पर्याय है एवं उस आभूषण का जो नाम है वह पदार्थ है। जैसे—शक्कर एक द्रव्य है, मीठा उसका गुण है, मिठाई उसकी पर्याय है एवं उस मिठाई का नामकरण कि यह लड्डू है, पेड़ा है, बर्फी है आदि नाम पदार्थ हैं, क्योंकि इन सबमें शक्कर है, मीठा है एवं मिठाई है। अतः उस मिठाई का नाम पदार्थ है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षमार्ग में साधनभूत पदार्थों के नाम एवं उनके स्वरूप का वर्णन 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में संक्षेप रूप से किया है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष ये नव पदार्थों के नाम हैं।[60] लेकिन समयसार में इन्हें पदार्थ न कहकर नव तत्त्व कहा है।[61] इसी गाथा की भूमिका एवं टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने छठे, सातवें एवं आठवें कलश में नव तत्त्वों का ही निर्देश किया है।[62]

शंका यह है कि एक ही आचार्य ने दोनों ग्रन्थों में परस्पर विरोधी कथन क्यों किया?

इस शंका के समाधान में जब तक पदार्थ एवं तत्त्व की परिभाषाओं का विश्लेषण नहीं समझेंगे तब तक इसका समाधान नहीं होगा।

जैसे कि पहले कही पदार्थ की परिभाषाओं में द्रव्य, गुण, पर्यायें सम्मिलित हैं एवं तत्त्व अकेला भाव स्वरूप

---

54. सर्वा. सि., सम्पा. जग. स.
55. तत्त्वा. सा., प्र. पृ. 11
56. न्या. सू. 2/2/63
57. न्या. वि. टी., 1/7/140/15
58. प्रव. सा., गा. 87 टी.
59. प्रव. सा., गा. 93, टी.
60. पं. का., पृ. 277, गा. 108
61. स. सा., पृ. 29, गा. 13
62. स. सा., पृ. 27-29, गा. 12-13

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है। जहाँ आगम ग्रन्थ हैं वहाँ नव पदार्थ हैं, क्योंकि पदार्थ में उनके द्रव्य, गुण एवं पर्यायों का ही विश्लेषण है और जहाँ तत्त्व हैं वहाँ मात्र उनके भावों का कथन या विश्लेषण है, अतः समयसार में नव पदार्थों को नवतत्त्व इसलिए कहा कि उन्हें मात्र नव पदार्थों के भावों का ही विश्लेषण करना है न कि उनके द्रव्य, गुण और पर्यायों का। यदि समयसार में नव पदार्थ मानकर द्रव्य, गुण, पर्यायों का वर्णन करना पड़े तो जीवसमास, गुणस्थान आदि के भेद-प्रभेद सभी की पूर्ण व्यवस्था करना होगी, परन्तु समयसार में पदार्थों के भाव मात्र से तत्त्व का स्वरूप ग्रहण किया गया है, अतः समयसार में नव पदार्थों का नाम नव तत्त्व ग्रहण किया गया है, क्योंकि समयसार एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। तथा पंचास्तिकाय में नव पदार्थों का संक्षेप रुचि शिष्य अपेक्षा कथन है। अतः समयसार एवं पंचास्तिकाय में परस्पर विरोधी कथन नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने जब सम्यग्दर्शन का कथन किया तब तत्त्व और अर्थ के यथार्थ श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा है, न अकेले तत्त्व को और न ही अकेले अर्थ (पदार्थ) के श्रद्धान को; क्योंकि तत्त्व एवं अर्थ दोनों के स्वरूप अलग-अलग होने से, मात्र एक के श्रद्धान करने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, अतः सूत्र में तत्त्व और अर्थ इन दोनों पदों (अवस्थाओं) का ग्रहण किया हैं।[63]

पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान का संग्रह करने के लिए दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है। जिस-जिस प्रकार से जीवादिक पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है।[64] जीवादि पदार्थों को विषय करने वाला यह सम्यग्दर्शन किस प्रकार उत्पन्न होता है?[65]

सात तत्त्वों का प्ररूपण करते समय शिष्य ने शंका की है कि सूत्र में पुण्य-पाप का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि पदार्थ नव होते हैं। इसका समाधान करते हुए कहा कि पुण्य-पाप का आस्रव एवं बन्ध तत्त्व में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः इनका सूत्र में ग्रहण नहीं किया, क्योंकि यहाँ मोक्ष का प्रकरण होने से सात तत्त्वों की महत्ता दर्शाई गयी है।[66]

जो सम्यग्दर्शनादि एवं जीवादि पदार्थ कहे हैं उनके विवक्षा-भेद को व्यवस्थित करने के लिए नामादि के द्वारा उनका निक्षेप किया गया है। इसमें जिस प्रकार जीव पदार्थ का नामादि से न्यास किया है उसी प्रकार अन्य अजीवादि पदार्थों में भी नामादि निक्षेप विधि लगा लेना चाहिए।[67]

सम्यग्दर्शन के विषयरूप से जो जीवादि पदार्थ कहे हैं, उनमें से जीव पदार्थ का व्याख्यान किया। अब अजीव पदार्थ का व्याख्यान विचार करना है अतः उसकी संज्ञा और भेदों का कथन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं।[68]

इस तरह पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि टीका में हर तत्त्व के कथन की समाप्ति एवं उत्थानिका में पदार्थ शब्द का ही निर्देश किया है। इस प्रकार जहाँ भी पूज्यपादाचार्य ने तत्त्व को पदार्थ बनाकर विवेचन किया है वहाँ पर तत्त्व और पदार्थ के स्वरूप में अन्तर अवश्य है। इसे हमने प्रवचनसार, पंचास्तिकाय एवं समयसार के नवपदार्थ एवं नवतत्त्वों में अन्तर से सिद्ध किया है।

---

63. सर्वा. सि., वृ. 12
64. सर्वा. सि., वृ. 5
65. सर्वा. सि., वृ. 13
66. सर्वा. सि., वृ. 19
67. सर्वा. सि., वृ. 21, 22
68. सर्वा. सि., वृ. 526

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

एक सामान्य कथन द्वारा यदि हम द्रव्य, पंचास्तिकाय, तत्त्व एवं पदार्थ में अन्तर निकाल लें तो विषय और भी स्पष्ट हो जाएगा।

जैसे—छह द्रव्यों में पहले जीवद्रव्य है। पंचास्तिकाय में पहले जीवास्तिकाय है। सात तत्त्वों में पहले जीवतत्त्व है एवं नव पदार्थों में पहले जीवपदार्थ है। इन चारों में पहले जीव सामान्य है, लेकिन इन चारों के विशेषण अलग-अलग क्यों हैं?

छहों द्रव्यों में जीवद्रव्य 'द्रव्य' की अपेक्षा से है, क्योंकि जीव में द्रव्य का लक्षण 'सत्' पाया जाता है।[69] अतः सर्वार्थसिद्धिकार ने प्रथम अध्याय के सूत्र नं. आठ की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अब जीवद्रव्य की अपेक्षा सत् आदि अनुयोगद्वारों का कथन करते हैं।[70] इन अनुयोगद्वारों में जीव के गुणस्थान एवं मार्गणा का कथन किया है।

जैसे—द्रव्य, ऐसा कहने पर भी उन-उन पर्यायों को द्रवता है अर्थात् प्राप्त होता है, इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से युक्त जीव-अजीवादि और उनके भेद-प्रभेदों का संग्रह हो जाता है।[71] उस संग्रह नय से ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहार नय है। शंका—विधि क्या है? समाधान—जो संग्रह नय के द्वारा गृहीत अर्थ है उसी के आनुपूर्वी क्रम से व्यवहार प्रवृत्त होता है, यह विधि है। यथा, सर्वसंग्रहनय के द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गयी है वह अपने उत्तर भेदों के बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इसलिए व्यवहार नय का आश्रय लिया जाता है। यथा—जो सत् है वह या तो द्रव्य है या गुण। इसी प्रकार संग्रहनय का विषय जो द्रव्य है वह जीव-अजीव विशेष की अपेक्षा किये बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इसलिए जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है इस प्रकार के व्यवहार का आश्रय लिया जाता है। जीव और अजीव द्रव्य भी जब तक संग्रह नय के विषय रहते हैं तब तक वे व्यवहार कराने में असमर्थ रहते हैं, इसलिए व्यवहार से जीव द्रव्य के देव, नारकी, आदि रूप और अजीव द्रव्य के घटादि रूप भेदों का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार इस नय की प्रवृत्ति वहीं तक होती है जहाँ तक वस्तु में फिर कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता।[72] इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्यों के गुण एवं पर्यायों का विश्लेषण चरम सीमा तक करना द्रव्यत्व गुण के महत्त्व को प्रदर्शित करता है अर्थात् जीवादि द्रव्यों का 'द्रव्य' की परिभाषानुसार कथन करने से ही जीवादि द्रव्यों की निर्दोष सिद्धि होती है।

पंचास्तिकाय में जीवादि द्रव्यों के अस्तित्व का कथन है। जो चार्वाक आदि मत जीव के अस्तित्व को नहीं मानते या विकृत रूप में मानते हैं, उन्हें इस जीव के पूर्ण एवं निर्दोष अस्तित्व को शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ आदि द्वारा अनेक युक्ति-उपायों द्वारा सिद्ध किया है।[73]

इन्हीं जीवादि अस्तिकाय के अस्तित्व को कायरूप (बहुप्रदेशीपना) से स्वीकार करना अस्तिकाय है। इसमें जीवादि द्रव्य आकाश के कितने प्रदेश क्षेत्र को स्पर्शित करते हैं इसका भी ज्ञान होता है, अतः जीवादि जो बहुप्रदेशी द्रव्य हैं उन्हें 'क्षेत्र' की अपेक्षा कायवान् कहा है। इसी प्रकार अन्य बहुप्रदेशीय द्रव्यों के अस्तिकाय का अस्तित्व जानना चाहिए।

---

69. सर्वा. सि., सू. 29, वृ. 582
70. सर्वा. सि., वृ. 34
71. सर्वा. सि., वृ. 243
72. सर्वा. सि., वृ. 244
73. पं. का., गा. 27

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सात तत्त्वों में पहला जीव तत्त्व है। इस जीव के स्वतत्त्व क्या हैं? औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये जीव के स्वतत्त्व हैं।[74] ये पाँच भाव असाधारण हैं, इसलिए जीव के स्वतत्त्व कहे जाते हैं। इनके क्रमशः दो, नव, अठारह, इक्कीस एवं तीन इस प्रकार कुल तिरेपन भाव हैं।[75] जो गुणस्थान क्रम से अलग-अलग संख्या में पाए जाते हैं। इसी प्रकार आस्रव आदि तत्त्वों-भावों का विश्लेषण 'भाव' रूप में जानना चाहिए।[76]

नव पदार्थों में प्रथम जीव है। पदार्थ शब्द की सिद्धि पहले कर दी गयी है। यहाँ मात्र जीव पदार्थ क्यों है इसका कथन करना है। जीवादि पदार्थों का तीनों कालों में क्या स्वरूप रहता है? अतः जीवादि पदार्थ का विश्लेषण 'काल' न्यास विधि द्वारा किया गया है।

'द्रव्य' न्यास विधि अपेक्षा से जीवादि द्रव्य हैं। 'क्षेत्र' न्यास विधि अपेक्षा से जीवादि अस्तिकाय हैं। 'काल' न्यास विधि की अपेक्षा से जीवादि पदार्थ हैं। 'भाव' न्यास विधि अपेक्षा से जीवादि तत्त्व हैं। यही द्रव्य, पंचास्तिकाय, पदार्थ एवं तत्त्व में अन्तर है।

सत् आदि अनुयोगद्वारों को भी संक्षेप रुचि, मध्यम रुचि एवं विस्तार रुचि शिष्यापेक्षा एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव न्यास विधि द्वारा घटित किया जा सकता है।[77]

द्रव्य—सत्, संख्या	द्रव्यापेक्षा	
क्षेत्र—क्षेत्र, स्पर्शन	अस्तिकायापेक्षा	मध्यम रुचि
काल—काल, अन्तर	पदार्थापेक्षा	विस्तार रुचि
भाव—भाव, अल्पबहुत्व	तत्त्वापेक्षा	संक्षेप रुचि

तत्त्वज्ञान की विविध विधाएँ

जैनागम में मूल रूप से जीव एवं अजीव ये दो ही द्रव्य, जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं।[78] जीव द्रव्य को नव अधिकारों द्वारा उनके अनेक भेद-प्रभेदों से परमत खण्डन-स्वमत मण्डन की विधि द्वारा विश्लेषित किया है।[79] अजीव द्रव्य के पाँच भेद-प्रभेदों के स्वरूप द्वारा जीव का हित-अहित का दिग्दर्शन कराया गया है।[80] इन जीव और अजीव द्रव्यों के ही आस्रव आदि विशेष भेद-प्रभेद हैं,[81] जिन्हें तत्त्व एवं पदार्थ नाम से सम्बोधित करते हैं। इन्हीं जीवादि तत्त्व एवं पदार्थों के सच्चे श्रद्धान को आचार्यों ने सम्यग्दर्शन कहा है जो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। इस सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रहित सम्यग्ज्ञान कहलाता है।[82]

जिनागम में तत्त्वनिरूपण करने की एक प्राचीन शैली भगवन्त पुष्पदन्त और भूतबलि के द्वारा प्रचारित रही, जिसका उन्होंने षट्खण्डागम में सत्संख्या आदि अनुयोगों के द्वारा जीवादि तत्त्वों का वर्णन प्रारम्भ किया है। इस शैली में जीवद्रव्य का वर्णन बीस प्ररूपणाओं के द्वारा किया जाता है। यह शैली अत्यन्त विस्तृत होने के साथ दुरूह भी है। साधारण क्षयोपशमवाले जीवों का इसमें प्रवेश होना सरल बात नहीं है।[83]

---

74. तत्त्वा. सू., अ. 2, सू. 1
75. तत्त्वा. सू., अ. 2, सू. 2
76. पं. का., गा. 8
77. सर्वा. सि., वृ. 33
78. द्र. सं., गा. 1
79. द्र. सं., गा. 2
80. द्र. सं., गा. 15
81. द्र. सं., गा. 28
82. द्र. सं., गा. 41
83. तत्त्वा. सा., प्र.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्दाचार्य ने इन तत्त्व, द्रव्य, पदार्थों की व्याख्या मुख्य और गौण-रूप से की है और उसे आध्यात्मिकता का पुट देकर सरल बनाया गया है। इनका समय-समय पर टीकाकरण होकर प्रचार-प्रसार बढ़ता गया।

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उमास्वामी, जिनका दूसरा नाम गृद्धपिच्छाचार्य है, ने सात तत्त्वों का वर्णन सर्वप्रथम संस्कृत की सूत्र शैली में तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की रचना कर किया, जिसे मोक्षशास्त्र भी कहा जाता है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के नाम से ही इसका उल्लेख किया है। इसके ऊपर आचार्यों ने वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, टिप्पण आदि अनेक टीकाएँ लिखीं। इनमें गन्धहस्तिमहाभाष्य टीका की पुष्टि अनेक आचार्यों ने की है।[84] उन समन्तभद्राचार्य का वैयक्तिक, साहित्यिक, आगमिक एवं दार्शनिक परिचय आज के अनेक विद्वानों द्वारा शोधपूर्णरीति से संकलित है।

उमास्वामी एवं तत्त्वार्थसूत्र

समय-समय पर अनेक घटनाओं ने महापुरुषों में भेद उत्पन्न किये। अर्हद्बली आचार्य के समय काल दोष से मुनियों में अपने-अपने संघ का पक्षपात पैदा हुआ। उसे देखकर अर्हद्बली आचार्य ने मुनियों के नन्दिसंघ, सेनसंघ, सिंहसंघ और देवसंघ इस प्रकार चार संघ स्थापित कर दिये। उनमें भगवान महावीर के निर्वाण से लेकर 683 वर्ष व्यतीत होने के बाद दश वर्ष तक आचार्य गुप्तिगुप्त संघाधिपति रहे। उनके बाद चार वर्ष तक माघनन्दी, तत्पश्चात् नौ वर्ष तक जिनचन्द्र, तदुपरान्त बावन वर्ष तक कुन्दकुन्द स्वामी और तत्पश्चात् चालीस वर्ष आठ दिन तक उमास्वामी आचार्य नन्दि संघ के पीठाधिपति रहे।

श्रवणवेलगोल के 65वें शिलालेख में लिखा है—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दि प्रथमाभिधानः।
श्री कुन्दकुन्दादि मुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः।। 5।।
अभूदुमास्वाति मुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तर गृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी।। 6।।

—उन जिनचन्द्र स्वामी के जगत् प्रसिद्ध अन्वय में 'पद्मनन्दी प्रथम' इस नाम को धारण करनेवाले श्री कुन्दकुन्द स्वामी नाम के आचार्य हुए, जिन्हें सत्संयम के प्रभाव से चारण ऋद्धि प्राप्त थी। उन्हीं कुन्दकुन्दाचार्य के अन्वय में उमास्वाति आचार्य हुए जो गृद्धपिच्छ आचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे। उस समय गृद्धपिच्छाचार्य के समान समस्त पदार्थ को जानने वाला कोई दूसरा विद्वान नहीं था।

श्रवणबेलगोल के निम्न श्लोक (258 वें शिलालेख) में लिखा है—

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यति-रत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रः स कुन्दकुन्दोदितचण्डदण्डः।।10।।
अभूदुमास्वाति मुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवानः।।11।।

---

84. तत्त्वा सा., प्र.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स प्राणि-संरक्षण-सावधानो बभार योगी किल गृद्धपिच्छान्।
तदा प्रभृत्येव बुधायमाहुराचार्यशब्दोत्तर गृद्धपिच्छम्।।12।।

—उनके वंशरूप प्रसिद्ध खान से अनेक मुनिरूप रत्नों की माला प्रकट हुई। उसी मुनिरूपी रत्नमाला के बीच में मणि के समान श्री कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्ध ओजस्वी आचार्य हुए। उन्हीं कुन्दकुन्द स्वामी के पवित्र वंश में समस्त पदार्थों के ज्ञाता श्री उमास्वाति मुनि हुए, जिन्होंने जिनागम को सूत्र रूप में निबद्ध किया। यह उमास्वाति मुनिराज प्राणियों की रक्षा में अत्यन्त सावधान थे, इसलिए उन्होंने मयूरपिच्छ के गिर जाने पर गृद्धपिच्छी को धारण किया था। उसी समय से विद्वान लोग उन्हें गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे।

मैसूर प्रान्त के अन्तर्गत नागर प्रान्त के छयालीसवें शिलालेख में लिखा है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्।।

—मैं तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता, गुणों के मन्दिर एवं श्रुतकेवली तुल्य उमास्वाति आचार्य को नमस्कार करता हूँ।

यही उमास्वाति आचार्य, उमास्वामी और गृद्धपिच्छाचार्य नाम से भी विख्यात हैं। धवलाटीका में श्री वीरसेनाचार्य ने काल द्रव्य का वर्णन करते समय "तह गिद्धपिच्छाइरियप्पयासिद तच्चत्थसुत्तेवि" इन शब्दों के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता को गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है। सन् 941 में निर्मित कर्णाटक आदिपुराण में महाकवि पम्प ने उमास्वामी को आर्यनुत गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है। इसी तरह सन् 978 में रचित कर्णाटक 'त्रिषष्टि लक्षण' पुराण में उसके कर्त्ता चामुण्डराय ने भी उमास्वामी को गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है।[85]

सन् 1250 के लगभग रचित कर्णाटक भाषा के 'पार्श्वपुराण' में उसके रचयिता पार्श्व पण्डित ने तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता का उमास्वाति नाम से स्तवन किया है।[86]

सन् 1320 के लगभग विरचित कर्णाटक भाषा के 'समय परीक्षा' ग्रन्थ में उसके कर्त्ता ब्रह्मदेव कवि ने उमास्वामी का 'गृद्धपिच्छाचार्य' के नाम से उल्लेख किया है।[87]

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामि-मुनीश्वरम्।।

इस प्रसिद्ध श्लोक में भी तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता को गृद्धपिच्छ से उपलक्षित उमास्वामी नाम से प्रकट किया है।

इन उपरितन उल्लेखों से तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वामी, उमास्वाति और गृद्धपिच्छाचार्य ये तीन नाम हमारे सामने आते हैं। यह बहुत ही प्रसिद्ध तथा जिनागम के पारगामी विद्वान थे। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक तथा विद्यानन्दि आदि आचार्यों ने बड़े श्रद्धापूर्वक शब्दों में इनका उल्लेख किया है। पूज्यपाद स्वामी ने जो सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी वह बहुत अर्थपूर्ण एवं मार्मिक कथन से ओतप्रोत है। इसके प्रारम्भ में जो जिज्ञासा रूप उत्थानिका है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[88]

---

85. वसुमतिगे नेगले तत्त्वार्थसूत्रमं वरेद गृध्रपिच्छाचार्यवर
जसदिं दिगन्तमं मुद्रिसि जिनशासनद महिमेयं प्रकटि सिदर।।3।।
86. अनुपम तत्त्वार्थ पुण्य निबन्धनं मप्पुदें तु पनदोल्ने-
दृने वेलसियंते वेलसिके निशमुमास्वाति पादयति पादयुगम्।।
87. जगदोल गुल्ल सुतत्त्वम न गणित मननन्त भेद भिन्न स्थितियम्।
सुगमदि नरि वन्निरे येल्द गुणाढ्यं गृध्रपिच्छ मुनि केवलिने।
88. तत्त्वा सा., प्रस्ता.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

''मुनिपरिषण्मध्ये सन्निषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहित-प्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यम्।''

—जो मुनिसभा के मध्य में विराजमान थे, जो बिना वचन बोले अपने शरीर से ही मानो मूर्तिधारी मोक्षमार्ग का निरूपण कर रहे थे, जो युक्ति और आगम में कुशल थे, परहित का निरूपण करना ही जिनका एक कार्य था तथा जो आर्यपुरुषों के द्वारा सेवित थे ऐसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैनाचार्य उमास्वामी महाराज थे।[89]

विद्यानन्दि स्वामी ने भी आपके व्यक्तित्व के साथ 'भगवद्भिः' इस प्रकार आदर सूचक शब्दों का प्रयोग किया है। इतना ही नहीं सूत्रकार के साथ ही सूत्रों को पढ़ने की भी महत्ता को दर्शाया है—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः।।[90]

दशाध्याय प्रमाण तत्त्वार्थसूत्र का पाठ और अनुगम करने पर मुनिश्रेष्ठों ने एक उपवास का फल बतलाया है अर्थात् एक उपवास से जितने कर्मों की निर्जरा होती है उतनी निर्जरा अर्थ समझते हुए तत्त्वार्थसूत्र के एक बार पाठ करने से होती है।

तत्त्वार्थसूत्र के कुछ टीकाकार एवं टीकाओं का संक्षिप्त परिचय

स्वामी समन्तभद्राचार्य क्षत्रिय राजपुत्र थे। जन्म नाम शान्ति वर्मा था। इनके गुरु का क्या नाम था, गुरु-परम्परा क्या थी इतिहास में अज्ञात है। फिर भी आप धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष; आयुर्वेद, मन्त्र एवं तन्त्र आदि विशेष विद्याओं में निपुण होने के साथ ही वाद-कला में अत्यन्त पटु थे। काशीनरेश को आपने अपना परिचय इस प्रकार से दिया था :

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलया मेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्।।

अर्थात् मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, शास्त्रार्थियों में श्रेष्ठ हूँ, पण्डित हूँ, ज्योतिषी हूँ, वैद्य हूँ, मान्त्रिक हूँ, तान्त्रिक हूँ। हे राजन्! इस सम्पूर्ण पृथिवी में, मैं आज्ञासिद्ध हूँ। अधिक क्या कहूँ मैं सिद्ध सारस्वत हूँ।

ऐसे समन्तभद्राचार्य द्वारा तत्त्वार्थसूत्र पर रचित गन्धहस्ति महाभाष्य टीका अद्यावधि अनुपलब्ध है, किन्तु इनके द्वारा रचित अन्य कृतियाँ आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार एवं स्तुतिविद्या उपलब्ध हैं। आपका समय विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी है।[91]

पूज्यपादाचार्य—ये कर्नाटक देश के कोले ग्राम में माधवभट्ट एवं श्रीदेवी ब्राह्मणी के घर जन्मे थे। आपके देवनन्दी, देव, जिनेन्द्रबुद्धि, पूज्यपाद नाम प्रसिद्ध हैं। गुणरत्न महोदधि शब्दकोश के कर्त्ता के अनुसार, आपका एक नाम 'चन्द्रगोमि' भी था।[92] इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ थे—सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, दशभक्ति, जैनेन्द्रव्याकरण,

89. सर्वा. सि., पृ. 1
90. तत्त्वा. सू., प्रशस्ति
91. तत्त्वा. सा., प्रस्ता.
92. श्रव. गो. शि. ले. नं. 254 एवं 64

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्दावतार, शान्तिभक्ति, सारसंग्रह, चिकित्साशास्त्र एवं जैन अभिषेक पाठ। आप विक्रम संवत् 526 से पूर्ववर्ती आचार्य थे। इनका विशेष परिचय पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित सर्वार्थसिद्धि में दिया है।

अकलङ्क भट्ट—ये लघुहब्ब नामक राजा के पुत्र थे तथा भट्ट इनकी उपाधि थी। जैन न्याय एवं दर्शनशास्त्रों के असाधारण पाण्डित्य उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में समाहित था। उन्होंने स्वमतमण्डन परमतनिरसन अकाट्य युक्तियों से किया है। उनके प्रमाणों को कई आचार्यों ने एवं विद्वानों ने सम्मानपूर्वक उल्लेख कर उनके महत्त्व को ऊँचा उठाया है। लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, अष्टशती, प्रमाणसंग्रह, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, स्वरूपसम्बोधन, अकलंकस्तोत्र इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। अकलंकाचार्य का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी है।

विद्यानन्दाचार्य—आप जन्मजात ब्राह्मण होते हुए भी परीक्षाप्रधानी थे। इन्होंने जैन धर्म की समीचीन परीक्षा करके उसे स्वीकार किया था। इससे सिद्ध होता है कि आप दर्शनशास्त्र में पारंगत बहुश्रुतधर विद्वान थे। अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आपके द्वारा रचित कृतियाँ हैं। आपका समय विक्रम संवत् 822 से 897 तक माना जाता है।

बालचन्द्रमुनि—तत्त्वरत्नप्रदीपिका के रचयिता बालचन्द्र मुनि हैं। ये नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य थे। आप कन्नड़ कवि तथा संस्कृत एवं प्राकृत के अनेक ग्रन्थों के टीकाकार हैं।

भास्करनन्दि—व्यावहारिक परिचय में आप जिनचन्द्राचार्य के शिष्य थे। आपका सम्भावित समय 1300 ई. माना गया है। आपने सुखबोधवृत्ति-टीका रची थी।

श्रुतसागर—आप मूलसंघ के कट्टर विद्वान थे। आपके गुरु का नाम विद्यानन्दी था। षट्प्राभृत टीका, महाभिषेक टीका, जिनसहस्रनामी टीका, तत्त्वत्रय प्रकाशिका, औदार्य चिन्तामणि, यशस्तिलकचन्द्रिका, तत्त्वार्थवृत्ति, एवं व्रतकथाकोष आपकी कृतियाँ हैं। आप सोलहवीं शताब्दी के आचार्य थे।[93]

अमृतचन्द्रसूरि—अनगार धर्मामृत की भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका में दो स्थानों पर आशाधर सूरि ने ठक्कुर नाम से उल्लेख किया है।[94] यह ठक्कुर या ठाकुर पद जागीदारों के लिए प्रयुक्त होता था। इससे आपकी गृहस्थ जीवन की समृद्धि का परिचय झलकता है। आपके दीक्षा जीवन काल का परिचय अज्ञात है। आपने अपने मूल ग्रन्थ एवं टीका ग्रन्थों में भी कर्त्ता बुद्धि से ऊपर उठने के लिए भाव प्रकट किया है कि नाना प्रकार के वर्णों से पद बन गये, पदों से वाक्य और वाक्यों से ग्रन्थ बन गया। इसमें हमारा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।[96] इनका समय विक्रम की दशवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है।

आप संस्कृत भाषा के महान् उद्भट विद्वान् एवं अध्यात्मतत्त्व के मर्मज्ञ थे। आपने कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार ग्रन्थ पर कलश सहित आत्मख्याति टीका, प्रवचनसार ग्रन्थ पर तत्त्वप्रदीपिका टीका, पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ पर समय व्याख्या गद्य-टीकाएँ लिखीं हैं जो संस्कृत वाङ्मय की अमूल्य निधि हैं। समयसार की आत्मख्याति टीका में जिन कलश-छन्दों का उपयोग किया गया है; इससे ध्वनित होता है यह टीका गद्य-पद्य दोनों शैली का अनुगमन करती है। काव्य लक्षणकारों ने इसे चम्पूकाव्य कहा है।[97]

---

93. सर्वा. सि., टी. प्रस्ता.
94. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 375
95. अन. धर्मा. पृ. 160, 588
96. पु. सि., तत्त्वा. सा., स. सा., पंच. का., प्र. सा. श्लोक
97. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ. बलदेव प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ 414

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आपका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ 226 आर्या छन्दों में है। इसे 'जिनप्रवचन रहस्यकोश' भी कहा जाता है। इसमें मुख्य रूप से श्रावकाचार एवं गौण रूप से साधु-आचार का संक्षिप्त निरूपण है। इसकी अनेक भाषाओं में टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इस ग्रन्थ में हिंसा एवं अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन है वैसा अन्यत्र देखने में नहीं आया।

लघुतत्त्वस्फोट—यह एक नवोदित कृति है। अहमदाबाद के डेला भण्डार में मुनिश्री पुण्यविजय जी को इसकी ताडपत्रीय पाण्डुलिपि प्रथम बार सन् 1968 में उपलब्ध हुई थी।[98]

इसमें 625 श्लोक हैं। 25-25 श्लोक वाले 25 अध्याय हैं। इसमें 13 प्रकार के छन्दों का उपयोग किया गया है। इसका अन्वय सहित हिन्दी अर्थ पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य ने किया है। इसके अनेक संस्करण अनेक संस्थाओं से प्रकाशित हो चुके हैं।

इस भक्तिपूरित काव्यग्रन्थ में जैन तत्त्व; आगम, सिद्धान्त, न्याय दर्शन को अभिव्यक्त किया है। जिस प्रकार समन्तभद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र में शब्द-अर्थ एवं भाव गाम्भीर्य से चौबीस तीर्थंकरों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को भक्ति से गुंफित किया है इसी का अनुकरण लघुतत्त्वस्फोट में किया गया है। पहला अध्याय चौबीस तीर्थंकरों के गुणस्मरण से ओतप्रोत है। शेष चौबीस अध्याय जिनेन्द्र भगवान के आगम-सिद्धान्त न्याय दर्शन का पिटारा हैं। यह कृति भक्ति परम्परा को जीवित रखने के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अनेक गुणगणसम्पृक्त अलंकार प्रयुक्त इस कृति का जन-साधारण में पठन-पाठन का प्रचलन अवश्य होना चाहिए। अमृतचन्द्राचार्य का अनेकान्त एवं स्याद्वाद, सभी टीका-ग्रन्थों का मूलभूत बीज मन्त्र है। वे ग्रन्थों के प्रारम्भ में ही अनेकान्त का स्मरण कर पाठकों को सचेत करते हैं कि अनेकान्त ही जिनागम का जीव—प्राण है, स्याद्वाद उसकी श्वास है। इनके बिना जैनधर्म एवं आगम निर्जीव-निष्प्राण हो जाता है।[99]

समयसार की आत्मख्याति टीका के अन्त में स्याद्वादाधिकार अन्तर्गत सैंतालीस शक्तियों, प्रवचनसार के अन्त में स्याद्वादाधीन सैंतालीस नयों का निरूपण तथा पंचास्तिकाय के अन्त में ग्रन्थतात्पर्य के रूप में निश्चयाभास, व्यवहाराभास एवं उभयाभासों का वर्णन कर स्याद्वाद की शैली से उनका निरसन करके समन्वय किया है।

तत्त्वार्थसार—जिस प्रकार समयसार की आत्मख्याति टीका में समयसारकलश अध्यात्म विषयक पद्य टीका है, उसी प्रकार तत्त्वार्थसार भी उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र की शैली में लिखा हुआ स्वतन्त्र ग्रन्थ है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि अमृतचन्द्रसूरि ने इसे तत्त्वार्थसूत्र के स्थान पर पद्य का दे रूप दिया है, परन्तु कितने ही स्थानों पर इन्होंने नवीन तत्त्वों का भी संकलन किया है। नवीन तत्त्वों का संकलन करने के लिए इन्होंने अकलंक स्वामी के राजवार्तिक का सर्वाधिक आश्रय लिया है। आस्रव तथा मोक्ष के प्रकरण में तो उन्होंने प्रकरणोपात्त वार्तिकों को पद्यानुवाद के द्वारा अपने ग्रन्थ का अंग ही बना लिया है। उमास्वामी ने गुणस्थान और मार्गणाओं के जिस प्रकरण को छोड़ दिया था, उसे भी अमृतचन्द्राचार्य ने यत् कथंचित् स्वीकार कर विकसित किया है।[100]

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के प्रथम मंगलाचरण के पश्चात् ग्रन्थ-प्रतिज्ञा में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह तत्त्वार्थसार नामक कृति मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान है जो मुमुक्षुओं के हित के लिए तत्त्वार्थ का ही सार है।[101] ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति के पहले तत्त्वार्थसार ग्रन्थ के पढ़ने-सुनने, मनन

98. आ. अमृ. व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, पृ. 361

99. स. सा., श्लो./प्रव. सा. श्लो./पञ्चा. का. / पुरु. सि. श्लो.

100. तत्त्वा.सा., प्रस्ता. पं. पन्नालाल साहि.

101. तत्त्वा. सा., श्लो. 2

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करने के फल को निम्न शब्दों में महिमामण्डित किया है—जो पुरुष मध्यस्थ होकर इस तत्त्वार्थसार को जानकर निश्चल चित्त होता हुआ, मोक्षमार्ग का आश्रय लेता है, वह निर्मोही होकर संसार के बन्धन को दूर कर चैतन्यस्वरूप अविनाशी मोक्षतत्त्व को प्राप्त करता है।[102]

तत्त्वार्थसार में नौ अधिकार हैं—1. सप्ततत्त्व पीठिका, 2. जीवतत्त्व, 3. अजीवतत्त्व, 4. आस्रवतत्त्व, 5. बन्धतत्त्व, 6. संवरतत्त्व, 7. निर्जरातत्त्व, 8. मोक्षतत्त्व वर्णन अधिकार एवं 9. अन्त में उपसंहार रूप 21 पद्य हैं।

प्रथमाधिकार—इसमें युक्ति और आगम से सुनिश्चित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने उनके विषयभूत जीवादि सात तत्त्वों का विशद वर्णन किया है। उनके अनुसार, प्रारम्भ में सातों तत्त्वों का स्वरूप ज्ञेय है, पुनः उनमें से एक जीव तत्त्व उपादेय है, अजीव तत्त्व हेय है। अजीव तत्त्व हेय होने पर भी ज्ञेय क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि "बिन जानैं तै दोष गुणन को कैसे तजिए गहिए।" अजीव का जीव के साथ सम्बन्ध क्यों होता है, इसका कारण बतलाने के लिए आस्रव का कथन है। अजीव का सम्बन्ध होने से जीव की क्या दशा होती है, यह बतलाने के लिए बन्ध का कथन है। अजीव तत्त्व, आस्रव व बन्ध का कारण है अतः इसका सम्बन्ध कैसे छूटे, यह बतलाने के लिए संवर और निर्जरा का कथन है। अजीव तत्त्व का समस्त सम्बन्ध छूटने पर जीव किस अवस्था को प्राप्त होता है, यह बतलाने के लिए मोक्षतत्त्व का कथन है।[103]

पूज्यपादाचार्य से शिष्य ने प्रश्न किया कि भगवन्! मोक्षमार्ग में मोक्ष प्रधान तत्त्व है, अतः मोक्षतत्त्व प्रथम होना चाहिए, आपने जीवतत्त्व को प्रथम क्यों रखा? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि सब तत्त्वों का फल आत्मा को मिलता है, अतः प्रथम जीव का ग्रहण किया है। अजीव, जीव का उपकारी है यह दिखलाने के लिए जीव के बाद अजीव का कथन किया है। आस्रव तत्त्व, अजीव और जीव दोनों को विषय करता है अर्थात् जीव जब अजीव में आसक्त होता है तब आस्रव होता है, अतः इन दोनों के बाद आस्रव का ग्रहण किया है। बन्ध आस्रवपूर्वक होता है, अतः आस्रव के बाद बन्ध का कथन किया गया है। संवृत जीव के बन्ध नहीं होता है, अतः संवर, बन्ध का उल्टा है। इस बात का ज्ञान कराने के लिए बन्ध के बाद संवर का कथन किया है। संवर के होने पर ही निर्जरा होती है, अतः संवर के बाद निर्जरा का कथन किया है। सब कर्मों की निर्जरा होने पर ही अन्त में मोक्ष होता है अतः अन्त में मोक्षतत्त्व का कथन किया है।[104]

इन सात तत्त्वों की असली-नकली की परीक्षा नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव इन चार निक्षेपों द्वारा होती है, अतः तत्त्वों की कसौटी का कथन किया है। शिष्य तीन प्रकार के होते हैं। पहला संक्षेपरुचि, दूसरा मध्यम रुचि, तीसरा विस्ताररुचि। संक्षेपरुचि शिष्य को जीवादि तत्त्वों का ज्ञान, प्रमाण एवं नय के द्वारा होता है। इसका विशेष खुलासा किया है। इसमें विशेष बात यह है कि प्रमाण के वर्णन में जहाँ मतिज्ञान आदि पाँच सम्यग्ज्ञानों का वर्णन किया है उसमें मतिज्ञान के भेद में एक भेद स्वसंवेदनज्ञान को स्वीकार किया है।[105] स्वसंवेदनज्ञान का नाम समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में ही प्रयुक्त होता है। यहाँ मतिज्ञान को स्वसंवेदन ज्ञान क्यों कहा? तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पयार्यवाची नामों में भी स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है।[106]

---

102. तत्त्वा. सा., श्लो. 22 (उपसंहार)
103. सर्वा. सि., वृ. 18
104. तत्त्वा. सा., श्लो. 7-8
105. तत्त्वा. सा., श्लो. 19
106. तत्त्वा. सू., अ. प्र. सू. 13

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यों की शैली में आगम, सिद्धान्त, न्याय एवं अध्यात्म आदि कई विधाओं का समावेश रहता है। जहाँ मतिज्ञान को आगम में मतिज्ञान कहते हैं वहीं न्याय-दर्शन में स्मृति, चिन्ता, तर्क, बुद्धि, प्रतिभा, मेधा, प्रज्ञा, प्रत्यभिज्ञान एवं सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं। इसे ही सिद्धान्त भाषा में अभिनिबोध ज्ञान कहते हैं, उसी प्रकार अध्यात्म भाषा में मतिज्ञान का नाम ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। इस बात की पुष्टि श्लोकवार्तिककार ने भी की है, अतः स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान कोई नूतनज्ञान नहीं है मतिज्ञान का ही नाम है।[107]

मध्यमरुचि शिष्य को जीवादि तत्त्वों का ज्ञान निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह अनुयोग द्वारा किया गया है। संसार में किसी भी वस्तु को जानने की मध्यम विधि निर्देश आदि से ही शुरू होती है। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति के सामने उससे अज्ञात पदार्थ रखा जाए। उसे देखते ही वह पूछता है—यह क्या है? इसके उत्तर में जो उस पदार्थ का नाम और स्वरूप है यही 'निर्देश' है। देखनेवाला पुनः दूसरा प्रश्न करता है—यह पदार्थ किसका है, अर्थात् इसका स्वामी कौन है? इस प्रश्न का उत्तर 'स्वामित्व' के परिचय में दिया जाता है। देखनेवाला पुनः तीसरा प्रश्न करता है—यह पदार्थ बनता कैसे है? इस प्रश्न का उत्तर 'साधन' का निरूपण है। देखनेवाले का पुनः चौथा प्रश्न, यह पदार्थ मिलता कहाँ-कहाँ है? इसका उत्तर 'अधिकरण' है। पाँचवाँ प्रश्न पुनः होता है—यह पदार्थ कब तक रहता है? इसका उत्तर 'स्थिति' में होता है। अब छठा प्रश्न होता है कि इस पदार्थ के भेद या प्रकार कितने हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर 'विधान' द्वारा दिया जाता है।

विस्ताररुचि शिष्य को जीवादि तत्त्वों का ज्ञान सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव एवं अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों द्वारा किया जाता है।

जैसे—किसी वस्तु को खरीदने वाला व्यक्ति, किसी दुकान पर जाकर दुकानदार से इच्छित वस्तु के बारे में पूछता है कि अमुक वस्तु है क्या? यह 'सत्' है। यदि वह वस्तु उस दुकान में है तो दुकानदार पूछता है 'कितनी' चाहिए? यह 'संख्या' है। व्यक्ति पूछता है पहले दिखाओ 'कहाँ' है? यह 'क्षेत्र' है। दुकानदार उस व्यक्ति को मालगोदाम में ले जाकर फेक्टरी आदि से खरीदी हुई वस्तु को दिखलाता है और व्यक्ति से यह पूछता है कि तुम इसे 'कहाँ तक' ले जाओगे? यह 'स्पर्शन' है। पुनः व्यक्ति पूछता है कि यह वस्तु कितनी पुरानी है और 'कब तक' चलेगी? दुकानदार उस वस्तु की मर्यादा बतलाता है यह 'काल' है। यदि वह व्यक्ति को नापसन्द है तो दुकानदार से पूछता है कि नयी वस्तु 'फिर कब' मिल सकती है, दुकानदार नयी वस्तु आने का समय बतलाता है। यह 'अन्तर' है। यदि वह वस्तु व्यक्ति को पसन्द है तो वह उस वस्तु का मोलभाव करता है , दुकानदार उसे उसकी 'कीमत' बतलाता है। यह 'भाव' है। भाव तय होने के बाद कौन-सी वस्तु 'कितनी मात्रा' में खरीदी जाय, इसका आकलन करना 'अल्पबहुत्व' है।

ठीक इसी तरह इन सत्संख्या आदि अनुयोगों को सभी जीवादि तत्त्वों एवं सम्यग्दर्शन आदि के साथ और संसार की अन्य वस्तुओं के साथ भी लगाकर अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करना चाहिए। यह विस्ताररुचि शिष्य की अपेक्षा वस्तुस्वरूप समझने की विधि है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसार के प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन आदि सहित प्रमाण-नय एवं निर्देशादि तथा सत्संख्यादि का युक्तिपूर्ण विवेचन है। इसमें कुल 54 श्लोक हैं।

तत्त्वार्थसार के द्वितीय अधिकार में जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच स्वतत्त्वों का वर्णन, जीव का लक्षण बताने के लिए उपयोग का वर्णन एवं उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन

---

107. तत्त्वा. श्लो. वा., भा. 1, श्लो. 102-103

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

किया है। पश्चात् जीव के संसारी और मुक्त के भेद से दो भेद करके संसारी जीवों का वर्णन गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओं के द्वारा किया है। इससे अमृतचन्द्रसूरि की अहिंसाप्रियता का पता चलता है, क्योंकि जीवराशि के ज्ञान बिना उसकी रक्षा किस प्रकार हो सकती है? श्लोकों के शब्द सामान्य से किन्हीं ग्रन्थों का भावसादृश्य होना सहज है, क्योंकि शब्द संख्यात हैं। फिर भी तारतम्यता या विषयवस्तु के पुष्टीकरण के लिए आचार्य अन्य आचार्यों की कृतियों की शब्दावलियों का सहारा भी लेते हैं, यह उन आचार्यों की अपनी नम्रवृत्ति आदि का ही द्योतक है।

इस अधिकार में जीव के भावों वर्णन करते हुए अधोलोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक का वर्णन किया गया है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय के सम्पूर्ण विषय को कई विशेषताओं के साथ संकलित किया है, जिनका सम्पुष्टीकरण सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक ग्रन्थों के आश्रय से किया है। द्वितीयाधिकार में कुल 238 श्लोक हैं।

तृतीयाधिकार में अजीव तत्त्व के वर्णन में प्रसंगानुसार छह द्रव्यों का स्वरूप, उनके प्रदेश, उपकार एवं पुद्गल के भेद-प्रभेदों का कथन है। इस अधिकार में तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय को आधार बनाया गया है। हिन्दी अनुवाद में छहों द्रव्यों के स्वरूप को आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी खुलासा किया है जो अन्यत्र अनुपलब्ध है। इस अधिकार में कुल 77 श्लोक हैं।

चतुर्थाधिकार में आस्रव तत्त्व का वर्णन है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के छठे एवं सातवें अध्याय को आधार बनाया गया है। ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव में जिन कारण एवं कार्यों को तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में कहा, उन्हीं को राजवार्तिक ग्रन्थ से सम्पुष्ट करके इस अधिकार में विशेष खुलासा किया है। हिन्दी सम्पादन में आस्रव की कारणभूत पच्चीस क्रियाओं का सहेतुक विशेष वर्णन है। अशुभ नामकर्म के हेतुओं पर अमृतचन्द्राचार्य ने जो प्रकाश डाला है वह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विशेष ध्यान देने योग्य है।

मन, वचन एवं काय की कुटिलता, विसंवाद करने का स्वभाव, मिथ्यात्व का पोषण, झूठी गवाही देना, चुगली करना, चित्त को अस्थिर रखना, विष का प्रयोग करना, ईंट का भट्टा पकाना, जंगल-खेत आदि में ईर्ष्या आदि के कारण आग लगाना, जिनमन्दिर के बगीचे एवं साधु निवास-स्थान को नष्ट करना, जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा को चढ़ाने योग्य गन्ध (चन्दन-केशर) पुष्पों की माला एवं धूप आदि सामग्री की चोरी करना या इन्हें चढ़ाने का निषेध करना, ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं।[108] पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचारों में एक अतिचार अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान की व्याख्या में लिखा है कि अरहंत और आचार्यों की पूजा के उपकरण गन्ध, माला और धूप आदि को तथा अपने ओढ़ने आदि के वस्त्रादि पदार्थों को बिना देखे और बिना परिमार्जन किये हुए ले लेना अतिचार है।[109] इससे स्पष्ट तात्पर्य तो यही है कि परमेष्ठी की पूजा-सामग्री में गन्ध, माला और धूप चढ़ाना पूज्यपादाचार्य एवं अमृतचन्द्राचार्य को भी इष्ट था। अन्यथा इनका कथन अपने ग्रन्थों में क्यों करते?

आज भी विशेष पर्व-उत्सवों में, रथयात्रा आदि के प्रसंगों में श्रीजी (जिनेन्द्रदेव) की फूलमाल की बोली लगाई जाती है, चाहे वह माला असली फूलों की हो अथवा प्रतीक रूप में लवंग, कागज, या प्लास्टिक की हो, आज भी प्रयोग करते हैं।

---

108. तत्त्वा. सा., चतु. अ., श्लो. 44-47

109. सर्वा. सि. अ. 7, वृ. 721; भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शुभास्रव के कारण एवं कार्यों का वर्णन व्रतों के स्वरूप द्वारा किया गया है। पाँचों व्रतों की पाँच-पाँच भावनाओं के स्वरूप को हिन्दी टीका में सहेतु खुलासा किया है। इस अधिकार में कुल 105 श्लोक हैं।

पाँचवाँ अधिकार बन्ध तत्त्व का विस्तार से वर्णन करने वाला है। इस अधिकार का आधार तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ का आठवाँ अध्याय है। इस अधिकार में कर्मों की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के नाम, लक्षण तथा उनकी स्थिति आदि का वर्णन किया गया है। इस अधिकार में मात्र 54 श्लोक हैं।

छठा अधिकार संवरतत्त्व का वर्णन करने वाला है। इस अधिकार का आधार तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के नवम अध्याय के संवर का लक्षण एवं कारण-कार्य रूप प्रारम्भिक गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय एवं चारित्र, इन सबकी परिभाषाएँ, भेद-प्रभेद का कथन लक्षणों सहित किया है। इस अधिकार में कुल 52 श्लोक हैं।

सातवाँ अधिकार निर्जरा तत्त्व का कथन करने वाला है। इस अधिकार का आधार भी तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के नवम अध्याय को निर्जरा में कारणभूत तप विशेष के सूत्रों को बनाया है। इसमें बारह तपों का सहेतुक वर्णन किया है। इस अधिकार में कुल 60 श्लोक हैं।

आठवाँ अधिकार मोक्षतत्त्व का कथन करने वाला है। इस अधिकार का आधार तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के दशवें अध्याय को बनाया है। मोक्षतत्त्व का लक्षण, उसकी प्राप्ति के उपाय का कथन युक्तिपूर्ण शैली में किया गया है। शोधार्थी ऐसा मानते हैं कि अमृतचन्द्र आचार्य ने अकलंकाचार्य के राजवार्तिक के कितने ही वार्तिकों को श्लोक रूप देकर अपने ग्रन्थ का अंग बना लिया।[110] इस अधिकार में कुल 55 श्लोक हैं।

नौवाँ अधिकार सम्पूर्ण ग्रन्थ का उपसंहार है, सिंहावलोकन है, अथवा चूलिका है।[111] अमृतचन्द्राचार्य ने अन्त में उपादेयभूत कथन किया है, जिसमें उन्होंने कहा है कि प्रमाण, नय, निक्षेप तथा निर्देश आदि के द्वारा सात तत्त्वों को जानकर मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिए। निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। इनमें निश्चय मोक्षमार्ग साध्य और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन हैं। अपने शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान तथा राग-द्वेषरहित चारित्र निश्चय मोक्षमार्ग है और पर-आत्माओं का जो श्रद्धान आदि है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय मोक्षमार्ग मोक्षप्राप्ति का साक्षात् कारण है। व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधक होने के कारण परम्परा से मोक्षमार्ग है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने श्रद्धान को दोनों मोक्षमार्ग के अनुरूप दृढ़ रखता है। जो अकेले निश्चय मोक्षमार्ग को अपनाकर व्यवहार मोक्षमार्ग की उपेक्षा करके उसका उपहास उड़ाते हैं वे निश्चयाभासी हैं। उन्हें अमृतचन्द्राचार्य ने बाल-अज्ञानी संज्ञा से सम्बोधित किया है।[112]

जो निश्चयनय को न जानता हुआ निश्चय से उसी का आश्रय लेता है जिससे बाह्य क्रियाओं की प्रवृत्ति में आलसी होकर सम्यक् चारित्र को भी नष्ट कर देता है। जो एकान्त से निश्चयनय या व्यवहारनय को ठीक से न समझकर उल्टा पकड़कर बैठे हैं उन्हें निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी कहा जाता है। इसी प्रकार जो निश्चयनय एवं व्यवहारनय के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से न समझकर दोनों को ही अन्ध श्रद्धा से अपना लेते है वे भी उभयाभासी कहे जाते हैं। इस प्रकार ये तीनों ही आभासी मोक्षमार्ग से अतिदूर हैं। अत: इन तीनों की धारणाओं को युक्तिपूर्वक दूर करके सच्चा मोक्षमार्गी बनने का कथन इस चूलिका में किया गया है। इस नौवें अधिकार में कुल 23 श्लोक हैं।

---

110. तत्त्वा. सार. प्रस्ता. पृ. 34-36, सम्पा. पन्नालाल साहित्यचार्य

111. स. सा., ता. वृ., गा. 321

112. पुरु. सि. श्लो. 50

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार इस तत्त्वार्थसार के नव अधिकारों में कुल 718 श्लोकों की संख्या है। अधिकांश श्लोक अनुष्टुप् छन्द में हैं, लेकिन कुछ अधिकारों के अन्त में आर्या, शालिनी एवं वसन्ततिलका छन्दों का भी प्रयोग किया है।

पाठभेद—अद्यावधि प्रकाशित कृतियों में तीन कृतियाँ प्रमुख हैं :

(1) सन् 1919, कलकत्ता प्रकाशन। (2) सन् 1926, प्रथम गुच्छक काशी। (3) सन् 1970, वाराणसी। इन तीनों प्रकाशनों में पाठभेद अधिकांशत: व्याकरण सम्बन्धी हैं, या लिपिकारों की मुद्रण अशुद्धि हैं।[113] लेकिन किन्हीं भी पाठभेदों में अर्थविपर्यास नहीं है।

इस प्रकार यह तत्त्वार्थसार ग्रन्थ, श्लोकमय-पद्य रचना मोक्षमार्ग का सम्पूर्ण वर्णन करने वाला होने से मोक्षशास्त्र ही है। इसकी सम्पुष्टि ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका वाक्य के द्वारा होती है—

''इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणां कृति: तत्त्वार्थसारो नाम मोक्षशास्त्रं समाप्तम्।''

टीका के प्रेरणास्रोत—आज से पच्चीस वर्ष पूर्व सन् 1984 में, अजमेर (राज.) में हमारी दिगम्बरी दीक्षा हो चुकी थी, तभी संतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी के संघस्थ ब्र. राकेशजी जबलपुर से किसी खास तात्त्विक चर्चा को लेकर हमारे शिक्षागुरु बहुश्रुत विद्वान आचार्यकल्प श्रुतसागर जी महाराज के पास आये थे। उस चर्चा में हम भी मध्यस्थ भाव से सुनने बैठते थे। चर्चा की समाप्ति पर हमारे शिक्षागुरु आचार्यकल्प श्रुतसागर जी ने कहा कि ''आचार्य विद्यासागर जी बहुश्रुत विद्वान् हैं। उन्होंने अनेक पद्यानुवाद रचनाएँ लिखीं हैं। अच्छा हो कि आचार्यश्री अपने ज्ञान का उपयोग किसी ग्रन्थ की हिन्दी टीका लिखने में करें।'' हमें नहीं पता कि हमारे शिक्षागुरु की बात आचार्यश्री तक पहुँची या नहीं, लेकिन यह वाक्य हमारे कानों में अनुगुंजित हुआ।

उस समय से बात आयी-गयी हो गयी। इस बीच हमने भी कुछ स्वतन्त्र गद्य-पद्य रचनाएँ तैयार कीं जो यथासमय प्रकाशित भी हुईं। इनमें 'मन्दिर' कृति हिन्दी, मराठी, कन्नड़, गुजराती एवं अंग्रेजी भाषा में लाखों की संख्या में प्रकाशित हुई, जिससे जन-साधारण से लेकर त्यागी-व्रती, विद्वान, साधुजनों को भी विशेष चिन्तन का विषय मिला।

सन् 2006 में श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर बाहुबली भगवान का महामस्तकाभिषेक तय हो गया। ट्रस्टाध्यक्ष कर्मयोगी चारुकीर्ति भट्टारक जी ने महोत्सव कमेटी के जिम्मेदार पदाधिकारियों द्वारा महामस्तकाभिषेक के लिए निमन्त्रण भिजवाया। कुछ संघसेवक, समाज के श्रद्धालु श्रावक जनों ने संघ की निरापद यात्रा कराने की जिम्मेदारी ली एवं प्रभावनापूर्ण ढंग से संघ विहार करता हुआ श्रवणबेलगोल पहुँचा। उस महोत्सव में आचार्य वर्द्धमान सागरजी प्रभृति लगभग दो सौ पचास पिच्छीधारी सम्मिलित थे। मुख्य अभिषेक प्रभावनापूर्ण ढंग से सम्पन्न हुआ। अनेक संघ अपनी पूर्व नियोजित यात्राओं के लिए विहार कर गये।

भट्टारक चारुकीर्ति जी ने महामस्तकाभिषेक के पूर्ण समापन समारोह के लिए हमें संघ सहित श्रवणबेलगोल में ही वर्षायोग के कार्यक्रम के लिए विशेष विनय-भक्तिपूर्वक रोक लिया। सन् 2006 के वर्षायोग में लगभग दश संघों के पच्चीस पिच्छीधारी वहाँ विराजमान थे। नित्य प्रतिदिन समयसार जी एवं सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थों का सामूहिक स्वाध्याय होता था। भट्टारक चारुकीर्ति जी यथासमय स्वाध्याय में अवश्य आते एवं अपने दार्शनिक मौलिक चिन्तन से दोनों ग्रन्थों के विषयों का अधिक खुलासा करते थे, इसी क्रम में हमें भी अपने तात्त्विक-मौलिक चिन्तन को सभी के सामने रखने का अवसर प्राप्त होता था।

---

113. आ. अ., व्य. कृ., पृ. 359

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

एक दिन भट्टारक स्वामी जी ने हमसे कहा कि—महाराजश्री, आपके पास जो तत्त्वों का मौलिक चिन्तन है वह जन-साधारण से लेकर विद्वान, त्यागी-व्रती, एवं साधुजनों तक पहुँचना चाहिए। अभी तक हमने विद्वानों की टीकाओं का स्वाध्याय किया है, परन्तु अब हम आप जैसे मनीषी साधुओं की चिन्तनपूर्ण टीकाओं का स्वाध्याय करना चाहते हैं।

हमने स्वामी जी से कहा कि हम इन टीका कार्यों के लिए असमर्थ हैं, लेकिन स्वामी जी ने हमें प्रोत्साहन दिया कि आप इस कार्य को कर सकते हैं एवं इस कार्य के लिए जो भी आपको सहायता चाहिए श्रवणबेलगोल क्षेत्र ट्रस्ट की ओर से हम करेंगे।

भट्टारक स्वामी जी के प्रोत्साहन एवं उनके उदात्त विचारों ने हमें सम्बल दिया, जो इस कार्य को करने का प्रेरणास्रोत बना। इस कार्य के लिए कर्मयोगी चारुकीर्ति भट्टारक जी अनन्त आशीर्वाद के पात्र हैं।

श्रवणबेलगोल क्षेत्र के वर्षायोग के बाद स्वामी जी की प्रेरणा से संघ तमिलनाडु की यात्रा करता हुआ, सन् 2007 में धर्मस्थल (द.क.) के महामस्तकाभिषेक में सम्मिलित हुआ। संघ ने 2007 का वर्षायोग फलटन (महा.) में किया। वहाँ पर सन् 1919 की एक जीर्ण-शीर्ण तत्त्वार्थसार की प्रति प्राप्त हुई। हमने पहली बार ही तत्त्वार्थसार को पढ़ा, तब विचार आया कि हिन्दी टीका के सम्पादन कार्य का आरम्भ क्यों न अमृतचन्द्राचार्य की इस तत्त्वार्थसार कृति से किया जाए, क्योंकि अद्यावधि तत्त्वार्थसार की मौलिक चिन्तनपूर्ण हिन्दी टीका का सम्पादन नहीं हुआ। अत: हमने इस ग्रन्थ की कम्पोंजिग वर्षायोग में ही करवाकर सामान्य करेक्शन करके रख ली कि अवसर मिलने पर इसे प्रकाशित करवा लेंगे।

वास्ट जैन फाउण्डेशन कानपुर (उ.प्र.) के सभी सदस्य संघ-सेवा में सक्रिय योगदान करते हैं। त्रिभुवन जी ने जब टीका को देखा तो कहने लगे इसे भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली जैसे महत्त्वपूर्ण संस्थान से प्रकाशित करवाना चाहिए। हमने कहा—यह जवाबदारी आपकी है। त्रिभुवन जी ने इसकी प्रति ले जाकर भारतीय ज्ञानपीठ के मैनेजिंग ट्रस्टी श्री साहू अखिलेश जैन को दिखायी। ज्ञानपीठ के मुख्य प्रकाशन अधिकारी डॉ. गुलाबचन्द्र जैन ने भी इसके प्रकाशन की संस्तुति करते हुए कहा कि भारतीय ज्ञानपीठ से तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक एवं तत्त्वार्थवृत्ति जैसी हिन्दी टीकाएँ तो प्रकाशित हो चुकी हैं, लेकिन तत्त्वार्थसार की यह महत्त्वपूर्ण हिन्दी टीका अभी तक हमारे प्रकाशन से दूर है। परामर्श के बाद साहू अखिलेश जी ने इसके प्रकाशन के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। इसके लिए साहू अखिलेश जी एवं डॉ. गुलाबचन्द्र जी, दोनों ही अनुग्रहाशीष के पात्र हैं।

हमने जो तत्त्वार्थसार की हिन्दी-टीका की प्रति तैयार की थी, वह कई करेक्शन एवं कुछ भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों से सहित थी जिसकी शुद्धि की जिम्मेदारी डॉ. वीरसागर जैन, अध्यक्ष जैन दर्शन विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली को सौपी गयी। उन्होंने कुछ सुझाव सहित इसे ज्ञानपीठ को इसके प्रकाशन के लिए भेज दी। इस कार्य लिए डॉ. वीरसागर जी शुभाशीष के पात्र हैं। इसी शृंखला में राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, दिल्ली के साथ ही समय-समय पर प्रो. डॉ. विश्वनाथ चौधरी, आरा (बिहार) एवं डा. सुभाषचन्द सचदेवा "हर्ष" सोनीपत (हरि.) का तात्त्विक सहयोग मिला, वे अनन्य आशीर्वाद के पात्र हैं।

तत्त्वार्थसार की टीका का नामकरण—जिन्होंने बीसवीं शताब्दी में यथार्थ मुनिचर्या का परिचय कराया ऐसे प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाधीश आचार्य-शिरोमणि श्री धर्मसागर जी महाराज जो रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के प्रतीक हमारे दिगम्बर दीक्षा प्रदाता हैं, और द्वादशवर्षीय उत्कृष्ट यम सल्लेखना

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

साधक हमारे शिक्षागुरु आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज के परम उपकार को पुण्य स्मरण बनाने हेतु हमने इसका नाम धर्मश्रुतज्ञान हिन्दी टीका किया है।

इस हिन्दी टीका में प्रयुक्त सामग्री को सन् 1919 की तत्त्वार्थसार की टीका एवं सन् 1970 में प्रकाशित पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर की प्रस्तावना एवं अनुवाद से सम्पुष्ट किया है। इसके अलावा जिन जैनाचार्यों के ग्रन्थ एवं टीकाओं की सामग्री का उपयोग हमने इस महान कार्य में किया है, उन सभी का हमारे ऊपर उपकार है, हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

माँ जिनवाणी के अनन्य उपकार को भुलाना कृतघ्नता होगी। जो माँ हमारी लेखनी-जिह्वा एवं बुद्धि में सतत विराजमान रहकर हमारा मार्ग प्रशस्त करती है, उस अनेकान्त मूर्ति जिनवाणी माँ को हमारे अनन्त नमस्कार स्वीकृत हों।

एक कार्य की सफलता में अनेक सहयोगी कारण होते हैं। इस टीका को निर्विघ्न रूप से लिखने का श्रेय संघस्थ सभी त्यागी साधुवृन्दों को है, जिन्होंने हर तरह से अनुकूलता देकर हमें समय का मानसिक सहयोग दिया। हमारे साहित्य प्रकाशक चन्द्रा कापी हाऊस आगरा (उ.प्र.) साहित्य संरक्षण में सहयोग देते रहे हैं। इसके अलावा जो इस ग्रन्थ की टीका को अपना अमूल्य द्रव्य देकर वितरण करने का सद्भाव रखते हैं, ऐसे समस्त श्रद्धालु संघ सेवक जिनवाणी आराधकों को अनन्त अनुग्रहाशीष स्वीकार हों।

इस हिन्दी-टीका के करने में प्रमाद-अज्ञानादि के द्वारा जो भूलें हुई हों, विज्ञजन क्षमा करें।

अनगार मुनि अमितसागर

8 जुलाई, 2009
वीरशासन जयन्ती
सहारनपुर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

प्रथमाधिकार

	श्लोक संख्या	पृष्ठ
मंगलाचरण	1	1
ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा	2	1
मोक्षमार्ग का स्वरूप	3	1
रत्नत्रय का लक्षण	4	2
तत्त्वों के कहने का हेतु	5	4
यथार्थ तत्त्वों के नाम	6	4
हेयोपादेय तत्त्वों का कथन	7	6
निक्षेपों द्वारा शब्दों के अर्थ समझने की विधा	9	7
नाम निक्षेप का लक्षण	10	8
स्थापना निक्षेप का लक्षण	11	8
द्रव्य निक्षेप का लक्षण	12	9
भाव निक्षेप का लक्षण	13	9
तत्त्व निश्चय के साधन	14	9
प्रमाण का लक्षण व भेद	15	10
परोक्ष ज्ञान का लक्षण	16	10
सम्यक् प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	17	11
सम्यग्ज्ञान का स्वरूप व मूलभेद	18	11
मतिज्ञान के कारण	20	13
मतिज्ञान के भेद व विषय	21	13
श्रुतज्ञान का स्वरूप	24	17
अवधिज्ञान का स्वरूप तथा भेद	25	18
मन:पर्यय ज्ञान का लक्षण और भेद	28	20
अवधि और मन:पर्ययज्ञान की पारस्परिक विशेषता	29	22
केवलज्ञान का लक्षण	30	22
पाँचों ज्ञानों का विषय विभाग	31	24

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

एक जीव के साथ कितने ज्ञान	34	25
ज्ञान मिथ्या होने का कारण	35	25
मिथ्याज्ञानी का दृष्टान्त	36	26
नय का लक्षण तथा भेद	37	26
नयों के भेदों के नाम	38	26
द्रव्यार्थिक नय के भेद	41	27
पर्यायार्थिक नय के भेद	42	28
नैगम नय का लक्षण व उदाहरण	44	28
संग्रह नय का लक्षण	45	29
व्यवहार नय का लक्षण	46	29
ऋजुसूत्र नय का लक्षण	47	30
शब्द नय का लक्षण	48	30
समभिरूढ नय का लक्षण	49	31
एवंभूत नय का लक्षण	50	31
नयों की परस्पर सापेक्षता	51	32
पदार्थों को मध्यम एवं विस्तार विधि से जानने के उपाय	52	33
सात तत्त्वों को जानने की प्रेरणा	54	35

द्वितीय अधिकार

मंगलाचरण एवं प्रतिज्ञा	1	36
जीव का लक्षण एवं औपशमिकादि भावों के भेद	2	36
औपशमिक भावों के भेद	4	37
क्षायोपशमिक भावों के भेद	4	37
क्षायिक भावों के भेद	6	39
औदयिक भावों के भेद	7	40
पारिणामिक भावों के भेद	8	42
जीव का लक्षण	9	43
उपयोग के भेद	10	44
जीवों के भेद	14	45
गुणस्थानों के नाम	16	45
पहला—मिथ्यात्व गुणस्थान	18	46
दूसरा—सासादन गुणस्थान	19	46
तीसरा—मिश्र गुणस्थान	20	46
चौथा—अविरत गुणस्थान	21	47
पाँचवाँ—देशसंयत गुणस्थान	22	47

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

छठा—प्रमत्तसंयत गुणस्थान	23	48
सातवाँ—अप्रमत्त गुणस्थान	24	48
आठवाँ—अपूर्वकरण गुणस्थान	25	49
नौवाँ—अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	26	49
दसवाँ—सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान	27	50
ग्यारहवाँ—उपशान्तकषाय, बारहवाँ—क्षीणकषाय गुणस्थान	28	50
तेरहवाँ—सयोगकेवली, चौदहवाँ—अयोगकेवली गुणस्थान	29	51
चौदह जीवस्थान-जीवसमास	30	51
छह पर्याप्तियाँ एवं उनके स्वामी	32	52
दश प्राण तथा उनके स्वामी	34	53
आहारादि चार संज्ञाएँ	36	54
चौदह मार्गणाएँ	37	55
गति (पहली मार्गणा)	38	55
इन्द्रिय (दूसरी मार्गणा)	39	55
द्रव्य इन्द्रिय के भेद	40	56
अन्तरंग निर्वृत्ति का लक्षण	41	56
बाह्य निर्वृत्ति का लक्षण	42	56
आभ्यन्तर और बाह्य उपकरण	43	56
भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग का स्वरूप	44	57
इन्द्रियों के नाम और क्रम	47	57
पाँचों इन्द्रियों तथा मन के विषय	48	58
इन्द्रियों का विषय सम्बन्ध	49	58
इन्द्रियों की आकृति	50	58
जीवों में इन्द्रिय विभाग	51	58
एकेन्द्रियादि जीवों के भेद	52	59
द्वीन्द्रिय जीवों के नाम	53	59
त्रीन्द्रिय जीवों के नाम	54	59
चतुरिन्द्रिय जीवों के नाम	55	59
पंचेन्द्रिय जीवों के नाम	56	59
काय (तीसरी मार्गणा) में पृथिव्यादि जीवों की आकृति	57	59
पृथिवी के प्रकार	58	60
जलकायिक जीवों के प्रकार	63	60
अग्निकायिक जीवों के प्रकार	64	60
वायुकायिक जीवों के प्रकार	65	61
वनस्पतिकायिक जीवों के प्रकार	66	61

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

योग (चौथी मार्गणा)	67	61
योग के पन्द्रह भेद	68	61
मनोयोग के चार भेद	69	61
वचनयोग के चार नाम	70	62
काययोग के सात प्रकार	71	62
शरीर के पाँच प्रकार	72	62
प्रदेशवृद्धि का गुणकार	73	63
तैजस एवं कार्मण शरीर का विशेष स्वरूप	74	63
युगपत् अनेक शरीरों की मर्यादा	75	63
तैजस, वैक्रियिक की विशेषता	76	64
औदारिक, वैक्रियिक के उत्पत्तिस्थान	77	64
आहारक का स्वरूप	78	64
वेद (पाँचवीं मार्गण)	79	65
लिंग नियम	80	65
कषाय (छठी मार्गणा)	82	66
ज्ञान (सातवीं मार्गणा)	83	66
संयम (आठवीं मार्गणा)	84	67
दर्शन (नौवीं मार्गणा) एवं उनके भेद	86	67
लेश्या (दसवीं मार्गणा)	88	67
भव्यत्व (ग्यारहवीं मार्गणा)	90	68
सम्यक्त्व (बारहवीं मार्गणा)	91	68
संज्ञित्व (तेरहवीं मार्गणा)	93	69
आहार (चौदहवीं मार्गणा)	94	70
आहार रहित जीव	95	70
विग्रहगति शब्द का अर्थ	96	71
देहान्तर के लिए गति होने का हेतु	97	72
विग्रहगति मार्ग	98	72
विग्रहगति के भेद	99	72
विग्रहगतियों के कालनियम तथा नाम	100	72
अनाहारक की समय मर्यादा	102	73
जीवों के जन्म-भेद	103	73
गर्भ व उपपाद जन्मवाले जीव	104	73
योनि प्रकरण	105	74
जन्मों के साथ योनियों का विभाग	107	74

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

योनियों के उत्तर भेद	110	74
कुलों की संख्या	112	75
एकेन्द्रियों और तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु	117	75
असंज्ञी पंचेन्द्रिय, कर्मभूमि मनुष्य, तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु	121	76
भोगभूमिज, कुभोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु	122	76
नारकियों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु	123	76
भवनवासी देवों की जघन्योत्कृष्ट आयु	126	77
व्यन्तर देवों की जघन्योत्कृष्ट आयु	127	77
ज्योतिष्क देवों की जघन्योत्कृष्ट आयु	128	77
कल्पवासी देवों की उत्कृष्ट आयु	129	77
कल्पातीत देवों की उत्कृष्ट आयु	131	77
वैमानिक देवों की जघन्य आयु	132	78
मनुष्य एवं तिर्यंचों की जघन्य आयु	134	78
किनकी आयु नहीं घटती है	135	78
सभी जीवों का शरीर-मान	138	79
ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तर देवों की ऊँचाई	139	80
वैमानिक देवों की ऊँचाई	141	80
तिर्यंचगति के शरीरों का परिमाण	144	80
नरकगति में जीवों के गमन की योग्यता	146	81
नरकगति से जीवों के आगमन की योग्यता	148	81
किसका जन्म कहाँ होता है	153	82
कौन-से स्थावर में मनुष्यादि उत्पन्न हो सकते हैं	156	82
मनुष्यों में कौन-से स्थावर उत्पन्न नहीं होते	157	82
असंज्ञी का जन्म चारों गतियों में हो सकता है	158	82
भोगभूमि में कौन उपजते हैं	159	83
भोगभूमि के जीव कहाँ उपजते हैं	160	83
शलाकापुरुषों का जन्म-निश्चय	161	83
कर्मभूमि के मिथ्यादृष्टि जीवों की उत्पत्ति	162	83
भोगभूमि के मिथ्यादृष्टियों की और तापसों की उत्पत्ति	163	83
इतर तपस्वियों का जन्म	164	84
सम्यक्त्वी मनुष्य और देशव्रती तिर्यंच का जन्म	165	84
अन्य लिंगियों के जन्म की मर्यादा	166	84
कल्पातीत देवों में कौन उपजते हैं	169	84
कल्पातीत देव कहाँ उपज सकते हैं	172	85
अनुदिशादि देव मरकर कहाँ उपज सकते हैं	173	85

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कौन से कल्पातीत देव चरमशरीरी हैं	174	85
कल्पवासीपर्यन्त चरमशरीरी कौन से देव हैं	175	85
लोक का स्वरूप	176	86
तिर्यंचों का क्षेत्र-विभाग	178	86
नारकों का क्षेत्र-विभाग	179	86
नरकों में उत्पत्तिस्थानों की बिल संख्या	182	87
नरकों में कर्मकृत दु:ख	184	87
नरकों में स्व-परकृत दु:ख	185	87
मध्यलोक का स्वरूप	187	88
द्वीप-समुद्रों की रचना	189	88
कुछ क्रमवर्ती द्वीप समुद्रों के नाम	190	88
जम्बूद्वीप के सात क्षेत्र	193	89
जम्बूद्वीप के कुलाचल	194	89
कुलाचलों के सरोवरों का कथन	197	89
ह्रद व पुष्करों का परिमाण	198	90
कमलों पर निवासिनी देवियाँ	201	90
महानदियों के नाम	202	90
नदियों का प्रवाह किस दिशा में है	204	91
भरत आदि क्षेत्रों का विस्तार	206	91
भरत, ऐरावत में हानिवृद्धि का हेतु	208	92
धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध का स्वरूप	209	93
मनुष्य क्षेत्र की सीमा	210	93
मनुष्य के प्रकार	212	94
देवों के भेद-प्रभेद	213	96
भवनवासियों के दश भेद	215	97
व्यन्तरों के आठ भेद	216	97
ज्योतिष्कों के पाँच भेद	217	97
वैमानिकों के दो भेद	218	97
देवों में इन्द्र आदि भेदों का वर्णन	218	98
देवों में मैथुन कर्म का विचार	221	98
भवनवासी देवों के निवासस्थान	222	99
व्यन्तर देवों के निवासस्थान	223	99
ज्योतिष्क देवों के निवासस्थान	224	99
वैमानिक देवों के निवासस्थान	225	100
विमान व पटलों के भेद	226	101

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कल्पों के नाम	227	101
ये दश भेद जहाँ नहीं हैं उनका वर्णन	229	102
ऊपर-नीचे के देवों में अन्तर क्या है	231	103
संसारी व सिद्धों का क्षेत्र	233	103
जीवों के भंग	234	104
तत्त्व-श्रद्धा का फल	238	105

तृतीय अधिकार

मंगलाचरण और विषय-प्रतिज्ञा	1	107
पाँच अजीवों के नाम	2	107
द्रव्यों की छह संख्या	3	107
पंचास्तिकाय का वर्णन	4	107
द्रव्य का लक्षण	5	108
उत्पाद का लक्षण	6	110
व्यय का लक्षण	7	110
ध्रौव्य का लक्षण	8	110
गुण-पर्याय के लक्षण	9	110
गुण-पर्याय शब्दों का अर्थ	10	111
द्रव्य से गुणों का अभेद	11	111
पर्याय-द्रव्य का अभेद	12	111
उत्पाद-व्यय की सार्थकता	13	111
द्रव्यों की नित्यता	14	112
द्रव्यों के अपरिहार्य भेद	15	112
द्रव्यों की मूर्तामूर्तत्व व्यवस्था	16	113
द्रव्यों के उत्तर भेदों का निश्चय	17	113
चलनशक्ति का निश्चय	18	114
द्रव्यों की प्रदेश संख्या	19	114
प्रदेश कल्पना कहाँ पर नहीं है?	21	115
द्रव्यों के रहने का क्षेत्र	22	116
धर्माधर्म की अवगाहना का परिमाण	23	117
जीव की अवगाहना का परिमाण	24	117
पुद्गलों की अवगाहना का परिमाण	25	118
एक आकाश-प्रदेश में अनेक वस्तु	26	120
अवगाहनत्व का दृष्टान्त	27	120
उपसंहार	28	120

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

एक क्षेत्र में अनेक वस्तु समानेवाला दूसरा दृष्टान्त	29	120
धर्म-अधर्म-आकाश द्रव्य का उपकार	30	121
पुद्गलों का उपकार	31	122
जीवों का और काल का उपकार	32	122
धर्म द्रव्य का स्वरूप	33	122
धर्म द्रव्य का दृष्टान्त	34	122
अधर्म द्रव्य का स्वरूप	35	123
अधर्म द्रव्य का दृष्टान्त	36	123
आकाश द्रव्य का लक्षण	37	123
आकाश द्रव्य का कार्य	38	123
धर्मादि द्रव्यों की सार्थकता	39	124
काल का प्रयोजन व लक्षण	40	124
वर्तना का लक्षण	41	124
वर्तना की सहायकता	42	125
काल की निष्क्रियता का समर्थन	43	125
निश्चय कालद्रव्य की स्थिति	44	125
व्यवहार काल के चिह्न	45	126
परिणाम का लक्षण	46	126
कालकृत क्रिया का लक्षण	47	126
कालकृत परत्वापरत्व का लक्षण	48	126
व्यवहार काल—समय के प्रतीक	49	127
व्यवहार काल के पर्याय	50	127
भूत, भविष्यत् आदि व्यवहार का दृष्टान्त व निदान	51	127
पुद्गल शब्द का अर्थ	55	129
पुद्गलों के मूल भेद	56	129
स्कन्ध-परमाणु बनने का कारण	58	130
परमाणु का लक्षण एवं विशेषता	59	130
पुद्गल का लक्षण	61	132
पुद्गल के मुख्य पर्याय	62	133
शब्दों के भेद	63	133
संस्थान के भेद व उदाहरण	64	134
सूक्ष्मत्व के भेद व उदाहरण	65	134
स्थूलता के भेद व उदाहरण	66	135
बन्ध के भेद व उदाहरण	67	135
तम का स्वरूप	68	135

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

छाया के भेद व लक्षण	69	136
आतप व उद्योत का लक्षण	71	136
भेद के भेद	72	136
पुद्गल में बन्धन की योग्यता	73	137
दो अंश की अधिकता रहने का क्या कारण है	75	137
बन्ध के भेद	76	138
अजीव तत्त्व वर्णन का उपसंहार	77	139

चतुर्थ अधिकार

मंगलाचरण व विषय-प्रतिज्ञा	1	155
आस्रव का लक्षण	2	155
आस्रव का शब्दार्थ	3	156
कर्म के दो प्रकार	5	157
साम्परायिक कर्म के आने के कारण	8	159
आस्रव की तरतमता के कारण	9	162
अधिकरण या आश्रय का विस्तारार्थ	10	162
ज्ञानावरण कर्म के आस्रव-हेतु	13	165
दर्शनावरण के आस्रव-हेतु	17	166
वेदनीय के प्रथम भेद, असातावेदनीय के आस्रव हेतु	20	167
सातावेदनीय के आस्रव-हेतु	25	168
दर्शनमोहनीय के आस्रव-हेतु	27	169
चारित्र मोहनीय के आस्रव-हेतु	29	170
नरकायु के आस्रव-हेतु	30	171
तिर्यंचायु के आस्रव-हेतु	35	172
मनुष्यायु के आस्रव-हेतु	40	172
देवायु के आस्रव-हेतु	42	173
अशुभ नामकर्म के आस्रव-हेतु	44	174
शुभ नामकर्म के आस्रव-हेतु	48	174
तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव-हेतु	49	174
नीचगोत्र कर्म के आस्रव-हेतु	53	178
उच्चगोत्र कर्म के आस्रव-हेतु	54	178
अन्तराय कर्म के आस्रव-हेतु	55	178
पुण्य-पाप कर्म के आस्रव हेतु	59	179
व्रत किन्हें कहते हैं	60	179
व्रत के भेद	61	180

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व्रत-रक्षा के उपाय	62	180
अहिंसा व्रत की भावना	63	180
सत्य व्रत की भावना	64	182
अचौर्य व्रत की भावना	65	182
ब्रह्मचर्य व्रत की भावना	67	182
परिग्रहत्याग व्रत की भावना	68	183
हिंसादि पापों का स्वरूप-चिन्तवन	69	183
व्रती की कैसी भावना होनी चाहिए	72	184
व्रत-रक्षार्थ और भी भावना हैं	73	184
हिंसा का लक्षण	74	185
असत्य का लक्षण	75	186
चौर्य का लक्षण	76	187
अब्रह्म का लक्षण	77	188
परिग्रह का लक्षण	77	188
व्रती का लक्षण	78	189
व्रतियों के दो भेद	79	190
सहायक व्रत—सात शील	80	190
सल्लेखना व्रत	82	195
अतिचार प्रकरण	83	196
सम्यक्त्व के पाँच दोष	84	197
अहिंसाणुव्रत के पाँच अतीचार	85	197
सत्याणुव्रत के पाँच अतीचार	86	198
अचौर्याणुव्रत के पाँच अतीचार	87	199
स्वदारसन्तोष अणुव्रत के पाँच अतीचार	88	199
परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत के पाँच अतीचार	90	201
दिग्विरत व्रत के पाँच अतीचार	91	201
देशविरत व्रत के पाँच अतीचार	92	202
अनर्थदंड व्रत के पाँच अतीचार	93	203
सामायिक व्रत के पाँच अतीचार	94	204
प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतीचार	95	205
भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पाँच अतीचार	96	205
अतिथिसंविभाग व्रत के पाँच अतीचार	97	208
सल्लेखना व्रत के पाँच अतीचार	98	209
दान का स्वरूप एवं विशेषता	99	210

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आस्रव का उपसंहार	101	212
पुण्य-पाप का परस्पर भेद एवं समानता	103	213
आस्रव तत्त्व को जानने का फल	105	214

पाँचवाँ अधिकार

मंगलाचरण और विषय-प्रतिज्ञा	1	215
बन्ध के हेतु क्या हैं	2	216
मिथ्यात्व	3	222
ऐकान्तिक मिथ्यात्व का लक्षण	4	224
सांशयिक मिथ्यात्व का लक्षण	5	224
विपरीत मिथ्यात्व का लक्षण	6	226
आज्ञानिक मिथ्यात्व का लक्षण	7	227
वैनयिक मिथ्यात्व का लक्षण	8	227
अविरति का स्वरूप	9	229
प्रमाद का स्वरूप	10	230
कषाय का विवरण	11	231
योग का वर्णन	12	232
बन्ध का स्वरूप	13	232
कर्म, आत्मा का गुण नहीं है	14	232
कर्म की मूर्तिमत्ता	15	232
मूर्तिकता का हेतु	17	234
अमूर्तिक से मूर्तिक बनने की युक्ति	18	234
संसारी जीव को मूर्तिक ठहराने का अनुमान	19	235
कर्मों का विशेष स्वरूप	21	236
प्रकृतिबन्ध के भेद	22	238
कर्मों के उत्तर भेद	23	254
ज्ञानावरण के पाँच भेद	24	255
दर्शनावरण के नौ भेद	25	256
वेदनीय के दो भेद	27	257
मोहनीय के अट्ठाईस भेद	27	258
आयुकर्म के चार भेद	30	260
नामकर्म के तिरानबे भेद	31	260
गोत्रकर्म के दो भेद	40	261
अन्तरायकर्म के पाँच भेद	40	261
बन्ध योग्य कर्म	41	263

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अबन्ध योग्य अट्ठाईस कर्मों के नाम	42	264
सभी कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति	43	264
सभी कर्मों की जघन्य स्थिति	45	264
अनुभागबन्ध का स्वरूप	46	266
प्रदेशबन्ध का स्वरूप	47	267
योग के भेद	51	268
पापकर्मों के नाम	53	269
बन्ध तत्त्व को जानने का फल	54	269

छठा अधिकार

मंगलाचरण व विषय-प्रतिज्ञा	1	270
संवर का लक्षण	2	270
संवर के कारण	3	270
गुप्ति के लक्षण, भेद और फल	4	270
समितियों के भेद	6	271
ईर्या-समिति का लक्षण	7	271
भाषा-समिति का लक्षण	8	271
एषणा-समिति का लक्षण	9	272
आदाननिक्षेपण-समिति का लक्षण	10	272
उत्सर्गनिक्षेप-समिति का लक्षण	11	272
समितियों के पालने का फल	12	272
दश धर्मों के नाम	13	272
क्षमा धर्म का स्वरूप	14	273
मार्दव धर्म का स्वरूप	15	273
आर्जव धर्म का स्वरूप	16	273
शौच धर्म का स्वरूप	16	273
सत्य धर्म का स्वरूप	17	274
संयम धर्म का स्वरूप	18	274
तप धर्म का स्वरूप	19	274
त्याग धर्म का स्वरूप	19	275
आकिंचन्य धर्म का स्वरूप	20	275
ब्रह्मचर्य धर्म का स्वरूप	21	276
धर्मप्रवृत्ति का फल	22	276
परीषहों के नाम व उनको जीतने का फल	23	276
तप : संवर एवं निर्जरा का हेतु	27	277

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रेक्षा	29	277
अनित्य-अनुप्रेक्षा का स्वरूप	31	277
अशरण-अनुप्रेक्षा का स्वरूप	32	278
संसारानुप्रेक्षा का स्वरूप	33	278
एकत्वानुप्रेक्षा का स्वरूप	34	278
अन्यत्वानुप्रेक्षा का स्वरूप	35	278
अशुचित्वानुप्रेक्षा का स्वरूप	36	279
आस्रवानुप्रेक्षा का स्वरूप	37	279
संवरानुप्रेक्षा का स्वरूप	38	279
निर्जरानुप्रेक्षा का स्वरूप	39	279
लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप	40	280
बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का स्वरूप	41	280
धर्मानुप्रेक्षा का स्वरूप	42	280
भावनाओं का एक मात्र फल	43	280
चारित्र के भेद	44	281
सामायिक चारित्र का स्वरूप	45	281
छेदोपस्थापन चारित्र का स्वरूप	46	281
परिहारविशुद्धि चारित्र का स्वरूप	47	282
सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र का स्वरूप	48	283
यथाख्यात चारित्र का स्वरूप	49	283
चारित्र का फल	50	284
संवर तत्त्व को जानने का फल	52	284

सातवाँ अधिकार

मंगलाचरण एवं विषय-प्रतिज्ञा	1	285
निर्जरा के लक्षण व भेद	2	285
विपाक निर्जरा का लक्षण	3	285
अविपाक निर्जरा का लक्षण	4	286
अविपाक निर्जरा का उदाहरण	5	286
दोनों निर्जराओं के स्वामी	6	287
तपश्चरण के भेद	7	288
बाह्य तप के छह भेदों के नाम	8	288
अवमौदर्य तप का स्वरूप	9	288
उपवास तप का स्वरूप	10	289
रस-त्याग तप का स्वरूप	11	289

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वृत्तिसंख्यान तप का स्वरूप	12	289
कायक्लेश तप का स्वरूप	13	289
विविक्त शैयासन तप का स्वरूप	14	290
अन्तरंग तप के छह भेदों के नाम	15	290
स्वाध्याय तप का स्वरूप व भेद	16	290
वाचना स्वाध्याय का स्वरूप	17	290
पृच्छना स्वाध्याय का स्वरूप	18	290
आम्नाय स्वाध्याय का स्वरूप	19	291
धर्मदेशना स्वाध्याय का स्वरूप	19	291
अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का स्वरूप	20	291
प्रायश्चित्त तप के भेद	21	292
आलोचन का स्वरूप	22	292
प्रतिक्रमण और तदुभय का स्वरूप	23	293
तप प्रायश्चित्त का स्वरूप	24	293
व्युत्सर्ग का स्वरूप	24	293
विवेक प्रायश्चित्त का स्वरूप	25	293
उपस्थापना प्रायश्चित्त का स्वरूप	25	294
परिहार प्रायश्चित्त का स्वरूप	26	294
छेद प्रायश्चित्त का स्वरूप	26	294
वैयावृत्त्य अन्तरंग तप के भेद	27	294
व्युत्सर्ग तप के भेद व नाम	29	295
विनय तप के भेद	30	296
दर्शन विनय का स्वरूप	31	296
ज्ञान विनय का स्वरूप	32	296
चारित्र विनय का स्वरूप	33	296
उपचार विनय का स्वरूप	34	297
ध्यान तप के हेयोपादेय भेद	35	297
आर्तध्यान के भेदपूर्वक स्वरूप	36	297
रौद्रध्यान के भेदपूर्वक स्वरूप	37	298
ध्यान का लक्षण व उत्कृष्ट कालप्रमाण	38	298
धर्मध्यान का स्वरूप व भेद	39	299
आज्ञाविचय का स्वरूप	40	299
अपायविचय का स्वरूप	41	300
विपाकविचय का स्वरूप	42	300
संस्थानविचय का स्वरूप	43	301

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शुक्लध्यान के भेद	44	302
प्रथम पृथक्त्व वितर्क वीचार का स्वरूप	45	302
वितर्क विशेषण का कारण	46	302
वीचार का अर्थ	47	303
द्वितीय एकत्व वितर्क ध्यान का स्वरूप	48	303
एकत्व वितर्क वीचार रहित है	50	304
सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती ध्यान का स्वरूप	51	304
तीसरे शुक्लध्यान का समय व प्रयोजन	52	305
चौथा व्युपरतक्रिया-निवृत्ति शुक्लध्यान का स्वरूप एवं प्रयोजन	53	305
निर्जरा का वृद्धिक्रम	55	306
निर्ग्रन्थ साधुओं के पाँच भेद	58	306
साधुओं में भेदों के कारण	59	307
निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा का	60	309

आठवाँ अधिकार

मंगलाचरण और अधिकार-प्रतिज्ञा	1	310
मोक्ष का साक्षात्कार और लक्षण	2	310
कर्म-बन्धन कब छूटता है	3	310
संवरपूर्वक निर्जरा की सिद्धि	4	310
मोक्ष में गुणों का अभाव-सद्भाव	5	311
अनादि कर्म के नष्ट होने में युक्ति	6	311
कर्मनाश से संसार का नाश कैसे?	7	312
आत्मबन्धन सिद्धि का दृष्टान्त	8	313
मुक्त होने पर भी बन्ध होने की आशंका का परिहार	8	313
बन्ध स्वाभाविक धर्म नहीं है	10	314
मुक्त जीव के पुनः संसार में न आने का कारण	11	314
मुक्तजीवन का पतन (अधोगमन) नहीं होता	12	315
अनन्त आत्माओं के थोड़े से क्षेत्र में रहने की युक्ति	13	315
अनन्त आत्माओं के समाने का दृष्टान्त	14	316
अमूर्तिक आत्मा के निराकार होने से सद्भाव-सिद्धि	15	316
आत्मा की शरीराकृति	16	316
शरीराकार होने के दृष्टान्त	17	317
दृष्टान्त का उपसंहार	18	317
मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करते हैं	19	318
कर्म-क्षय का क्रम	20	319

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मोह-क्षय के बाद किन कर्मों का क्षय होता है	22	319
मोह-क्षय से होनेवाला परिणाम : दृष्टान्त	23	319
स्नातक अवस्था की प्राप्ति	24	319
परमैश्वर्य के चिह्न	25	320
निर्वाण-प्राप्ति एवं दृष्टान्त	26	320
पूर्वप्रयोग हेतु का स्वरूप और दृष्टान्त	28	320
असंगता हेतु का स्वरूप और दृष्टान्त	29	321
बन्धनच्छेद हेतु का स्वरूप और दृष्टान्त	30	321
ऊर्ध्वगौरव हेतु का स्वरूप और दृष्टान्त	31	321
जीव, पुद्गलों के गति - भेद का हेतु	32	322
जीव की नाना गतियों का हेतु	33	322
किस कर्म के नाश से कौन-सा गुण प्रकट हुआ	37	324
सिद्धों में भेद—साधक कारणों के नाम	41	325
कालादिकों के विनियोग का नियम	42	326
गुण-स्वभावों की अपेक्षा सिद्धों की समानता	43	328
अलोक में गमन न होने का कारण	44	328
सिद्धों का सुख	45	329
सिद्ध-सुख का हेतु	46	329
सुख शब्द के अर्थ	47	329
विषय का दृष्टान्त	48	329
वेदना अभाव का दृष्टान्त	48	329
पुण्य कर्म के उदय से होनेवाले सुख का दृष्टान्त	49	330
निर्दोष मोक्षसुख	49	331
अन्य मत में निर्वाण का स्वरूप एवं उसका निराकरण	50	331
मोक्षसुख की निरुपमता	52	331
युक्ति से मोक्षसुख की निरुपमता	53	332
मोक्षसुख की वचनबद्धता	54	332
मोक्षतत्त्व के श्रद्धान का फल	55	332

नौवाँ अधिकार

सात तत्त्वों को जानने के उपाय	1	333
मोक्षमार्ग का क्रम	2	333
निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप	3	333
व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप	4	333
व्यवहारावलम्बी की प्रवृत्ति	5	334

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निश्चयावलम्बी का स्वरूप	6	334
निश्चयी का अभेद समर्थन	7	334
आत्मा, रत्नत्रयरूप कर्ता के साथ अभेद	8	335
आत्मा, रत्नत्रयरूप कर्म के साथ अभेद	9	335
आत्मा, रत्नत्रयरूप करण के साथ अभेद	10	336
आत्मा, रत्नत्रयरूप सम्प्रदान के साथ अभेद	11	336
आत्मा, रत्नत्रयरूप अपादान के साथ अभेद	12	336
आत्मा, रत्नत्रयरूप सम्बन्ध के साथ अभेद	13	336
आत्मा, रत्नत्रयरूप अधिकरण के साथ अभेद	14	337
आत्मा, रत्नत्रयरूप क्रिया के साथ अभेद	15	337
आत्मा, रत्नत्रयरूप गुण के साथ अभेद	16	337
आत्मा, रत्नत्रयरूप पर्यायों के साथ अभेद	17	337
आत्मा, रत्नत्रयरूप प्रदेश के साथ अभेद	18	337
आत्मा, रत्नत्रयरूप अगुरुलघु के साथ अभेद	19	338
आत्मा, रत्नत्रयरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ अभेद	20	338
आत्मा में निश्चय, व्यवहार रत्नत्रय मानने का तात्पर्य	21	338
तत्त्वार्थसार ग्रन्थ का प्रयोजन	22	339
ग्रन्थकर्ता की नम्रता	23	339

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणियों में उल्लिखित ग्रन्थों की संकेत-सूची

अन.धर्मा.	अनगार धर्मामृत
अ.सह.	अष्ट सहस्री
आ.सा.	आचारसार
आ.नु.	आत्मानुशासन
आ.मी.	आप्तमीमांसा
आ.प.	आलापपद्धति
का.अनु.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा
गो.क.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड
गो.जी.	गोम्मटसार जीवकाण्ड
च.प्र.च.	चन्द्रप्रभचरित
तत्त्व.ज्ञा.त.	तत्त्वज्ञानतरंगिणी
तत्त्व.सा.	तत्त्वार्थसार
तत्त्व.सू.	तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्व.श्लो.वा.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तिरु.	तिरुक्कुरल
द्र.सं.	द्रव्यसंग्रह
ध.पु.	धवल पुस्तक
न.च.	नयचक्र
न्या.सू.	न्यायसूत्र
न्या.दी.	न्यायदीपिका
न्या.वि.	न्यायविनिश्चय
नि.सा.	नियमसार
प.मु.	परीक्षामुख
प्र.क.मा.	प्रमेयकमलमार्तण्ड
प्र.सा.	प्रवचनसार
पर.प्र.	परमात्मप्रकाश
पं.का.	पंचास्तिकाय
पु.सि.	पुरुषार्थसिध्युपाय
महा.पु.	महापुराण
यश.ति.च.	यशस्तिलक चम्पू
रत्नक.श्रा.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
र.सा.	रयणसार
रा.वा.	तत्त्वार्थराजवार्तिक
वर्द्ध.पु.	वर्द्धमान पुराण
स्व.स्तो.	स्वयंभू स्तोत्र
स.सा.	समयसार
सर्वा.सि.	सर्वार्थसिद्धि
सह.ना.	सहस्रनाम
सा.धर्मा.	सागार धर्मामृत
अ.	अध्याय
पृ.	पृष्ठ
गा.	गाथा
भा.	भाग
वार्ति., वा.	वार्तिक
वृ.	वृत्ति
श्लो.	श्लोक
सू.	सूत्र
प्रका.	प्रकाश
प्र.	प्रत्यक्ष
परो.	परोक्ष

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसार

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित

तत्त्वार्थसार

धर्मश्रुतज्ञान हिन्दी टीका सहित

प्रथम अधिकार

मंगलाचरण—

[1]जयत्यशेषतत्त्वार्थ-प्रकाशि-प्रथितश्रियः।
मोह-ध्वान्तौघ-निर्भेदि-ज्ञानज्योति-र्जिनेशिनः॥ 1॥

अर्थ—जिनकी महिमा समस्त सम्यक् तत्त्वों के प्रकाशित करने से विख्यात हो चुकी है तथा सघन मोह अन्धकार को जिनकी ज्ञानज्योति ने नष्ट किया है, उन जिनेन्द्र भगवान की ज्ञानरूप ज्योति जग को सदा मंगलरूप हो।

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा—

अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैकदीपकः।
मुमुक्षूणां हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते॥ 2॥

अर्थ—अब हम यह 'तत्त्वार्थसार' नामक ग्रन्थ रचते हैं। इसमें तत्त्वार्थ के स्वरूप का सारांश कहेंगे, अत एव इसे मोक्षमार्ग प्रकाशित करने के लिए एक अनुपम दीपक समझना चाहिए। संसार के दुःखों से मुक्ति चाहनेवाले भव्य जीव इस ग्रन्थ के अध्ययन से अभीष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकेंगे, क्योंकि दुःखमोचन का ही उपाय इसमें विशदरूप से कहा जाएगा।

मोक्षमार्ग का स्वरूप—

स्यात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रितयात्मकः।
मार्गो मोक्षस्य भव्यानां युक्त्यागमसुनिश्चितः॥ 3॥

---

1. जयत्वशेष—ऐसा भी पाठ है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—यह बात आगम तथा न्याय-युक्तियों से सुनिश्चित हो चुकी है कि संसारदु:खों से छूटने के लिए भव्य प्राणियों को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, इन तीनों को परिपूर्ण रूप प्राप्त करना चाहिए। इन्हीं तीनों की परिपूर्णता उनके मुक्त होने में सहायक हो सकती है।

कितने ही विद्वानों ने अपनी कल्पना से मोक्षोपाय अन्यान्य प्रकार से भी बताये हैं, परन्तु उन सभी प्रकारों में न्याय-युक्तियों से दोष आते हैं। यदि कोई निर्दोष उपाय है तो एकमात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एक साथ इन तीनों की परिपूर्णता ही है। इस बात की परीक्षा के लिए, ग्रन्थकार आगे स्वयं इन तीनों कारणों का विशद स्वरूप क्रम से कहनेवाले हैं और यह भी अभी दिखानेवाले हैं कि परीक्षा का साधन क्या है?

सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सम्बन्ध में इतना अभी समझ लेना चाहिए कि निश्चय से ये तीनों आत्मा के अविनाभावी गुण[1] हैं। श्रद्धान जब प्रकट होता है तभी ज्ञान की मलिनता हटकर ज्ञान शुद्ध हो जाता है और आत्मा की वीतरागता बढ़ानेवाला चारित्र प्रकट हो जाता है। चारित्र आत्मस्वरूप का अनुभव कराने में लगता है, अर्थात् अनुभव करने में प्रवृत्ति होने का नाम ही चारित्र है। उस प्रवृत्ति का आत्मा में लगना और विषयों से हटना—इस तरह यह दो प्रकार का है। जो प्रवृत्ति होगी वह चेतना के उपयोग करने में ही होगी, इसलिए सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये तीनों शुद्ध आत्मा के ही रूप या नाम हैं, दूसरी चीज नहीं हैं। इसका ठीक पता तो आत्मा का अनुभव करने से ही लगेगा। यह निश्चय रत्नत्रय का कथन है।

रत्नत्रय का लक्षण—

श्रद्धानं दर्शनं सम्यग्ज्ञानं स्यादवबोधनम्।
उपेक्षणं तु चारित्रं तत्त्वार्थानां सुनिश्चितम्॥ 4॥

अर्थ—सत्य तत्त्वों के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। सत्य तत्त्वों के ठीक समझ लेने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उन्हीं सत्य तत्त्वों में से राग-द्वेष छूट जाने को सम्यक्चारित्र कहा है, यही वास्तविक मोक्षमार्ग है। इन तीनों में से जब तक एक की भी कमी रहती है तब तक मोक्ष का मिलना कठिन है। देखो—

संसार, मानों एक नीरोग अवस्था से उलटी रोग-अवस्था है। रोग का उपाय औषधि को जान लेने पर भी यद्वा-तद्वा खा लेना, अथवा औषधि को औषधि समझकर विश्वास करके बैठ जाना—इतने से रोग नहीं हट सकता। सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि रोग दूर करने में अथवा अन्य किसी भी कार्य के सम्पादन में ऊपर के तीनों प्रकार अत्यावश्यक हैं। बस, इसीलिए मुक्त होने में भी उपाय रूप सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र ये तीनों को ही उपयोगी समझना चाहिए।

केवल उपाय का समझ लेना अथवा श्रद्धा करके बैठे रहना, इसको तो प्राय: कोई भी कार्यकारी नहीं मानेगा। कार्य की सिद्धि मात्र ज्ञान तथा श्रद्धान के अधीन नहीं है, बल्कि क्रिया के अधीन है। क्रिया

---

1. रयणत्तयं ण वट्टइ, अप्पाणं मुयत्तु अण्ण-दवियम्हि। तम्हा तत्तियमइयो, होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा॥ (द्र.सं., गा. 40)। ज्ञानस्वभाव: स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युति:। तस्मादच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥ (आ.नु., श्लो. 174)।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का नाम ही चारित्र है, इसलिए कार्यसिद्धि में चारित्र की सबसे बड़ी आवश्यकता है। रही यह बात कि, केवल चारित्र से ही कार्य की सिद्धि क्यों न मानी जाए? इसका उत्तर यह है कि ज्ञान के बिना चारित्र का यथोचित विनियोग होना असम्भव है और श्रद्धान के बिना चारित्र का टिकना तथा सुदृढ़ होना असम्भव है, इसीलिए तीनों को ही कार्य के साधक मानना उचित है। यदि साक्षात् कार्य साधने की तरफ विचार करना हो तो केवल चारित्र को कार्यकारी मानना उचित है। मोक्षप्राप्ति के विषय में भी यही बात है। वहाँ चारित्र से ही कर्मबन्धन व कर्मकलंक का नाश होना माना गया है। जो 'ज्ञानादेव मोक्षः' ऐसा कहते हैं उनका भी तात्पर्य चारित्र के निषेध में नहीं है। जैसा कि जैन सिद्धान्त में भी सम्यग्ज्ञान को हित-प्राप्ति व अहित-परिहार करनेवाला माना है, परन्तु ज्ञान से हित की प्राप्ति तथा अहित का परिहार होने का अर्थ यही उचित है कि वह हित-प्राप्ति का तथा अहित-परिहार का यथोचित दर्शक है। जो लोग ज्ञान से हित-प्राप्ति होने का अर्थ यह मान रहे हों कि वह हित को उत्पन्न कर देता है, तो भूल है। किसी को मिलाना या हटाना, यह काम क्रिया का है, न कि ज्ञान का।

मोक्ष प्राप्त करने में जिस प्रकार ज्ञान-चारित्र की बड़ी आवश्यकता है[1] उसी प्रकार अथवा उससे भी कहीं बढ़कर सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन का रूढि अर्थ जैन सिद्धान्त में श्रद्धान अथवा विश्वास किया है। जिसे वास्तविक मार्ग का ज्ञान होने पर भी श्रद्धान उत्पन्न नहीं होता वह उस ज्ञान का फल कभी उठा नहीं सकता। यद्यपि सम्यग्ज्ञान का होना श्रद्धान बिना नहीं है; और इसीलिए सम्यग्दर्शन न गिनाया जाए तो भी कुछ हानि नहीं है; परन्तु लौकिक व्यवहार की तरफ देखते हैं तो संशयादि रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इसलिए ज्ञान की पूर्णता व वास्तविकता प्रकट करने के लिए सिद्धान्तवेत्ता आचार्यों ने सम्यक् श्रद्धान को मोक्ष का पहला कारण बताया है।

यदि हम निश्चय की तरफ झुकें तो मोक्ष के कारणों में तीन या दो भेद भी नहीं रहते हैं। जीव का शुद्ध स्वरूप ज्ञान है। अथवा जीव शुद्ध ज्ञानमय है। उसमें जितनी मलिनता वास करती हो वही और उतना ही संसार है और वह सर्व मलिनता नष्ट हो जाने का नाम मोक्ष है। ज्ञान की सत्ता रहने के सिवाय चारित्र का दूसरा अर्थ नहीं है। और भी जो वीर्यादिक गुण कहे जाते हैं वे सब ज्ञान के ही रूपान्तर हैं; अथवा ज्ञान की सत्ता के अधीन उनकी सत्ता है। ज्ञान ही जीव का एक ऐसा गुण है कि जो कहा, सुना व जाना जाता है। बाकी सब कल्पना ज्ञानाधीन है, इसीलिए ज्ञान सविकल्पक है और शेष गुण निर्विकल्पक हैं। संक्षेप में, ज्ञान की शुद्धता करने को ही मोक्षमार्ग कह सकते हैं और वह शुद्धता अखंड एक प्रकार है, परन्तु इस निश्चय का आश्रय लेने पर वर्णनीय मूर्त स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता और जब तक वर्णन किया न जाए तब तक उपदेश की घटना कैसे हो सकती है? इसीलिए मोक्षमार्ग में कहने योग्य मुख्य तीन अंश विभक्त किये हैं, अत एव इस भेदप्रधान व्यवहार की श्रेणी में मोक्षकारण के अंश न तो तीन से कम ही हो सकते हैं और न अधिक ही हो सकते हैं।

ज्ञान के भी उत्तरभेद बहुत हैं और श्रद्धान तथा चारित्र के भी उत्तरभेद बहुत हैं; परन्तु उन सबों

---

1. 'हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिना क्रिया। धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः॥'
'संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति अन्धश्च पंगुश्च वने प्रवृत्तौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ॥' (रा.वा., 1/1, वा. 49)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। आठ कर्म आठ गुणों को घातते हैं, इसलिए आठ गुणों की प्राप्ति कर लेना मोक्ष है और संक्षेप से कहें तो आत्मा को शुद्ध बना लेना मोक्ष है, परन्तु उसी शुद्धि को भिन्न-भिन्न करके कहते हैं तो वह सम्यग्दर्शन आदि तीन प्रकार की ठहरती है। ये तीनों मोक्ष के स्वरूप भी हैं तथा मोक्ष होने के कारण भी हैं, इसलिए इन तीनों को ही इस ग्रन्थ में मुख्य माना गया है। मोक्ष के विषय में इन्हें कार्य-कारण दोनों प्रकार से मानना सच्ची श्रद्धा के अधीन है।

तत्त्वों के कहने का हेतु—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा विषयत्वमिता ह्यतः।
बोध्याः प्रागेव तत्त्वार्था मोक्षमार्गं बुभुत्सुभिः॥ 5॥

अर्थ—जीवादि तत्त्वों का ही सम्यक् श्रद्धान तथा ज्ञान, चारित्र होना मोक्ष का कारण है, अर्थात् सच्ची श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र के विषय अथवा आलम्बन जीवादि तत्त्व हैं और श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की पूर्ण प्राप्ति को मोक्ष का साधन माना जाता है। तो फिर, जिन्हें मोक्ष के कारण समझने की उत्कंठा हो रही हो, उन्हें सबसे पहले तत्त्वार्थ को समझ लेना उचित है।

यथार्थ तत्त्वों के नाम—

जीवोऽजीवास्त्रवौ बन्धः संवरो निर्जरा तथा।
मोक्षश्च सप्त तत्त्वार्था मोक्षमार्गैषिणामिमे॥ 6॥

अर्थ—यहाँ ज्ञानादि के सत्य विषय का नाम तत्त्वार्थ है। 1. जीव, 2. अजीव, 3. आस्रव, 4. बन्ध, 5. संवर, 6. निर्जरा और 7. मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ के भेद हैं। इन जीवादि सातों तत्त्वार्थों के उत्तर भेद बहुत से होते हैं, परन्तु उन भेदों को कहाँ तक गिनाते रहें? इसलिए ये सात सामान्य भेद इस प्रकार के किये हैं कि इनमें सभी तत्त्वों का तथा भेद-प्रभेदों का संग्रह हो सके। आगे चलकर इनका लक्षण कहेंगे। उन लक्षणों के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि इन भेदों से कोई भी पदार्थ का भेद जुदा नहीं रहता।

यद्यपि सात भेदों से भी कम भेद किये जा सकते हैं और तब भी सभी तत्त्वों का समावेश हो सकता है। जैसे कि 'सत्ता' ऐसा एक तत्त्व मानने से यावत् तत्त्वों का संग्रह हो सकता है, क्योंकि जितने पदार्थ या तत्त्व संसार में सम्भव होंगे उनमें सत्ता-धर्म अवश्य ही रहेगा। सत्ता नाम अस्तित्व या मौजूदगी है। जिसका जग में अस्तित्व नहीं है वह कोई चीज ही नहीं हो सकती है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि एक 'सत्ता' तत्त्व मानने से यावत् तत्त्वों का समावेश हो सकता है।

यदि किसी को यह विचार उत्पन्न होता हो कि सत्ता तो केवल साधारण धर्म है। उसको एक तत्त्व मान लेने पर भी विशेषरूप का वस्तुज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए जिनसे कुछ विशेष बोध हो सके ऐसे तत्त्वों के भेद करना उचित है। तो दो तत्त्व मान लीजिए—एक जीव, दूसरा अजीव। इन दो भेदों के मान लेने से तत्त्वों का जीवाजीवरूप से विशेष ज्ञान भी हो सकता है और तत्त्वों की संख्या भी नहीं बढ़ती है; एवं संसार के समस्त तत्त्वों का समावेश भी हो सकता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार जब देखते हैं तो तत्त्वों के सात भेद करना निरुपयोगी जान पड़ता है और यदि विशद बोधार्थ सात भेद किये, तो सात ही क्यों? प्रमाण-प्रमेय, नय-निक्षेप आदि और भी कई भेद हो सकते हैं; जिससे कि सात की संख्या न रहकर अधिक संख्या हो जाना सम्भव है।

इसका उत्तर यह है कि, मोक्षमार्ग का विचार करने में उक्त सात भेदों की विशेष आवश्यकता है। इन सात भेदों का विचार करने से मोक्ष का मार्ग स्पष्ट व सुगमतया समझा जा सकता है, अर्थात् मोक्षोपाय के समझ लेने में अधिक भेदों की मुख्यतया आवश्यकता नहीं है और सत्ता आदि एक-दो भेद करने से तो मोक्षोपाय का ज्ञान करने में कुछ कहने योग्य सहायता ही नहीं हो सकती है। देखिए—

सत्ता या जीवाजीव का ज्ञान होने पर भी मोक्ष तथा संसार-स्वरूप के विचार की जागृति होना नियत नहीं है। जिसको संसार का बन्धन व उससे मुक्ति होने में विशेषता नहीं जान पड़ती, जिसको संसार-दुःखों से मुक्त होने की अभिलाषा भी उत्पन्न नहीं हुई हो; उसे भी वस्तुओं के सत्तास्वभाव का तथा जीवाजीवपने का ज्ञान रहना सम्भव है। जो अज्ञानी जन हैं वे भी इतना समझते हैं कि हम तथा हमारे समान चेतनापूर्वक क्रियाओं के करनेवाले सभी जीव हैं, अथवा हमारे वर्ग में समाविष्ट होने योग्य हैं और जो माटी, पत्थर, पानी, पवन आदि चेतना-मिश्रित क्रिया नहीं करते वे हमसे जुदे अजीव हैं अथवा जड़ वर्ग में संगृहीत करने योग्य हैं। पर, इतना ज्ञान होने पर भी मन में मोक्ष व मोक्षोपायों की कल्पना जागृत होने का नियम नहीं है। मोक्ष तथा इस ज्ञान का कोई असाधारण सम्बन्ध ही नहीं है तो इतने तत्त्वज्ञान से मोक्षोपाय की तरफ झुकाव क्यों होने लगा? इसलिए तत्त्वों के आस्रवादि भेद करना आवश्यक है।

यदि सात तत्त्वों से अधिक कुछ कल्पना की जाए तो उसका समावेश इन सातों में ही हो सकता है। जैसे कि, जीव के उत्तर भेदों में संसारी, मुक्त आदि भेदों का संग्रह होगा। आकाश, कालादि द्रव्य भेदों का संग्रह अजीव तत्त्व में होगा। पुण्य, पाप या शुभाशुभादि कर्मभेदों का संग्रह आस्रव तथा बन्धतत्त्व में हो सकेगा। यदि प्रमाण, प्रमेय, नय, निक्षेपादि भेदों को अधिक जोड़ने की आकांक्षा उत्पन्न हुई तो उसे भी एक अलग प्रकार से कह दिया है। इसका कारण यह है कि तत्त्व व तत्त्वज्ञान के साधनभूत प्रमाण, नय, निक्षेपों में ज्ञान तथा ज्ञेयरूप स्वभाव-भेद होने से एकत्र संग्रह नहीं किया गया है। सात तत्त्व केवल ज्ञेयस्वभाव की मुख्यता से एकत्र गिनाये गये हैं और जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे तत्त्वज्ञान के साधन होने से ज्ञान या साधन के तत्त्वों के साथ न जोड़कर साधनतया दिखाये हैं अर्थात् तत्त्व तो केवल ज्ञेय हैं, किन्तु प्रमाणादि ज्ञेय भी हैं और ज्ञानरूप भी हैं, यही इनके वर्गीकरण का हेतु है। 'प्रमेय' तो कोई इनसे जुदी चीज ही नहीं है कि जिसके लिए सात संख्या का भंग करना पड़े।

अब रही यह आशंका कि सात तत्त्वों की कल्पना मोक्षमार्ग में उपयोगी क्यों है? इसका उत्तर—

जीवों की प्रत्यक्षसिद्ध दुःखदशा छुड़ा देना आचार्यदेव को अभीष्ट जान पड़ता है। दुःख, यह एक विकारी दशा है, विकार का होना परसंयोग बिना नहीं होता, अतएव शुद्धता के साधनों से विकार हट सकता है। बस, इसी विचार के आधार पर इस ग्रन्थ की व इन तत्त्वों की विवेचना की गयी है।

देखिए, जिसकी दशा को अशुद्ध से शुद्ध करना इष्ट है उसका नाम तो अवश्य संगृहीत होना ही चाहिए और उस संग्रह में भी सबसे पहले दिखाना उचित है। जो सुवर्ण को इतर विकारों से शुद्ध करना चाहता हो उसके हृदय में क्या सुवर्ण की सांगोपांग कल्पना मुख्यतया व प्रथम ही उपस्थित नहीं होगी?

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके बाद वह नाम रखना ठीक व आवश्यक है कि जिसके सम्बन्ध से मल या विकार उत्पन्न हो रहा हो अथवा जो विकारमय परिणत हो रहा हो। हम ऊपर कह चुके हैं कि विजातीय संयोग के बिना विकार उत्पन्न नहीं होता, इसलिए हम उस विकार के बीज को यहाँ जीव से विरुद्ध स्वभावयुक्त समझकर उसका नाम 'अजीव' रखते हैं। यद्यपि अजीव के आकाशादि कई और भी भेद हैं, परन्तु इस प्रकरण में अजीव यह नाम रखने से आचार्य को पुद्गल—द्रव्य ही बताना विशेष इष्ट था। क्योंकि आकाशादि द्रव्य, जीव के मुक्त होने में बाधक-साधक नहीं हैं तो भी 'पुद्गल' या 'कर्म' ऐसा नाम न रखकर अजीव नाम इसलिए रखा है कि जिससे इन तत्त्वों का संग्रह करने में कोई वस्तु संग्रह में आने से रह न जाए, क्योंकि मोक्ष—संसार का क्रम बतलाते हुए ग्रन्थकार को अमुख्यतया शिष्यों की विश्वतत्त्वजिज्ञासा पूर्ण करना भी इष्ट था, इसलिए यदि व्यापक नामों का उल्लेख करके सर्वसंग्रह न करते तो उनके तत्त्वोपदेश में अपूर्णता रह जाती। इस प्रकार जीव-अजीव दो तत्त्वों के संग्रह करने की आवश्यकता सिद्ध हुई।

शेष तत्त्वों में तीसरा तत्त्व 'आस्रव' है। आस्रव का अर्थ जीव में अजीव का प्रवेश होना है। प्रवेश होने पर दोनों की मिश्र अवस्था का होना चौथा 'बन्ध' तत्त्व है। अशुद्ध दशा के कारण-कार्यों का ज्ञान इन दो नामों से करा देने पर मुक्ति का कारण कहना चाहिए। मुक्ति का कारण वही हो सकता है, जो कि बन्ध व बन्ध के कारण से उलटा प्रकार हो। बन्ध का कारण आस्रव है; इसलिए आस्रव-निरोध मुक्ति का प्रथम कारण है। इसी को 'संवर' शब्द से कहते हैं। इससे इस भविष्यत् बन्ध का प्रतीकार हो जाता है; जो कि निमित्त मिलने पर बँध सकता था, इसे पाँचवाँ तत्त्व कहा है। बद्ध हुए मल को निकालने व निकलने के कार्यक्रम को 'निर्जरा' कहा है, यह छठा तत्त्व है। इस तत्त्व के प्रयोग से जब जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाता है तब की दशा को सातवाँ तत्त्व 'मोक्ष' कहते हैं; जो कि अन्तिम ध्येय या साध्य है। इस प्रकार ये सात तत्त्व हैं। इनमें से प्रथम दो तत्त्व तो मुख्य या स्वतन्त्र तत्त्व हैं और बाकी के पाँच तत्त्व कार्यकारण रूप इन्हीं दो तत्त्वों की दशा विशेष हैं। ये पाँच तत्त्व निराले तत्त्व नहीं हैं तो भी मोक्षरूप अभीष्ट प्रकरण में इन्हीं के समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। इनके समझ लेने पर जीव मोक्षोपाय में लग सकता है। इनका ज्ञान जब तक नहीं हुआ हो तबतक जीवाजीव को जानते हुए भी मोक्ष साधन में कुछ उपयोग नहीं होता, इसीलिए तत्त्वों में इनका संग्रह किया है। जो मोक्षमार्ग में प्रवेश करना चाहते हैं उन्हें ये ही तत्त्व व इसी प्रकार से मानना चाहिए।

प्रयोजनवशात् अमुख्य वस्तु भी मुख्य बन जाती है; और प्रयोजन न रहे तो मुख्य भी अमुख्य भासने लगती है। अथवा, किसी को मुख्यामुख्य कहना ही प्रयोजनाधीन है। मुख्यता या अमुख्यता का व्यवहार स्वतन्त्र निर्हेतुक नहीं हो सकता है, अतएव उक्त सातों तत्त्वों में से जीवाजीव ही मुख्य हैं, शेष पाँचों गौण हैं या ठीक नहीं है—इस प्रकार की कल्पना करना नितान्त निस्सार है। मोक्षमार्ग में इन सात ही तत्त्वों की क्यों आवश्यकता है? यही बात ग्रन्थकार स्वयं भी आगे लिखते हैं।

हेय-उपादेय तत्त्वों का कथन—

उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः।
हेयस्यास्मिन्नुपादान-हेतुत्वेनास्रवः स्मृतः॥ 7॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—हम जब कि वास्तविक दु:खमुक्त होना चाहते हैं तो दु:खदायक परसंयोग में से जुदा करके कैसे निकलें, जिससे कि अशुद्धता मिट जाए? और साथ ही किसे दूर करें? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि जुदा निकालकर ग्रहण करने योग्य जो तत्त्व है वह 'जीव' है और निकालकर दूर करने योग्य जो तत्त्व है वह 'अजीव' है। इन्हीं हेयोपादेयरूप अजीव व जीवतत्त्व में से जो हेय अजीवतत्त्व का जीव के साथ ग्रहण या बन्धन करानेवाला कारण है वह 'आस्रव' तत्त्व है। अजीव छोड़ने योग्य चीज है, इसलिए उसे हेय कहते हैं। जीवतत्त्व अपनाने लायक है, इसलिए उसे उपादेय कहते हैं।

हेयोपादान-रूपेण बन्धः स परिकीर्तितः।
संवरो निर्जरा हेय-हानहेतुतयोदितौ॥ 8॥
हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः॥ (षट्पद)

अर्थ—निकालकर दूर करने योग्य अजीवतत्त्व का जो जीव में आकर मिल जाना है वह 'बन्ध' तत्त्व है। जीव में मिल जाने योग्य तथा मिलने के लिए सन्मुख हुए इस आस्रव या अजीवतत्त्व का न बँधने देने का कारण तथा बँधे हुए को जुदा करके बाहर निकाल देनेवाला जो कारण है उसे 'संवर' व 'निर्जरा' नाम से दो विभागों में विभक्त कर बताया है। हेय अर्थात् अजीव का जीव में से सर्वथा अलग हो जाना, इसी को 'मोक्ष' तत्त्व कहते हैं। इस प्रकार इन सातों तत्त्वों के भेद होने में उक्त सात प्रयोजन हैं और लक्षण भी सातों के ये ही हो सकते हैं।[1]

निक्षेपों द्वारा शब्दों के अर्थ समझने की विधा—

तत्त्वार्थाः [2]खल्वमी नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतः।
न्यस्यमानतयादेशात् प्रत्येकं स्युश्चतुर्विधाः॥ 9॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रत्येक तत्त्व के चार-चार प्रकार से भेद किये जाते हैं : 1. नाम, 2.स्थापना, 3. द्रव्य, 4. भाव, ये चार उन भेदों के नाम हैं। पहले तीन भेदों के विषय सामान्य रहते हैं, इसलिए वे द्रव्यार्थिक नयाधीन भेद हैं। चौथा भाव भेद विशेष विषय को समझाता है, इसलिए उसे पर्यायार्थिक नयाधीन मानते हैं। इन्हीं भेदों के न्यास और निक्षेप, ये दो नाम और भी हैं।

भावार्थ—बोलनेवाले के मुख से एक ही प्रकार के निकले हुए शब्द भी अपेक्षावश अलग-अलग अर्थों को दिखाते हैं, उन अर्थों के सामान्य प्रकार चार किये जा सकते हैं। वे चार प्रकार हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव शब्दों से प्रकट होने वाले अर्थों के जैसे ये चार प्रकार हो सकते हैं वैसे ही शब्दों के भी ये चार भेद किये जा सकते हैं। शब्दों के भेदों को न्यास या निक्षेप कहते हैं और अर्थभेदों को न्यस्यमान या निक्षिप्यमाण विषय कहते हैं। ये भेद क्रियापदों में नहीं होते, किन्तु[3] नाम शब्दों में होते हैं। क्रियापदों के

---

1. "एवमेषामुद्दिष्टानां सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां च संव्यवहारविशेषव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमाह" सर्वा.सि., वृ.21॥ "एवं संज्ञास्वालक्षण्यादिभिरुद्दिष्टानां संव्यवहारविशेषव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमाह—रा.वा., 1/5॥ अर्थात् जीवादि व सम्यग्दर्शनादिकों का जो नामोच्चारण किया है उसका अर्थ अनेक प्रकार से हो सकता है, परन्तु प्रयोजन की सिद्धि जिससे हो सके वह अर्थ छाँटकर ले लेना चाहिए, इसलिए प्रयोजन व व्यवहार के अनुसार शब्दों का अर्थ कितने प्रकार से हो सकता है यह बात दिखाते हैं।"
2. सन्त्यमी पाठान्तरम्। 3. एवं निक्षेपविधिना शब्दार्थः प्रस्तीर्यते।—सर्वा.सि., वृ.22

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अतिरिक्त जो कुछ शब्द शेष रहते हैं उन्हें 'नाम' शब्द कहते हैं। नय-शब्द[1] का साधारणत: अर्थ अपेक्षा है। उक्त 'नाम' शब्द के अर्थ चार प्रकार के हो सकते हैं; इसलिए उन नाम शब्दों के भी चार भेद होते हैं। इन चारों भेदों में से पहला भेद सामान्य अपेक्षा से हुआ है और आगे के तीनों भेद उत्तरोत्तर अधिक विशेषता रखते हैं। विशेषता रखने पर भी कालसम्बन्धी विशेषता द्रव्यनिक्षेपपर्यन्त नहीं रहती, इसलिए तीन भेद द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं। चौथा भावनिक्षेप काल सम्बन्धी विशेषता रखता है, इसलिए वह पर्यायार्थिक नय का विषय है।

नाम निक्षेप का लक्षण—

या निमित्तान्तरं किंचिदनपेक्ष्य विधीयते।
द्रव्यस्य कस्यचित् संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम्॥ 10॥

अर्थ—किसी वस्तु की उस संज्ञा को 'नाम' कहा है कि जिस संज्ञा के रखने का केवल उस वस्तु की पहिचान हो जाना ही प्रयोजन हो, दूसरा कुछ भी प्रयोजन न हो, अर्थात् नाम निक्षेप जहाँ माना जाता है वहाँ क्रियाअर्थ तथा गुणअर्थ नहीं देखा जाता है, केवल यह बात देखी जाती है कि इस शब्द का संकेत किस अर्थ के साथ है। जैसे कि हाथीसिंह का अर्थ एक लड़का मान लेना।

स्थापना निक्षेप का लक्षण—

सोऽयमित्यक्षकाष्ठादौ सम्बन्धेनान्यवस्तुनि।
यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना[2] साभिधीयते॥ 11॥

अर्थ—अनुपस्थित किसी एक वस्तु का दूसरे उपस्थित पदार्थ में सम्बन्ध या मनोभाव जोड़कर आरोप कर देने का नाम 'स्थापना' है। यह आरोप जहाँ होता है वहाँ ऐसी मनोभावना होने लगती है कि 'यह वही है'। उदाहरण—शतरंज के पांसे लकड़ी, माटी या पत्थर आदि के बनाये जाते हैं, परन्तु उनको लोग घोड़ा, हाथी, राजा, वजीर इत्यादि मानकर खेलते हैं। इसी प्रकार किसी देवी-देव की मूर्ति बनाकर लोग उसे वह देवी या देव मानने लगते हैं।

---

1. नयों का स्वरूप इसी अधिकार के अन्त में कहेंगे। द्रव्य शब्द का 'सामान्य' और पर्यायशब्द का ' विशेष' अर्थ होता है । द्रव्य व पर्याय को ग्रहण करनेवाला, ऐसा अर्थ द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक शब्दों का होता है, इसलिए ये दोनों शब्द नय-शब्द के विशेषण हैं।
2. इस निक्षेप को कई लोग विपरीत ज्ञान का कारण मानेंगे और विपरीत ज्ञान के जनक विषय अथवा पद्धति को सत्य न कहकर मिथ्या कहना चाहिए, इसलिए सत्य पदार्थों के संग्रह में स्थापना-निक्षेप का संग्रह नहीं करना चाहिए? इस शंका का समाधान हम यहाँ इतना ही करते हैं कि मनुष्य जिस प्रयोजन को साधने के लिए जिस वस्तु की अपेक्षा करता है उस वस्तु द्वारा यदि वह प्रयोजन सिद्ध हो जाए तो वह वस्तु सत्य क्यों न मानी जाए! मिथ्या या असत्य उसे कहना चाहिए जिससे कि इष्ट प्रयोजन सिद्ध न हो, वस्तुपरीक्षण का यही एक मार्ग है। इसका अधिक खुलासा वहाँ किया जाएगा जहाँ कि पदार्थों का लक्षण-स्वरूप कहेंगे।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी कल्पना केवल मुख्य पदार्थ के तुल्य आकृति विशेष में ही होती हो ऐसा नहीं है, अतदाकार वस्तुओं में भी लोगों की ऐसी भावना हो उठती है, इसलिए मात्र सदृशता को स्थापना-निक्षेप का कारण नहीं समझना चाहिए; मनोभावना भी इसका कारण है। जनसमुदाय की यह मानसिक भावना जहाँ हो जाती है, वहीं स्थापना-निक्षेप मानना चाहिए।

द्रव्य निक्षेप का लक्षण—

भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित्।
स्याद् गृहीताभिमुख्यं हि तद्द्रव्यं ब्रुवते जिनाः॥ 12॥

अर्थ—किसी वस्तु में उत्तर-कालवर्ती होनेवाली जिस पर्याय की तैयारी हो रही हो उस वस्तु को उसी उत्तरकालवर्ती पर्याय के नाम से कहना सो द्रव्य-निक्षेप है, ऐसा श्रीजिन भगवान के उपदेश का सारांश समझना चाहिए।

यह लक्षण एक उत्तरवर्ती पर्याय की अपेक्षा से कहा गया है; वास्तव में यह निक्षेप नैगम-नय का विषय है। आगे चलकर नैगम-नय के तीन भेद कहेंगे। वे तीनों ही विषय द्रव्यनिक्षेप के द्वारा संगृहीत हो जाने चाहिए, इसलिए हम द्रव्यनिक्षेप का लक्षण ऐसा कहते हैं—जिस किसी अनुपस्थित पर्याय की किसी वस्तु में योग्यता देखकर उस अनुपस्थित पर्याय के नाम से उस वस्तु को कहना द्रव्यनिक्षेप है। अनुपस्थित और तीसरा वह अनुपस्थित जो तैयार तो होने लगा हो, किन्तु परिपूर्ण न हुआ हो। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—राजगद्दी से उतर जानेवाले को राजा मानना, दूसरा आगामी राजा बननेवाले राजपुत्र को राजा मानना, वह तीसरा राजगद्दी के लिए जिसकी तैयारी चल रही हो उसे राजा कहना। इन तीनों उदाहरणों में से ऐसा एक भी नहीं है कि जो वर्तमान समय में पूरा उपस्थित हो, इसलिए इस संकल्प को अनुपस्थित विषय का बतलाने वाला माना गया है। यह संकल्प पहले की तरह सत्य इसलिए है कि इसका उपयोग भी सर्वसम्मत है। जिसके द्वारा सर्वसम्मत व्यवहार हो सकता हो वह भी यदि असत्य मान लिया जाए तो सत्य पदार्थ की दूसरी पहचान क्या हो सकती है?

भाव निक्षेप का लक्षण—

वर्तमानेन यद्-येन[1] पर्यायेणोपलक्षितम्।
द्रव्यं भवति भावं तं वदन्ति जिनपुङ्गवाः॥ 13॥

अर्थ—जिस वर्तमान पर्याय से वस्तु युक्त हो, उसी पर्याय के नाम से उस वस्तु का बोलना भाव निक्षेप है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं, अर्थात् किसी वस्तु की पर्याय जैसे पूर्ण उपस्थित हो वैसे अर्थवाला उस वस्तु का नाम रख लें सो भावनिक्षेप है।

तत्त्व निश्चय के साधन—

तत्त्वार्थाः सर्व एवैते सम्यग्बोधप्रसिद्धये।
प्रमाणेन प्रमीयन्ते नीयन्ते च नयैस्तथा॥ 14॥

---

1. यत्नेन इति पाठ भेदः।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—तत्त्व सात हैं यह बात पहले कह चुके हैं। इन तत्त्वों के अर्थ चार निक्षेपों के द्वारा चार-चार प्रकार से हो सकते हैं, इस तरह यदि भेदों की अपेक्षा देखें तो सात के चौगुने अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। ये अट्ठाईस भी तत्त्वार्थ ही हैं। इनके जो उत्तर भेद तथा प्रभेद होंगे उन सबको भी तत्त्वार्थ ही कहना चाहिए, परन्तु उनकी गणना इन्हीं में हो जाती है।

यदि इनका प्रमाण के द्वारा निश्चय किया जाए तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। प्रमाण से निश्चय हो जाने पर नाना नयों द्वारा भी विविध प्रकार से इनका निश्चय किया जाता है। इस प्रकार तत्त्वपरीक्षा के लिए प्रमाण एवं नय मुख्य साधन हैं। दूसरे कुछ अमुख्य भी साधन हैं, परन्तु उन्हें अधिकार के अन्त में कहेंगे।

प्रमाण का लक्षण व भेद—

सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम्।
तत्परोक्षं भवत्येकं प्रत्यक्षमपरं पुनः॥ 15॥

अर्थ—प्रमाण का अर्थ 'निर्दोष ज्ञान' ऐसा माना गया है। इस प्रमाण के प्रत्यक्ष व परोक्ष ये दो साधारण भेद हैं। सर्वानुभूत होने से 'परोक्ष' पहला भेद समझना चाहिए और 'प्रत्यक्ष' दूसरा भेद है। वास्तविक प्रत्यक्ष का अनुभव विशिष्ट वीतराग ज्ञानियों को ही होता है।

परोक्ष ज्ञान का लक्षण—

समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत्।
पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम्॥ 16॥

अर्थ—'अक्ष' यह नाम आत्मा का हो सकता है। आत्मा के अतिरिक्त और भी दूसरे कारण जिस ज्ञान की उत्पत्ति होने में लगते हों उस ज्ञान को परोक्ष कहा है। यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष की तरह वास्तविक पदार्थों का ही होता है, परन्तु अन्य निमित्त कारणों के अधीन इसकी उत्पत्ति होने से यह पूरा विशद नहीं हो पाता; यही इसकी परोक्षता है।

उन इतर कारणों के उदाहरण—अनुमानजनित अग्निज्ञान के समय जैसे धुआँ और इन्द्रियजन्य ज्ञानों के समय इन्द्रियाँ। इन्द्रियों को उपात्तकारण और धुआँ आदि को अनुपात्त कारण कहा है। जाननेवाले के साथ से जुदे न रहनेवाले का नाम उपात्त या मिलित अथवा संगृहीत है। जो शरीर व आत्मा से जुदा रहकर ज्ञानोत्पत्ति में सहायता दे उसे अनुपात्त या असंगृहीत कारण समझना चाहिए।

मन सहित जीवों को कोई भी ज्ञान हो, सभी में इन्द्रिय व मन की जरूरत तो लगती ही है, परन्तु

---

1. प्रमाणों का भी अधिक खुलासा 37वें श्लोक के अन्तर्गत करेंगे।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मन व इन्द्रिय सहायक रहते हुए भी अनुमानादि कुछ ज्ञान ऐसे होते हैं कि उनकी भी अपेक्षा होती है। उनमें इन्द्रिय व मन के अतिरिक्त धुआँ देखने आदि की और भी अधिक जरूरत होती है। वे ज्ञान अतिपराधीन होने के कारण केवल 'परोक्ष' कहे जाते हैं और जो चाक्षुषादि ज्ञान, केवल मन व इन्द्रियों से ही उत्पन्न हो जाते हैं वे भी वास्तविक या योगियों की दृष्टि से तो परोक्ष ही हैं, परन्तु हम लोग उन्हें व्यवहार दशा में 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' भी कहते हैं। अधिक स्पष्ट ज्ञान को जिनमत में 'प्रत्यक्ष' कहा है। हमको इन्द्रियजन्य ज्ञान के अतिरिक्त अधिक स्पष्ट ज्ञान का स्वप्न में भी अनुभव नहीं होता, इसलिए हम इसी को प्रत्यक्ष मान बैठे हैं, परन्तु जिन योगियों को अतिस्पष्ट दिव्यज्ञान हो जाता है वे हमारे ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे कहेंगे? 'परोक्ष'—शब्द के दो अर्थ होते है—अस्पष्ट व पराधीन। संस्कारवश हम इन्द्रिय की पराधीनता को पराधीनता नहीं समझ पाये हैं, इसलिए केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कह बैठते हैं।

सम्यक् प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण—

इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षामुक्तमव्यभिचारि च।
साकारग्रहणं यत्स्यात् तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते॥ 17॥

अर्थ—इन्द्रिय व मन की अपेक्षा न रखकर स्पष्ट जानना उसे वास्तविक प्रत्यक्ष कहते हैं, साथ ही यह और भी ध्यान रखना चाहिंए कि जिस पदार्थ को उस प्रत्यक्ष द्वारा जाना हो उस पदार्थ के वैसे स्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं होना चाहिए; तभी वह असली प्रत्यक्ष कहा जा सकता है।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप व मूलभेद—

सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः।
मतिश्रुतावधि-ज्ञानं मनःपर्यय-केवलम्॥ 18॥

अर्थ—स्व—अपना स्वरूप, अर्थ—विषय, व्यवसाय—यथार्थ निश्चय, ज्ञान में ये तीन बातें हों तो उसे सम्यग्ज्ञान कहना चाहिए। अर्थात् ज्ञान में विषय प्रतिबोध के साथ-साथ यदि अपना स्वरूप भी प्रतिभासित हो और वह यथार्थ भी हो तो उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहना चाहिए।

नैयायिक लोगों का मत ऐसा है कि ज्ञान में प्रथम तो विषयमात्र ही भासता है फिर यदि उस ज्ञान का स्वरूप समझना हो तो दूसरे ज्ञान से वह स्वरूप जाना जाएगा। वेदान्तादिकों का ऐसा मत है कि ज्ञानमय ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ वास्तव में है ही नहीं। अतएव योगी जब शुद्ध केवलज्ञान को आत्मसात् कर लेते हैं, तब इतर पदार्थों का प्रतिभास उनको नहीं होता।

ये दोनों मत जैनों को मान्य नहीं हैं। प्रत्येक ज्ञान में विषय व स्वकीय स्वरूप का प्रतिबोध होना ही चाहिए। जिसमें विषय का प्रतिभास न हो उसमें होगा ही क्या? और उसको 'ज्ञान' ऐसा नाम भी कैसे प्राप्त होगा? इसी प्रकार जिस ज्ञान में स्वबोध नहीं होता, वह दूसरे का भी बोध भला किस तरह

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करेगा?[1] तीसरा जो व्यवसाय या निश्चय विशेषण दिया है, वह इसलिए कि संशयादि ज्ञान, सम्यग्ज्ञान न कहलाने लगें। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय व केवल ये इस सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं।

स्वसंवेदनमक्षोत्थं विज्ञानं स्मरणं तथा।
प्रत्यभिज्ञानमूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा॥ 19॥
बुद्धिर्मेधादयो याश्च मतिज्ञानभिदा हि ताः।

अर्थ—स्वसंवेदन अर्थात् सुखादि अन्तरंग विषयों का ज्ञान। इन्द्रियज्ञान अर्थात् इन्द्रियजन्य बाह्य विषयों का ज्ञान। स्मरण यानी पहले अनुभूत विषयों का याद होना। उपस्थित किसी एक विषय का इन्द्रियजन्य ज्ञान व पूर्वानुभूत किसी विषय का स्मरण हो जाने पर उस उपस्थित और उस स्मरण के विषय में परस्पर मेल बैठानेवाला जो तृतीय ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान है। अनुमानोपयोगी साध्यहेतुओं का परस्पर अखंडनीय सम्बन्ध दिखानेवाले ज्ञान को ऊह या तर्क कहते हैं। तर्कज्ञान हो जाने पर साधन दिखते ही साध्यज्ञान का होना स्वार्थानुमान है। ये सब मतिज्ञान के प्रकार हैं।

व्यवहार प्रत्यक्ष मन से होता है और बाह्य इन्द्रियों द्वारा भी। **मानसिक प्रत्यक्ष को स्वसंवेदन कहते हैं और बाह्येन्द्रियजन्य को विषयप्रत्यक्ष या बाह्यप्रत्यक्ष। जैनशास्त्रों में इन्हीं दोनों ज्ञानों को अनुभव भी कहते हैं।** इसके होने पर यदि संस्कार उत्पन्न हो जाए तो कालान्तर में निमित्त मिलने पर उसका स्मरण होता है। प्रत्यभिज्ञान, तर्क व अनुमान ये तीनों ज्ञान भी पूर्वोल्लिखित ज्ञान होने पर हो सकते हैं, इसीलिए अनुभवादि अनुमान पर्यन्त के ज्ञानों में पहले के कारण व उत्तर के कार्यरूप माने गये हैं। अनुभव मूलज्ञान है, इसलिए उसके पूर्व में कारण-ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती और वह व्यवहार में प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। परन्तु स्मरण आदि अनुमान पर्यन्त चारों ही ज्ञान पूर्व-पूर्वज्ञानजनित होते हैं, इसलिए वे सब केवल परोक्ष ही माने जाते हैं। अनुमान, एक तो स्वयं साधन दिखने पर साध्यज्ञान होना, दूसरा, किसी का हेतु तर्कवाक्य सुनने पर होना, ऐसे दो प्रकार का है। पहले को मतिज्ञान के भेदों में माना है और दूसरे को श्रुतज्ञान में गर्भित किया है।

जिस प्रकार अनुभव—स्मरणादि मतिज्ञान के उत्तर भेद हैं, उसी प्रकार बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा—इत्यादि नाम भी मतिज्ञान के ही भेदवाचक हैं। अनुभवादि जो भेद हैं वे पूर्वोत्तर कालवर्ती होने से, व कार्यकारणरूप होने से माने गये हैं परन्तु बुद्धि-मेधादिक भेद इस प्रकार के नहीं हैं। ये भेद कहीं तो तरतम भाव की अपेक्षा से हैं और कहीं उत्पादक सामग्री भेद की अपेक्षा से हैं और कहीं उक्त दोनों की अपेक्षा माने गये हैं, किन्तु विषय सबके अलग-अलग रहते हैं। इसीलिए बुद्धि-मेधादिकों में परस्पर कालक्रम का तथा कार्यकारणपने का कोई नियम नहीं जुड़ता है। यह अनुभव-स्मरणादि और बुद्धि मेधादिकों में परस्पर का अन्तर है। अनुभव—स्मरणादिकों में विषय प्रथमानुभव किया हुआ ही रहता है और आगे जो अवग्रह आदि भेद कहेंगे उनमें भी विषय एक ही रहता है। केवल जानने में तरतमता व दृढ़ता बढ़ती जाती है।

---

1. को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्? (प.मु., सूत्र 11)। स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगात्।—न्या. दी., प्र. प्रका., वृ.13

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मतिज्ञान के कारण—

इन्द्रियानिन्द्रियेभ्यश्च मतिज्ञानं प्रवर्तते॥ 20॥

अर्थ—मतिज्ञान मात्र इन्द्रिय और मन द्वारा उत्पन्न होता है। मन रहित भी कई प्रकार के जीव होते हैं। उनका मतिज्ञान, अकेला किसी एक-एक इन्द्रिय द्वारा ही उत्पन्न होता है। जिन जीवों में मन होता है उनका मतिज्ञान अकेले मन द्वारा भी होता है और बाह्य विषयों का ज्ञान मन की सहायता मिलने पर किसी एक इन्द्रिय द्वारा भी होता है।

मतिज्ञान के भेद व विषय—

अवग्रहः ततस्त्वीहा ततोऽवायोऽथ धारणा।
बहोर्बहुविधस्यापि क्षिप्रस्यानिःसृतस्य च॥ 21॥
अनुक्तस्य [1]ध्रुवस्यातः सेतराणां तु ते मताः।
व्यक्तस्यार्थस्य विज्ञेयाश्चत्वारोऽवग्रहादयः॥ 22॥
व्यञ्जनस्य तु नेहाद्या एक एव ह्यवग्रहः।
अप्राप्यकारिणी चक्षुर्मनसी परिवर्ज्य सः॥ 23॥
चतुर्भिरिन्द्रियैरन्यैः क्रियते प्राप्यकारिभिः।

अर्थ—किसी एक विषय का प्रथम ही विशेष ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रथम समय में मनुष्य का किसी एक वस्तु की तरफ लक्ष्य जाता है उस समय एक साधारण परिणाम उत्पन्न होता है। उस परिणाम को दर्शन कहा है। दूसरे लोग इसे निर्विकल्प ज्ञान[2] भी कहते हैं। विशेष, आकृति या विकल्प शब्द का एक ही अर्थ है। विशेषण भी इसी को कह सकते हैं। विशेषण या विशेष आकृति से जो उलटा स्वभाव हो उसे साधारण, निर्विशेष, सामान्य-इत्यादि नामों से सम्बोधते हैं। प्रथम समय में होनेवाला पदार्थ का दर्शन केवल साधारण स्वरूप को पकड़ता है, इसलिए उसे निर्विकल्प ज्ञान कहना भी युक्तिसंगत है, परन्तु जैन सिद्धान्त में ऐसा माना है कि पदार्थ का विशेष आकार जब तक भास न हुआ हो तब तक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं समझनी चाहिए। जिस चेतन में विशेष आकार कुछ भी भासने लगा हो वही ज्ञान कहलाता है, इसीलिए ज्ञान को साकार माना गया है और दर्शन को निराकार। जिसका आकार कहा व ठहराया न जा सके वह सामान्य होता है। सामान्य का विषय करनेवाला चैतन्य भी इसीलिए निराकार होता है। यही दर्शन व ज्ञान में परस्पर अन्तर है।

दर्शन हो जाने पर दूसरा समय लगते ही चेतना में थोड़ा-सा विशेषाकार भासने लगता है। बस, यही प्रथम होनेवाला ज्ञान है। जैन सिद्धान्तों में इस प्रथम ज्ञान को अवग्रह कहा है। विशेषता के उत्तरोत्तर

---

1. ध्रुवस्येति इति पाठान्तरम्। 2. 'ज्ञान' शब्द का अर्थ चैतन्य भी हो सकता है और इस अर्थ के अनुसार ज्ञान के साथ निर्विकल्प विशेषण लगाने से सामान्यार्थप्रतिभासक दर्शन ऐसा अर्थ होना सम्भव है। परन्तु, जैन ग्रन्थों में दर्शन के लिए 'ज्ञान' शब्द का उपयोग किया नहीं जाता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अनेक भेद होते हैं। अवग्रह ज्ञान में किसी पदार्थ की जितनी विशेषता भास चुकती है उससे अधिक विशेषता जानने की यदि इच्छा हो तो उत्तर के विशेष भेदों में जिज्ञासा उत्पन्न होता है। जिज्ञासा के बाद उपस्थित अथवा सत्य विशेषाकार की तरफ ज्ञान झुक जाए तो उस ज्ञान को ईहा-ज्ञान कहते हैं। अवग्रह के द्वितीय समय में जिज्ञासा व तीसरे समय में ईहा होती है। ईहा सुदृढ़ नहीं होती, परन्तु संशय की तरह डाँवाडोल भी नहीं रहती। संशय में कुछ भी निश्चय नहीं होता, इसलिए वह केवल मिथ्या समझना चाहिए, परन्तु ईहा में प्राप्त हुए सत्यविषय का यद्यपि पूर्ण निश्चय नहीं हो पाता; तो भी ज्ञान के अधिकांश, विषय के सत्यांशग्राही भी होते हैं, इसलिए ईहा का सत्यज्ञानों में संग्रह किया गया है।

किसी ज्ञान को मिथ्या या सत्य ठहराने के लिए इतना ही नियम तय करना होगा, कि जिस ज्ञान में दो विषय ऐसे आए हों कि एक सत्य, दूसरा मिथ्या हो, तो जिस अंश के ऊपर जाननेवाले का अधिक ध्यान हो उसके अनुसार उस ज्ञान को सत्य या मिथ्या मान लेना चाहिए। जैसे एक चन्द्र को देखकर यदि दो चन्द्र का ज्ञान हुआ हो और देखनेवाले का लक्ष्य केवल चन्द्र को समझ लेने की तरफ हो तो वह सत्य कहना चाहिए। यदि उसी देखनेवाले का लक्ष्य एक-दो संख्या ठहराने की तरफ हो तो उसे असत्य मानना चाहिए।[1]

यदि ईहा के उत्तर काल तक ईहा के विषय पर लक्ष्य रहे तो ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है और उसे 'अवाय' कहते हैं। 'अवाय ज्ञान' प्रत्यक्ष-ज्ञान के तीनों भेदों में से उत्कृष्ट अथवा सबसे अधिक विशेषज्ञान है। 'धारणा' यह अवाय के भी आगे चलकर होती है, परन्तु उसमें कुछ अधिक दृढ़ता उत्पन्न हो जाने के सिवाय दूसरी विशेषता प्राप्त नहीं होती। कालक्रम से देखा जाए तो धारणा, अवाय के बाद होती है, इसलिए वह अवाय का उत्तर भेद माना जाता है। उस धारणा से सुदृढ़ता के वश एक इस प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके हो जाने से बाह्य निमित्त सामने आने पर पूर्वानुभव का स्मरण हो सके। इसका स्थान चौथा नियत करने से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि अवाय ज्ञान जब तक नहीं होता तब तक उस विषय की धारणा होना असम्भव है। हाँ, अवाय हो जाने पर भी कभी धारणा होती

---

1. ''ननु च तत्त्वज्ञानस्य सर्वथा प्रमाणत्व-सिद्धेरनेकान्तविरोध इति न मन्तव्यं, बुद्धेरनेकान्तात् येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति निरूपणात्।5 तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रमाण्येतर स्थितिरुन्नतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। कथमेवं क्वचित्प्रमाण-व्यपदेश एव क्वचिदप्रमाणव्यपदेश एवेति नियता लोकव्यवस्थितिरिति? उच्यते, तत्प्रकर्षापेक्षयाव्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्। यथा च प्रत्यक्षस्य संवादप्रकर्षात्प्रमाणव्यपदेशव्यवस्था प्रत्यक्षाभासस्य च विसंवादप्रकर्षाद् अप्रमाणत्वव्यपदेशव्यवस्थितिः। गन्धादिगुणप्रकर्षात्कस्तूरिकादेर्गन्धद्रव्यव्यपदेशव्यवस्था तद्व्यवहारिभिरभिधीयते।'

भावार्थ—तत्त्वज्ञान यदि सर्वथा प्रमाण ही है तो अनेकान्तवाद नहीं रह सकता है, क्योंकि सर्वथा उसे प्रमाण मान लेने से एकान्तवाद हो जाता है। इसका उत्तर देने के लिए बुद्धि का उदाहरण सामने रखते हैं। बुद्धि में जितना अंश सत्य हो उसे प्रमाण कहना चाहिए और बाकी को अप्रमाण। इसलिए यहाँ अनेकान्तवाद सिद्ध हो जाता है। ऐसे ज्ञानों को संकीर्ण-प्रमाण्य व संकीर्ण-अप्रमाण्य कहते हैं। उदाहरणार्थ, नेत्रों में कुछ दोष हो तो एक चन्द्र के दो चन्द्र दिखते हैं। यहाँ पर चन्द्रसम्बन्धी ज्ञानांश तो सत्य मानना पड़ता है और संख्यासम्बन्धी ज्ञानांश असत्य। ऐसे स्थान में जिस विषयांश की जिज्ञासा हो उसकी अपेक्षा से ज्ञान को सत्यासत्य ठहराते हैं, यही व्यवहारमार्ग है। जैसे कि गन्ध तो सभी पुद्गलों में रहता है, परन्तु उत्कट गन्ध जिसमें हो गन्धयुक्त उसी को कहा जाता है। (अष्टसहस्री, 101 वीं कारिका व्याख्या)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है और कभी नहीं भी होती। ईहा—अवाय का भी यही नियम है। अवग्रह हो जाने पर वे होते भी हैं और नहीं भी होते हैं और हों तो भी एक ईहा ही होकर छूट सकती है और कभी-कभी अवाय भी हो जाता है।

अवाय के बाद होनेवाले धारणा ज्ञान में यद्यपि विषय की विशेषता नहीं है तो भी सुदृढ़ता अवाय की अपेक्षा अधिक अवश्य उत्पन्न होती है। अवाय की अपेक्षा धारणा में दृढ़ता ही विशेष है[1] जिससे कि अवाय स्मरण का कारण नहीं हो सकता है और धारणा स्मरणोत्पत्ति के लिए कारण हो जाती है। यहाँ प्रश्न है—

धारणा नाम किसी उपयोगरूप ज्ञान का है अथवा संस्कार का? यदि उपयोगरूप ज्ञान का नाम है, तब तो वह धारणा स्मरण को उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं होगी, क्योंकि कार्य—कारणरूप पदार्थों में परस्पर काल का अन्तर नहीं रह सकता है। धारणा कब होती है और स्मरण कब? इनमें काल का बड़ा ही अन्तर पड़ जाता है। यदि उसे संस्काररूप मानकर स्मरण के समय तक विद्यमान मानने की कल्पना करें तो वह प्रत्यक्ष का भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि संस्काररूप ज्ञान स्मरण की अपेक्षा भी मलिन होगा। स्मरण उपयोगरूप होने से अपने समय में दूसरा उपयोग होने नहीं देता और कुछ भी विशेष ज्ञान उत्पन्न करता है, परन्तु धारणा संस्काररूप होने से उसके रहते हुए भी अन्यान्य अनेकों ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं और स्वयं वह धारणा तो अर्थ का ज्ञान ही नहीं करा सकती है।

इसका उत्तर—'धारणा' यह उपयोगरूप ज्ञान का भी नाम है और संस्कार का भी नाम है। धारणा को साम्य-व्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदों में गिनाया है और उत्पत्ति भी अवाय के बाद ही हो जाती है। स्वरूप भी उसका अवाय की अपेक्षा अधिक दृढ़रूप होता है, इसलिए उसे उपयोगरूप ज्ञान में गर्भित करना चाहिए। वह धारणा स्मरण को करती है और कार्य के पूर्वक्षण में कारण रहना चाहिए, इसलिए उसे संस्काररूप भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि धारणा के द्वारा एक संस्कार उत्पन्न होता है जो कि स्मरण के समय तक रहता है। उसको कहीं पर तो धारणा से जुदा कहकर गिनाया है और कहीं पर धारणा के ही नाम से कहा है।[2] धारणा व उस संस्कार में कार्यकारण सम्बन्ध है, इसलिए भेदविवक्षा को मुख्य मानने पर तो जुदा गिना दिया है और जहाँ अभेद को मुख्य माना है वहाँ पर जुदा न गिनाकर केवल धारणा को ही स्मरण का कारण बता दिया है।

इस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये मतिज्ञानरूप परोक्ष के चार भेद हैं। इनका स्वरूप उत्तरोत्तर तरतम विशुद्ध होता है और उन्हें पूर्व-पूर्वज्ञान के कार्य समझना चाहिए। एक विषय की उत्तरोत्तर विशेषता इनके द्वारा जानी जाती है, इसलिए इन चारों ज्ञानों को एक ही ज्ञान के विषय प्रकार भी कह सकते हैं। मति-स्मृत्यादि की तरह काल का असम्बन्ध तथा बुद्धि मेधादि की तरह विषय का असम्बन्ध इनमें नहीं रहता।

---

1. सुदृढ़ता को भी विषयविशेष माना जा सकता है, इसीलिए धारणा को अपूर्वार्थ-ग्राहिणी व प्रमाण कह सकते हैं।
2. 'धारणं धारणा' ऐसा भाव-साधन मानने पर संस्कार का नाम धारणा हो सकता है और 'धार्यतेऽनया सा धारणा' ऐसा कारणार्थ करने पर उपयोगरूप प्रथम कारण-ज्ञान का नाम धारणा होगा।
   ''संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः (परी.मु., तृ.समु., सू. 3)। धारणा हि तथात्मानं संस्करोति येन कालान्तरेऽपि ततः स्मृतिः स्यात्।'' (न्या.दी., परो.प्रका., वृ. 4) ऐसा वचन है। ''संस्कारः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षभेदो धारणा। तस्योद्बोध प्रबोधः। स निबन्धनं यस्यास्तदित्याकारो यस्याः सा तथोक्ता स्मृतिः।''

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मन व इन्द्रियों से जानने योग्य विषय तो आगे कहेंगे[1], परन्तु यहाँ पर यह बताते हैं कि वह एक-एक विषय भी कितने प्रकार का होता है।[2] प्रथम तो एक व्यक्त, एक अव्यक्त ऐसे दो प्रकार का विषय माना गया है। जिस प्रकार एक मिट्टी के कोरे बर्तन को पानी की बूँदें डाल-डालकर भिगोना शुरू किया जाए तो, पहले एक दो बूँद तो उस पर पड़ते ही ऐसी सूख जाएगी कि देखनेवाला उसे भीगा कभी नहीं कह सकता। तो भी वह भीगा है, यह बात युक्ति से तो माननी ही पड़ेगी। इसी प्रकार कान, नाक, जीभ और त्वचा ये चार इन्द्रियाँ अपने विषयों से भिड़कर ज्ञान पैदा करती हैं, इसलिए प्रथम ही एक दो समय तक विषय का मन्द सम्बन्ध होते हुए भी ज्ञान प्रकट नहीं होता। तो भी, जबकि विषय का सम्बन्ध शुरू हो गया है तो ज्ञान का होना भी शुरू हो गया। यह बात युक्ति से अवश्य माननी पड़ती है। बस, इसी को अव्यक्त ज्ञान कहते हैं। जबकि इसमें विषय का स्वरूप ही स्पष्ट जानने में नहीं आता तो उत्तर विशेषता की शंका तथा समाधान रूप ईहादि ज्ञान तो हो ही कहाँ से सकते हैं? इसीलिए अव्यक्त का अवग्रहज्ञान ही होता है; ईहादिक नहीं। मन का या चक्षु का ज्ञान विषय भिड़ने पर नहीं होता, किन्तु दूर रहते ही होता है, इसलिए वहाँ का ज्ञान होगा तो व्यक्त ही होगा, नहीं तो नहीं। अतएव, चक्षु व मन का ज्ञान अव्यक्तज्ञान नहीं हो सकता है। इस अव्यक्त ज्ञान का नाम व्यंजनावग्रह है। जबसे विषय व्यक्ततया भासने लगा हो, तबसे उस ज्ञान को व्यक्तज्ञान कहते हैं, इसका नाम अर्थावग्रह है। यह अर्थयुक्त अवग्रह सभी इन्द्रियों के व मन के द्वारा होता है। इसी 'अर्थ' नामक विषय के फिर ईहादिक भी होते हैं।

अर्थ व व्यंजनरूप व्यक्ताव्यक्त विषयों के बारह प्रकार एक दूसरी तरह से और भी बताये हैं। वे यों कि, एक कोई विषय (1) बहुत-सा ज्ञानगोचर हुआ हो, (2) थोड़ा-सा हुआ हो, (3) युगपत् बहुत तरह का हुआ हो, (4) एक तरह का हुआ हो, (5) शीघ्रता से हुआ हो, (6) देरी से हुआ हो, (7) एक देश अव्यक्त रहने पर हो गया हो, (8) पूर्ण व्यक्त होने पर हुआ हो, (9) उसका वर्णन न सुनने पर भी हुआ हो, (10) वर्णन सुनने पर हुआ हो, (11) दृढ़ता से हुआ हो, (12) अस्थिरता से हुआ हो। इस प्रकार विषय व तज्जनित ज्ञान के बारह-बारह ये भी भेद हो सकते हैं।[3]

अनुक्त विषय श्रोत्रज्ञान में और उक्त विषय नेत्रज्ञान में कैसे सम्भव हो सकता है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर ऊपर के अनुसार अर्थ करने से हो सकता है। श्रोत्रज्ञान में अनुक्त का अर्थ ईषत् अनुक्त करना चाहिए। अथवा, उक्त का अर्थ से लक्षणादि द्वारा वर्णन किया गया, ऐसा कहना चाहिए। नाममात्र सुनने

---

1. जीवतत्त्व नामक दूसरे अध्याय में इन्द्रिय व मन के जुदे-जुदे विषय बताएँगे।
2. 'अवग्रहादिसम्बन्धात्कर्मनिर्देशः' इस वार्तिक के कथन से बहु आदि को कर्म मानना चाहिए। 'क्वचिच्चिरेण' इस आगे के वचन से यह भी सिद्ध होता है कि क्षिप्र-चिर आदि कुछ शब्द क्रियाविशेषणों को भी कर्म में ग्रहण करते हैं—यह बात शब्देन्दुशेखर आदि व्याकरणों में खुलासा की है। इसलिए कर्म तथा क्रियाविशेषण कहने से कोई परस्पर विरोध नहीं मानना चाहिए। कुछ लोग 'चिरेण' आदि शब्दों को भी विषय का ही विशेषण कहते हैं परन्तु वह भूल है।
3. व्यंजनावग्रह की बहु आदि बारह संख्या को चार इन्द्रियसंख्या से गुणित करने पर 48 भेद व्यंजनावग्रह के होते हैं। अर्थज्ञान के अवग्रह-ईहादि चारों भेद होना सम्भव है इसलिए अवग्रहादि की चार संख्या से गुणने पर अर्थज्ञान के चार भेद होंगे; इन चार भेदों को बहुआदि बारह संख्या से गुणा करने पर 48 भेद होंगे; 48 को छह इन्द्रियसंख्या से गुणित करने पर 288 भेद होते हैं। इस प्रकार व्यंजन व अर्थरूप मतिज्ञान के मिलकर अधिकतम 336 भेद हो सकते हैं। ये सभी भेद एक अनुभव-ज्ञान के होते हैं। अनुभव के विषय से अनुमानादि ज्ञानों का विषय जुदा नहीं रहता। पूर्वानुभूत विषय की ही अनुमानादि ज्ञानवृत्तियाँ समझी जाती हैं। इसीलिए मतिज्ञान के भी 336 से अधिक भेद नहीं हो सकते।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

से भी यदि विशद ज्ञान हो जाए तो उसे अनुक्त ज्ञान ही कहना चाहिए। ऐसा अर्थ मानने से नेत्रज्ञान में भी उक्तानुक्त विश्लेषण ठीक हो जाता है, अर्थात् किसी वस्तु को विस्तार से सुन भी लिया हो और फिर देखने में भी आया हो तो उस समय का नेत्रज्ञान उक्तज्ञान कहलाएगा। लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का सम्बन्ध, इसीलिए छहों इन्द्रियों के साथ माना गया है, 'राजवार्तिक' में इस विषय का प्रमाण लिखा है।[1]

श्रुतज्ञान का स्वरूप—

मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमवस्पष्टार्थतर्कणम्॥ 24॥
तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विंशतिधा भवेत्।

अर्थ — मतिज्ञान द्वारा जाने हुए विषय का अवलम्बन लेकर उसी विषय सम्बन्धी जो उत्तर तर्कणा उत्पन्न होती है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इसके बीस भेद किये गये हैं : (1) पर्याय, (2) अक्षर, (3) पद, (4) संघात, (5) प्रतिपत्ति, (6) अनियोग, (7) प्राभृतप्राभृत, (8) प्राभृत, (9) वस्तु, और (10) पूर्व—ये दश मूल भेद हैं और दश भेद इन्हीं के एक-एक अन्तर्भेद जोड़ने से हो जाते हैं। जैसे, 'पर्याय' यह पहला भेद है और 'अक्षर' यह दूसरा भेद है। पहले भेद 'पर्याय' से ऊपर ज्ञान की मात्रा बढ़ने पर भी जो दूसरे भेद तक नहीं पहुँची हो उसे पहले या दूसरे नाम से न कहकर अन्तर्गत 'समास' इस नाम से कहते हैं। पहले से आगे के समास का (1) 'पर्याय समास' नाम है। दूसरे व तीसरे के मध्यस्थान का (2) 'अक्षर समास' नाम है। इसी प्रकार (3) पद समास, (4) संघात समास, (5) प्रत्तिपत्ति समास, (6) अनियोग समास, (7) प्राभृतप्राभृत समास, (8) प्राभृत समास, (9) वस्तु समास, व (10) पूर्वसमास—इस प्रकार के दश नाम हैं। मिलकर सब बीस भेद हो जाते हैं।[2] उत्तरोत्तर बढ़ते हुए श्रुतज्ञानों के ये नाम हैं। पूर्व व पूर्वसमास समाप्त होने पर श्रुतज्ञान की मर्यादा पूर्ण हो जाती है। इसका स्पष्ट वर्णन गोम्मटसार ग्रन्थ में है।

श्रुतरूप ज्ञान की उत्पत्ति देखें तो बीस भेदों में विभक्त है, परन्तु श्रुतज्ञान का वर्णन करनेवाले ग्रन्थों की तरफ देखें तो बारह[3] भेद किये हैं अर्थात् श्रुतज्ञान के गोचर होनेवाले विषयों का विभागपूर्वक वर्णन करते समय स्थूल विभाग बारह किये हैं, परन्तु जो बीस भेद कहे गये हैं वे इस अपेक्षा से कि श्रुतज्ञान की उत्तरोत्तर होनेवाली वृद्धि के सामान्यतया इतने प्रकार हो सकते हैं। दोनों ही भेदों में से श्रुतज्ञान का लक्षण कहीं भी बाधित नहीं होता।

प्रश्न—मतिज्ञान के व विषयों के भेद ऊपर लिखे हैं। उनमें से किसी विषय का एक कोई मतिज्ञान रहने पर उसकी सहायता से उस विषयसम्बन्धी दूसरे किसी विषय में उत्पन्न हुए ज्ञान का नाम श्रुतज्ञान है, यह श्रुतज्ञान का लक्षण हुआ।[4] इस लक्षण के अनुसार चाहे जिस मतिज्ञान के बाद होनेवाले को श्रुतज्ञान कह सकते हैं, परन्तु श्रुतज्ञान का अर्थ 'शास्त्रज्ञान' होगा या नहीं?

---

1. 'घटोऽयं रूपमिदमित्यादि यद्विशेषपरिज्ञानं तच्छ्रुतापेक्षं, परोपदेशापेक्षत्वात्। लब्ध्यक्षरत्वात्। श्रुतज्ञानप्रभेदप्ररूपणायां लब्ध्यक्षरश्रुतकथनं षोढा प्रविभक्तम्। तद्यथा—चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनमनोलब्ध्यक्षरमित्यार्ष उपदेशः। रा.वा., वा. 19-20
2. अत्थक्खरं च पदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च। दुगवार पाहुडं च य पाहुडयं वत्थुपुव्वं च॥348 गो. जी.॥
कमवण्णुत्तरवड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि। णाणवियप्पे वीसं गंथे बारस य चोद्दसयं॥349 गो. जी.॥
3. आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवाद—ये द्वादश भेद हैं।
4. अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं। आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं॥315॥ (गो. जी.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—'श्रुत' शब्द का अर्थ 'सुना हुआ विषय' या 'शब्द' ऐसा होता है। यद्यपि श्रुतज्ञान सब प्रकार के मतिज्ञानों के बाद हो सकता है तो भी वर्णनीय व शिक्षायोग्य सर्व विषय शास्त्रों में पाया जाता है और वे ही विषय श्रुतज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं, इसलिए श्रुतज्ञान में श्रुत शब्द का सम्बन्ध मुख्यता की दृष्टि से हो सकता है। शास्त्रज्ञान[1] के अतिरिक्त भी श्रुतज्ञान हो सकता है। शास्त्रज्ञान श्रुतज्ञान का एक मुख्य अंग है और शास्त्र नाम शब्द व वाक्यों के समूह का है। वाक्य मात्र का ज्ञान जो प्रथम होता है, वह मतिज्ञान ही है, इसलिए श्रुतज्ञान को मतिज्ञानपूर्वक और 'श्रुत' नाम से कहा है।

श्रुतज्ञान की उत्पत्ति आभिनिबोधिक ज्ञानपूर्वक भी कही है। अभिनिबोध अनुमान का नाम है, अनुमान मतिज्ञान का एक भेद है, इसलिए आभिनिबोधिक ज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानना यह दिखाता है कि श्रुतज्ञान स्वार्थानुमानपूर्वक होता है, परन्तु केवल ऐसा निश्चय कर लेना ठीक नहीं है, क्योंकि ईहादि ज्ञानों के बाद भी श्रुतज्ञान का हो जाना सम्भव है। श्रुतज्ञान में जो मतिज्ञान को कारण माना जाता है, वह केवल इसलिए कि किसी वस्तु के साधारण ज्ञान हुए बिना विशेषावभासी श्रुतज्ञान एकदम कैसे हो? अर्थात्, श्रुतज्ञान के उत्पन्न करने में प्रथम उत्पन्न हुए मतिज्ञान के विषय का सहारा लेना पड़ता है। इतना ही यहाँ कार्यकारणपना है, इसलिए आभिनिबोधिक का अर्थ मतिज्ञान करना चाहिए।

मति व श्रुत—ये दो ज्ञान थोड़े-बहुत सभी संसारी जीवों में देखे जाते हैं, परन्तु जिन ज्ञानों का वर्णन करेंगे वे सर्व साधारण के अनुभवगोचर नहीं होते। किसी विशेष तपोबल से अथवा पुण्य के उदय से प्राप्त होते हैं। इन्द्रियों के सामर्थ्य से वे ज्ञान दूर हैं, इसीलिए उन्हें 'अतीन्द्रिय ज्ञान' कहते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान के तीन भेद हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल। तीनों ही उत्तरोत्तर बढ़-चढ़कर हैं।

अवधिज्ञान का स्वरूप तथा भेद—

परापेक्षां बिना ज्ञानं रूपिणां भणितोऽवधिः ॥ 25 ॥
अनुगोऽननुगामी च तदवस्थोऽनवस्थितिः।
वर्धिष्णुर्हीयमानश्च षड्विकल्पः स्मृतोऽवधिः ॥ 26 ॥

अर्थ—अनुगामी, अननुगामी, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित—ये छह भेद अवधिज्ञान में पाये जाते हैं। अनुगामी उसे कहते हैं जो क्षयोपशम विद्यमान रहने से मनुष्य एवं तिर्यंचों का साथ बहुत समय तक न छोड़े। कोई-कोई 'अवधि' तो दूसरे भव तक में जाते हुए भी साथ नहीं छोड़ता। जो उत्पन्न होकर जल्दी ही छूट जाए उसे अननुगामी कहते हैं। उत्पन्न होने के समय अवधि का जितना प्रमाण हो उससे फिर जो घटता जाए वह हीयमान है। उत्पत्ति के समय से बढ़ता जाए वह वर्धमान है। जैसा का तैसा ही जो बना रहे, वह अवस्थित कहलाता है और जो घटता बढ़ता रहे वह अनवस्थित कहलाता है।

पैदा होकर छूट जाए उसे प्रतिपाती कहते हैं और जो केवलज्ञान की उत्पत्ति होने से पूर्वतक बना रहे उसे अप्रतिपाती कहते हैं। ये प्रतिपाती व अप्रतिपाती दो भेद शामिल करने से आठ भेद हो सकते

1. 'स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदः' (न्या. दी., वा. 3)। यहाँ 'आगम' शब्द से श्रुतज्ञान ही लिया गया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं, परन्तु छह भेदों के भीतर ये दो भेद गर्भित हो सकते हैं। जैसे, अनुगामी होने से अप्रतिपाती भी हो सकता है। प्रतिपाती को अननुगामी कह सकते हैं, इसलिए सूत्रकार ने तथा ग्रन्थकर्ता ने मुख्य भेद छह ही रखे हैं। छह भेदों में भी तीन भेदों के तीन प्रतिपाती भेद हैं। जैसे, अनुगामी का उलटा अननुगामी, वर्धमान का उलटा हीयमान, अवस्थित का उलटा अनवस्थित। जो जिसका प्रतिपाती है वह उसके साथ नहीं रह सकता है। जैसे अनुगामी अवधि में अननुगामीपना नहीं रह सकता है, परन्तु अनुगामी का विरोध अवस्थित आदि चार भेदों के साथ नहीं है, इसलिए कोई अनुगामी अवधि अवस्थित भी हो सकता है और कोई अनवस्थित भी हो सकता है। इसी प्रकार हीयमान व वर्धमान—ये भेद भी अनुगामी हो सकते हैं। इस प्रकार अवधियों के अनेकों भेद हो जाते हैं, परन्तु इन सभी भेदों का एक लक्षण ऐसा होना चाहिए कि जो इन सभी भेदों का अन्तर्भाव करने और शेष चार प्रकार के ज्ञानों से अवधि को जुदा भी दिखा सके।

वह लक्षण यह है — किसी सहारे के बिना जो रूपी पदार्थों का साक्षात् ज्ञान हो वह 'अवधिज्ञान' है। मतिज्ञान व श्रुतज्ञान में इन्द्रियों की तथा मन की अपेक्षा रहती है, परन्तु अवधि में किसी भी इन्द्रिय या मन का सहारा नहीं लेना पड़ता है, इसीलिए मतिज्ञान को व श्रुतज्ञान को परोक्ष कहते हैं; क्योंकि वे इन्द्रिय और मन के अधीन हैं। जिस प्रकार अन्धा आदमी देख नहीं सकता, इसलिए टटोलने पर कुछ मलिन-सा ज्ञान हुआ मानता है। इसी प्रकार संसारी जीव सीधा समझ नहीं सकते, इसलिए इन्द्रिय-मन के सहारे विषयों को टटोलते हैं, इसलिए इन्द्रिय-मनोजन्य ज्ञान को अवधिज्ञान के सामने परोक्ष ही कहना चाहिए। जिस प्रकार जन्मान्ध को अपने ज्ञान की मलिनता व अपूर्णता जान नहीं पड़ती तो भी जो सूझते हैं वे उस अन्धे के ज्ञान को अपने ज्ञान से अधिक मलिन व अपूर्ण अवश्य मानते हैं। उसी प्रकार संसारी जीवों को अपना इन्द्रिय-मनोजन्य ज्ञान मलिन व अपूर्ण नहीं जान पड़ता। वे समझते हैं कि इससे अधिक स्पष्ट और साक्षात् ज्ञान दूसरा नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय मन का सहारा लिए बिना ज्ञान होना ही असम्भव है। ऐसी समझ तभी तक है और उन्हीं जीवों की है जिनका कि जब तक जन्मान्धपना दूर नहीं हुआ है। जिनको तपश्चरण आदि की महिमा से यह जन्मान्ध का सा आवरण दूर हो गया है, वे इन्द्रिय-मनोजन्य ज्ञान को पराधीन, मलिन तथा अपूर्ण ही मानते हैं। हमें चाहे उसका साक्षात्कार नहीं हुआ तो भी इतनी बात अनुमान से समझ सकते हैं कि अमूर्तिक आत्मा का ज्ञान स्वाभाविक धर्म है, इसलिए ज्ञान जब स्वतन्त्र होगा तब बहुत ही अधिक निर्मल होगा। इस प्रकार उदाहरण व अनुमान से सिद्ध हुए अतीन्द्रिय ज्ञानों में से ही एक (अतीन्द्रिय ज्ञानों का पहला) भेद है, इसलिए इसमें मूर्तिक वस्तु के सिवाय और का प्रकाश नहीं होता। सभी अमूर्तिक तत्त्वों का पूरा-पूरा प्रकाश जिसमें हो सकता है, वह अतीन्द्रिय ज्ञानों का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ भेद है; उसे केवलज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान में भी अमूर्तिक—संसारी जीव का थोड़ा-सा भान होने लगता है, परन्तु वह मूर्तिक शरीर के सम्बन्ध से होता है, इसलिए इसका असली विषय मूर्तिक ही माना जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

देवानां नारकाणां च स भवप्रत्ययो भवेत्।
मानुषाणां तिरश्चां च क्षयोपशमहेतुकः॥ 27॥

अर्थ—वह अवधिज्ञान देव और नरकगति के तो सभी जीवों को होता है, परन्तु मनुष्य और तिर्यंच गति में उसी को हो सकता है जिसने कि उस ज्ञान के घातक कर्म का क्षयोपशम कर लिया हो। मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक ये चार गतियाँ हैं। इन्हीं गतियों में जो जीवों के जन्म होते हैं उन्हें भव कहते हैं। भवों के भी ये ही चार नाम हैं। भवमात्र के निमित्त से देव-नारकों को अवधिज्ञान होता है, इसलिए उनके ज्ञान को भवप्रत्यय अथवा भवनिमित्तक कहा है। जो मनुष्य-तिर्यंचों को होता है, वह सभी को नहीं होता, किन्तु विरलों को होता है, इसलिए उसे भवनिमित्तक नहीं कहते, किन्तु क्षयोपशमनिमित्तक कहते हैं। क्षयोपशम देव-नारकों के अवधिज्ञान होने में भी लगता है; नहीं तो वहाँ आपस के अवधिज्ञान जो हीनाधिक रहते हैं तो वे कैसे हों? तो भी उन्हें देव-नारक भव मिलते ही क्षयोपशम भी मिलता ही है, इसलिए वहाँ थोड़ा-बहुत अवधि सभी को होता है। मनुष्यों में तीर्थंकरों को भी जन्मते ही अवधिज्ञान रहता है, इसलिए उनके अवधिज्ञान को भी भवनिमित्तक ही माना जाता है, परन्तु मनुष्यों में तीर्थंकर समान भवनिमित्तक अवधिज्ञानवाले जीव बहुत ही थोड़े होते हैं, इसलिए यहाँ ऐसे जीवों को गौण मानकर मनुष्यों के अवधि को क्षयोपशमनिमित्तक कहा है।

अवधिज्ञान के तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। देव व नारकों में देशावधि को छोड़ दूसरा-तीसरा भेद प्राप्त नहीं हो सकता है। वे मनुष्यों के भेद हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि उग्रतप के माहात्म्य से किसी-किसी को ही इसके आवरण का अभाव हो सकता है।

मनःपर्यय ज्ञान का लक्षण और भेद—

परकीय-मनःस्थार्थज्ञानमन्यानपेक्षया।
स्यान्मनःपर्ययो भेदौ तस्यर्जु-विपुले मती॥ 28॥

अर्थ—दूसरों के मन की बात जानना सो मनःपर्यय है। यहाँ इन्द्रिय व मन के सहारे की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए यह भी अतीन्द्रिय और अतिस्पष्ट होता है। इसके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं।

अवधिज्ञान अतिसूक्ष्म पदार्थ को भी जान सकता है। उसकी उत्कृष्ट अवस्था प्रकट होने पर संसारी जीवों का भी स्वरूप कुछ जानने में आता है। जो अवधिज्ञान का विषय है, वह मनःपर्यय का भी विषय होता है। अन्तर इतना ही है कि अवधिज्ञान उपयोग लगाने पर सीधा ही विषयों को जानता है और मनःपर्यय का उपयोग किसी के मन के साथ ही लग सकता है, इसीलिए इसका विषय मनोगत भावमात्र ही माना गया है। उपस्थित विषयों की अपेक्षा मनोगत भाव अति सूक्ष्म समझा जाता है, इसीलिए अवधिज्ञान, जो कि परमाणुपर्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं को जान लेता है, उससे भी अधिक सूक्ष्म को जान लेने में मनःपर्यय का सामर्थ्य माना गया है। फिर उस मनःपर्यय में भी जो दो भेद हैं। उनमें से प्रथम भेद का ऋजुमति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान मनोगत विचारों की जितनी सूक्ष्म अवस्था को समझ सकता है, उससे भी अति सूक्ष्म को विपुलमति ज्ञान समझ सकता है। परमाणु से अधिक सूक्ष्म मूर्तिक पदार्थ नहीं हो सकता है और परमाणु तक अवधिज्ञान ही जान लेता है। इसलिए मन:पर्यय का विषय अतिसूक्ष्म बताने का यह मतलब मानना चाहिए कि बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा मनोगत भाव एक अतिसूक्ष्म और विजातीय चीज है, इसीलिए अवधिज्ञान से मन:पर्यय ज्ञान को एक जुदा ज्ञान माना है। यदि बाह्य विषय में ही जानने की शक्ति अतिसूक्ष्म तक उत्तरोत्तर बढ़ने मात्र से मन:पर्यय की कल्पना होती तो जुदा मानने की आवश्यकता न थी; और न नाम ही 'मन:पर्यय' ऐसा जुदा रखा जाता। विषय के प्रकार जब तक जुदे न हों तब तक ज्ञान की जाति में भेद मानना निराधार है, इसीलिए मानना चाहिए कि जो अवधिज्ञान का विषय है वह मन:पर्यय का नहीं है और जो मन:पर्यय का है वह अवधिज्ञान का नहीं है। पाँचों ही ज्ञानों के विषयाकार का विवेचन जुदा-जुदा है। विषयाकार जुदा होने से उसको जाननेवाला ज्ञान भी जुदा मानना पड़ता है। विषय का अर्थ केवल वस्तुमात्र ही नहीं होता, किन्तु ज्ञेयत्वधर्म की मुख्यता से विषय का आकार ठहराया जाता है। जबकि ज्ञान के बिना ज्ञेयत्वधर्म का निश्चय होना कठिन है तो ज्ञान के भेद से विषयों में भेद मानना भी आवश्यक है। ज्ञानों में भेद उत्पत्ति—कारण—आदि प्रकारों के भिन्न होने से जरूर ही मानना पड़ता है। इस प्रकार मन:पर्यय का विषय अवधिज्ञान के विषय से अतिसूक्ष्म है। सूक्ष्म विषयों को जाननेवाला मन:पर्यय हो जाने पर भी किसी-किसी को अवधिज्ञान नहीं होता है। यदि सूक्ष्मता मात्र ही विषय का भेद होता तो मन:पर्ययवाले को अवधिज्ञान अवश्य होता, इसलिए भी विषय की जाति जुदी-जुदी माननी पड़ती है।

वर्तमान में जो विचार जारी हो 'ऋजुमति' उसी को जान सकता है और सरल से सरल विचारों को जान सकता है, परन्तु 'विपुलमति' उन विचारों को भी जान सकता है जो आगे होनेवाले हों अथवा बीत गये हों एवं जो कुटिल से कुटिल और जटिल से जटिल हों उन विचारों को भी वह जान लेता है, इसीलिए पहले का अन्वर्थ नाम ऋजुमति और दूसरे का विपुलमति है।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां विशेषश्चिन्त्यतां तयोः।

अर्थ—ऋजुमति और विपुलमति में दो बातों का अन्तर है। एक तो यह कि ऋजुमति से विपुलमति की निर्मलता अधिक होती है और दूसरा यह कि ऋजुमति होकर छूट भी जाता है परन्तु विपुलमति केवलज्ञान तक रहता है। पहले से दूसरे की निर्मलता अधिक है, इसीलिए सिद्ध हो जाता है कि दूसरा अधिक सूक्ष्म को समझ लेता है। अप्रतिपात का कारण यह है कि दूसरे ज्ञान के होते ही चारित्र की इतनी तीव्र विशुद्धि बढ़ती है कि वह निश्चय से क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करा दे एवं उस ज्ञान के आवरण का अन्तिम क्षय इतना टिकाऊ होता है कि वह फिर बन्द नहीं हो सकता। परिणामों की विचित्रता अचिन्तनीय है। इस बात को यों भी कह सकते हैं कि उत्कृष्ट चारित्र के होने से दूसरे मन:पर्यय का आवरण व चारित्रघाती कर्म एक साथ क्षयोपशम को प्राप्त होते हैं और चारित्र वर्धमान होने से उस ज्ञानावरण को फिर उदय में आने का कभी अवकाश ही नहीं मिलता, क्योंकि जितने चारित्ररूप परिणाम से उस आवरण का क्षयोपशम हुआ था, उससे चारित्र प्रति समय बढ़ता ही चला जाता है, इसलिए जब

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र घटता नहीं तो उस आवरण का उदय फिर किस प्रकार हो सकता है? उस चारित्र से उस आवरण का क्षयोपशम होकर दूसरा मन:पर्ययज्ञान होता है और उसके होने से वह चारित्र वर्धमान होने लगता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान व चारित्र परस्पर की वृद्धि करते हुए यथाख्यात चारित्र व केवलज्ञान की दशा तक पहुँच जाते हैं। इस ज्ञान के लिए चारित्र प्रथम कारण हुआ था, इसलिए परस्पर वृद्धि होते हुए भी प्रथम चारित्र ही पूर्ण होता है।

अवधि और मन:पर्यय ज्ञान की पारस्परिक विशेषता—

स्वामि-क्षेत्र-विशुद्धिभ्यो विषयाच्च सुनिश्चितः ॥ 29 ॥
स्याद्विशेषोऽवधिज्ञान-मन:पर्ययबोधयोः।

अर्थ—अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में परस्पर चार बातों का अन्तर है—स्वामी, क्षेत्र, विशुद्धि और विषय; अर्थात् ये चारों बातें अवधि और मन:पर्यय की जुदी-जुदी भी हैं और हीनाधिक भी हैं। अवधिज्ञान चारों गतियों में चाहे जिस सैनी जीव को हो सकता है, परन्तु मन:पर्यय ज्ञान छठे गुणस्थानवर्ती वर्धमान चारित्रवाले मुनिराज को ही होता है। यह स्वामियों की विशेषता हुई। उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्यात द्वीपसमुद्र पर्यन्त है और मन:पर्यय ज्ञान का अढाई द्वीप मनुष्यक्षेत्र मात्र ही है। विषय के भेद से विशुद्धि से परस्पर अन्तर सहज ही ज्ञात हो सकता है। जब तक अवधिज्ञान की विशुद्धि अधिक न हो तब तक अतिसूक्ष्म विषय की जानकारी कैसे सम्भव हो सकती है? विषय का भेद बता चुके हैं कि परमाणु पर्यन्त का रूपी द्रव्य अवधि का विषय है और मन:पर्ययज्ञान का मनोगत विकल्प ही विषय है।

केवलज्ञान का लक्षण—

असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम् ॥ 30 ॥
घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्।

अर्थ—घातिकर्म का पूर्ण क्षय हो जाने पर सर्व विषयों को जाननेवाला जो ज्ञान प्रकट होता है उसके साथ अल्पज्ञान कोई भी नहीं रह सकते, इसलिए उसे 'केवलज्ञान' कहा है। वह आत्मा के शुद्ध स्वरूप से उत्पन्न होता है और उसे किसी भी सहारे की जरूरत नहीं पड़ती, इसलिए वह असहाय कहलाता है। यों तो अवधि ज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान भी असहाय हैं—उन्हें भी दूसरे की सहायता लेनी नहीं पड़ती, परन्तु उन पर फिर भी ज्ञानावरण का जोर रहता है। उनका आवरण कभी भी पूरा नष्ट नहीं होता, इसलिए वे क्षायोपशमिक कहलाते हैं। केवलज्ञान क्षायिक है, इसलिए इसमें आवरण का थोड़ा-सा भी लेश नहीं रहता। यही कारण है कि इसी को असली असहाय माना है।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि अवधि ज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान असहाय न होने से पराधीन हुए। जो पराधीन होता है वह प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता? इसका उत्तर—

अवधि ज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान की लब्धि प्राप्त होने के लिए आवरण के क्षयोपशम की आवश्यकता होते हुए भी उपयोगात्मक ज्ञान होने में किसी का भी सहारा नहीं लेना पड़ता, इसलिए इनकी प्रत्यक्षता

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में कोई अन्तर नहीं है। प्रत्यक्षता में अन्तर तब हो सकता था जबकि मति-श्रुत ज्ञान की उत्पत्ति जिस प्रकार इन्द्रिय व मन के अधीन है उसी प्रकार अवधि ज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान की भी उत्पत्ति किसी के अधीन होती। चक्षुरिन्द्रियावरण का क्षयोपशम होते हुए भी चक्षु फूट जाने पर चक्षुर्जन्य ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु अवधि-मन:पर्यय ज्ञान का क्षयोपशम हो तो अवधि ज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान चाहे जब हो सकते हैं, और जब नहीं हो सकते तब उनके आवरणों का भी क्षयोपशम नहीं हो सकता है। इसलिए अवधि ज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान असहाय न होने पर भी प्रत्यक्ष पूरे-पूरे होते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञान की तरह अवधि-मन:पर्यय ज्ञान के विषय पूर्णत: व्यापक न होकर भी, उनकी जितने विषयों में प्रवृत्ति होती है उसमें पूरी होती है और साक्षात् ज्ञान होने से उनकी प्रत्यक्षता में कोई आपत्ति नहीं है। जैसी प्रत्यक्षता केवलज्ञान में होती है वैसी ही आंशिक प्रत्यक्षता अवधि ज्ञान एवं मन:पर्यय ज्ञान में भी होती है।

सर्वावरण नष्ट हो जाने से केवलज्ञान युगपत् सभी विषयों को जानता है, इसीलिए केवलज्ञान को अक्रम ज्ञान कहते हैं। दूसरे ज्ञानों में यह बात नहीं है, दूसरे सभी ज्ञान क्रम से ही विषयों में प्रवर्तते हैं। चित्त की स्थिरता के अनुसार एक समय में एक से अधिक विषय भी मति-श्रुतादि ज्ञानों के द्वारा जाने जा सकते हैं, परन्तु जितने तक क्रम से जानने की मत्यादिकों में योग्यता है उतने सब एकदम कभी नहीं जाने जा सकते हैं, इसीलिए पहले चारों ज्ञान चाहे जितने अधिक बढ़ जाएँ, परन्तु क्षायोपशमिक ही रहते हैं। केवलज्ञान क्षायिक है, इसलिए वह अक्रमवर्ती ही होना चाहिए। मतिज्ञानादिकों के आवरण केवलज्ञानावरण के नाश के साथ ही पूरे नष्ट होते हैं। उससे पहले पूरे नष्ट नहीं हो पाते हैं। क्रम और अक्रम का यही साक्षात् कारण है।

प्रश्न—यद्यपि साक्षात् कारण अपने-अपने ज्ञानावरणों का पूरा क्षय होना या न होना ही है, परन्तु यह नियम क्यों माना जाता है कि प्रथम चार ज्ञानों के आवरण केवलज्ञानावरण के नाश से पहले पूरे नष्ट नहीं हो सकते हैं? यदि पहले ही तपोबल से नष्ट हो जाएँ तो क्या बाधा आएगी? दूसरी शंका—जितने विषयों को जानने की शक्ति क्षयोपशम के ज्ञानों में प्राप्त होती है उतने भी विषय युगपत् क्यों नहीं जानने में आते?

उत्तर—मोहनीय कर्म विषयों में आसक्ति पैदा करता है। वह मोहनीय कर्म जैसे ज्ञानावरण अनादि से लगा हुआ है वैसे ही अनादि से लगा हुआ है। वही चारित्र की विपरीत अवस्था करता है। चारित्र की विपरीत अवस्था का नाम भी मोह है और उसी को रागद्वेष कहते हैं। शरीरेन्द्रियादि के अनुकूल पदार्थों में मोह द्वारा राग उत्पन्न होता है और प्रतिकूलों में द्वेष उत्पन्न होता है। यह रागद्वेष जैसा तीव्र, मन्द तथा चिरस्थायी, अचिरस्थायी पदार्थों के साथ उत्पन्न होकर रहता है वैसे ही ज्ञान भी उन विषयों में फैलता है और रुकता है, इसलिए तीव्र मोही का ज्ञान संकुचित रहता है। यह बात अनुभवसिद्ध है कि मोह की मात्रा बढ़ने के समय ज्ञान की मात्रा संकुचित रहती है। वह मोह जैसे-जैसे कम होता है वैसे-वैसे ही ऊपर के गुणस्थानों में ज्ञानादि बढ़ते हैं। वहाँ अवधि ज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान चाहे विशिष्ट जाति का मोह तथा आवरण नष्ट न होने से प्रकट न हों, परन्तु मति-श्रुत ज्ञान अत्यन्त ही निर्मल हो जाते हैं। इसका प्रमाण यह है कि श्रेणी का चढ़ना श्रुतज्ञान के बिना नहीं होता। इस प्रकार मोह के मन्द होने से ज्ञान भी बढ़ता अवश्य है, परन्तु मोह की सत्ता जब तक निर्मूल नहीं हो जाती तब तक किसी भी ज्ञान के आवरण

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का पूर्ण क्षय भी नहीं होता एवं जितनी योग्यता प्राप्त होती है उतना भी उपयोग नहीं हो पाता है, यह मोह की महिमा है। दशवें गुणस्थान तक मोह रहता है, इसलिए तभी तक ज्ञान भी क्षायोपशमिक रहते हैं और जितना क्षयोपशम होता है उतना भी एकदम तब तक प्रकट नहीं हो सकता है। मोह नष्ट होते ही ज्यों ही वीतरागता पूरी प्रकट हुई कि बाधक कारण का नाश होने से साक्षात् बाधकरूप ज्ञानावरण का भी पूरा नाश अनायास हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि क्षायोपशमिकपना और क्रमवर्तीपना ये दो उपाधि ज्ञान में से तब तक हट नहीं सकतीं जब तक कि मोहनीय का निर्मूल नाश न हो जाए और मोहनीय का नाश हो जाने पर ये दोनों उपाधि रह नहीं सकती हैं, इसलिए मोह का नाश और सर्वज्ञता की प्राप्ति होने में परम्परया कारण-कार्य सम्बन्ध बताया है और मोहक्षय को प्रथम बताकर ज्ञानावरण आदि घातिकर्मों का नाश, जिससे कि केवलज्ञान प्रकट हो सके, बाद में बताया है। मोह का नाश होने पर ज्ञानावरणादि का नाश ठीक उत्तर क्षण में नहीं होता तो भी यह नहीं कहा जा सकता है कि ज्ञानावरण फिर टिक सकेगा। थोड़ा-सा समय फिर भी लग जाता है। इसका कारण यह है कि मोह का नाश केवल ज्ञानोत्पत्ति का साक्षात्कारण नहीं है। उपयोग की स्थिरता होने में वह बाधक होता था और आसक्ति के होने से आवरण का निश्शेष क्षय नहीं हो पाता था सो वह बाधक हट जाने पर आवरण के नाश की तरफ जीव की प्रवृत्ति होने लग जाती है अर्थात् आवरण का नाश करने के लिए ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्न उत्पन्न होते हैं। इस प्रयत्न के पूर्ण होने में जो कुछ समय लग जाता है उतना ही आवरण के नाश होने में विलम्ब हो जाता है, तो भी वह थोड़ा-सा विलम्ब यह प्रमाणित नहीं कर सकता है कि मोहनाश का और आवरणनाश का कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। मोहनाश होने पर भी आवरण नाश करने के लिए प्रयत्न करने में विलम्ब लग जाने का एक हेतु यह भी है कि मोह और आवरण परस्पर में विजातीय हैं और दोनों के नाश के असली फल भी जुदे-जुदे हैं। ऐसी हालत में यह मोहनाश अपना साक्षात्कार्य करता हुआ विजातीय के ऊपर अपना असर क्रम से तथा मन्द वेग द्वारा ही डाल सकेगा, परन्तु इतना निश्चय है कि मोह की शक्ति के बिना निर्वीर्य हो जानेवाले शेष घातिकर्म फिर टिक नहीं सकते हैं, इसीलिए उसके बाद सचराचर, त्रिकालवर्ती विषयों को जानने की शक्तिवाला असहाय, अक्रमवर्ती केवलज्ञान प्रकट होता है।

पाँचों ज्ञानों का विषयविभाग—

मतेर्विषयसम्बन्धः श्रुतस्य च विबुध्यताम्[1] ॥ 31 ॥
असर्वपर्ययेष्वत्र सर्वद्रव्येषु धीधनैः।
असर्वपर्ययेष्विष्टो रूपिद्रव्येषु सोऽवधेः ॥ 32 ॥
स मनःपर्ययस्येष्टोऽनन्तांशेऽवधिगोचरात्।
केवलस्याखिलद्रव्य-पर्यायेषु स सूचितः ॥ 33 ॥

अर्थ—बुद्धिमान मनुष्य थोड़े-थोड़े पर्यायों के साथ सभी द्रव्यों को मतिज्ञान व श्रुतज्ञान द्वारा जान सकते हैं। रूपी द्रव्य कुछ पर्यायों के साथ अवधिज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं। अवधिज्ञान के गोचर

1. 'निबुध्यताम्' पाठान्तरम्।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होनेवाला रूपी द्रव्य अनन्तवें भाग सूक्ष्म हो जाने तक मन:पर्ययज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। समस्त पर्याय व द्रव्यों का ज्ञान केवलज्ञान द्वारा होता है।

एक जीव में एक साथ कितने ज्ञान?

जीवे युगपदेकस्मिन्नेकादीनि विभावयेत्।
ज्ञानानि चतुरन्तानि न तु पञ्च कदाचन॥ 34॥

अर्थ—किसी भी जीव में कभी भी पाँचों ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते हैं। हाँ, एक जीव में एक साथ चार तक रह सकते हैं। केवलज्ञान हो तो वही एक होगा। उसके साथ दूसरा कोई भी ज्ञान नहीं रह सकता है। जैसे सूर्य के ऊपर मेघपटल रहते हैं तब अनेक प्रकार से अनेक क्षेत्रों में खंडश: प्रकाश पड़ता है, परन्तु मेघपटल सर्वथा हट जाने पर उसका प्रकाश अखंडरूप से सर्वत्र पड़ने लगता है। उसी प्रकार ज्ञानावरण के रहते हुए जीव का ज्ञानगुण कभी दो प्रकार से और कभी तीन अथवा चार प्रकार से अलग-अलग विषयों में अपना प्रकाश करता है, परन्तु जब आवरण का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय पूर्णरूप से वह प्रकाशित होने लगता है। उस समय ज्ञान में खंड अथवा प्रकार रहने का कोई कारण नहीं है। जब तक आवरण नि:शेष नष्ट नहीं हुए तब तक अवधिज्ञान व मन:पर्ययज्ञान के दो आवरणों का यदि पूरा उदय रहे तो भी मति-श्रुतसम्बन्धी दो आवरणों के क्षयोपशम द्वारा दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान विद्यमान रह सकते हैं। यदि 'अवधि' के आवरण का भी क्षयोपशम होने लगे तो अवधिज्ञान भी होने लगता है। उस समय तीन ज्ञान युगपत् कहे जाते हैं। मन:पर्ययज्ञान का आवरण भी जब क्षयोपशम को प्राप्त होता है, तब मन:पर्ययज्ञान भी हो सकता है। उस समय चार ज्ञान तक एक साथ रहने लगते हैं। इस प्रकार जीवों में प्रथम चार ज्ञान तक युगपत् हो जाना सम्भव है।

प्रश्न—जबकि मतिज्ञानादि एक-एक ज्ञान के भी अनेक विषय एक साथ जानने में आना कठिन है तो अनेक ज्ञान युगपत् किस प्रकार रह सकते हैं?

उत्तर—आवरणों का क्षयोपशम एक साथ जितने ज्ञान के सम्बन्ध का हो जाता है उतनी ज्ञानशक्ति इस लायक हो जाती है कि जीव चाहे जब उसका उपयोग कर ले, इसलिए यद्यपि उपयोग एक समय में एक के सिवाय अधिक नहीं हो सकता है तो भी लाभ की योग्यता मात्र रहने से चार ज्ञान तक एक साथ कहने में आते हैं। जिन ज्ञानों में हम एक से अधिक विभाग कर सकते हैं वे अनेक ज्ञान एक साथ कभी काम में नहीं आते हैं—यह नियम है। केवलज्ञान यद्यपि तीन लोक और त्रिकाल के विषयों को जानता है और अलोक तक के विषयों को जान सकता है तो भी वह अखंड कहलाता है। नाना विषयों के सम्बन्ध से उसमें अनेकपन नहीं आता, इसीलिए वह सर्व विषयों को जानते हुए भी क्रमवर्ती नहीं हो पाता है। दूसरे ज्ञानों में अखंडता से जानने की योग्यता नहीं है, इसलिए वे क्रमवर्ती कहे जाते हैं।

ज्ञान मिथ्या होने का कारण—

मति: श्रुतावधी चैव मिथ्यात्व-समवायिन:।
मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता॥ 35॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—मति, श्रुत व अवधि—ये तीन ज्ञान मिथ्यादर्शनरूप परिणाम के होने से मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं और तब प्रमाण भी नहीं माने जाते हैं। मोह का परिणाम इतना प्रबल है कि उसके रहते हुए ज्ञान अपना असर नहीं करते हैं। मोह के दर्शनमोह और चारित्रमोह ऐसे दो प्रकार हैं। सबसे प्रबल दर्शनमोह होता है। चारित्रमोह के रहने पर भी ज्ञान की वृद्धि नहीं होती, परन्तु जो हो सकता है वह ज्ञान का विपर्यास नहीं है। किन्तु दर्शनमोह ज्ञान में विपर्यास उत्पन्न कर देता है। दर्शनमोह का नाम मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के उदय से पराभूत हुए जीव का ज्ञान अन्तरंग से विपर्यासित हो जाता है, इसीलिए विषयों को बाहर से यथावत् जानते हुए भी वह ज्ञान अप्रमाण माना गया है। मिथ्यात्व का असर पहले के तीन ज्ञानों पर ही होता है, इसलिए वे ही तीन अप्रमाण कहे गये हैं।

मिथ्याज्ञानी का दृष्टान्त—

अविशेषात् सदसतोरुपलब्धे-र्यदृच्छया।
यत उन्मत्तवज्ज्ञानं न हि मिथ्यादृशोऽञ्जसा॥ 36॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव वास्तविक सत् और असत् वस्तुस्वरूप की विशेष पहचान न होने से केवल अपनी रुचि से ही सत्-असत् आदि का निश्चय ठहराते हैं, इसलिए उनका वह ज्ञान निर्दोष कभी नहीं माना जा सकता। जैसे एक उन्मत्त पुरुष को माता व स्त्रीपने का भान नहीं है। वह स्त्री को माता और माता को स्त्री कह देता है। उसका वह ज्ञान कभी सत्य नहीं कहा जा सकता। जब तक वह इसी प्रकार बेसुध रहेगा तब तक यदि माता को माता भी कहे तो भी उसका ज्ञान सत्य नहीं माना जाता, क्योंकि अभी तक उसे सत्-असत् का सही ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ।

नय का लक्षण तथा भेद—

वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाण-व्यञ्जितात्मनः।
एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा मतः॥ 37॥

अर्थ—अनन्त धर्म या गुणों के समुदायरूप वस्तु का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है और जो उस अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक-एक अंगों का ज्ञान करा दे उसे नय समझना चाहिए।[1] वस्तुओं के धर्म अनन्त होने से अवयव भेद भी अनन्त हो सकते हैं, इसीलिए अवयवों के ज्ञानरूप नय भी अनन्त हो सकते हैं।

नयों के भेदों के नाम—

द्रव्य-पर्यायरूपस्य सकलस्यापि वस्तुनः।
नयावंशेन नेतारौ द्वौ द्रव्य-पर्यायार्थिकौ॥ 38॥

---

1. प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।—रा.वा. 1/33, वा.1

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—वस्तु का पूर्ण स्वरूप द्रव्य व पर्यायों को मिलाने पर होता है, इसलिए जबकि पूर्ण वस्तु को जानना प्रमाण का कार्य है तो द्रव्य व पर्याय इन दोनों वस्त्वंशों को जो ज्ञान जान सकते हैं, उन दोनों ज्ञानों को दो नय कहना चाहिए। विषय की अपेक्षा से उन नयों के नाम 'द्रव्यार्थिक' और 'पर्यायार्थिक' ऐसे होंगे।

अनुप्रवृत्तिः सामान्यं द्रव्यं चैकार्थवाचकाः।
नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः॥ 39॥

अर्थ—'द्रव्य' यह नाम वस्तुओं का भी है और वस्तुओं के एक सामान्य स्वभाव का भी है। जब प्रमाण के विषय में 'द्रव्य' नाम उच्चरित किया जाता है तब उसका अर्थ 'वस्तु' करना चाहिए, किन्तु जब नयों के प्रकरण में 'द्रव्यार्थिक' नाम बोला गया हो तब उस 'द्रव्य' का अर्थ 'सामान्यात्मक धर्म' ऐसा ही करना चाहिए। अनुप्रवृत्ति, सामान्य, द्रव्य, नित्य, ध्रुव इत्यादि शब्दों का अर्थ भी यहाँ एक 'सामान्यात्मक धर्म' करना चाहिए। 'विशेष' शब्द के अर्थ से उलटा इसका तात्पर्यार्थ होता है। जबकि सामान्य व विशेष ये दोनों ही स्वभाव प्रत्येक वस्तु में उपलब्ध होते हैं तो वस्तुओं का पूर्ण स्वरूप सामान्य व विशेष के एकत्रित करने से ही होगा। अतएव दोनों में से सामान्य को ग्रहण करना एकदेशग्रहण हुआ और इस ज्ञान को नय ही कहना चाहिए। इस नय का नाम 'द्रव्यार्थिक' होगा। 'अर्थ' शब्द का अर्थ, प्रयोजन, विषय, धन, वाच्यार्थ, निश्चित इत्यादि अनेक प्रकार से होता है, परन्तु यहाँ पहले दो अर्थ ही लेना उचित है। 'द्रव्य हो प्रयोजन अथवा विषय जिस नय का वह द्रव्यार्थिक नय है'[1]—यह इस नाम का शब्दार्थ हुआ।

व्यावृत्तिश्च विशेषश्च, पर्यायश्चैकवाचकाः।
पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायार्थिको मतः॥ 40॥

अर्थ—व्यावृत्ति, विशेष, पर्याय, अनित्य, भेद इत्यादि शब्दों का अर्थ एक ही होता है। यह भी द्रव्यत्व के समान वस्तु का एक अंश है। इस पर्याय को ग्रहण करनेवाला ज्ञान 'पर्यायार्थिक' नय कहलाता है।

नयों के द्रव्यार्थिक व पर्यायर्थिक ये दो मूल भेद हैं। इसके आगे द्रव्य—पर्यायरूप विषयों के उत्तर भेद जैसे अधिक होंगे वैसे ही इन नयों के भेद भी बढ़ सकते हैं।

द्रव्यार्थिक नय के भेद—

शुद्धाशुद्धार्थसंग्राही त्रिधा द्रव्यार्थिको नयः।
नैगमः संग्रहश्चैव व्यवहारश्च संस्मृतः॥ 41॥

अर्थ—द्रव्य अर्थात् वस्तु का सामान्य स्वरूप। यह सामान्य स्वरूप एक तो स्वयं ही सामान्य होता है और एक इतर किसी वस्तु का सम्बन्ध होने से माना जाता है। जो स्वयं ही सामान्य हो उसे शुद्ध सामान्य कहते हैं और जो इतर सम्बन्ध से हो उसे अशुद्ध सामान्य कहते हैं। ये दोनों ही प्रकार के सामान्य

1. द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः। पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः।—सर्वा.सि., वृ.24

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यार्थिक नय के विषय होते हैं। शुद्ध सामान्य का उदाहरण आत्मा को नित्य मानने में दिख पड़ेगा। आत्मा की नित्यता किसी इतर वस्तु के सम्बन्ध के बिना ही सिद्ध होती है। आत्मा को क्रोधी मानना यह अशुद्ध द्रव्य का उदाहरण समझना चाहिए। क्रोधीपने की सिद्धि इतर सम्बन्ध से होती है।

दूसरे प्रकार से भी द्रव्य के भेद होते हैं। वे ऐसे कि सत् व असत् स्वरूप में परस्पर भेद न कर दोनों को वस्तु का स्वरूप कहना—यह भेद हुआ। असत् को जुदा कहकर किसी सत् के अन्तर्भेदों से भेद न कहना—यह दूसरा भेद हुआ। सत् में परस्पर अन्तर्भेद कहना—यह तीसरा भेद हुआ। इन तीनों प्रकार के द्रव्य या सामान्य को ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक के भी तीन भेद माने जाते हैं। तीनों के क्रम से नैगम, संग्रह व व्यवहार—ये नाम हैं।

पर्यायार्थिक नय के भेद—

चतुर्धा पर्यायार्थः स्याद्ऋजुः शब्दनयाः परे।
उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्म-सूक्ष्मार्थभेदता॥
शब्दः समभिरूढैवंभूतौ ते शब्द-भेदगाः॥ 42॥ (षट्पदी)

अर्थ—पर्याय अर्थात् विशेषता। परन्तु द्रव्यों में जो परस्पर विशेषता होती है वह पर्यायार्थिक नय का विषय नहीं माना गया है। अपितु द्रव्य में जो काल या शब्दों के सम्बन्ध से विशेषता होती है, वही पर्यायार्थिक नय का विषय है, इसलिए व्यवहार नय के विषय को द्रव्य के प्रकारों में गर्भित किया है।

इस पर्याय को ग्रहण करनेवाले नय चार हैं। ऋजुसूत्र—यह पहला भेद है। वह सीधा वस्तु को विषय करता है, परन्तु आगे के तीनों ही भेद शब्द द्वारा वस्तु को विषय कराते हैं। शब्द, समभिरूढ़ व एवंभूत—ये उसके नाम हैं। इन चारों ही नयों के विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं।

चत्वारोऽर्थनया आद्यास्त्रयः शब्दनयाः परे।
उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मगोचरता मता॥ 43॥

अर्थ—पहले तीन द्रव्यार्थिक नय तथा एक ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक नय—ये चार सीधे वस्तुओं को ग्रहण करते हैं, इसलिए इन्हें अर्थनय कहते हैं, यहाँ 'अर्थ' शब्द का अर्थ वस्तु है। आगे के तीन पर्यायार्थिक नय, शब्द द्वारा अर्थ को दिखाते हैं, इसलिए वे शब्दनय हैं। सब मिलकर ये नय सात होते हैं। पर्यायर्थिक नयों की तरह सातों में उत्तरोत्तर विषय की मर्यादा घटती हुई है।

नैगम नय का लक्षण व उदाहरण—

अर्थ-संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः।
प्रस्थौदनादिजस् तस्य विषयः परिकीर्तितः॥ 44॥

अर्थ—किसी वस्तु में अमुक एक पर्याय होने की योग्यता मात्र देखकर वह पर्याय वर्तमान में न रहते हुए भी उस वस्तु को उस पर्याययुक्त मानना-यही नैगम[1] नय है। जैसे, एक मनुष्य लकड़ी के भाग

1. अर्थसंकल्पमात्रगाही नैगमः। निगच्छन्त्यस्मिन्निति निगमनमात्रं वा निगमः। निगमे कुशलो भवो वा नैगमः। तस्य लोके व्यापारः—अर्थसंकल्पमात्रग्रहणं प्रस्थेन्द्रगृहगम्यादिषु।—रा.वा. 1/33, वा. 2

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

से प्रस्थ (धान्य नापने का बर्तन) बनाना चाहता है अथवा चावल पककर भात अभी तैयार नहीं है तो भी कार्य किया तो हो सकेगा, यही समझकर वह लकड़ी को प्रस्थ व चावल को अभी से भात कहने लगता है। इस प्रकार के विषय नैगम नय के विषय समझने चाहिए। कहीं तो ऐसा संकल्प बीत जानेवाले पर्याय के सम्बन्ध में होता है और कहीं आगे होनेवाले अभिप्राय से होता है और कहीं शुरू हो जाने पर पूर्ण न होने तक होता है। नैगम के इन तीन भेदों को भूत नैगम, भावी नैगम व वर्तमान नैगम कहते हैं। यदि वही विषय वर्तमान में पूर्णतया उपस्थित हो तो फिर नैगम नय का विषय नहीं रहता।

संग्रह नय का लक्षण—

भेदेऽप्यैक्यमुपानीय[1] स्वजातेरविरोधतः।
समस्तग्रहणं यस्मात् स नयः संग्रहो मतः॥ 45॥

अर्थ—पूर्व विशेषता के कारण भेद रहते हुए भी स्वजाति-धर्म का परस्पर विरोध न रहने से एकता मानता हुआ जिस भावना के वश प्राणी समस्त अन्तर्भेदों को एक रूप से ग्रहण करे उसे संग्रहनय कहते हैं।[2]

व्यवहार नय का लक्षण—

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः।
व्यवहारो भवेद्यस्माद् व्यवहारनयस्तु सः॥ 46॥

अर्थ—संग्रहनय के द्वारा जिस भेदक धर्म को अमुख्य मानकर विषयों में अभेद कहा गया था उसी भेदक धर्म की मुख्य भावना होने पर संग्रह के विषयों को मनुष्य भिन्न-भिन्न जानने लगता है—यही व्यवहार नय है। संग्रह के समय जिस भेदक धर्म की उपेक्षा की जाती है उसी की व्यवहार नय के समय अपेक्षा या मुख्यता रखी जाती है और जिस सामान्य या सजातीय धर्म की संग्रह में मुख्यता रखी जाती थी, उसे यहाँ गौण समझना पड़ता है। व्यवहार विधिपूर्वक ही होता है[3]—ऐसा कहने का भी यही तात्पर्य है। संग्रह व व्यवहार के क्रम से उदाहरण देखिए—

चैतन्य तथा जड़त्व आदि विशेष लक्षणों के रहने से परस्पर भेद होने पर भी सत्ता धर्म को यावद् द्रव्यों में पाकर 'सर्वं सत्' अर्थात् सभी सद्रूप हैं—ऐसा कहना 'संग्रह नय' कहलाता है। इसी सन्मात्र को, चैतन्यादि धर्मों में भेद देखकर सत्ता की अपेक्षा करने से जीव-पुद्गल आदि अनेक द्रव्य हैं, ऐसा कहना 'व्यवहार नय' है। जीवमात्र के संसार व सिद्धत्व आदि विशेष धर्म न दिखने पर चैतन्यमात्र की सर्वत्र व्यापकता जानकर यावज्जीवों को एक जीवद्रव्य कहना संग्रह नय है। चैतन्य की व्यापकता न गिनते हुए संसार व सिद्धत्व आदि विशेष धर्मवश जीवों में संसारी व सिद्ध आदि भेद कहना व्यवहार नय है। जहाँ तक विभाग हो सकते हैं वहाँ तक ये दोनों नय इसी प्रकार प्रवृत्त होते हैं।

---

1. 'भेदेनैक्यमुपानीय' यह छपी पुस्तक में पाठ था।
2. स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात्समस्तग्रहणं संग्रहः। बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिंगसादृश्यं स्वरूपानुगमो वा जातिः। रा.वा. 1/33, वा. 5
3. "अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। संग्रहगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवहारः प्रवर्तते इत्ययं विधिः।" रा.वा. 1/33, वा. 6

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार नय में यद्यपि विशेषता दिखने से पर्यायार्थिक नय का लक्षण घटित होना जान पड़ेगा, परन्तु यहाँ कालनिमित्तक पर्यायों का भेद नहीं होता, इसलिए द्रव्य के ही प्रकार इसके विषयभूत हुए ऐसा जानना चाहिए, अतएव यह द्रव्यार्थिक नय का ही एक भेद है।

ऋजुसूत्र नय का लक्षण—

ऋजुसूत्रः स विज्ञेयो येन पर्यायमात्रकम्।
वर्तमानैकसमय-विषयं परिगृह्यते॥ 47॥

अर्थ—ठीक वर्तमान समयवर्ती पर्यायमात्र का जिसके द्वारा विशेष ज्ञान हो वह 'ऋजुसूत्र नय' है। स्थूल दृष्टि से यदि विचार करें तो कोई दृष्ट पर्याय जबसे जबतक टिकनेवाला हो उतने काल को वर्तमान कहते हैं। उस पर्याय को उतने काल तक ही जानना—इस नय का अभिप्राय है। 'समय' नाम काल सामान्य का भी है और काल के एक अतिसूक्ष्म अंश का भी है। स्थूल विचार करते समय 'समय' का अर्थ कालसामान्य करना चाहिए और सूक्ष्म विचार के समय कालांश। इस तरह सूक्ष्म ऋजुसूत्र वह होगा जो एक-एक समयकृत पर्याय को भिन्न-भिन्न जाननेवाला हो। इस प्रकार अर्थविषयक नयों के चार भेद हो गये।

शब्द-नय का लक्षण—

लिंग-साधन-संख्यानां कालोपग्रहयोस्तथा।
व्यभिचारनिवृत्तिः स्यात् यतः शब्दनयो हि सः॥ 48॥

अर्थ—शब्दविषयक नय तीन प्रकार से बताये हैं। 1. शब्द सुनने पर सामान्य अपेक्षा से अर्थ का ज्ञान होना; 2. जग की रूढ़ि पर से अर्थ का निश्चय करना; और 3. शब्दगर्भित क्रिया का अर्थ जहाँ दिख पड़े वहाँ उस शब्द का अर्थ जानना। इन तीनों में से पहले का लक्षण—

जिस अभिप्राय से शब्द सुनते ही शब्दार्थ में से लिंग, साधन, संख्या, काल तथा उपग्रह सम्बन्धी दिखनेवाला व्यभिचार दोष हट जाए वह अभिप्राय—ज्ञान, शब्दनय है। लिंग अर्थात् स्त्री-पुरुष-नपुंसकपना। साधन यानी कर्ता-कर्मादि कारक[1]। संख्या अर्थात् एक, दो व बहु वचन। काल अर्थात् भूत, परोक्ष भूत, अतीत भूत एवं भविष्यत् व वर्तमान। उपग्रह अर्थात् उपसर्ग। ये सभी धर्म पदार्थों में रहनेवाले हैं, परन्तु शब्द बोलते समय शब्दों में भी मानने की आवश्यकता पड़ती है और तदनुसार इन लिंगादिकों की कल्पना शब्दों में की गयी है। अर्थ के लिंगादि धर्मों के साथ शब्दवर्ती लिंगादिकों का ऐसा नियम नहीं है कि जो शब्दों में हों वे ही अर्थ में हों अथवा वे धर्म अर्थ में होने ही चाहिए। तो भी शब्द के ऊपर से जो अर्थ का निश्चय किया जाता है, उसमें शब्द सम्बन्धी लिंगादि विशेषणों का ज्ञान अर्थ में अवश्य ही होने लगता है। जैसे, 'घट है' ऐसा वाक्य सुनते ही घटज्ञान होता है और साथ ही वह घट एक है, इस

1. प्रथम, मध्यम व उत्तम पुरुष—ऐसा साधन का अर्थ राजवार्तिक में किया है। कहीं-कहीं कारक व साधन को अलग-अलग भी गिनाया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समय है, पुरुषलिंगयुक्त है, कर्ता है—ऐसे ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं। ये जितने प्रकार के ज्ञान एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं उतने सभी अर्थ वाच्यार्थ के ही अवयव जानना चाहिए और सत्य जानना चाहिए। 'घट है' इस वाक्य में घट कर्ता के स्थान में रखा गया है, इसलिए कर्ता जानना पड़ता है। 'घट को मैं देखता हूँ' इस वाक्य में घट को कर्म के स्थान में होने से कर्मरूप जानना पड़ता है। इसका कारण यही है कि जब शब्दाधीन ज्ञान होता है, तब शब्द के विशेषण अर्थ में आरोपित हो जाते हैं। इस प्रकार शब्द के अनुसार अर्थ को जानना ही 'शब्दनय' है।

समभिरूढ़ नय का लक्षण—

ज्ञेयः[1] समभिरूढोऽसौ शब्दो यद्विषयः स हि।
एकस्मिन्नभिरूढोऽर्थे नानार्थान् समतीत्य यः॥ 49॥

अर्थ—कितने ही शब्द ऐसे होते हैं जिनके एक नहीं, अपितु अनेक अर्थ होते हैं, परन्तु रूढ अर्थ एक ही रहता है। बस, रूढ अर्थ को मानना, बाकी अर्थों को छोड़ देना—यह 'समभिरूढ नय' है। जैसे—'गौ' के अनेक अर्थ हैं; पृथ्वी भी 'गौ' का अर्थ है और गाय भी 'गौ' का ही अर्थ है, परन्तु रूढ या प्रसिद्ध अर्थ एक गाय ही होता है, इसलिए 'गौ' सुनकर गाय अर्थ समझ लेना—यह समभिरूढ़ नय का काम है।

एक शब्द के जहाँ अनेक अर्थ होते हों, वहाँ शेष अर्थ छुड़ाकर एक प्रसिद्ध अर्थ को मानना—यह काम जिस प्रकार समभिरूढ नय का है उसी प्रकार जहाँ एक पदार्थ को अनेक शब्द कहनेवाले हों, वहाँ प्रत्येक शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ ठहराना—यह भी समभिरूढ[2] नय का ही काम है। श्रीकृष्ण के अनेक नामों का अभेदरूप से एक ही अर्थ न मानकर देवकीनन्दन का देवकी से पैदा हुआ, वासुदेव का वसुदेव से पैदा हुआ—इत्यादि अलग-अलग अर्थों की कल्पना होना भी इसी नय का काम है। यदि पर्यायवाची अनेक शब्दों का एक ही अर्थ माना जाए तो वह शब्द नय का विषय हो सकता है; न कि समभिरूढ नय का।

एवंभूत नय का लक्षण—

शब्दो येनात्मना भूतः तेनैवाध्यवसाययेत्।
यो नयो मुनयो मान्या तमेवंभूतमभ्यधुः॥ 50॥

---

1. 'यद्विषयो यः शब्दो नानार्थानतीत्य एकस्मिन्नर्थेऽभिरूढः स हि असौ समभिरूढो ज्ञेयः' इत्यन्वयः।
2. 'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोग इति। तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः। शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदनाप्यवश्यं भवितव्यम् इति नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। (रा.वा. 1/9, वा. 10) गुण या शक्ति अनेकों हैं। और उनको धारण करनेवाला अथवा उन सबका पिंडसमान वस्तु एक ही माना जाता है। जितने शब्द होते हैं वे किसी न किसी गुण के वाचक होते हैं। अतएव वस्तुपिंड पर दृष्टि डालने से तद्गुणवाचक नाना शब्दों का अर्थ एक ही दिखने लगता है और इसीलिए उन शब्दों को हम पर्यायवाचक कहते हैं। समभिरूढ नय यह बात न मानकर शब्दों को गुणभेदवाचक मानता है। इसलिए प्रत्येक शब्द का अर्थ वह अलग-अलग करता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—शब्दों का आत्मा क्रिया अथवा धात्वर्थ होता है, क्योंकि सभी शब्द धातुओं से बनाये जाते हैं। जिस धात्वर्थ में जो शब्द बनाया गया हो उस शब्द का उसी धात्वर्थ में परिणत होते हुए वस्तु का अर्थ करना—इसे एवंभूत नय समझना चाहिए। एवंभूत का ऐसा अर्थ मुनिमान्य गणधरादि ऋषियों ने कहा है। उदाहरणार्थ—'गौ' का धातुसिद्ध अर्थ चलनेवाला होता है और रूढि से पशुविशेष होता है। एवंभूत का काम यह है कि चलती हुई गाय को गौ कहना। सोती, बैठी गाय को 'गौ' नहीं कहना; और गौ के अतिरिक्त दूसरों को चलते समय भी 'गौ' न कहना—ऐसा इसका तात्पर्यार्थ है।

इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार है—आत्मा में जिस समय, जिस विषय का ज्ञान हुआ हो, उस समय उसी नाम से आत्मा को कहना—यह एवंभूत नय है। ऐसे एवंभूत नय का उपयोग आत्मा में ही होता है। इसका कारण यह है कि जितने प्रकार के विषय हैं उतने ही प्रकार ज्ञान के हो सकते हैं और नाम भी उन ज्ञानों के वे ही समझने चाहिए जो कि अर्थों के हैं, इसलिए उन ज्ञानों को उन विषयों के नाम देना उचित ही है। शंका—तब तो यह शब्दनय का भेद नहीं होगा, किन्तु अर्थनय का होगा; क्योंकि अर्थ ही सीधा इस नय का विषय जान पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि ऐसी प्रतीति भी शब्द द्वारा ही होती है, इसलिए इसका समावेश शब्दनयों में करना अनुचित नहीं है। सीधे अर्थों का जो ज्ञान होता है वहाँ भी ज्ञेय का ज्ञानों में भेद दिखलाना शब्दाधीन ही है।

नयों की परस्पर सापेक्षता—

एते परस्परापेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः।
निरपेक्षाः पुनः सन्तो मिथ्याज्ञानस्य हेतवः॥ 51॥

ये नैगमादि सातों नय यदि परस्पर सापेक्ष रहते हैं तो सम्यग्ज्ञान के हेतु होते हैं और यदि परस्पर निरपेक्ष रहते हैं तो वे सभी मिथ्याज्ञान के हेतु होते हैं।

अर्थ—प्रमाण के द्वारा वस्तु सर्वांग व नय के द्वारा असर्वांग समझने में आती है। असर्वांग का 'असर्वांग' ऐसा ज्ञान तभी होगा जबकि शेष रहे अंग का भी लक्ष्य हो। एक असर्वांग के ज्ञान के समय शेष असर्वांग को न भूलने का नाम ही यहाँ पर लक्ष्य रखना है। अपेक्षा भी इसी का नाम है । यह परस्पर शेष अंगों की अपेक्षा जिन नयज्ञानों में रहती हो वे ही नयज्ञान वस्तु का सम्यग्ज्ञान कराने में हेतु हो सकते हैं, क्योंकि असर्वांग—ज्ञान के असर्वांग विषय को असर्वांगरूप से हो सकता है। यदि वे असर्वांग के ज्ञान शेषांग के लक्ष्य को छोड़कर हों तो यों कहना चाहिए कि वे ज्ञान असर्वांगरूप से हुए ही नहीं हैं, अर्थात् वे ज्ञान असर्वांग के होकर भी जानने वाले के सर्वांग के समझ लिये हैं; क्योंकि शेष अंग के अज्ञानी के लिए जो जाना हुआ है वही सर्वांग है। अतः परस्पर शेषांग की अपेक्षा छोड़नेवाले नयज्ञान मिथ्याज्ञान के कारण होते हैं, क्योंकि ऐसे निरपेक्ष ज्ञानों के द्वारा अपरिपूर्ण तत्त्वस्वरूप परिपूर्ण तत्त्वस्वरूप की समझ करा देता है। अतएव उन लोगों का वह ज्ञानगुण मिथ्या हो जाता है।

नयविषयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता : पहले नय का विषय सत् तथा असत् अंशों का समुदाय है। दूसरे नय का सन्मात्र अंश विषय है, असत् यहाँ कम हो जाता है। सत् का भी एक देश तीसरे नय का विषय है। यहाँ सत् के टुकड़े होकर एक टुकड़ा गृहीत होता है और शेष सब छूट जाते हैं। चौथे नय में यह सूक्ष्मता है कि तीसरे नय तक जो कालकृत भेद नहीं हुआ था, वह यहाँ हो जाता है, इसलिए

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भूत-भविष्यत् सर्व पर्याय छूटकर एक वर्तमान अवस्था का संग्रह रह जाता है। चौथे में यद्यपि केवल वर्तमानवर्ती अवस्था ज्ञान में रह जाती है तो भी उसके पिंड में अनेकों गुण या स्वभाव भरे रहते हैं, जोकि चौथे नय तक अभेदभाव से ही जानने में आते हैं। पाँचवें में वे बहुत से स्वभाव छूट जाते हैं। वहाँ केवल उतने ही स्वभावों की जानकारी होती है, जितने कि उस शब्द के विशेषण कहे जा सकते हैं। छठे नय में वे भी कम हो जाते हैं, जो अनेक रूढ अर्थों का पाँचवें में संग्रह था, उनमें से यहाँ एक रह जाता है, शेष छूट जाते हैं। इसमें यौगिक अर्थ की मुख्यता का विचार न रहने से यौगिकार्थ-विशिष्ट रूढार्थ भी ग्रहण करने में आता है और योगिकार्थरहित केवल रूढार्थ ग्रहण किया जाता है। सातवें में यह बात नहीं है—यहाँ केवल उसी रूढार्थ का ग्रहण होता है जो यौगिक अर्थ से युक्त हो। इसलिए छठे में जानने योग्य केवल रूढार्थ इस सातवें नय में कम हो जाता है।

(1) नैगम नय—प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। इस कथन में प्रस्थ योग्य लकड़ी का लक्ष्य जिसमें लकड़ी के अलावा टहनियाँ एवं पत्ते आदि भी हैं अर्थात् इसमें प्रस्थ योग्य लकड़ी सत् है एवं टहनियाँ एवं पत्ते असत् हैं। यह नैगम नय का कथन है।

(2) संग्रह नय—प्रस्थ योग्य लकड़ी को चुनना, इसमें टहनियाँ एवं पत्ते कम कर दिये अर्थात् असत् को कम कर दिया। यह संग्रह नय है।

(3) व्यवहार नय—प्रस्थ योग्य लकड़ी को भी काटना-छाँटना आदि व्यवहार नय है।

(4) ऋजुसूत्र नय—प्रस्थ योग्य लकड़ी में सूत्र आदि डालकर प्रस्थ का आकार देना, ऋजुसूत्र नय है।

(5) शब्द नय—प्रस्थ के आकार का नामकरण करना, क्योंकि भिन्न-भिन्न देशों में उस प्रस्थ को कई शब्दों में कहा जाता है यह शब्द नय है।

(6) समभिरूढ़ नय—प्रस्थ के पात्र को प्रयोजनवशात् अनेक कार्यों में लेना समभिरूढ़ नय है।

(7) एवंभूत नय—उस प्रस्थ को धान्य मापने के ही काम में लेना, अन्य कार्यों में नहीं लेना एवं भूतनय है।

इन सात नयों को ऊपर के क्रम से बताने में हेतु, विषयों का स्थूल-सूक्ष्मपना ही है। विषयों के विभाग या अंश कम से कम द्रव्य व पर्याय-ऐसे दो होंगे और अधिक से अधिक दोनों के उत्तर भेद सात होंगे, इसलिए इनके ग्राहक नय भी सात तक विभक्त किये जा सकते हैं। जो ऐसे विभाग को या अंशकल्पना को न कराकर समुदित वस्तु का ग्रहण करता है उसे प्रमाण कहते हैं।

वास्तविक प्रमाण ज्ञान ही होता है और एकदेशग्राही होने पर वे ही नय कहलाते हैं; इसलिए नय भी ज्ञान के ही नाम हैं, परन्तु ज्ञान के द्वारा जाने हुए विषयों का प्रतिपादन शब्द ही कर सकता है, इसलिए शब्दों को भी नय कहा जाता है। विषयविषयी—सम्बन्ध के वश यदि विषयी ज्ञान के नाम विषयों में लगा दें तो प्रतिपादित होनेवाले पदार्थों को भी नय कहना उचित ही है। इसलिए नयों के ज्ञाननय, शब्दनय, अर्थनय—ये तीन प्रकार हैं।

पदार्थों को मध्यम एवं विस्तार विधि से जानने के उपाय—

(आर्याछन्द)

निर्देशः स्वामित्वं, साधनमधिकरणमपि च परिचिन्त्यम्।
स्थितिरथ विधानमिति षड् तत्त्वानामधिगमोपायाः॥ 52॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तराणि भावश्च।
अल्पबहुत्वं चाष्टावित्यपरेऽप्यधिगमोपायाः ॥ 53 ॥

अर्थ—प्रमाण व नय तो तत्त्वार्थ समझने के लिए मुख्य उपाय हैं ही, परन्तु उन प्रमाणनयों की योजना किसी भी विषय में किस प्रकार से हो सकती है—यह समझने के लिए ग्रन्थकार दो प्रकार बताते हैं। इन प्रकारों के जान लेने से विषय विवेचन करने की पद्धति समझ में आ सकती है। ये दो प्रकार या दो भेद देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि इन्हीं दो प्रकारों से वस्तु-विवेचन करना ठीक है और यह कि और प्रकार हो ही नहीं सकते हैं, अथवा दूसरे प्रकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि समझने-समझाने के लिए ये दोनों उदाहरणमात्र हैं। अर्थात् आचार्य इन दो प्रकारों को दिखाकर यह कहते हैं कि जैसे हमने इन दो प्रकारों से वर्णनीय या जानने-योग्य किसी वस्तु के वर्णन योग्य विभाग करके दिखा दिये हैं, उसी प्रकार तुम अपनी इच्छा व आवश्यकता के अनुसार ये अथवा दूसरे भी हीनाधिक विभाग करके समझ सकते हो और कह सकते हो।

पहला प्रकार :

तत्त्वों को जानने के लिए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति व विधान ये छह उपाय हैं। जिस विषय को समझना-समझाना हो उसका स्वरूप कहना निर्देश है। उस विषय का किसी की तरफ अधिकार दिख पड़ता हो तो वह कहना स्वामित्व[1] है। उसकी उत्पत्ति के कारणों को साधन कहते हैं। वर्णनीय वस्तु के निवासस्थान को अधिकरण समझना चाहिए। उस वस्तु के ठहरने का परिमाण स्थिति है। उसके भेदों को विधान कहते हैं। उदाहरणार्थ सम्यग्दर्शन में ये छहों प्रकार देखिए—

(1) तत्त्वार्थ का श्रद्धान—यह सम्यग्दर्शन का निर्देश हुआ। (2) चारों गतियों के समनस्क भव्य जीव इसके स्वामी हो सकते हैं। (3) जिनप्रतिमादर्शन, केवली का उपदेश—इत्यादि इसके कारण या साधन हैं। (4) बाह्य दृष्टि से अधिकरण त्रसनाली है और अन्तरंग अधिकरण आत्मा ही हो सकता है। (5) जघन्य स्थिति इसकी अन्तर्मुहूर्त व उत्कृष्ट छ्यासठ सागरपर्यंत होती है। (6) निसर्गज व अधिगमज—ये दो भेद हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक ये तीन भेद भी हैं। आज्ञा, मार्ग, बीज, उपदेश, सूत्र, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ, परमावगाढ—ये दश[2] भेद भी होते हैं। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी इन भेदों के अनुसार विषयविवेचन किया जा सकता है।

दूसरा प्रकार विस्तारुचि की अपेक्षा :

दूसरे प्रकार से सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व—ये आठ उपाय बताये

---

1. निर्देशोऽर्थात्मावधारणं। स्वामित्वमाधिपत्यं। साधनं कारणं—रा.वा., 1/7
2. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्। विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥11॥
   आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव, त्यक्तग्रन्थप्रपंचं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
   मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता, या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥12॥
   आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
   कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्, संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान्साधु संक्षेपदृष्टिः ॥13॥
   यः श्रुत्वा द्वादशांगीं कृतरुचिरथ तं विद्धिविस्तारदृष्टिं, संजातार्थात्कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।
   दृष्टिः सांगांगबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढः, कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥14॥ इन श्लोकों का अर्थ 'आ.नु.' की हिन्दी टीका में देखो।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

गये हैं। जैसे कि सम्यग्दर्शन का विचार करना हो तो, प्रथम उसका अस्तित्व कहना—(1) यह सत्-वर्णनरूप पहला उपाय हुआ। किसी की सत्ता स्थापित होने से पहले उसका अधिक विचार हो ही नहीं सकता है।[1] (2) फिर सम्यग्दर्शन के भेदों की गिनती करना चाहिए। जैसे कि सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं। (3) सम्यग्दर्शन का निवासस्थान त्रसनाली आदि कहने का नाम क्षेत्र है। (4) एक कोई भी अवस्था जब तक जहाँ रहती हो उस अवस्था के उस स्थान का स्पर्शन[2] कहते हैं। (5) ठहरने की मर्यादा को काल कहते हैं। (6) किसी का मध्यवर्ती स्वरूप कहना तथा विरहावस्था दिखाना—यह अन्तर है। जैसे कि क्षायिक सम्यग्दर्शन में अन्तर नहीं पड़ता है, अर्थात् वह एक बार उत्पन्न हो गया तो सदा ही रहता है। (7) जीवपरिणामों के औपशमिकादि पाँच भेद आगे कहेंगे, उनमें से किस प्रकार में उसे गर्भित करना—यह 'भाव' नामक उपाय है। (8) साथ में कोई दूसरा एक तत्त्व रखकर, उसके साथ हीनाधिकता की तुलना करना—यह अल्पबहुत्व का अर्थ है।

दूसरे प्रकार में बहुत से भेद ऐसे हैं कि पहले प्रकार में भी वे आ जाते हैं, तो भी अधिक स्पष्ट करने के लिए एक-एक बात को दो-दो तरह से कहना भी अनुचित[3] नहीं है।

सात तत्त्वों को जानने की प्रेरणा—

(शालिनी छन्दः)

सम्यग्योगो मोक्षमार्गं प्रपित्सुर्न्यस्तां नाम-स्थापना-द्रव्य-भावैः।
स्याद्वादस्थां प्राप्य तैस्तैरुपायैः प्राग् जानीयात् सप्ततत्त्वान् क्रमेण ॥ 54 ॥

अर्थ—मोक्षमार्ग में प्राप्त होने की इच्छा रखनेवाला मनुष्य प्रथम तो ज्ञानादि गुणों को सम्यक् बना ले। बाद में नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव—इन निक्षेपों के चारों प्रकार से वस्तुस्वरूप जान ले। फिर प्रमाण व नयरूप सप्तभंगी स्याद्वाद तथा नैगमादि के द्वारा सातों तत्त्वों को समझकर निर्देश आदि छह तथा सत् आदि आठ उपायों द्वारा भी सात तत्त्वों को समझे। यही इस अध्याय[4] में वर्णन किया है।

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य रचित 'तत्त्वार्थसार' में, धर्मश्रुतज्ञान हिन्दी टीका में
सात तत्त्वों का कथन करनेवाला प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ।

---

1. 'सर्वेषां च विचारार्हाणमस्तित्वं मूलं'।—रा.वा. 1/8, वा. 2
2. अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात् त्रिकालविषयोपश्लेषनिश्चयार्थे स्पर्शनम्। कस्यचित्तत्क्षेत्रमेव स्पर्शनं, कस्यचिद् द्रव्यमेव, कस्यचिद्रज्जवः षडष्टौ वेति।—रा.वा. 1/8, वा. 5
3. विनेयाशयवशो वा तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पः। केचित्संक्षेपेण प्रतिपाद्याः केचिद्विस्तेरण। इति सर्वेषामेव (पुनरुक्तानां विषये) परिहारः (शंकायाः)।—रा.वा. 1/33, वा. 23
4. 'ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम्। ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेस्मिन्निरूपितम्।' ऐसा भी इस अध्याय के सारांश का सूचक श्लोक दूसरे ग्रन्थों में कहा है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अधिकार

मंगलाचरण एवं प्रतिज्ञा—

अनन्तानन्त-जीवानामेकैकस्य प्ररूपकान्।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना, जीवतत्त्वं प्ररूप्यते॥ 1॥

अर्थ—अनन्तानन्त जीवों में से एक-एक को जानने व देखनेवाले जिनेन्द्र भगवान को मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ और फिर जीवतत्त्व का निरूपण करता हूँ।

जीव का लक्षण एवं औपशमकादि भावों के भेद—

अन्यासाधारणा भावाः पञ्चौपशमिकादयः।
स्वतत्त्वं यस्य तत्त्वस्य, जीवः स व्यपदिश्यते॥ 2॥
स्यादौपशमिको भावः क्षायोपशमिकस्तथा।
क्षायिकश्चाप्यौदयिकः तथान्यः पारिणामिकः॥ 3॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक—ये पाँच भाव जिस तत्त्व के स्वभाव हों वही जीव कहलाता है। जीव के अतिरिक्त ये पाँच भाव किसी भी अन्य पदार्थ में नहीं रहते, इसीलिए ये जीव के असाधारण भाव कहे जाते हैं। इन पाँच प्रकार के सिवाय जीव में छठा प्रकार ऐसा नहीं मिल सकता है जोकि पाँचों में से किसी एक में गर्भित न होता हो। पाँचों भावों के समझते ही जीव की असाधारणता समझ में आ जाती है।

1. औपशमिक भाव—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारण अन्तर्मुहूर्त के लिए कर्मों की फल देने की शक्ति का प्रकट नहीं होना उपशम कहलाता है। इस उपशम के समय जो भाव होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं।

2. क्षायोपशमिक भाव—वर्तमान काल में उदय आनेवाले सर्वघातिस्पर्द्धकों के निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में आनेवाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और देशघाति के उदय रहने पर जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। इसी का दूसरा नाम मिश्र भाव है।

3. क्षायिक भाव—आत्मा से कर्मों का सर्वथा दूर होना क्षय कहलाता है। क्षय के समय जो भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

4. औदयिक भाव—द्रव्यादि निमित्त के वश से कर्मों का फल प्राप्त होना उदय कहलाता है। उदय के समय जो भाव होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

5. पारिणामिक भाव—कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से निरपेक्ष जीव का जो भाव है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

औपशमिक भावों के भेद—

भेदौ सम्यक्त्वचारित्रे द्वावौपशमिकस्य हि।

अर्थ—औपशमिक भाव दो प्रकार का है—1. औपशमिक सम्यक्त्व, 2. औपशमिक चारित्र। औपशमिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक मिल सकता है और औपशमिक चारित्र केवल ग्यारहवें गुणस्थान में ही मिलेगा।

1. औपशमिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम से, श्रद्धा गुण की जो पर्याय प्रकट होती है उसे 'औपशमिक सम्यग्दर्शन' कहते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन का लक्षण ऊपर कहा जा चुका है। उपशम श्रेणी चढ़ने के सम्मुख क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव जब अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना अप्रत्याख्यानावरणादिरूप परिणति करता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ से लेकर सप्तम गुणस्थान तक होता है। और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ से ग्याहरवें गुणस्थान तक होता है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति सप्तम गुणस्थान में होती है तथापि उपशम श्रेणीवाला जीव उपरितन गुणस्थानों से पतन कर जब नीचे आता है तब चतुर्थादि गुणस्थानों में भी इसका सद्भाव रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को जब सम्यग्दर्शन होता है तब सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही होता है।

2. औपशमिक चारित्र—चारित्रमोहनीय की समस्त प्रकृतियों का उपशम होने पर जो चारित्र प्रकट होता है उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं। यह ग्यारहवें गुणस्थान में ही होता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद इसका पतन नियम से हो जाता है।

क्षायोपशमिक भावों के भेद—

अज्ञान-त्रितयं ज्ञान-चतुष्कं पञ्च-लब्धयः ॥ 4 ॥
देशसंयम-सम्यक्त्वे चारित्रं दर्शनत्रयम्।
क्षायोपशमिकस्यैते भेदा अष्टादशोदिताः ॥ 5 ॥

अर्थ—1. कुमति, 2. कुश्रुत और 3. कुअवधि—ये तीन अज्ञान; 4. सम्यक्-मति, 5. श्रुत, 6. अवधि और 7. मनःपर्यय ये चार ज्ञान; 8. दान, 9. लाभ, 10. भोग, 11. उपभोग और 12. वीर्य—ये पाँच लब्धियाँ, 13. देशसंयम 14. सम्यक्त्व, 15. चारित्र तथा 16. चक्षुदर्शन, 17. अचक्षुदर्शन, और 18. अवधिदर्शन—ये तीन दर्शन, इस प्रकार क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं।

भावार्थ—क्षयोपशम अवस्था ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घातियाकर्मों की होती है। इन्हीं कर्मों के क्षयोपशम से ऊपर कहे हुए अठारह भाव प्रकट होते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानत्रय—मिथ्यात्व के उदय से दूषित मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान 'अज्ञानत्रय' कहलाते हैं। इनके नाम कुमति, कुश्रुत और कुअवधि हैं। दूसरे के उपदेश के बिना विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदि के विषय में जो प्रवृत्ति होती है उसे 'कुमति ज्ञान' या मत्यज्ञान कहते हैं। रागद्वेष-पोषक ग्रन्थों के परमार्थशून्य उपदेश को कुश्रुतज्ञान अथवा श्रुताज्ञान कहते हैं। मिथ्यादृष्टि के अवधिज्ञान को 'कुअवधि' या 'विभंगज्ञान' कहते हैं। इसके भवप्रत्यय विभंग और क्षायोपशमिक विभंग ऐसे दो भेद हैं। भवप्रत्यय विभंगज्ञान देव और नारकियों के होता है तथा क्षयोपशमिक विभंगज्ञान मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। इस विभंगज्ञान के द्वारा दूसरों के अपकार को जानकर नारकी आदि अज्ञानी जीव परस्पर कलह में प्रवृत्त होते हैं।

ज्ञानचतुष्क—सम्यग्दृष्टि जीव के मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ये चार ज्ञान, ज्ञानचतुष्क कहलाते हैं। इनके लक्षण पहले कहे जा चुके हैं। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मन:पर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से ये चार ज्ञान प्रकट होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान—ये तीन ज्ञान चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं और मन:पर्ययज्ञान छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है।

पंचलब्धियाँ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—ये पाँच लब्धियाँ कहलाती हैं। ये लब्धियाँ दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से प्रकट होती हैं तथा मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के होती हैं।

देशसंयम—अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय तथा सदवस्थारूप उपशम होने से और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क तथा संज्वलनचतुष्क का उदय होने पर एवं हास्य आदि नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर जो एकदेश संयम प्रकट होता है उसे 'देशसंयम' अथवा संयमासंयम कहते हैं। इस संयम में स्थावर-हिंसा आदि सूक्ष्म पापों से निवृत्ति न होने के कारण अविरत अवस्था रहती है। यह देशसंयम सिर्फ पाँचवें गुणस्थान में होता है। इसके दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह अवान्तर भेद हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीचतुष्क—इन छह सर्वघाति प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आनेवाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय आनेवाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघातिप्रकृति का उदय रहते हुए जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसे 'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व' कहते हैं। यह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। इसी का दूसरा नाम वेदक सम्यग्दर्शन है।

क्षायोपशमिक चारित्र—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क सम्बन्धी बारह सर्वघाति प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय में आनेवाले निषेकों का उदयाभावी क्षय और आगामी काल में उदय आनेवाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम, संज्वलनचतुष्क में से किसी एक देशघातिस्पर्द्धक का उदय एवं हास्यादि नौ नोकषायों का यथासम्भव उदय रहने पर जो निवृत्तिरूप परिणाम होता है उसे 'क्षायोपशमिक चारित्र' कहते हैं। यह चारित्र छठे गुणस्थान से लेकर दशवें गुणस्थान तक होता है।

दर्शनत्रय—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन—ये तीन दर्शनत्रय कहलाते हैं। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण तथा अवधिदर्शनावरण—इन तीन कर्मप्रकृतियों के क्षयोपशम से ये क्रमश: प्रकट होते हैं। चक्षु इन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान के पहले पदार्थ का जो सामान्य अवलोकन होता है उसे चक्षुदर्शन कहते

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। चक्षु इन्द्रिय के सिवाय शेष इन्द्रियों तथा मन से होनेवाले ज्ञान के पहले जो सामान्य अवलोकन होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं, तथा अवधिज्ञान के पहले होनेवाले सामान्य अवलोकन को अवधिदर्शन कहते हैं। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं तथा अवधिदर्शन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है।

क्षायिक भावों के भेद—

सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-वीर्य-दानानि दर्शनम्।
भोगोपभोगौ लाभश्च, क्षायिकस्य नवोदिताः॥ 6॥

अर्थ—क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान), क्षायिकचारित्र, क्षायिक वीर्य, क्षायिक दान, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक लाभ और क्षायिक दर्शन (केवलदर्शन) ये नौ क्षायिक भाव कहे गये हैं।

भावार्थ— क्षायिक सम्यक्त्व आदि भावों का स्वरूप इस प्रकार है—

1. क्षायिक सम्यक्त्व — मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क— इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह कर्मभूमिज के ही उत्पन्न होता है। चौथे से सातवें गुणस्थान के बीच में कभी भी हो सकता है तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। इसका सद्भाव चारों गतियों में पाया जाता है। इस सम्यग्दर्शन का धारक जीव उसी भव में, तीसरे भव में अथवा चौथे भव में नियम से मोक्ष चला जाता है। संसार में रहने की अपेक्षा यह चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। उसके बाद सिद्ध अवस्था में भी अनन्तकाल तक रहता है।

2. क्षायिक ज्ञान — ज्ञानावरण कर्म के क्षय से जो ज्ञान प्रकट होता है वह क्षायिक ज्ञान कहलाता है। इसे ही केवलज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान का धारक लोक-अलोक के समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है। यह तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्ध अवस्था में भी रहता है।

3. क्षायिक चारित्र — समस्त चारित्रमोहनीय का क्षय होने पर जो चारित्र प्रकट होता है उसे क्षायिक चारित्र कहते हैं। यह बारहवें आदि गुणस्थानों में होता है। इसे क्षायिक यथाख्यातचारित्र भी कहते हैं।

4. क्षायिक वीर्य — वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होने पर जो वीर्य प्रकट होता है उसे क्षायिक वीर्य कहते हैं। यही अनन्त बल कहलाता है।

5. क्षायिक दान — दानान्तराय कर्म के क्षय से जो प्रकट होता है उसे क्षायिक दान कहते हैं। यह अनन्तप्राणियों के समूह पर अनुग्रह करनेवाले अभयदानरूप होता है।

6. क्षायिक भोग — भोगान्तराय के क्षय से जो प्रकट होता है उसे क्षायिक भोग कहते हैं। इससे पुष्पवृष्टि आदि कार्य होते हैं।

7. क्षायिक उपभोग — उपभोगान्तराय के क्षय से जो प्रकट होता है उसे क्षायिक उपभोग कहते हैं। इससे सिंहासन, चमर तथा छत्रत्रय आदि विभूति प्राप्त होती है।

8. क्षायिक लाभ — लाभान्तराय कर्म के क्षय से जो प्रकट होता है वह क्षायिक लाभ कहलाता है। इससे शरीर में बलाधान करनेवाले अनन्त शुभ-सूक्ष्म-पुद्गल परमाणुओं का सम्बन्ध शरीर के साथ होता रहता है, जिससे आहार के बिना ही देशोनकोटिवर्ष पूर्व तक शरीर स्थिर रहता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

9. क्षायिक दर्शन — दर्शनावरणकर्म के क्षय से जो दर्शन प्रकट होता है उसे क्षायिक दर्शन कहते हैं। इसी का नाम केवल दर्शन है। यह केवल ज्ञान का सहभावी है अर्थात् केवलज्ञान के साथ उत्पन्न होता है तथा उसी के समान तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में और उसके बाद सिद्धपर्याय में अनन्तकाल तक रहता है। क्षायिक वीर्य आदि पाँच लब्धियाँ भी तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में तथा उसके बाद सिद्ध अवस्था में भी रहती हैं। क्षायिक भाव के उक्त नौ भेद, नौ लब्धियों के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

औदयिक भावों के भेद—

चतस्त्रो गतयो लेश्याः षट् कषाय-चतुष्टयम्।
वेदा मिथ्यात्वमज्ञानमसिद्धोऽसंयमस्तथा॥
इत्यौदयिक-भावस्य स्युर्भेदा एकविंशतिः॥ 7॥ (षट्पदी)

अर्थ—चार गतियाँ : 1. नरक, 2. तिर्यंच, 3. मनुष्य, 4. देव। छह लेश्याएँ : 1. कृष्ण, 2. नील, 3. कापोत, 4. पीत, 5. पद्म, 6. शुक्ल। चार कषाय—1. क्रोध, 2. मान, 3. माया, 4. लोभ। वेद तीन[1]—1. स्त्रीवेद, 2. पुरुषवेद, 3. नपुंसकवेद तथा मिथ्यादर्शन, अज्ञानभाव, असिद्धता और असंयम—इस प्रकार ये इक्कीस औदयिक भाव के भेद होते हैं।

भावार्थ—गति आदिक का स्वरूप इस प्रकार है—

गति — गतिनामकर्म के उदय से जीव की जो अवस्था विशेष होती है उसे गति कहते हैं। इसके चार भेद हैं—1. नरकगति, 2. तिर्यंचगति, 3. मनुष्यगति और 4. देवगति।

लेश्या—कषाय के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इसके छह भेद हैं—1. कृष्ण, 2. नील, 3. कापोत, 4. पीत, 5. पद्म और 6. शुक्ल। इन लेश्यावालों के चिह्न इस प्रकार हैं—

कृष्णलेश्या—तीव्र कोध करनेवाला हो, किसी से बुराई होने परे दीर्घकाल तक वैर न छोड़े, खोटा बकने का जिसका स्वभाव हो, धर्म एवं दया से रहित हो, स्वभाव का दुष्ट हो तथा कषाय की तीव्रता के कारण किसी के वश में न आता हो, वह कृष्णलेश्या का धारक है।

नीललेश्या—जो मन्द हो, निर्बुद्धि हो, विवेक से रहित हो, विषयों की तृष्णा अधिक रखता हो, मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, चाहे जिसकी बातों में आ जाता हो, निद्रालु हो, दूसरे को ठगने में निपुण हो और धन-धान्य में अधिक लालसा रखता हो वह नीललेश्या का धारक है।

---

1. मूल श्लोक में वेदों की संख्या नहीं दी गयी है। इसका कारण यह है कि उक्त छन्द में अधिक अक्षर जोड़ने के लिए स्थान नहीं था। परन्तु बहुवचन का प्रयोग करने से और आगे इक्कीस की समुदाय संख्या निश्चित कर देने से वेद की तीन संख्या समझ में सुगमता से आ सकती है। क्योंकि तीन से कम में बहुवचन नहीं होगा और तीन से अधिक मानें तो 21 की संख्या नहीं रहेगी। नोट—क्षायोपशमिक भावों में भी तीन अज्ञान गिनाये हैं और औदयिक भावों में भी एक औदयिक अज्ञान गिनाया है। यहाँ अज्ञान को ज्ञानावरण उदयजन्य होने से अज्ञान रूप समझना चाहिए और क्षायोपशमिक अज्ञान का अर्थ मिथ्या ज्ञान किया जाता है असंयम का अर्थ मिथ्या संयम करना चाहिए, क्योंकि कषाय का उदय संयम का नाश न करके उसे केवल विपरीत ही करता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कापोतलेश्या—जो दूसरों पर रोष करता हो, दूसरों की निन्दा करता हो, दूसरों को दोष लगाता हो, शोक या भय अधिक करता हो, दूसरे से ईर्ष्या रखता हो, दूसरे का तिरस्कार करता हो, अपनी प्रशंसा करता हो, अपने ही समान दगाबाज समझकर दूसरे की प्रतीति नहीं करता हो, स्तुति के वचन सुनकर सन्तुष्ट होता हो, हानि-लाभ को नहीं समझता हो, रण में मरने की इच्छा करता हो, अपनी प्रशंसा सुनकर बहुत दान करता हो तथा कार्य और अकार्य को नहीं समझता हो वह कापोतलेश्या का धारक है।

पीतलेश्या—जो कार्य और अकार्य को समझता हो, सेव्य और असेव्य का विवेक रखता हो, सबके साथ समान व्यवहार रखता हो, दया एवं दान में तत्पर रहता हो और स्वभाव का कोमल हो वह पीतलेश्या का धारक है।

पद्मलेश्या—जो त्यागी हो, भद्र परिणामी हो, उत्कृष्ट कार्य करनेवाला हो, अपराधों को क्षमा कर देता हो तथा साधु एवं गुरुओं की पूजा में तत्पर रहता हो वह पद्मलेश्या का धारक हो।

शुक्ललेश्या—जो पक्षपात नहीं करता हो, निदान नहीं करता हो, सब जीवों पर समान भाव रखता हो तथा जिसके तीव्र राग, द्वेष और स्नेह न हो वह शुक्ल लेश्या का धारक है।

पहले से चौथे गुणस्थान तक छहों लेश्याएँ होती हैं और पाँचवें, छठे, सातवें—गुणस्थान में तीन शुभ लेश्या; उसके आगे तेरहवें गुणस्थान तक सिर्फ शुक्ललेश्या होती है। चौदहवें गुणस्थान में कोई भी लेश्या नहीं होती। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में यद्यपि कषाय का सद्भाव नहीं है तो भी भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षामात्र योगप्रवृत्ति में लेश्या का व्यवहार किया जाता है। चौदहवें गुणस्थान में योगप्रवृत्ति भी नहीं है, इसलिए वहाँ लेश्या का सद्भाव नहीं होता।

कषाय—जो आत्मा के क्षमा आदि गुणों का घात करे उसे कषाय कहते हैं। इसके क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार भेद होते हैं।

वेद—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद के उदय से जो रमने का भाव होता है उसे वेद कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। इन वेदों का सद्भाव नौवें गुणस्थान के पूर्वार्ध तक रहता है।

मिथ्यात्व—दर्शनमोह के उदय से जो अतत्त्वश्रद्धान होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

अज्ञान—ज्ञानावरण के उदय से जो ज्ञान प्रकट नहीं होता है वह अज्ञान कहलाता है। क्षायोपशमिक का अज्ञान मिथ्यात्व के उदय से दूषित रहता है और औदयिक भाव का अज्ञान अभावरूप होता है। जैसे अवधिज्ञानावरण का उदय होने से अवधिज्ञान का अभाव है।

असिद्धत्व—आठों कर्मों का उदय रहने से जीव की जो सिद्धपर्याय प्रकट नहीं होती उसे असिद्धत्व कहते हैं। इसका सद्भाव चौदहवें गुणस्थान तक रहता है।

असंयतत्व—चारित्रमोह का उदय होने से जो संयम का अभाव है उसे असंयतत्व कहते हैं। इसका सद्भाव प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक रहता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पारिणामिक भावों के भेद—

जीवत्वं चापि भव्यत्वमभव्यत्वं तथैव च।
पारिणामिक-भावस्य, भेदत्रितयमिष्यते॥ 8॥

अर्थ—जीवत्व, भव्यत्व व अभव्यत्व—ये तीन गुण पारिणामिक स्वभाव के भेदरूप माने गये हैं। यहाँ पर 'पारिणामिक'[1] शब्द का अर्थ है—कर्म के उदयादि की अपेक्षा न करता हुआ जो गुण आत्मा में मूल से रहनेवाला हो वह पारिणामिक है। ऊपर के तीनों गुणों को कर्म के उदयादि की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, इसीलिए वे कर्म के रहते हुए भी रहते हैं और कर्मनाश होने पर सिद्धगति में भी रहते हैं। भव्यत्वगुण का सिद्धगति में आगे चलकर नाश हुआ बताएँगे, परन्तु उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि वह वहाँ निरुपयोगी हो जाता है, इसलिए असत् के तुल्य ही है।

जीवत्व का अर्थ जीवन है, ज्ञानादिगुणयुक्त रहने को जीवन कहते हैं। एक शरीर छूट जाने पर दूसरा शरीर जब तक मिलता नहीं तब तक संसारी जीव को 'मरा हुआ' कहते हैं। वहाँ ज्ञान होने की केवल क्षयोपशमरूप योग्यता रह जाती है, परन्तु उपयोगी ज्ञान वहाँ कुछ भी नहीं रहता।[2] कार्य-शरीर का नाश होने से नवीन ज्ञान तो नहीं होता, परन्तु पूर्व के संस्कार भी शरीर के साथ ही छूट[3] जाते हैं। यही कारण है कि उत्तर जन्म में पूर्वजन्म सम्बन्धी थोड़ा-सा स्मरण[4] भी किसी को नहीं होता। मन्दज्ञानियों की समझ में इतना कार्यकारण सम्बन्ध जीवन सिद्ध करनेवाला कदाचित् नहीं आ सकेगा, इसलिए ग्रन्थकारों ने यों कह दिया है कि श्वासादि चार प्राणों को धारण करे वह जीव[5] है, अर्थात् व्यवहार से श्वासादि का नाम ही प्राण है, परन्तु यहाँ चैतन्य गुण सापेक्ष जीवत्व की मुख्यतता है जो सभी जीवों में समान रूप से पाया जाता है तथा कारण निरपेक्ष है अतः पारिणामिक है।

भव्यत्व व अभव्यत्व—ये दोनों गुण ऐसे हैं कि सब जीवों में एक साथ नहीं रहते। जिस जीव में भव्यत्व रहता है उसमें अभव्यत्व नहीं रहता और जिस जीव में अभव्यत्व रहता हो उसमें भव्यत्व नहीं रहता। भव्यत्व का अर्थ मुक्ति प्राप्त होने की योग्यता। अभव्यत्व का अर्थ भव्यत्व से उलटा है, अतएव अभव्य जीव कभी मुक्त नहीं हो पाता है।[6]

---

1. 'द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः। तत्र भवस्तत्प्रयोजनं यस्य वेति पारिणामिकः।'—सर्वा. सि., वृ. 252
2. 'निरुपभोगमन्त्यम्' इस सूत्र की व्याख्या में कार्मण शरीर को इन्द्रियज्ञान कराने के लिए असमर्थ बताया है।
3. क्योंकि, संस्कार भी उपयोगी ज्ञान है।
4. किसी-किसी को सुनते हैं कि स्मरण होता है। इसका कारण यह होना चाहिए कि जो जीव एक ही समय में दूसरा शरीर धार लेते हैं वे अनाहारक नहीं हो पाते। अतएव संस्कारशून्य भी एकदम नहीं हो पाते हैं। उन्हीं को सम्भव है कि पूर्वजन्म का स्मरण कुछ होता हो। परन्तु अनाहारक न होकर उत्तर शरीर धारण करनेवाले विरले ही होते हैं।
5. आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमिति चेन्न पुद्गलद्रव्यसम्बन्धे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात्।—रा.वा. 2/7, वा. 3
6. 'अभव्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण, अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव, न च भाविनैगमनयेनेति। शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना। यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटेत।' अर्थात् भव्य-अभव्यों की केवलज्ञानादिरूप शक्ति समान ही है, केवल व्यक्त अवस्था के होने न होने से अन्तर पड़ता है। (द्र.सं.टी.)। सर्वार्थसिद्धि के कर्ता ने भी सम्यक्त्वोत्पत्ति आदि वर्णन के समय भव्यत्व को कारण बताया है। 'किंकृतोऽयं विशेषः? द्रव्यस्वभावकृतः। अतः पारिणामिकत्वमनयोः।' (रा.वा. 2/7, वा. 8) अर्थात् भव्यत्व-अभव्यत्व में परस्पर किस कारण से फर्क है? इस प्रश्न का उत्तर राजवार्तिककार यों देते हैं कि यह भेद द्रव्यस्वभाव से ही है, अन्य कोई इसका कारण नहीं। इसी से तो इसे पारिणामिक कहा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन तीनों के अतिरिक्त च[1] से भी अस्तित्व, वस्तुत्वादि गुण जीव में ऐसे रहते हैं कि जिनका कर्म के उदयादि होने न होने से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, अत एव उन्हें भी पारिणामिक स्वभाव ही समझने चाहिए। तो भी वे गिनती करने से यहाँ इसलिए छोड़ दिये हैं कि उनके गिनने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ यह प्रकरण है कि किसी प्रकार जीवत्व का ज्ञान हो। जीव का ज्ञान तभी होगा जब कि जीव के असाधारण स्वभावों को दिखाया जाएगा। जीव के बाकी जो अस्तित्व आदि गुण हैं जिन्हें कि यहाँ गिनाया नहीं है वे साधारण हैं। साधारण होने से अस्तित्व आदि गुण जीव की तरह पुद्गलादि में भी रहते हैं, इसीलिए उनके द्वारा जीव सम्बन्धी विशेष ज्ञान होना सम्भव नहीं है।

जीव का लक्षण—

अनन्यभूतस्तस्य स्यादुपयोगो हि लक्षणम्।
जीवोऽभिव्यंज्यते तस्मादवष्टब्धोऽपि कर्मभिः ॥ 9 ॥

अर्थ—जीव जब तक कर्मों से लिप्त है तब तक पृथक् समझने में या दिखने में नहीं आता। पृथक् हो जाने पर भी हम उसे प्रत्यक्ष देख नहीं सकते, क्योंकि संसारी प्राणियों की प्रत्यक्ष देखने की शक्ति केवल मूर्तिक वस्तु में ही रहती है, शेष सूक्ष्मदर्शक शक्ति दबी हुई रहती है। ऐसी अवस्था में जीव जब तक शरीरादि कर्म नोकर्मों से व्याप्त है तब तक शरीरादि के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई न पड़ना उचित ही है। तो भी उसके किसी चिह्न द्वारा परीक्षा अवश्य करनी चाहिए, यदि जीवसिद्धि न हो तो धर्मादि के उपदेश करने का परिश्रम निष्फल हो जाएगा। वह जीवसिद्धि इस लक्षण से होती है कि—

उपयोग, जिसे कि 'ज्ञान-दर्शन' शब्द से कहते हैं, सभी जीवों में मिलता है और जीव के अतिरिक्त किसी में भी नहीं मिलता, यही जीव का असाधारण लक्षण है। कर्म नोकर्मादि से मिश्रित रहने पर भी उपयोग के द्वारा जीव का पृथक् अनुभव किया जाता है। यद्यपि औपशमिकादि पाँच भाव जो प्रथम ही इस अधिकार में गिनाए गये हैं वे भी जीव के ही लक्षण हैं। उनके द्वारा भी जीव की परीक्षा हो सकती है। वे भी जीव के बिना केवल पुद्गलादिकों में नहीं रह सकते हैं, परन्तु औपशमिक आदि भावों का ज्ञान जीवसिद्धि होने से पहले नहीं हो सकता है। उनके ज्ञान होने में जीवसिद्धि की प्रथम आवश्यकता

है। भव्यत्व के दूर व समीप ऐसे दो-तीन भेद भी माने जाते हैं। अति दूर भव्य वे होते हैं कि जिन्हें अभव्य के समान ही संसार में सदा रहना पड़ता है, तो भी उन भव्य तथा अभव्यों में फर्क बताने के लिए कुछ लोग सती विधवा का व वन्ध्या स्त्री का उदाहरण देते हैं। सती स्त्री विधवा होने पर पुत्र जनने की शक्ति रखते हुए भी पुरुष का निमित्त न रहने से पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकती, परन्तु वन्ध्या पुरुष सम्बन्ध होने पर भी पुत्रोत्पत्ति नहीं कर सकती है। इसी प्रकार अति दूर भव्य को कभी निमित्त नहीं मिलते इसलिए वह मुक्त नहीं हो पाता, परन्तु अभव्य निमित्त मिलने पर भी मुक्त नहीं हो सकता है। द्रव्यसंग्रह टीका के व इसके कथन में यह अन्तर पड़ता है कि एक तो शक्ति में कुछ भेद नहीं मानता और दूसरा शक्तिभेद को मानता है।

शुद्धयशुद्धि पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥100॥

इस कारिका में समन्तभद्रस्वामी ने भी भव्यत्वाभव्यत्व गुणों में वास्तविक भेद माना है। अकलंक व विद्यानन्द स्वामी ने भी अपनी व्याख्याओं में भेद सिद्ध किया है। इसलिए जीवों को दो प्रकार के ही मानना चाहिए। अभव्यत्व जुदा मानने पर भी ज्ञानादि गुणों में बाधा नहीं आती है। 1. सर्वा. सि. वृ. 269

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पड़ती है, इसलिए यह जुदा लक्षण कहा है। दूसरी बात यह भी है कि उन भावों का वर्णन विस्तार से किया गया है, किन्तु लक्षण ऐसा होना चाहिए कि शीघ्रता से व स्वयं समझ लेने योग्य हो। ऐसा संक्षिप्त व स्वयंप्रसिद्ध यदि जीव का कोई लक्षण हो सकता है तो वह उपयोग ही है।

उपयोग के भेद—

साकारश्च निराकारो भवति द्विविधश्च सः।
साकारं हि भवेज्ज्ञानं निराकारं तु दर्शनम्॥ 10॥

अर्थ—उस उपयोग के साकार और निराकार ऐसे दो प्रकार हैं। साकार ज्ञान को कहते हैं और निराकार दर्शन को कहते हैं।

कृत्वा विशेषं गृह्णाति, वस्तुजातं यतस्ततः।
साकारमिष्यते ज्ञानं ज्ञानयाथात्म्यवेदिभिः॥ 11॥

अर्थ—यदि किसी की आकृति कही जा सकती है जो वह विशेष पदार्थ ही होगा। सामान्य पदार्थ की आकृति अनियत होने से कहने व समझाने में नहीं आ सकती, और ज्ञान से पदार्थों को विशेष-विशेष करके जाना जाता है, इसीलिए उसे साकार कहते हैं। ज्ञान का स्वरूप जिन्होंने वास्तविक रूप से जान लिया है वे ऋषिजन ज्ञान को इसलिए साकार नहीं कहते कि वह पदार्थ के विशेषाकार के तुल्य स्वयं होता है। ज्ञान अमूर्त आत्मा का गुण है, उसमें ज्ञेय पदार्थों के आकार उतरने की आवश्यकता नहीं है। केवल विशेष पदार्थ उसमें भासने लगते हैं—यही उसकी आकृति मानने का मतलब है। ज्ञान में आकृति वास्तविक नहीं मानी जा सकती, किन्तु ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध के कारण ज्ञेय का आकृति-धर्म ज्ञान में उपचारनय से भेद किया जाता है। इस आरोप का फलितार्थ इतना ही समझना चाहिए कि पदार्थों की विशेषाकृति निश्चय करनेवाले चैतन्य-परिणाम को हम ज्ञान कहें।

यद्विशेषमकृत्वैव गृह्णीते वस्तुमात्रकम्।
निराकारं ततः प्रोक्तं दर्शनं विश्वदर्शिभिः॥ 12॥

अर्थ—पदार्थों की विशेषता न समझकर जो केवल सामान्य का अथवा सत्ता-स्वभाव का ग्रहण करता है उसे दर्शन कहते हैं। उसे निराकार कहने का भी यही प्रयोजन है कि वह ज्ञेय वस्तुओं की आकृति-विशेष को समझा नहीं पाता। इसका विषय जो सामान्य है उसे सत्ता कहते हैं, इसीलिए दर्शन को कहीं-कहीं पर 'सत्तावलोकन' नाम भी दिया गया है। सत्ता विश्वाकार के तुल्य है, इसलिए उसका आकार नियमित नहीं किया जा सकता और उसका ग्राहक दर्शन भी निराकार ही माना जाता है। ज्ञान-दर्शन के बाद भी होता है व ज्ञान के उत्तरोत्तर भी होता है, परन्तु दर्शन सबके प्रारम्भ में ही होता है। एक विषय का कुछ भी ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर जब तक उसकी शृंखला टूटती नहीं है, तब तक फिर बीच में दर्शन नहीं हो पाता।

ज्ञानमष्टविधं ज्ञेयं मतिज्ञानादिभेदतः।
चक्षुरादिविकल्पाच्च दर्शनं स्याच्चतुर्विधम्॥ 13॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—1. सम्यक् मति, 2. श्रुत, 3. अवधि, 4. मन:पर्यय, 5. केवल तथा 6. कुमति, 7. कुश्रुत और 8. कुअवधि—ये मिलकर कुल आठ ज्ञान हैं। ज्ञानों का विशेष स्वरूप पीठिका-प्रकरण में दे चुके हैं। दर्शन के चार भेद हैं। चाक्षुष ज्ञान के प्रथम होनेवाला चाक्षुष दर्शन (पहला), इतर इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान के पूर्व होने वाला अचाक्षुष दर्शन (दूसरा), अवधिज्ञान के प्रथम आत्म द्वारा होनेवाला अवधिदर्शन (तीसरा), केवलज्ञानी जीवों को संसारी जीवों की तरह चौथा केवलदर्शन व ज्ञान आगे पीछे नहीं होते, एक साथ[1] ही होते हैं। तो भी दोनों ज्ञानदर्शनों का सद्भाव वहाँ आवरण के भेदवश तथा विषयविभागादि कारणवश कहा जाता है।

दर्शनोत्तर अवग्रह तथा ईहाज्ञानपर्यन्त मतिज्ञान हो जाने पर मन:पर्यय ज्ञान का स्वरूप प्रकट होता है। इसलिए मन:पर्यय ज्ञान प्रथम ही सीधा नहीं होता, अतएव अवधिदर्शन की तरह मन:पर्यय नाम का दर्शन होना नहीं माना गया है। श्रुतज्ञान भी मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए श्रुतदर्शन भी कोई अलग नहीं है। एक मतिज्ञान के प्रथम होनेवाले दर्शन के चाक्षुष व अचाक्षुष ऐसे दो भेद किये हैं। मन:पर्यय व श्रुत के पूर्व होनेवाले दर्शन न मानकर केवलज्ञान व अवधिज्ञान के सम्बन्धी केवल व अवधि नाम वाले दो दर्शन माने गये हैं। इस प्रकार पाँच अथवा आठ ज्ञानों के साथ जुड़नेवाले दर्शन चार हैं, मिलकर उपयोग के कुल बारह भेद होते हैं।

जीवों के भेद—

संसारिणश्च मुक्ताश्च जीवास्तु द्विविधाः स्मृताः।
लक्षणं तत्र मुक्तानामुत्तरत्र प्रचक्ष्यते॥ 14॥
साम्प्रतं तु प्ररूप्यन्ते जीवाः संसारवर्तिनः।
जीवस्थान-गुणस्थान-मार्गणादिषु तत्त्वतः॥ 15॥

अर्थ—जीव दो प्रकार के माने गये हैं—संसारी और मुक्त। मुक्तों का लक्षण तो ग्रन्थ के अन्त में कहेंगे, परन्तु संसारी जीवों का लक्षण अभी कहते हैं। कर्म व शरीर से युक्त रहनेवाले जीवों का नाम संसारी है। वास्तव इनका खुलासा जीवस्थान, गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा व मार्गणाओं के द्वारा होगा, इसलिए क्रम से जीवस्थानादिकों का सामान्य स्वरूप व भेद कहते हैं।

गुणस्थानों के नाम—

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयतः।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वा निवृत्तिकरणौ तथा॥ 16॥
सूक्ष्मोपशान्त-संक्षीणकषाया योग्ययोगिनौ।
गुणस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश॥ 17॥

अर्थ—'गुणस्थान' शब्द का अर्थ पहले दे चुके हैं कि मोक्षसाधक गुणों के उत्तरोत्तर प्रकर्ष का

1. 'दंसणपुव्वं णाणं छदमट्ठाणं ण दोण्णि उवउग्गा। जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि।' द्र.सं., गा. 44

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम गुणस्थान है। गुणस्थान चौदह हैं—1. मिथ्यात्व, 2. सासन अथवा सासादन, 3. मिश्र अथवा सम्यग्मिथ्यात्व, 4. असंयत, 5. देशसंयत, 6. प्रमत्तसंयत, 7. अप्रमत्तसंयत, 8. अपूर्वकरण, 9. अनिवृत्तिकरण, 10. सूक्ष्मकषाय, 11. उपशान्तकषाय, 12. क्षीणकषाय, 13. सयोगकेवली, और 14. अयोगकेवली। अब इनके लक्षण क्रम से कहते हैं।

पहला : मिथ्यात्व गुणस्थान—

मिथ्यादृष्टि-र्भवेज्जीवो मिथ्यादर्शनकर्मणः।
उदयेन पदार्थानामश्रद्धानं हि यत्कृतम्॥ 18॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन एक कर्म है जिसके उदय होने से जीव का श्रद्धान मिथ्या तत्त्वों में हो जाता है और सत्य तत्त्वों की रुचि प्रकट नहीं होती। इस गुणस्थान को तथा गुणस्थानवर्ती जीव को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। शब्दार्थ यों है कि जिसकी दृष्टि (श्रद्धा) मिथ्या हो वह मिथ्यादृष्टि।

दूसरा : सासादन गुणस्थान—

मिथ्यात्वस्योदयाभावे जीवोऽनन्तानुबन्धिनाम्।
उदयेनास्तसम्यक्त्वः स्मृतः सासादनाभिधः॥ 19॥

अर्थ—मिथ्यात्व का उदय नहीं होते हुए भी, अनन्तानुबन्धी कर्म का उदय हो जाए तो भी सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है। इसी का नाम सासादन है। अनन्त संसार-परिभ्रमण के कारण सर्वाधिक कषाय को अनन्तानुबन्धी कहते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान में मोक्षोपयोगी शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता, इसलिए यह सबसे निकृष्ट जीव का सूचक स्थान है। इससे ऊपर जब कुछ परिणामों की विशुद्धि होने से थोड़ा-सा आत्मज्ञान का श्रद्धान हो जाता है तब जीव को जो स्थान, पहला स्थान बदलकर, मोक्षोपयोगी प्राप्त होता है उसे चौथे स्थान पर रखा है। उससे नीचे गिरते समय जो कुछ मलिन परिणाम होते हैं उनके तीन विभाग हैं। परिणाम अत्यन्त मलिन हो गया हो तो प्रथम गुणस्थान हो जाता है। उस समय मिथ्यादर्शन व अनन्तानुबन्धी कषाय—इन दोनों का उदय हो जाता है। यदि केवल मिथ्यात्व का उदय न होकर अनन्तानुबन्धी का ही उदय हुआ हो तो परिणाम कुछ कम मलिन होंगे। उस स्थान को दूसरा गुणस्थान कहते हैं।

तीसरा : मिश्र गुणस्थान—

सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञायाः प्रकृतेरुदयाद्भवेत्।
मिश्रभावतया सम्यग्मिथ्यादृष्टिः शरीरवान्॥ 20॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यात्व नामक कर्म के उदय से जीव के परिणाम आधे समीचीन और आधे मिथ्या रूप मिश्र हो जाते हैं, इसलिए जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि बन जाता है। यही तीसरे गुणस्थान का स्वरूप है। दूसरे गुणस्थान 'सासादन' में सम्यग्दर्शन कुछ भी नहीं रहता है, परन्तु तीसरे में आधे-अधूरे परिणाम विशुद्ध हो जाने से तीसरे गुणस्थान का स्थान दूसरे से ऊँचा माना गया है। न इसे पूरा मलिन ही कह सकते

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं और न निर्मल ही कह सकते हैं, इसीलिए यह दूसरे और चौथे के बीच का स्थान है।

भावार्थ—दर्शनमोहनीय के तीन भेदों में एक सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति नाम का भेद है। इस प्रकृति के उदय से जीव के ऐसे भाव होते हैं जिन्हें न मिथ्यात्वरूप कहा जा सकता है और न सम्यक्त्वरूप। जिस प्रकार दही और गुड़ के मिलने पर ऐसा स्वाद बनता है कि जिसे न खट्टा ही कहा जा सकता है और न मीठा ही। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में ऐसा भाव होता है कि जिसे न सम्यक्त्व ही कहा जा सकता है और न मिथ्यात्व ही, किन्तु मिश्ररूप भाव होता है। ऐसे मिश्रभाव को धारण करने वाले जीव को मिश्रगुणस्थानवर्ती कहते हैं। इस गुणस्थान में किसी आयु का बन्ध नहीं होता तथा मरण और मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता। मरण अवसर आने पर यह जीव या तो चतुर्थ गुणस्थान में पहुँचकर मरता है या प्रथम गुणस्थान में आकर मरता है। यह जीव दूसरे गुणस्थान में नहीं आता। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव मिश्र प्रकृति का उदय आने पर इस तृतीय गुणस्थान में आ जाता है। कोई सादिमिथ्यादृष्टि जीव भी मिश्र प्रकृति का उदय आने पर तृतीय गुणस्थान में पहुँचता है।

चौथा : अविरत गुणस्थान—

वृत्तमोहस्य पाकेन जनिताविरतिर्भवेत्।
जीवः सम्यक्त्वसंयुक्तः सम्यग्दृष्टिरसंयतः॥ 21॥

अर्थ—चारित्रमोह के उदय से जिसके अविरति-असंयमदशा उत्पन्न हुई है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव असंयत सम्यग्दृष्टि होता है।

भावार्थ—मिथ्यात्वादि त्रिक तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने से जिसे सम्यक्त्व तो हो गया है, परन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों का उदय रहने से जो चारित्र धारण नहीं कर पाता वह असंयतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थानवर्ती जीव कहलाता है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व प्राप्त होने पर प्रथम गुणस्थान से इसी गुणस्थान में आता है। यद्यपि इस जीव के इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस-स्थावर जीवों के घात से निवृत्ति नहीं है, त्यागरूप परिणति नहीं है तथापि इसकी परिणति मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा बहुत ही शान्त होती है। इसके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण प्रकट हो जाते हैं, इसलिए मांसभक्षण, मदिरा पान आदि निन्दनीय कार्यों में (अन्याय, अनीति और अभक्ष्य में) इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इस गुणस्थान में यदि मनुष्य और तिर्यंच के आयुबन्ध का अवसर आता है तो नियम से वैमानिक देवों की आयु का ही बन्ध होता है तथा नरक और देवगति में आयुबन्ध का अवसर आता है तो नियम से मनुष्य-आयु का ही बन्ध होता है।

पाँचवाँ : देशसंयत गुणस्थान—

पाक-क्षयात्कषायाणामप्रत्याख्यानरोधिनाम्।
विरताविरतो जीवः संयतासंयतः स्मृतः॥ 22॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण कषायों के क्षयोपशम से जो जीव विरत एवं अविरतदशा को प्राप्त है वह संयतासंयत अथवा देशसंयत गुणस्थानवर्ती माना गया है।

भावार्थ—एकदेश प्रत्याख्यान चारित्र को घातने वाली कषाय अप्रत्याख्यानावरण कहलाती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि जीव के जब इस कषाय का क्षयोपशम होता है तब वह एकदेश संयम धारण करता है। एकदेश संयम में त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा, स्थावर जीवों का निरर्थक घात, स्थूल असत्य, सार्वजनिक जल तथा मिट्टी आदि की चोरी, स्वस्त्री या स्वपुरुष-सेवन तथा सीमित परिग्रह से निवृत्ति नहीं होती। इसलिए यह एक ही काल में विरताविरत या संयतासंयत कहलाता है। यह गुणस्थान तिर्यंच और मनुष्यगति में ही होता है। इस गुणस्थान में भी नियम से देवायु का ही बन्ध होता है। जिस जीव के पहले देवायु को छोड़कर यदि किसी अन्य आयु का बन्ध हो गया हो तो उस जीव के उस पर्याय में यह गुणस्थान ही नहीं होगा।

छठा : प्रमत्तसंयत गुणस्थान—

प्रमत्तसंयतो हि स्यात् प्रत्याख्याननिरोधिनाम्।
उदयक्षयतः प्राप्तासंयमर्द्धिः प्रमादवान्॥ 23॥

अर्थ—प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से जो संयमरूप सम्पत्ति को प्राप्त होकर भी प्रमाद से युक्त रहता है वह प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहा जाता है।

भावार्थ—प्रत्याख्यान—सकलचारित्र को घातनेवाली कषाय प्रत्याख्यानावरण कहलाती है। जब इस कषाय का क्षयोपशम होता है तब मनुष्य सकल चारित्र को ग्रहण करता है, हिंसादि पाँच पापों का सर्वदेश त्याग कर देता है, परन्तु संज्वलन कषाय का तीव्रोदय होने से प्रमादयुक्त रहता है, इसलिए इसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियों के विषय, निद्रा और स्नेह ये प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं। इनमें कदाचित् मुनि की प्रवृत्ति होती है, इसलिए छठे गुणस्थानवर्ती मुनि को प्रमत्तसंयत कहा जाता है। यहाँ प्रमाद उतनी ही मात्रा में होता है जितनी मात्रा से वे अपने गृहीतचारित्र से पतित नहीं हो पाते। मुनिव्रत धारण करने पर सर्वप्रथम सप्तम गुणस्थान होता है। पश्चात् वहाँ से गिरकर जीव छठे गुणस्थान में आता है। छठे से चढ़कर इस तरह ये जीव छठे-सातवें गुणस्थान की भूमिका में हजारों बार चढ़ता तथा उतरता है। यह गुणस्थान तथा इसके आगे के गुणस्थान मनुष्यगति में ही होते हैं। द्रव्यवेद की अपेक्षा पुरुषवेदी के ही यह गुणस्थान होता है, परन्तु भाववेद की अपेक्षा तीनों वेद वाले के हो सकता है। इस गुणस्थान में यदि आयुबन्ध का अवसर आता है तो नियम से देवायु का ही बन्ध होता है। देवायु को छोड़कर किसी अन्य आयु का बन्ध होने पर उस जीव के उस पर्याय में यह गुणस्थान ही नहीं होगा, ऐसा नियम है।

सातवाँ : अप्रमत्त संयत गुणस्थान—

संयतो ह्यप्रमत्तः स्यात् पूर्ववत्प्राप्तसंयमः।
प्रमाद-विरहाद्वृत्तेर्वृत्तिमस्खलितां दधत्॥ 24॥

अर्थ—सातवें गुणस्थान का नाम अप्रमत्तसंयत है। छठे गुणस्थान की तरह यहाँ भी संयम तो पूर्ण होता ही है, परन्तु प्रमादजनक चौथे संज्वलन कषाय का उदय मन्द हो जाने से प्रमाद होना भी रुक जाता है, इसलिए चारित्र या संयम की वृत्ति निष्प्रमाद होने लगती है, अत एव इसे अप्रमत्तसंयमी कहते हैं।

छठे गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान में संज्वलन का उदय और भी मन्द हो जाता है, इसलिए यहाँ प्रमाद का अभाव हो जाता है। प्रमाद का अभाव हो जाने से यह अप्रमत्तसंयत कहलाता है। इस गुणस्थान

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के दो भेद हैं—स्वस्थान अप्रमत्तसंयत और सातिशय अप्रमत्तसंयत। जो सातवें से गिरकर छठे में आता है और फिर सातवें में चढ़ता है वह स्वस्थान अप्रमत्तसंयत कहलाता है तथा जो श्रेणी चढ़ने के सन्मुख हो अधःकरण परिणामों को प्राप्त करता है वह सातिशय अप्रमत्तसंयत कहलाता है। जहाँ सम-समयवर्ती तथा भिन्न-समयवर्ती जीवों के परिणाम समान तथा असमान दोनों प्रकार के होते हैं उन्हें अधःकरण कहते हैं। इस गुणस्थान में भी नियम से देवायु का बन्ध होता है।

आठवाँ : अपूर्वकरण गुणस्थान—

अपूर्व करणं कुर्वन् न पूर्वकरणो यतिः।
शमकः क्षपकश्चैव स भवत्युपचारतः॥ 25॥

अर्थ—करण का अर्थ परिणाम है। अपूर्व परिणाम प्रकट करता हुआ योगी अपूर्वकरण गुणस्थान वाला कहलाने लगता है। इसे उपचार से मोहोपशमक तथा मोहक्षपक भी कहते हैं।

भावार्थ—सप्तम गुणस्थान के सातिशय अप्रमत्तसंयत को जो अधःकरणरूप परिणाम प्राप्त होते थे उनमें आगामी समयवर्ती जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों से मिलते-जुलते भी रहते थे, पर अष्टम गुणस्थानवर्ती जीव के विशुद्धता के बढ़ जाने से प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व, नये-नये ही करण—परिणाम होते हैं। इस गुणस्थान में आगामी समयवर्ती जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों से मिलते-जुलते नहीं है, इसलिए इसका अपूर्वकरण यह सार्थक नाम है। इस गुणस्थान में समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते हैं तथा भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम नियम से भिन्न ही होते हैं। इस गुणस्थान से श्रेणी प्रारम्भ हो जाती है। चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने के लिए परिणामों की जो सन्तति होती है उसे श्रेणी कहते हैं। इसके दो भेद हैं—उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशमश्रेणी को द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव माँढ़ते हैं, परन्तु क्षपकश्रेणी को क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही माँढ़ते हैं। उपशमश्रेणी वाले उपशमक और क्षपकश्रेणी वाले क्षपक कहलाते हैं। इसलिए उपचार से इस गुणस्थान को भी उपशमक और क्षपक कहा गया है। यहाँ तथा इसके आगे किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता। क्षपकश्रेणी माँढ़ने वालों के आयुबन्ध होता ही नहीं है और उपशमश्रेणी वे जीव ही माँढ़ते हैं जिन्हें या तो देवायु का बन्ध हो चुका है या किसी आयु का बन्ध नहीं हुआ है। जिन्हें किसी आयु का बन्ध नहीं हुआ है, वे पतन कर जब सप्तम या इसके नीचे के गुणस्थानों में आते हैं तब देवायु का बन्ध करते हैं। जिन जीवों के उसी पर्याय में उपशमश्रेणी के बाद क्षपकश्रेणी माँढ़ने का प्रसंग आता है वे भी आयु का बन्ध नहीं करते हैं।

नौवाँ : अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—

कर्मणां स्थूलभावेन शमकः क्षपकस्तथा।
अनिवृत्तिरनिवृत्तिः परिणामवशाद् भवेत्॥ 26॥

अर्थ—शुक्लध्यान आदि चारित्ररूप परिणामों की उत्कृष्ट वृद्धि होने से अनिवृत्तिकरण नाम नौवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थान वाला योगी मोहकर्म या कषाय के स्थूल अंशों का उपशम और क्षपण करता है। जो आठवें में उपशम का प्रारम्भ करता है वह यहाँ भी उपशम करता है और जो आठवें

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में क्षपक हुआ था, वह यहाँ भी क्षपण ही करता है। स्थूल मोह का उपशम तथा क्षय करते हुए, जब मात्र एक सूक्ष्मलोभ कषाय शेष रह जाती है तब वह दशवें गुणस्थान में जाता है।

भावार्थ—दशवें गुणस्थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में कर्मों का उपशम अथवा क्षय स्थूलरूप से होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीवों के परिणामों में विभिन्नता नहीं रहती। यहाँ एक समय में एक जीव के एक ही परिणाम होता है अतः समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही रहते और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम भिन्न ही रहते हैं। अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों से आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा, उनका गुणसंक्रमण, स्थिति-खंडन एवं अनुभागकांडक-खंडन होता है और मोहनीयकर्म की बादरकृष्टि एवं सूक्ष्मकृष्टि आदि होती है। इस गुणस्थान में भी उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियाँ रहती हैं।

दसवाँ : सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान—

सूक्ष्मत्वेन कषायाणां शमनात्क्षपणात्तथा।
स्यात्सूक्ष्मसाम्परायो हि सूक्ष्मलोभोदयानुगः॥ 27॥

अर्थ—सूक्ष्म लोभ उदय युक्त होने से वह योगी सूक्ष्मसाम्पराय नाम को प्राप्त होता है। सूक्ष्मलोभ भी इस गुणस्थान का नाम है। साम्पराय का अर्थ कषाय है। जिसकी कषाय अति सूक्ष्म हो गयी हो वह सूक्ष्मसाम्पराय नाम वाला योगी हो सकता है। यह गुणस्थान प्राप्त होते ही बची हुई सूक्ष्म कषायों का उपशम एवं क्षय होने लगता है।

ग्यारहवाँ : उपशान्त कषाय, बारहवाँ : क्षीणकषाय गुणस्थान—

उपशान्तकषायः स्यात् सर्वमोहोपशान्तितः।
भवेत्क्षीणकषायोऽपि मोहस्यात्यन्तसंक्षयात्॥ 28॥

अर्थ—बचे हुए सूक्ष्म लोभ का भी यदि उपशम हो गया तो निःशेष मोह का उपशम सिद्ध होने से योगी का उपशान्तकषाय नाम पड़ता है, यह ग्यारहवाँ गुणस्थान है। दशवें गुणस्थान के ऊपर योगी एक साथ ही एक स्थान ऊँचा चढ़ते हैं तो भी क्षपक की विशुद्धता अधिक आदरयोग्य होने से उपशमी ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती योगी की अपेक्षा क्षपण करने वाले का स्थान बारहवाँ माना जाता है। उपशमी का ग्यारहवाँ ही रहता है।

भावार्थ—उपशमश्रेणी वाला जीव दशम गुणस्थान के अन्त में मोहनीयकर्म का जब उपशम कर चुकता है तब वह उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में मोहनीयकर्म के किसी भी भेद का उदय नहीं रहता। यहाँ जीव के परिणाम, शरद्ऋतु के उस सरोवर के जल के के समान, जिसकी कि कीचड़ नीचे बैठ गयी है, बिल्कुल निर्मल हो जाते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति सिर्फ अन्तर्मुहूर्त की है उसके बाद जीव नियम से गिर जाता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव गिरकर चतुर्थ गुणस्थान तक आ सकता है और उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शन से भी गिरकर प्रथम गुणस्थान तक आ सकता है। क्षपक श्रेणी वाला जीव दशम गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान में पहुँचता है। यहाँ कषाय का भी सर्वथा क्षय हो जाता है। इस गुणस्थान में शुक्ल ध्यान का एकत्व वितर्क वीचार नाम का दूसरा पाया प्रकट होता है। उसके प्रभाव से जीव शेष

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बचे हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय—इन तीन घातियाकर्मों का तथा नामकर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय करता है ! क्षपक श्रेणी वाले जीव के नवीन आयु का बन्ध नहीं होता है, इसलिए वर्तमान-भुज्यमान मनुष्यायु को छोड़कर शेष तीन आयु कर्मों का क्षय करके अपने आप ही रहता है। इस तरह इस गुणस्थान के अन्त में त्रेसठ कर्म- प्रकृतियों की सत्ता नष्ट हो जाती है।

तेरहवाँ : सयोगकेवली, चौदहवाँ : अयोगकेवली गुणस्थान—

उत्पन्न-केवलज्ञानो घातिकर्मोदयक्षयात्।
सयोगश्चाप्ययोगश्च स्यातां केवलिनावुभौ॥ 29॥

अर्थ—योगी बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीन घाति कर्मों का समूल नाश करने का प्रयत्न करने लगता है। उनका नाश हुआ कि उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। बस, इसी का नाम तेरहवाँ गुणस्थान है। योगों का निर्मूल नाश अभी तक नहीं हो पाता है, इसलिए इसे सयोगकेवली कहते हैं। योगों का नाश हो जाने पर अयोगकेवली नाम प्राप्त होता है जिसे कि चौदहवाँ गुणस्थान कहते हैं। इस प्रकार केवलज्ञानियों के सयोग व अयोग ये दो अन्तिम गुणस्थान समझना चाहिए। यह शरीर से तथा कर्मों से पूर्ण मुक्त होने की अन्तिम दशा है, इसके साथ ही आत्मा संसारातीत बन जाता है।

ये चौदह गुणस्थानों के लक्षण हुए। इन गुणस्थानों के अन्तर्गत सभी संसारवर्ती जीव आ जाते हैं। इसलिए संसारी जीवों का विशेष वर्णन करने का यह एक पहला प्रकार हुआ।

चौदह : जीवस्थान-जीवसमास—

एकाक्षाः बादराः सूक्ष्मा, द्व्यक्षाद्या विकलास्त्रयः।
संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्चैव, द्विधा पञ्चेन्द्रियास्तथा॥ 30॥
पर्याप्ताः सर्व एवैते, सर्वेऽपर्याप्तकास्तथा।
जीवस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश॥ 31॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवों के बादर और सूक्ष्म ये दो भेद होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन तीन तरह के जीवों को विकलत्रय कहते हैं। विकल का अर्थ अपूर्ण है, इन तीनों में इन्द्रिय पूर्ण नहीं हैं, इसलिए ये विकल कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय कुछ असंज्ञी व कुछ संज्ञी ऐसे दो प्रकार के होते हैं। मनसहित को संज्ञी व मनरहित को असंज्ञी कहते हैं। ये दो भेद पंचेन्द्रिय जीवों में ही होते हैं। बाकी चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव असंज्ञी ही होते हैं। ये सब मिलने से सात प्रकार हुए। सातों ही भेदों में पर्याप्त व अपर्याप्त ये दो अवस्थाएँ मिलती हैं, इसलिए पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दो-दो भेद करने से चौदह भेद हो जाते हैं। एकेन्द्रियों के दो भेद—बादर और सूक्ष्म, द्वीन्द्रिय को आदि लेकर तीन विकल और संज्ञी-असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के पंचेन्द्रिय, ये सात प्रकार के सभी जीव पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों प्रकार के होते हैं, इसलिए सब मिलाकर जीवस्थान के चौदह विकल्प होते हैं, इन्हें चौदह जीवसमास भी कहते हैं।

भावार्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव और उनकी अनेक जातियाँ जानी जावें उन्हें जीवस्थान या जीवसमास कहते हैं। इन जीवसमासों का आगम में अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। इनके 57 भेद भी बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद के बादर-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्म की अपेक्षा छह युगल तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक की अपेक्षा एक युगल, इन सात युगलों के चौदह भेदों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के भेद से त्रसों के पाँच भेद मिलाने से उन्नीस स्थान होते हैं। इन उन्नीस स्थानों के पर्याप्तक, निर्वृत्त्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन-तीन भेद होने से कुल 57 भेद होते हैं। कहीं पर 98 भेद भी बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद के बादर-सूक्ष्म की अपेक्षा छह युगल और सप्रतिष्ठित प्रत्येक तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक इन सात युगलों के चौदह भेद पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यर्याप्तक के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं, इसलिए एकेन्द्रियों के 42 भेद होते हैं। उनमें विकलत्रय के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा नौ भेद मिलाने से 51 भेद होते हैं। इनमें कर्मभूमिज[1] पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के 30 और भोगभूमिज[2] पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के 4, मनुष्यों[3] के 9, देवों[4] के 2 और नारकियों[5] के 2 भेद, सब मिलाने से कुल 98 जीवसमास होते हैं।

छह पर्याप्तियाँ एवं उनके स्वामी—

आहार-देह-करण-प्राणापान-विभेदतः।
वचो-मनो-विभेदाच्च सन्ति पर्याप्तयो हि षट्॥ 32॥
एकाक्षेषु चतस्रः स्युः पूर्वाः शेषेषु पंच ताः।
सर्वा अपि भवन्त्येताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तत्॥ 33॥

अर्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के भेद से पर्याप्तियाँ छह हैं। इनमें एकेन्द्रियों के प्रारम्भ की चार, द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियों तक प्रारम्भ की पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रियों के सभी पर्याप्तियाँ होती हैं।

भावार्थ—आहारादि पर्याप्तियों के लक्षण इस प्रकार हैं :

1. आहारपर्याप्ति—विग्रहगति को पूर्ण कर जीव नवीन शरीर की रचना में कारणभूत जिस नोकर्मवर्गणा को ग्रहण करता है उसे खल-रसभागरूप परिणमाने के लिए जीव की शक्ति के पूर्ण हो जाने को आहारपर्याप्ति कहते हैं।

---

1. कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंच जलचर, स्थलचर और नभचर के भेद से तीन प्रकार के हैं। इनके संज्ञी और असंज्ञी दो भेद होते हैं। इस तरह छह भेद हुए। ये छह भेद गर्भज तथा सम्मूर्च्छन के भेद से दो प्रकार के होते हैं। गर्भज जीवों के पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक के भेद से दो भेद होते हैं तथा सम्मूर्च्छन जीवों के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक के भेद से तीन भेद होते हैं। इस तरह गर्भजों के बारह और सम्मूर्च्छनों के अठारह दोनों मिलाकर कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के 30 भेद होते हैं।
2. भोगभूमिज तिर्यंचों के स्थलचर और नभचर के भेद से दो भेद होते हैं। इनके पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा चार भेद होते हैं। शाश्वत भोगभूमियों में जलचर जीव नहीं होते हैं।
3. आर्यखंड और म्लेच्छखंड के भेद से कर्मभूमिज मनुष्य के दो भेद हैं। इन में आर्यखंडज मनुष्य के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन भेद तथा म्लेच्छखंडज मनुष्य के पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक के दो इस तरह पाँच भेद होते हैं। भोगभूमिज और कुभोगभूमिज मनुष्यों के पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा दो-दो भेद इस तरह चार भेद मिलाने से मनुष्यों के नौ भेद होते हैं।

4-5. देव और नारकियों के पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा दो-दो भेद होते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

2. शरीरपर्याप्ति—खलभाग को हड्डी आदि कठोर अवयवरूप तथा रसभाग को खून आदि तरल अवयवरूप परिणमाने की शक्ति के पूर्ण होने को शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

3. इन्द्रियपर्याप्ति—उसी नोकर्मवर्गणा के स्कन्ध में से कुछ वर्गणाओं को अपनी-अपनी इन्द्रियों के स्थान पर उस-उस इन्द्रिय के आकार परिणमाने की शक्ति के पूर्ण हो जाने को इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं।

4. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति—कुछ स्कन्धों को श्वासोच्छ्वासरूप परिणमाने की जीव की शक्ति के पूर्ण होने को श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं।

5. भाषापर्याप्ति—वचनरूप होने के योग्य भाषावर्गणा को वचनरूप परिणमाने की जीव की शक्ति के पूर्ण होने को भाषापर्याप्ति कहते हैं।

6. मन:पर्याप्ति—मनोवर्गणा के परमाणुओं को द्रव्यमनरूप परिणमाने की जीव की शक्ति के पूर्ण होने को मन:पर्याप्ति कहते हैं।

उक्त छह पर्याप्तियों में एकेन्द्रिय जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। दो इन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के भाषापर्याप्ति सहित पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन:पर्याप्ति सहित छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। जिन जीवों की पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं उन्हें पर्याप्तक तथा जिनकी पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं हुई हैं उन्हें अपर्याप्तक कहते हैं। अपर्याप्तक जीवों के दो भेद हैं—निर्वृत्त्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक। जिसकी पर्याप्ति अभी पूर्ण नहीं हुई हैं किन्तु अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से पूर्ण हो जाती हैं उसे निर्वृत्त्यपर्याप्तक कहते हैं तथा जिसकी पर्याप्ति अभी तक न पूर्ण हुई हैं और न आगे पूर्ण होंगी वह लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है। समस्त पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है, परन्तु पूर्ति क्रम-क्रम से होती है। सभी पर्याप्तियों के पूर्ण होने का काल अन्तर्मुहूर्त है। लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था सम्मूर्च्छन जन्मवाले जीवों में होती है, गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवों में नहीं। इसी प्रकार लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था सिर्फ मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होती है अन्य गुणस्थानों में नहीं। निर्वृत्त्यपर्याप्तक अवस्था पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानों में जन्म की अपेक्षा होती है। छठे गुणस्थान में आहारशरीर की अपेक्षा और तेरहवें गुणस्थान में लोकपूरणसमुद्घात की अपेक्षा होती है। पर्याप्तक अवस्था सभी गुणस्थानों में होती है। लब्ध्यपर्याप्तक जीव अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण करता है।

दश प्राण तथा उनके स्वामी—

पञ्चेन्द्रियाणि वाक्कायमानसानां बलानि च।
प्राणापानौ तथायुश्च प्राणाः स्युः प्राणिनां दश॥ 34॥
कायाक्षायूंषि सर्वेषु पर्याप्तेष्वान इष्यते।
वाग् द्व्यक्षादिषु पूर्णेषु मनः पर्याप्तसंज्ञिषु॥ 35॥

अर्थ—स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ, वचनबल, कायबल, मनोबल, श्वासोच्छ्वास और आयु, जीवों के ये दश प्राण होते हैं। इनमें कायबल, इन्द्रियाँ तथा आयु प्राण सभी जीवों के होते हैं, श्वासोच्छ्वास पर्याप्तक जीवों के ही होता है, वचनबल द्वीन्द्रियादिक पर्याप्तक जीवों के ही होता है और मनोबल संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ—जिनका संयोग होने पर जीव जीवित और वियोग होने पर मृत कहलाता है उन्हें प्राण कहते हैं। इनके भावप्राण तथा द्रव्यप्राण के भेद से दो भेद हैं। आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुणों को भावप्राण कहते हैं और इन्द्रियादिक को द्रव्यप्राण कहते हैं। द्रव्यप्राण के ऊपर कहे हुए दश भेद हैं। इनमें से एकेन्द्रिय जीव के पर्याप्तक अवस्था में स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण और अपर्याप्तक अवस्था में श्वासोच्छ्वास को छोड़कर तीन प्राण होते है। द्वीन्द्रिय जीव के पर्याप्तक अवस्था में स्पर्शन और रसना, इन्द्रिय, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास और वचनबल ये छह प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्था में श्वासोच्छ्वास तथा वचनबल के बिना चार प्राण होते हैं। त्रीन्द्रिय जीव के पर्याप्तक अवस्था में घ्राण इन्द्रिय अधिक होने से सात प्राण और अपर्याप्तक अवस्था में पाँच प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय जीव के पर्याप्तक अवस्था में चक्षुरिन्द्रिय बढ़ जाने से आठ प्राण तथा अपर्याप्तक अथवा में छह प्राण होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रियजीव के पर्याप्तक अवस्था में कर्णेन्द्रिय बढ़ जाने से नौ प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्था में सात प्राण होते हैं। और संज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्तक अवस्था में मनोबल बढ़ जाने से दश प्राण तथा अपर्याप्तक अवस्था में सात प्राण होते हैं। तेरहवें गुणस्थान में इन्द्रियों तथा मन का व्यवहार नहीं रहता इसलिए वचनबल, श्वासोच्छ्वास, आयु और कायबल ये चार ही प्राण होते हैं। इसी गुणस्थान में वचनबल का अभाव होने पर तीन तथा श्वासोच्छ्वास का अभाव होने पर दो प्राण रहते हैं। चौदहवें गुणस्थान में कायबल का भी अभाव हो जाता है, इसलिए सिर्फ आयुप्राण रहता है।

आहारादि चार संज्ञाएँ—

आहारस्य भयस्यापि संज्ञा स्यान्मैथुनस्य च।
परिग्रहस्य चेत्येवं भवेत्संज्ञा चतुर्विधा॥ 36॥

अर्थ—आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चार विषयों की तीव्र वांछा को चार प्रकार की संज्ञा कहते हैं। ये चारों संज्ञाएँ भी जीवमात्र में रहती हैं। आहारादि उक्त चारों विषयों की तरफ प्रवृत्ति होना केवल मन के विचार का काम नहीं है, किन्तु एकेन्द्रियादि जीव में भी ये प्रवृत्तियाँ होती हैं। चारित्रमोह कर्म के उदय का यह साधारण कार्य है। अतएव इन प्रवृत्तियों में हिताहित की अपेक्षा नहीं रहती और न इन प्रवृत्तियों के होने से मन का अस्तित्व ही मान लेना चाहिए।

भावार्थ—जिन इच्छाओं के द्वारा पीड़ित हुए जीव इस लोक तथा परलोक में नाना दुःख उठाते हैं उन्हें संज्ञा कहते हैं। उसके चार भेद हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

आहारसंज्ञा—अन्तरंग में असातावेदनीय की उदीरणा होने से तथा बहिरंग में आहार के देखने और उस ओर उपयोग जाने से खाली पेटवाले जीव को जो आहार की इच्छा होती है उसे आहारसंज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा पहले गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक रहती है।

भयसंज्ञा—अन्तरंग में भय नोकषाय की उदीरणा होने से तथा बहिरंग में भयंकर वस्तु के देखने और उस ओर उपयोग जाने से शक्तिहीन प्राणी को जो भय उत्पन्न होता है उसे भयसंज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा आठवें गुणस्थान तक होती है।

मैथुनसंज्ञा—अन्तरंग में वेद नोकषाय की उदीरणा होने से तथा बहिरंग में कामोत्तेजक गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करने, मैथुन की ओर उपयोग जाने तथा कुशील मनुष्यों की संगति करने से जो मैथुन की इच्छा होती है उसे मैथुनसंज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा नौवें गुणस्थान के पूर्वार्ध तक होती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रहसंज्ञा—अन्तरंग में लोभकषाय की उदीरणा होने से तथा बहिरंग में उपकरणों के देखने और परिग्रह की ओर उपयोग जाने तथा मूर्च्छाभाव-ममताभाव के होने से जो परिग्रह की इच्छा होती है उसे परिग्रहसंज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा दशम गुणस्थान तक होती है।

यहाँ सप्तम आदि गुणस्थानों में जो भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा बतलाई गयी हैं वे अन्तरंग में उन-उन कर्मों का उदय विद्यमान रहने से बतलाई गयी हैं, कार्यरूप में उनकी परिणति नहीं होती।

चौदह मार्गणाएँ—

गत्यक्ष-काय-योगेषु-वेद क्रोधादिवित्तिषु।
वृत्त-दर्शन-लेश्यासु भव्य-सम्यक्त्व-संज्ञिषु।
आहारके च जीवानां मार्गणाः स्युश्चतुर्दश॥ 37॥ (षट्पदी)

अर्थ—1. गति, 2. इन्द्रिय, 3. काय, 4. योग, 5. वेद, 6. क्रोधादि कषाय, 7. ज्ञान, 8. संयम, 9. दर्शनोपयोग, 10. लेश्या, 11. भव्यत्व, 12. सम्यक्त्व, 13. संज्ञित्व और 14. आहारकत्व ये चौदह मार्गणाएँ जीवों के रहने के आश्रय हैं, अर्थात् इन प्रकारों में संसार के सभी जीव रहते हुए दिख पड़ते हैं।

गति (प्रथम मार्गणा)—

गतिर्भवति जीवानां गतिकर्म विपाकजा।
श्वभ्र-तिर्यग्नरामर्त्यगतिभेदाच्चतुर्विधा॥38॥

अर्थ—जीवों की गति, गतिनाम कर्म के उदय से होती है। गति के नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव ये चार भेद हैं। देवादि चारों भेदों के जो कारण हैं वे ही गतिकर्म के उत्तर चार भेद हैं। देव, मनुष्य व नारक इन तीन प्रकार के जीवों के अतिरिक्त संसारवर्ती सभी जीवों को तिर्यंच कहते हैं ऐसा आगे कहेंगे। देव व नारकियों का वर्णन भी आगे किया जाएगा।

इन्द्रिय (दूसरी मार्गणा)—

इन्द्रियं लिंगमिन्द्रस्य तच्च पञ्चविधं भवेत्।
प्रत्येकं तद् द्विधा द्रव्य-भावेन्द्रियविकल्पतः॥39॥

अर्थ—'इन्द्र' शब्द का अर्थ 'परमैश्वर्ययुक्त[1]' होता है। सभी आत्मा परमैश्वर्ययुक्त हैं, इसलिए इन्द्र नाम आत्मा[2] का भी माना गया है। इन्द्र अर्थात् आत्मा का जो चिह्न हो वह इन्द्रिय[3] है, अथवा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने का जो साधन हो वह भी इन्द्रिय हो सकता है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति देखने से उनके प्रेरक आत्मा का अस्तित्व[4] मानना पड़ता है। प्रत्येक इन्द्रिय में द्रव्येन्द्रिय व भावेन्द्रिय ये दो-दो भेद हो सकते हैं। ये सभी इन्द्रियाँ पाँच हैं।

---

1. इदि परमैश्वर्ये। 'इन्द्रिय' या 'इन्द्र' शब्द परमैश्वर्य सूचित करनेवाले 'इदि' धातु से बनता है।
2. इन्दतीति इन्द्र आत्मा।—सर्वा. सि., वा. 185
3. इन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियम्। 'इन्द्रलिंगमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रियम्।' यह पाणिनी आदि वैयाकरणों का वचन है।
4. तत्प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य इन्द्रिय के भेद—

निर्वृत्तिश्चोपकरणं द्रव्येन्द्रियमुदाहृतम्।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यमनयोरपि॥ 40॥

अर्थ—द्रव्येन्द्रिय का विचार करें तो उसमें निर्वृत्ति व उपकरण ऐसे दो प्रकार दिख पड़ते हैं। निर्वृत्ति व उपकरण भी प्रत्येक दो-दो प्रकार के होते हैं। बाह्य निर्वृत्ति, आभ्यन्तर निर्वृत्ति, बाह्य उपकरण, आभ्यन्तर उपकरण। ज्ञानोत्पत्ति में कार्यकारी जो इन्द्रिय का अंश रचा गया हो वह निर्वृत्ति समझना चाहिए। जो उस निर्वृत्ति (मुख्यांश) की रक्षा करनेवाला अवयव हो उसे उपकरण कहा जाता है।

अन्तरंग निर्वृत्ति का लक्षण—

नेत्रादीन्द्रियसंस्थानावस्थितानां हि वर्तनम्।
विशुद्धात्मप्रदेशानां तत्र निर्वृत्तिरान्तरा॥ 41॥

अर्थ—बाह्य व आभ्यन्तर निर्वृत्तियों में से आभ्यन्तर निर्वृत्ति वह है जो कुछ आत्मप्रदेशों की रचना नेत्रादि इन्द्रियों के आकार को धारण करके उत्पन्न होती है। वे आत्मप्रदेश इतर आत्मप्रदेशों से अधिक विशुद्ध होते हैं। ज्ञान के व ज्ञानसाधन के प्रकरण में ज्ञानावरण क्षयोपशमजन्य निर्मलता को विशुद्धि कहते हैं।

बाह्य निर्वृत्ति का लक्षण—

तेष्वेवात्मप्रदेशेषु करण-व्यपदेशिषु।
नामकर्म-कृतावस्थः पुद्गलप्रचयोऽपरा॥ 42॥

अर्थ—इन्द्रियाकार धारण करनेवाले अन्तरंग इन्द्रिय नामक आत्मप्रदेशों के साथ उन आत्मप्रदेशों को अवलम्बन देनेवाले जो शरीरावयव इकट्ठे होते हैं उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। इन शरीरावयवों की इकट्ठे होकर इन्द्रियावस्था बनने के लिए अंगोपांगादि नामकर्म के कुछ भेद सहायक होते हैं।

आभ्यन्तर और बाह्य उपकरण—

आभ्यन्तरं भवेत्कृष्ण-शुक्लमण्डलकादिकम्।
बाह्योपकरणं त्वक्षिपक्ष्म-पत्रद्वयादिकम्॥ 43॥

अर्थ—बाह्य व आभ्यन्तर दोनों उपकरणों में से आभ्यन्तरोपकरण उसे कहते हैं जो भीतर रहकर निर्वृत्तिरूप इन्द्रिय की रक्षा करता हो। जैसे, नेत्रेन्द्रिय के भीतर काले, सफेद आदि रंग का मंडल। किसी इन्द्रिय के सबसे ऊपर की तरफ रहनेवाला रक्षा का साधन बाह्योपकरण कहलाता है। जैसे, नेत्रेन्द्रिय के ऊपर दो बरौनी। इन दोनों प्रकार के उपकरणों के भीतर जो देखने की शक्ति रखनेवाली रचना होती है वह सब 'निर्वृत्ति' नाम से कही जाती है। ये सभी उपकरण तथा निर्वृत्ति के भेद द्रव्येन्द्रिय इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि ये आत्मा के तथा पुद्गलद्रव्यों के पर्याय हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भावेन्द्रिय, लब्धि और उपयोग का स्वरूप—

लब्धिः तथोपयोगश्च भावेन्द्रियमुदाहृतम्।
सा लब्धिर्बोध-रोधस्य यः क्षयोपशमो भवेत्॥ 44॥
स द्रव्येन्द्रिय-निर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते यतः।
कर्मणो ज्ञान-रोधस्य क्षयोपशम-हेतुकः॥ 45॥
आत्मनः परिणामो य उपयोगः स कथ्यते।
ज्ञान-दर्शनभेदेन द्विधा द्वादशधा पुनः॥ 46॥

अर्थ—भावेन्द्रिय, लब्धि और उपयोग दोनों को कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का लाभ होना लब्धि है। उस आत्मा के चैतन्य परिणाम को उपयोग कहते हैं, जिसके होने से आत्मा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम द्वारा द्रव्यनिर्वृत्ति नामक इन्द्रिय में प्रवृत्ति करने लगता है अर्थात् आत्मा इन्द्रियों द्वारा पदार्थों को तभी जान सकता है जब कि उक्त विषय के ज्ञान को घातनेवाला कर्म क्षीणोपशान्त हो गया हो और उस क्षयोपशम की सहायता से आत्मा इन्द्रियों में प्रवर्तने लगा हो। ऐसी आत्मप्रवृत्ति को उपयोग कहते हैं और घातक कर्म के क्षयोपशम को लब्धि या लाभ कहते हैं। क्षयोपशमरूप लाभ भी जब तक प्राप्त न हुआ हो तब तक ज्ञान होना असम्भव है और क्षयोपशम-लाभ होने पर भी जब तक जानने की प्रवृत्ति न की गयी हो तब तक भी ज्ञान प्रकट होना कठिन है। एकेन्द्रिय जीवों में रसनादि चार इन्द्रियों का क्षयोपशम न रहने से उन इन्द्रियों का वहाँ ज्ञान कभी नहीं होता और मनुष्यों में सभी इन्द्रियों के ज्ञानावरण का क्षयोपशम रहते हुए भी एक किसी इन्द्रिय-सम्बन्धी ज्ञान होते समय इतर इन्द्रियों का ज्ञान नहीं होता। ये दोनों, लब्धि व उपयोग की कारणता दिखाने के लिए उदाहरण हैं, इसीलिए दोनों को भावेन्द्रिय मानना आवश्यक है। उक्त दोनों को भावेन्द्रिय इसलिए कहते हैं कि ये द्रव्यपर्याय न होकर गुणपर्याय हैं। क्षयोपशम भी एक गुण या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है। धर्म, स्वभाव, भाव इत्यादि शब्दों का एक ही अर्थ होता है। उपयोग के ज्ञान और दर्शन ये दो प्रकार भी कहे जाते हैं और उत्तर भेद बारह पहले कह चुके हैं। आत्मा के परिचय का हेतु होने से उपयोग को भी इन्द्रिय कहना अयोग्य नहीं है। हाँ, व्यवहार में उन्हीं को इन्द्रिय कहते हैं जो कि नेत्रादि शरीरावयव हैं, परन्तु ज्ञानों के लिए उक्त अपेक्षा से कहा हुआ इन्द्रियनाम शास्त्रदृष्टि से अनुचित नहीं है।

इन्द्रियों के नाम और क्रम—

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमतः परम्।
इतीन्द्रियाणां पञ्चानां संज्ञानुक्रमनिर्णयः॥ 47॥

अर्थ—पहली स्पर्शन, दूसरी रसना, तीसरी घ्राण, चौथी नेत्र, पाँचवीं श्रोत्र—इस प्रकार इन्द्रियों के अनुक्रम से नाम हैं। एक दो आदि इन्द्रियों की वृद्धि भी इसी अनुक्रम से होती है—यह नियम है। जैसे किसी जीव में दो इन्द्रियाँ होंगी तो स्पर्शन और रसना ये ही दो होंगी, अन्य नहीं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँचों इन्द्रियों तथा मन के विषय—

स्पर्शो रसस्तथा गन्धो वर्णः शब्दो यथाक्रमम्।
विज्ञेया विषयास्तेषां मनसस्तु तथा श्रुतम्॥ 48॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द—ये पाँच क्रम से पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं। मन, जो अन्तर्गत इन्द्रिय है उसका मुख्य विषय श्रुतज्ञान को उत्पन्न करना है और गौण विषय सभी इन्द्रियों को सहायता देना है।

इन्द्रियों का विषय सम्बन्ध—

रूपं पश्यत्यसंस्पृष्टं स्पृष्टं शब्दं शृणोति तु।
बद्धं स्पृष्टं च जानाति स्पर्शं गन्धं तथा रसम्॥ 49॥

अर्थ—आत्मा चक्षु से जो रूप को देखता है वह रूप से सम्बन्ध न करता हुआ दूर रहकर ही देखता है। कानों से जो शब्द सुनाई पड़ता है वह स्पर्श होने पर सुनाई पड़ता है। शब्द का कानों के साथ संयोग हुए बिना सुनना नहीं होता। स्पर्श, रस और गन्ध तीन विषयों का ज्ञान तब होता है जब कि इन्द्रियों के साथ संयोग होकर एकमेक सरीखे विषय व इन्द्रिय एकत्रित होकर भिड़ जाते हैं। मन के द्वारा ज्ञान होता है उसमें विषय के सम्बन्ध की भी अपेक्षा नहीं होती तथा अव्यवधान की भी, नेत्र की तरह अपेक्षा नहीं होती।

इन्द्रियों की आकृति—

यवनाल-मसूरातिमुक्तेन्द्वर्द्धसमाः क्रमात्।
श्रोत्राक्षि-घ्राण-जिव्हाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थितिः॥ 50॥

अर्थ—कानों का जौ की मध्य नली का-सा आकार है। नेत्र मसूर के तुल्य होता है। नाक तिलपुष्प के समान होती है। अर्धचन्द्र के समान जीभ का या रसनेन्द्रिय का आकार है। स्पर्शन इन्द्रिय का कोई एक आकार नियत नहीं है। शरीरों के आकार अनेक हैं, इसलिए स्पर्शनेन्द्रिय शरीराकार होने से अनेकविध है।

जीवों में इन्द्रिय विभाग—

स्थावराणां भवत्येकमेकैकमभिवर्धयेत्।
शम्बूक-कुन्थु-मधुप-मर्त्यादीनां ततः क्रमात्॥ 51॥

अर्थ—पृथिव्यादि स्थावर जीवों में मात्र पहली इन्द्रिय होती है। इसके आगे शम्बूक-क्षुद्रशंख, कुन्थु, भ्रमर व मनुष्यादिकों में एक-एक इन्द्रिय क्रम से बढ़ती जाती हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

एकेन्द्रियादि जीवों के भेद—

स्थावराः स्युः पृथिव्यापः-तेजो-वायुर्वनस्पतिः।
स्वैः स्वैर्भेदैः समा ह्येते सर्व एकेन्द्रियाः स्मृताः॥ 52॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँचों तथा इनके उत्तर भेद भी सब स्थावर हैं और सभी एकेन्द्रिय हैं।

द्वीन्द्रिय जीवों के नाम—

शम्बूकः शङ्ख-शुक्ती वा गुण्डू-पदक-पर्दकाः।
कुक्षि-क्रम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः॥ 53॥

अर्थ—शम्बूक, शंख, सीप, गेंडुआ, कौड़ी, उदर में होने वाली कृमि इत्यादि सभी द्वीन्द्रिय प्राणी हैं।

त्रीन्द्रिय जीवों के नाम—

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चैन्द्रगोपकः।
घुण-मत्कुण-यूकाद्याः त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः॥ 54॥

अर्थ—कुन्थु, चींटी, कुम्भी, बिच्छू, इन्द्रगोप (गिंजाई), घुन, खटमल, जूं इत्यादि जीव त्रीन्द्रिय हैं।

चतुरिन्द्रिय जीवों के नाम—

मधुपः कीटको दंशमशकौ मक्षिकास्तथा।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः॥ 55॥

अर्थ—भौंरा, उड़ने वाले कीड़े, डांस, मच्छर, मक्खी, पतंगा, पिस्सू, बर्र, इत्यादि प्राणी चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं।

पंचेन्द्रिय जीवों के नाम—

पञ्चेन्द्रियाश्च मर्त्याः स्युर्नारकास्त्रिदिवौकसः।
तिर्यंचोऽप्युरगाभोगि-परिसर्पचतुष्पदाः॥ 56॥

अर्थ—मनुष्य, नारकी व देव ये सभी पंचेन्द्रिय होते हैं और संज्ञी भी होते हैं। तिर्यंचों में चतुरिन्द्रिय पर्यंत के जीवों को छोड़कर जो पंचेन्द्रिय होते हैं उनमें से कुछ के नाम ये हैं। जैसे—उरग, आभोगी व परिसर्प आदि नामोंवाले सर्प, तथा चार पैर वाले सभी तिर्यंच—ये सब पंचेन्द्रिय हैं।

काय (तीसरी मार्गणा) में पृथिव्यादि जीवों की आकृति—

मसूराम्बु-पृषत्सूची-कलाप ध्वजसन्निभाः।
धराप्तेजो मरुत्काया, नानाकारास्तरु त्रसाः॥ 57॥

अर्थ—पृथिवी के जीवों का शरीराकार मसूर के तुल्य, जल जीवों का शरीर जलकण के तुल्य,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अग्नि के जीवों का शरीर सुइयों के पिंड के समान, वायुकायिकों का ध्वज जैसा आकार होता है। बाकी रहे वनस्पति व त्रस जीवों का शरीर किसी एक प्रकार का आकार नहीं है, इनमें अनेक आकृतियाँ मिलती हैं।

पृथिवी के प्रकार—

मृत्तिका बालुका चैव शर्करा चोपलः शिला।
लवणोऽयस्तथा ताम्रं त्रपुः सीसकमेव च॥ 58॥
रौप्यं सुवर्णं वज्रं च, हरितालं च हिंगुलम्।
मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं सप्रवालकम्॥ 59॥
क्रिरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च बादराः।
गोमेदो रुचकांकश्च स्फटिको लोहितप्रभः॥ 60॥
वैडूर्यं चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रविप्रभः।
गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा॥ 61॥
मोठो मसार-गल्लश्च सर्व एते प्रदर्शिताः।
षट्त्रिंशत् पृथिवीभेदा भगवद्भिर्जिनेश्वरैः॥ 62॥

अर्थ—1. माटी, 2. बालू, 3. धूल, 4. पत्थर, 5. शिला, 6. सेंधा नमक, 7. लोहा, 8. ताँबा, 9. रांगा, 10. सीसा, 11. चाँदी, 12. सुवर्ण, 13. हीरा, 14. हरताल, 15. ईंगुर, 16. मैनसिल, 17. तूतिया, 18. अंजन, 19. प्रवाल, 20. क्रिरोलक, 21. अभ्रक, 22. गोमेद, 23. रुचकांक, 24. स्फटिक, 25. लोहितप्रभ-पद्मराग, 26. वैडूर्य, 27. चन्द्रकान्त, 28. जलकान्त, 29. सूर्यकान्त, 30. गेरू, 31. चन्दन, 32. वर्चूर, 33. रुचक, 34. मोठ, 35. मसार और 36. गल्ल —ये सर्व मिलकर छत्तीस भेद होते हैं। मूल प्रकार जिनेश्वर भगवान ने इतने ही कहे हैं।

जलकायिक जीवों के प्रकार—

अवश्यायो हिमबिन्दुः तथा शुद्धघनोदके।
शीतकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः॥ 63॥

अर्थ—अवश्याय—एक प्रकार की ओस, हिमबिन्दु—एक प्रकार की ओस की बूँद, शुद्धजल, मेघजल, शीतल-ठंडक इत्यादि तथा बर्फ आदि अनेक प्रकार के जल को जलकायिक जीव समझना चाहिए।

अग्निकायिक जीवों के प्रकार—

ज्वालाङ्गारः तथार्चिश्च, मुर्मुरः शुद्ध एव च।
अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिकाः॥ 64॥

अर्थ—ज्वाला, अंगार, अर्चि, मुर्मुर, शुद्ध अग्नि ये सभी अग्निकायिक जीवों के भेद हैं। इनके सिवाय और भी ऐसे बहुत प्रकार हैं जो कि अग्नि में ही गर्भित करने चाहिए।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वायुकायिक जीवों के प्रकार—

महान् घनस्तनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलिः।
वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः॥ 65॥

अर्थ—महावायु, घनवायु, तनुवायु, गुंजामंडलि, उत्कलि, शुद्ध वायु इत्यादि सभी वायुकायिक जीवों के भेद समझने चाहिए।

वनस्पतिकायिक जीवों के प्रकार—

मूलाग्र-पर्व-कन्दोत्थाः स्कन्ध-बीजरुहास्तथा।
सम्मूर्च्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः॥ 66॥

अर्थ—मूल से उत्पन्न होनेवाले अदरख, हल्दी आदि, अग्रभाग—पर्व-कन्द से उत्पन्न होनेवाले गुलाब आदि, स्कन्ध या पर्व बीज से उत्पन्न होनेवाले गन्ना आदि, सम्मूर्च्छन जन्मवाले घास आदि तथा प्रत्येक, अनन्तकाय—ये सब वनस्पतिकायिक जीवों के भेद हैं। यह सब इन्द्रियमार्गणा का स्वरूप हुआ।

योग (चौथी मार्गणा) का लक्षण—

सति वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमसम्भवे।
योगो ह्यात्मप्रदेशानां परिस्पन्दो निगद्यते॥ 67॥

अर्थ—वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर जो आत्मप्रदेशों में चंचलता उत्पन्न होती है उसे योग कहते हैं। इस योग की प्रवृत्ति यद्यपि आत्मा में होती है, परन्तु शरीर, मन अथवा वचन के सहारे से होती है, बिना सहारे नहीं होती।

योग के पन्द्रह भेद—

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम्।
काययोगाश्च सप्तैव योगाः पंचदशोदिताः॥ 68॥

अर्थ—मनोयोग के चार भेद, वचनयोग के चार भेद तथा काययोग के सात भेद ऐसे सब पन्द्रह प्रकार के योग कहे गये हैं।

मनोयोग के चार भेद—

मनोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा।
तथाऽसत्यमृषा चेति मनोयोगश्चतुर्विधः॥ 69॥

अर्थ—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, सत्यासत्य-उभय मनोयोग तथा सत्यासत्यरहित-अनुभय मनोयोग, इस प्रकार मनोयोग चार प्रकार के हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वचनयोग के चार नाम—

वचोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा।
तथाऽसत्यमृषा चेति वचोयोगश्चतुर्विधः॥ 70॥

अर्थ—वचनयोग भी सत्य वचन, असत्य वचन, सत्यासत्य-उभय वचन तथा सत्यासत्यरहित—अनुभय वचन—ऐसे चार प्रकार के हैं।

भावार्थ—सत्यवचनयोग आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते हैं, जैसे—जल को जल कहना। मिथ्याज्ञान के विषयभूत पदार्थ को असत्य कहते हैं, जैसे—मृगतृष्णा को जल कहना। दोनों के विषयभूत पदार्थ को उभय कहते हैं, जैसे—कमंडलु से घट का काम लिया जा सकता है, इसलिए सत्य है और कमंडलु का आकार घट से भिन्न है इसलिए असत्य है। जो दोनों ही प्रकार के ज्ञान का विषय न हो उसे अनुभय कहते हैं, जैसे—सामान्य रूप से यह प्रतिभास होना कि 'यह कुछ है'। यहाँ सत्य-असत्य का कुछ भी निर्णय नहीं होता, इसलिए अनुभय है। इन चार प्रकार के वचनों से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन-चलन होता है वह वचनयोग कहलाता है।

काययोग के सात प्रकार—

औदारिको वैक्रियिकः कायश्चाहारकश्च ते।
मिश्राश्च कार्मणश्चैव काययोगोऽपि सप्तधा॥ 71॥

अर्थ—औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मणशरीर से सात काययोग हैं। औदारिकादि मिश्र तीनों योग उस समय होते हैं जब कि जीव का धारण किया हुआ नवीन शरीर अपूर्ण रहता है। नवीन शरीर पूर्ण होते ही औदारिकादि तीनों योग शुद्ध हो जाते हैं। कार्मण शरीर-योग तब होता है जब जीव प्रथम शरीर छोड़कर दूसरे नवीन शरीर के लिए जाता हुआ अन्तराल में रहता है।

भावार्थ—मनुष्य और तिर्यंचों के उत्पत्ति के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में औदारिकमिश्र काययोग होता है। उसके बाद जीवनपर्यन्त औदारिक काययोग होता है। देव और नारकियों के उत्पत्ति के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में वैक्रियिकमिश्र काययोग होता है। उसके बाद जीवनपर्यन्त वैक्रियिक काययोग होता है। छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक शरीर का पुतला निकलने के पहले आहारकमिश्र काययोग होता है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त तक आहारक काययोग रहता है। विग्रहगति में सभी जीवों के कार्मण काययोग होता है। तेरहवें गुणस्थान में केवलिसमुद्घात के समय दंडभेद में औदारिक काययोग, कपाट में औदारिकमिश्र काययोग और प्रतर तथा लोकपूरण में कार्मण काययोग होता है। तैजस शरीर के निमित्त से आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन नहीं होता, इसलिए तैजसकाययोग नहीं माना गया है।

शरीर के पाँच प्रकार—

औदारिको वैक्रियिकः तथाहारक एव च।
तैजसः कार्मणश्चैवं सूक्ष्माः सन्ति यथोत्तरम्॥ 72॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण ये सब पाँच प्रकार के शरीर होते हैं। ये एक से दूसरे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं, परन्तु इनमें प्रदेशों की संख्या उत्तरोत्तर अधिक होती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेश वृद्धि का गुणकार—

असंख्येयगुणौ स्यातामाद्यादन्यौ प्रदेशतः।
यथोत्तरं तथानन्तगुणौ तैजसकार्मणौ॥ 73॥

अर्थ—औदारिक पहला शरीर है, इससे वैक्रियिक व आहारक ये उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे अधिक-प्रदेशयुक्त होते हैं। चौथे और पाँचवें तैजस और कार्मण के प्रदेश तीसरे आहारक शरीर से अनन्त-अनन्त गुणे उत्तरोत्तर अधिक रहते हैं। इस प्रकार असंख्यात व अनन्त गुणे उत्तरोत्तर होकर भी इन शरीरों की आकृति या रचना उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती है।

तैजस एवं कार्मण शरीर का विशेष स्वरूप—

उभौ निरुपभोगौ तौ प्रतिघातविवर्जितौ।
सर्वस्यानादिसम्बन्धौ स्यातां तैजसकार्मणौ॥ 74॥

अर्थ—अन्तिम दोनों तैजस, कार्मण शरीर किसी इन्द्रियविषय के द्वारा होनेवाले उपभोग को नहीं करा सकते हैं; क्योंकि, उक्त दोनों में ही इन्द्रिय रचना नहीं होती। इन दोनों शरीरों का किसी से भी जाते-आते आघात नहीं हो सकता और न ये किसी को रोकते हैं। संसार अवस्था में जीवमात्र में ये पाये जाते हैं तथा अनादि से इनका शाश्वतिक सम्बन्ध है। दूसरे शरीर कभी रहते हैं, कभी नहीं, परन्तु ये दोनों अवश्य रहते हैं।

युगपत् अनेक शरीरों की मर्यादा—

तौ भवेतां क्वचिच्छुद्धौ क्वचिदौदारिकाधिकौ।
क्वचिद्वैक्रियिकोपेतौ तृतीयाद्ययुतौ क्वचित्॥ 75॥

अर्थ—विग्रहगतियुक्त जीव में उक्त दो ही शरीर रहते हैं, उस समय अन्य शरीर कोई नहीं रहता। मनुष्य, तिर्यंच की पर्याय धारण करनेवाले जीव में उक्त दोनों शरीर तो रहते ही हैं, परन्तु औदारिक भी प्राप्त हो जाता है। जो देव या नारकी हो जाते हैं उनको वैक्रियिक मिलने से तीन शरीर हो जाते हैं। किसी-किसी तपस्वी को औदारिक तो रहता ही है, तीसरा शरीर आहारक भी उत्पन्न हो जाता है। उस समय तैजस, कार्मण जोड़ने से चार शरीर हो जाते हैं। चार शरीर युगपत् हों तो इसी प्रकार से होते हैं। वैक्रियिक के साथ औदारिक रहकर कभी चार शरीर नहीं होते—यह नियम है। यद्यपि आगे यह बात कहनेवाले हैं कि साधुओं को कभी-कभी वैक्रियिक शरीर तपोबल से प्राप्त हो जाता है, परन्तु वह औदारिक का ही एक प्रकार[1] है।

---

1. मणुवे ओघो थावरतिरियादावदुगएयवियलिंदी। साहरणिदराउतियं बेगुब्बियछक्क परिहीणो॥298॥ (गो. क. गा.)
इस गाथा से यह सिद्ध होता है कि वैक्रियिक शरीर-कर्म का उदय मनुष्य गति में हो सकता। वैक्रियिक कर्म जब उदय में नहीं आता तो वास्तविक वैक्रियिक मनुष्यों में कैसे हो सकता है? पृथक्-पृथक् शरीर होने के लिए पृथक्-पृथक् कर्मोदय की आवश्यकता मानी गयी है। साधु के लब्धिप्राप्त शरीर को विक्रिया का साधन होने से वैक्रियिक कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तैजस, वैक्रियिक की विशेषता—

औदारिक शरीरस्थं लब्धिप्रत्ययमिष्यते।
अन्यादृक् तैजसं साधोर्वपुर्वैक्रियिकं तथा॥ 76॥

अर्थ—तपोबल के विशेष सामर्थ्य से किसी-किसी साधु के औदारिक शरीर में स्वाभाविक तैजस व वैक्रियिक की अपेक्षा विलक्षण तैजस व वैक्रियिक शरीर भी उत्पन्न हो जाते हैं। तैजस तो पहले से ही रहता है, परन्तु वह तैजस बाहर अलग प्रकट कभी नहीं होता और तपोबल विशेष से प्राप्त होनेवाला तैजस दुर्भिक्ष मिटाने या किसी को भस्म करने के अभिप्राय से बाहर निकल आता है। औदारिक शरीर के साथ वैक्रियिक नहीं रह सकता। इसका एक यह भी हेतु है कि औदारिक के साथ आहारक रहने से तो युगपत् चार शरीर बताये गये[1] हैं, परन्तु वैक्रियिक के रहने से कहीं पर चार का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार यह भी एक नियम है कि मनुष्यों में वैक्रियिक कर्म का उदय नहीं होता। इस युक्ति से जब कि तपोबल द्वारा प्राप्त हुआ वैक्रियिक शरीर वास्तविक औदारिक ही मानना चाहिए तो तैजस भी जो तपोबल से प्राप्त हुआ हो उसे औदारिक शरीर में ही गिनना युक्त है। केवल तेजःपुंज होने से तैजस व विक्रिया करने वाला होने से वैक्रियिक नाम प्राप्त हो जाते हैं।

औदारिक, वैक्रियिक के उत्पत्तिस्थान—

औदारिकं शरीरं स्याद् गर्भसम्मूर्छनौद्भवम्।
तथा वैक्रियिकाख्यं तु जानीयादौपपादिकम्॥ 77॥

अर्थ—तैजस व कार्मण शरीर तो सभी जीवों को सदा ही बँधते रहते हैं, परन्तु औदारिक शरीर गर्भ तथा सम्मूर्छन जन्मों द्वारा उत्पन्न होता है। वैक्रियिक शरीर की उत्पत्ति उपपाद जन्म से जाननी चाहिए।

आहारक का स्वरूप—

अव्याघाती शुभः शुद्धः प्राप्तर्द्धेर्यः प्रजायते।
संयतस्य प्रमत्तस्य स स्यादाहारकः[2] स्मृतः॥ 78॥

अर्थ—आहारक शरीर उत्पन्न करनेवाली तथा इतर ऋद्धियाँ प्राप्त होने पर तपस्वी के शरीर से कभी-कभी एक शरीर उत्पन्न होता है उसे आहारक शरीर कहते हैं। वह शरीर तब उत्पन्न होता है जबकि तपस्वी को किसी सूक्ष्म तत्त्व के विषय में ऐसी शंका उत्पन्न हो गयी हो जो केवली या श्रुतकेवली के

1. 'अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकार्मणानि। अन्यस्य चत्वारि औदारिकाहारकतैजसकार्मणनि। इति विभागः क्रियते।' (सर्वा.सि., वृ. 345)। तैजस योग का कारण नहीं है परन्तु पृथक् तैजस जो साधुओं को प्राप्त होता है उसे योग का निमित्त क्यों न मानें? इस आशंका का उत्तर भी यही हो सकता है कि वह तैजस यद्यपि योगनिमित्त होगा तथापि वह वास्तविक औदारिक ही है।
2. खल्वाहरकः, पाठान्तरम्।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अतिरिक्त किसी से दूर नहीं हो सकती हो। केवली भी इतने समीप में न हों कि स्वयं जाकर वह उनसे कुछ पूछ सके। उस समय आहारक शरीर द्वारा केवली तक पहुँचकर वह तपस्वी अपनी आशंका को दूर कर लेता है और तत्काल ही वापस आकर अपने पूर्व औदारिक शरीर में प्रवेश कर जाता है। मुहूर्त के भीतर ही आहारक शरीर की उत्पत्ति और विलय हो जाते हैं। वह अधिक समय ठहर नहीं सकता। आहारक शरीर किसी वस्तु से टकरा नहीं सकता, इसलिए उसे अव्याघाती कहते हैं। यह शरीर शुभ है अर्थात् पुण्यकर्म के योग से प्राप्त होता है। प्रकट होकर शुद्ध कार्य करता है, इसलिए उसे विशुद्ध भी कहते हैं। 'प्रमत्तसंयत' यह छठे गुणस्थान का नाम है। इसी गुणस्थान में आहारक शरीर प्रकट हो सकता है, दूसरे में नहीं। आहारक द्विक का बन्ध सातवें गुणस्थान में होता है तथा उदय छठे गुणस्थान में होता है।

वेद (पाँचवीं मार्गणा)—

भाववेदस्त्रिभेदः स्यात् नोकषाय विपाकजः।
नामोदयनिमित्तस्तु द्रव्यवेदः स च त्रिधा॥ 79॥

अर्थ—आत्मा को मोहित करनेवाले मोहकर्म में 'नोकषाय' नाम की एक कषाय है। उसी नोकषाय के अन्तर्गत तीन वेदकर्म हैं। उन तीनों वेदकर्मों के उदयवश स्त्री, पुरुष व नपुंसक ये तीन जाति के परिणाम उत्पन्न होते हैं, इन्हीं को वेद कहते हैं। वेद का ही दूसरा नाम लिंग है। अंगोपांगनिर्माण नामकर्म के उदय से द्रव्यवेद प्राप्त होते हैं। ये भी तीन हैं। शरीर में जो स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकता के सूचक योनि आदि शरीरावयव होते हैं इन्हीं को द्रव्यवेद कहते हैं। भाववेद उसे कहते हैं जो कि भोगने की परस्पर आकांक्षा उत्पन्न होती है, इसलिए द्रव्यवेद और भाववेद सर्वथा समान ही रहते हैं यह नियम नहीं है एवं यह भी नहीं कह सकते हैं कि कौन-सा भाववेद किस में नियम से रहता है।

लिंगनियम—

द्रव्यान्नपुंसकानि स्युः श्वाभ्राः सम्मूर्छिनस्तथा।
पल्यायुषो न देवाश्च त्रिवेदा इतरे पुनः॥ 80॥

अर्थ—द्रव्यवेद की अपेक्षा से नारकी तथा सम्मूर्छन तिर्यंच ये सब नपुंसक ही होते हैं। पल्यप्रमाण आयुष्य के धारक भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंच तथा सभी देव—इनमें एक भी नपुंसक नहीं होता। ये सब स्त्री तथा पुरुषवेदी ही होते हैं। शेष रहे हुए कर्मभूमि के पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा यावत्कर्मभूमिगत मनुष्यों में तीनों ही वेद मिलते हैं।

भावार्थ—भाववेद और द्रव्यवेद की अपेक्षा वेद के दो भेद हैं। इनमें स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद नामक नोकषाय के उदय से रमण की इच्छा होना भाववेद है तथा अंगोपांग नामक नामकर्म के उदय से शरीर के अंगों की रचना होती है उसे द्रव्यवेद कहते हैं। इसके भी स्त्री, पुरुष और नपुंसक इस तरह तीन भेद हैं। देव, नारकी और भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंच इनके जो द्रव्यवेद होता है वही भाववेद होता है अर्थात् इनके दोनों वेदों में समानता रहती है परन्तु शेष जीवों में समानता और असमानता दोनों होती है अर्थात् द्रव्यवेद

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

और भाववेद भिन्न-भिन्न भी होते हैं। यह वेदों की विभिन्नता जीवनव्यापिनी होती है। क्रोधादि कषायों की तरह अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तित नहीं होती है। ऐसे मनुष्य भी जिनके द्रव्यवेद पुरुष और भाववेद स्त्री अथवा नपुंसक है मुनिदीक्षा धारणकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु जिनके द्रव्यदेव स्त्री अथवा नपुंसक है और भाववेद पुरुष है वे मुनिदीक्षा धारण नहीं कर सकते। ऐसे जीवों की अवस्थिति पंचम गुणस्थान तक ही होती है। भाववेद का सम्बन्ध नवम गुणस्थान के पूर्वार्ध तक ही रहता है उसके आगे अवेद अवस्था होती है।

उत्पादः खलु देवीनामैशानो यावदिष्यते।
गमनं त्वच्युतं यावत् पुंवेदा हि ततः परम्॥ 81॥

अर्थ—देवांगनाओं की यदि उत्पत्ति देखें तो सौधर्म, ईशान इन दो स्वर्गों तक होती है, परन्तु वे जाकर रहती हैं अच्युत सोलहवें स्वर्गपर्यन्त, इसलिए सोलहवें स्वर्गपर्यन्त देवगति के जीवों में दो वेद मानने चाहिए। सोलहवें से ऊपर सभी पुरुषवेदी होते हैं।

कषाय (छठी मार्गणा)—

चारित्रपरिणामानां कषायः कषणान्मतः।
क्रोधो मानस्तथा माया, लोभश्चेति चतुर्विधः॥ 82॥

अर्थ—चारित्रपरिणामों का कषण अर्थात् हिंसन कषायों से होता है, इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय के चार प्रकार हैं।

भावार्थ—संक्षेप में कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं, परन्तु विशेषता की अपेक्षा ये चारों कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार की होती हैं। जो सम्यक्त्वरूप परिणामों का घात करती है उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं। जो एकदेश चारित्र को न होने दे उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। जिसके उदय से सकलचारित्र न हो सके उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं और जो यथाख्यातचारित्र को प्रकट न होने दे उसे संज्वलन कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय दूसरे गुणस्थान तक, अप्रत्याख्यानावरण का उदय चौथे गुणस्थान तक, प्रत्याख्यानावरण का उदय पाँचवें गुणस्थान तक और संज्वलन का उदय दसवें गुणस्थान तक चलता है। उसके आगे ग्यारहवें गुणस्थान में कषायों का उपशम रहता है और बारहवें आदि गुणस्थानों में क्षय रहता है। इन सोलह कषायों के सिवाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय भी हैं। हास्य, रति आदि के भाव, क्रोधादि के समान चारित्रगुण का पूर्णघात नहीं कर पाते, इसलिए इन्हें नोकषाय—किंचित् कषाय कहते हैं। इनका उदय यथासम्भव नवम गुणस्थान तक रहता है।

ज्ञान (सातवीं मार्गणा)—

तत्त्वार्थस्यावबोधो हि ज्ञानं पञ्चविधं भवेत्।
मिथ्यात्वपाककलुषमज्ञानं त्रिविधं पुनः॥ 83॥

अर्थ—तत्त्वार्थों के वास्तविक बोध को पाँच प्रकार का ज्ञान कहते हैं। पहले तीन ज्ञान मिथ्यात्व के उदय से कलुषित हों तो उन्हें तीन अज्ञान कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संयम (आठवीं-मार्गणा)—

संयमः खलु चारित्रमोहस्योपशमादिभिः।
प्राण्यक्ष-परिहारः स्यात् पञ्चधा स च वक्ष्यते॥ 84॥

अर्थ—चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर संयम होता है। प्राणियों की हिंसा न करना तथा इन्द्रियों को विषयों में न जाने देना यह संयम का अर्थ है। इसका कुछ तो वर्णन छठे गुणस्थानादि के वर्णन करते समय किया है और पाँच भेद करके इसका और भी अधिक वर्णन अन्त में करेंगे।

विरताविरतत्वेन संयमासंयमः स्मृतः।
प्राणिघाताक्षविषयभावेन स्यादसंयमः॥ 85॥

अर्थ—अर्धविरत अवस्था को विरताविरत एवं संयमासंयम कहते हैं। ऐसी अवस्था का जीव एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का पूरा बचाव नहीं कर सकता है, केवल त्रस जीव का संकल्पपूर्वक घात करना छोड़ देता है। यह उसकी प्रारम्भिक अवस्था समझनी चाहिए। इससे आगे जैसे-जैसे वह जीवों का घात अधिक-अधिक बचाने लगता है और विषयाकांक्षा कम-कम करता जाता है वैसे-वैसे ही उत्तर अवस्था होती जाती है। ऐसी अवस्था में इस संयमासंयम की ग्यारह प्रतिमा तक कही गयी हैं।

जो प्राणिघात की व इन्द्रियविषय की कुछ भी मर्यादा नहीं कर सकता उसे असंयमी कहते हैं। संयमी जीवों के अतिरिक्त सभी जीव इस असंयम-स्वभाव के धारक कहे जाते हैं। प्रत्येक मार्गणा में संसार के जीवों की गणना हो जानी चाहिए, ऐसा मार्गणा के उपदेशक भगवान का अभिप्राय है, इसीलिए संयममार्गणा में संयमविरुद्ध असंयम-स्वभाव का भी ग्रन्थकार वर्णन करते हैं।

दर्शन (नौवीं मार्गणा) एवं उसके भेद—

दर्शनावरणस्य स्यात् क्षयोपशमसन्निधौ।
आलोचनं पदार्थानां, दर्शनं तच्चतुर्विधम्॥ 86॥

अर्थ—दर्शनावरणकर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर जो पदार्थों का सामान्य अवलोकन हो वह दर्शन है। इस दर्शन के चार भेद हैं जो कि उपयोग के प्रकरण में कहे गये हैं और अब मूल ग्रन्थकार उन्हें स्वयं कहते हैं।

चक्षुर्दर्शनमेकं स्यादचक्षुर्दर्शनं तथा।
अवधिर्दर्शनं चैव तथा केवलदर्शनम्॥ 87॥

अर्थ—पहला—चक्षु से होनेवाला चाक्षुष-दर्शन, दूसरा—शेष इन्द्रियों से होनेवाला अचाक्षुष-दर्शन, तीसरा अवधिदर्शन और चौथा केवलदर्शन ये चारों दर्शनों के नाम हैं।

लेश्या (दसवीं मार्गणा)—

योगवृत्तिर्भवेल्लेश्या, कषायोदयरंजिता।
भावतो द्रव्यतः कायनामोदयकृतांगरुक्॥ 88॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—भावरूप और द्रव्यरूप इस तरह लेश्या दो प्रकार की मानी जाती है। कषायोदयमिश्रित योगप्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं। शरीरनामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई शरीरकान्ति को द्रव्यलेश्या कहते हैं।

कृष्णा नीला च कापोता पीता पद्मा तथैव च।
शुक्ला चेति भवत्येषा द्विविधापि हि षड्विधा॥ 89॥

अर्थ—उक्त दोनों ही लेश्याओं के कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह-छह भेद होते हैं। भावलेश्या के प्रकरण में सब रंगों का यह अर्थ लेना चाहिए कि आत्मभावों की हीनाधिक मलिनता तथा निर्मलता के सूचक ये छह उदाहरण नाम हैं। द्रव्य लेश्या के विषय में ये छहों शरीरवर्णों के नाम हैं। भावलेश्या सर्वत्र छहों प्रकार की मिल सकती है, परन्तु द्रव्यलेश्या एक जीव की जन्म से मरणपर्यन्त एक नहीं रहती है। द्रव्यलेश्या अलग-अलग देश के मनुष्य तथा तिर्यंचों में छहों देखने में आ सकती हैं।

भव्यत्व (ग्यारहवीं मार्गणा)—

भव्याभव्यविभेदेन द्विविधाः सन्ति जन्तवः।
भव्याः सिद्धत्वयोग्याः स्युर्विपरीतास्तथा परे॥ 90॥

अर्थ—भव्य तथा अभव्य इस प्रकार जगत् के जीवों के दो रूप हैं। सिद्धि जिन्हें प्राप्त हो सकती है वे भव्य कहलाते हैं। जिनकी सिद्धावस्था कभी न हो सके के अभव्य कहलाते हैं। इन स्वभावों का वर्णन पारिणामिक भावों के समय किया जा चुका है।

सम्यक्त्व (बारहवीं मार्गणा)—

सम्यक्त्वं खलु तत्त्वार्थश्रद्धानं तत् त्रिधा भवेत्।
स्यात् सासादनसम्यक्त्वं, पाकेऽनन्तानुबन्धिनाम्॥ 91॥
सम्यङ्मिथ्यात्वपाकेन सम्यङ्मिथ्यात्वमिष्यते।
मिथ्यात्वमुदयेनोक्तं मिथ्यादर्शनकर्मणः॥ 92॥

अर्थ—तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके तीन मुख्य भेद हैं। पहला भेद औपशमिक है। सम्यग्दर्शन के घातक मिथ्यात्वकर्म के उदय से तथा अनन्तानुबन्धी चारों कषायों में से किसी का उदय होने से मिथ्यात्व होता है, इसलिए उपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति उक्त पाँचों कर्मों के उपशम से होती है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को एक बार सम्यग्दर्शन होते ही ऐसी एक शक्ति प्रकट होती है कि वह मिथ्यात्वकर्म के तीन टुकड़े कर डालती[1] है। पहले टुकड़े को सम्यक्त्व या सम्यक् प्रकृति कहते हैं। दूसरे, इस मिथ्यात्व के टुकड़े में सम्यग्दर्शन की घातक शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वह सम्यग्दर्शन का आधा-सा घात कर सके, इसे सम्यङ्मिथ्यात्व कहते हैं। तीसरा, कुछ अंश फिर भी ऐसा बाकी रह

1. जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभाव जंतेण। मिच्छादव्वं तु विधा असंखगुणहीणदव्वकमा॥26॥ (गो. क.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जाता है जो कि मूल मिथ्यात्व की जाति का होता है। यह कर्म भी मूल मिथ्यात्व की तरह ही सम्यक्त्व का घात करता है, परन्तु मूलशक्ति का भेद हो जाने से फिर उसमें अनन्त संसार के बढ़ाने की योग्यता नहीं रह जाती, अतएव एक बार उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व चाहे वह मुहूर्त के भीतर ही नष्ट हो जाए, परन्तु अपने स्वामी की संसार दु:ख में रहने की स्थिति को अर्धपुद्गल[1]-परिवर्तन-प्रमाण समय से अधिक नहीं रहने देता और तबसे लेकर उस जीव में फिर क्षायिकसम्यग्दर्शन हुए पर्यन्त मिथ्यात्व के तीन-तीन ही टुकड़े बने रहते हैं फिर उनका एक पिंड कभी नहीं होता, इसीलिए फिर जब कभी सम्यक्त्व उसे हो, तो सत् कर्मों की उपशमादि व्यवस्था करनी पड़ती है। औपशमिक सम्यग्दर्शन उक्त सातों के उपशम से होता है। क्षायिक सातों का पूर्ण क्षय होने पर होता है और क्षायोपशमिक हो तो सम्यक्त्व प्रकृति का उदय व बाकी छह प्रकृतियों का उपशम होने से होता है। यह सम्यग्दर्शनों की व्यवस्था हुई।

इन सम्यग्दर्शनों में से क्षायिक तो कभी छूटता ही नहीं है। शेष दो की यह अवस्था है कि छूटते समय से कुछ पहले यदि अनन्तानुबन्धी चारों कषायों में से किसी एक का उदय हो जाए और मिथ्यात्व का उदय न हो पावे तो दूसरा सासादन सम्यक्त्व गुणस्थान हो जाता है। आसादन का अर्थ विराधना है। सम्यक्त्व की विराधना इस समय हो जाती है, इसलिए इसे 'सासादन सम्यक्त्व[2]' नाम प्राप्त होता है। सम्यक्त्व तो अनन्तानुबन्धी का उदय हो जाने से नहीं माना जाता और मिथ्यात्व का उदय न होने से मिथ्यात्व नाम भी प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में इस दशा का 'सासादन सम्यक्त्व' यही नाम उचित है।

सम्यङ्मिथ्यात्व यह मिथ्यात्व का दूसरा टुकड़ा है। इसका जब उदय होता है जब सम्यङ्मिथ्यात्व[3] अवस्था होती है। इसे तीसरा गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्यात्व परिणाम होता है। यह पहले गुणस्थान में होता है। सम्यक्त्व से इसका स्वभाव सर्वथा उलटा है।

सम्यक्त्वमार्गणा में 1. सम्यक्त्व, 2. सासादनसम्यक्त्व अर्थात् सम्यङ्मिथ्यात्वरहित अवस्था 3. सम्यङ्मिथ्यात्व अर्थात् अर्धमिथ्यात्व और 4. सम्यक्त्व से उलटा मिथ्यात्व—इन चार प्रकारों का वर्णन करने से सभी संसारी जीव गर्भित हो जाते हैं।

संज्ञित्व (तेरहवीं मार्गणा)—

यो हि शिक्षा-क्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते।
अतस्तु विपरीतो यः सोऽसंज्ञी कथितो जिनैः॥ 93॥

अर्थ—जो शिक्षा स्वीकारता हो, दूसरों को कुछ करते हुए देखकर वैसे ही जो कर सकता हो, अपने नामोच्चारण को समझता हो वह जीव संज्ञी कहलाता है। मन रहने के ये सभी चिह्न हैं। ये सभी बातें जिसमें न मिलती हों, उसे जिन भगवान् ने असंज्ञी कहा है। संज्ञी व असंज्ञी—इन दो भेदों में सभी संसारी जीव गर्भित हो जाते हैं।

---

1. औदारिकादि तीन शरीर व पर्याप्तियों को उत्पन्न करने वाला पुद्गलपिंड एक किसी समय जैसा कुछ वो जो कुछ ग्रहण किया हो वही तथा वैसा ही फिर जब कभी ग्रहण करने तक जो कुछ समय बीतता है उसे 'अर्धपुद्गल परिवर्तन काल' कहते हैं।
2. सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥20॥
आदिमसम्मत्तद्धा समयोदो छावलित्ति वो सेसे। अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो॥19॥
3. सम्मामिच्छुदयेण य जंतंतरसव्वधादिकज्जेण। णय सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो॥21॥ गो. जी. गा.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आहार (चौदहवीं मार्गणा)—

गृह्णाति देह-पर्याप्ति योग्यान् यः खलु पुद्गलान्।
आहारकः स विज्ञेयः ततोऽनाहारकोऽन्यथा॥ 94॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक व आहारक शरीर तथा छह पर्याप्तियों में से यथायोग्य पर्याप्ति—इन सभी की रचना होने के लिए इस योग्य पुद्गलवर्गणाओं का ग्रहण करना—आहार कहलाता है। ऐसा आहार जो जीव जिस समय ग्रहण करता रहता है उसे उस समय आहारक जीव कहते हैं। जो जीव जिस समय ऐसा आहार ग्रहण नहीं करता उसे उस समय अनाहारक कहते हैं। कर्म का ग्रहण करना भी एक आहार है, परन्तु आहारक-अनाहारक के विचार में उसको गिना नहीं जाता। यदि कर्म ग्रहण करनेवाले को आहारक माना जाए तो संसार में अनाहारक ही नहीं हो सकेगा। जब तक संसार है तब तक कर्मबन्धन सदा ही होता है, इसलिए कदाचित् प्राप्त होनेवाले शरीर की सामग्री को ही आहार मानना ठीक है।

आहार रहित जीव—

अस्त्यनाहारकोऽयोगः समुद्घातगतः परः।
सासनो विग्रहगतौ, मिथ्यादृष्टिस्ततोऽव्रतः॥ 95॥

अर्थ—अयोगकेवली (चौदहवें—अन्तिम गुणस्थानवर्ती जीव), समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली (तेरहवें गुणस्थान के जीव), योगरहित सिद्ध परमात्मा और विग्रहगति वाले जीव सामान्यतः अनाहारक होते हैं। एक शरीर छोड़कर दूसरा नवीन शरीर धारण करने के लिए जाते हुए जीव जब तक अन्तराल में रहते हैं, तब तक की गति को विग्रहगति कहते हैं। विग्रहगति में रहनेवाले पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती, दूसरे सासादन—द्वितीय गुणस्थानवर्ती, तीसरे असंयत—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ये तीन गुणस्थानवर्ती जीव ही हो सकते हैं। किसी गुणस्थान से भी जीव मरण करता हो, परन्तु विग्रहगति में उक्त तीन गुणस्थानों से अधिक गुणस्थान नहीं रह सकते हैं।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती योगी, तेरहवें गुणस्थान का कुछ अन्तिम समय शेष रह जाने पर यदि आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय इन शेष रहे हुए अघाति चार कर्मों की स्थिति हीनाधिक हो तो उसे सम करने के लिए समुद्घात क्रिया करते हैं। इस समुद्घात क्रिया का फल यह है कि आयुकर्म के समान उक्त तीनों कर्मों की स्थिति बन जाती है, इसलिए आयु समाप्त होते ही शेष तीनों कर्म भी निर्जीर्ण हो जाते हैं। चारों घाति कर्म तो तेरहवें गुणस्थान तक ही निःशेष क्षीण हो चुकते हैं, इसलिए अन्तसमय में उन्हें सिद्ध होने से कोई भी बाधा नहीं पहुँचा सकता है।

प्रत्येक आत्मा के प्रदेश तो लोक के बराबर ही होते हैं, परन्तु संसार में शरीर की परतन्त्रता से शरीर मात्र होकर रहते हैं। जब किसी प्रकार का समुद्घात होनेवाला हो तो मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेश बाहर निकलते हैं और फिर अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही शरीर के भीतर संकुचित होकर समा जाते हैं, इसी का नाम समुद्घात है।

समुद्घात होने के प्रयोजन व निमित्त सात हैं :

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

1. वेदना तीव्र होने पर एक समुद्घात होता है, उस समय वेदनाशमक किसी वनौषधि आदि पदार्थ की जगह तक आत्मप्रदेश पसरते हैं और उस औषधि आदि का स्पर्श होते ही वेदना कम हो जाती है और आत्मप्रदेश संकुचित हो जाते हैं, इसे वेदना-समुद्घात कहते हैं।

2. कषाय-समुद्घात दूसरा है। किसी पर अति क्रोध हुआ हो, किसी के साथ अति मान हुआ हो, किसी के साथ अति मायाचार किया हो अथवा किसी पदार्थ का अति लोभ बढ़ गया हो तो आत्मप्रदेश कदाचित् उस पदार्थ तक पसरकर उसका स्पर्श करते हैं और फिर शीघ्र ही संकुचित होकर पूर्ण प्रमाण हो जाते हैं।

3. वैक्रियिक समुद्घात तीसरा है। यह कोई भी विक्रिया करते समय होता है। जो विक्रिया की जाती है उसमें आत्मप्रदेश बाहर फैल जाते हैं और विक्रिया मिटते समय संकुचित हो जाते हैं। एक बार की हुई विक्रिया मुहूर्त के भीतर ही मिट जाती है। आगे फिर भी वैसी विक्रिया यदि रखनी हो तो पहली मिटते ही दूसरी कर ली जाती है, वह भी इतनी शीघ्र हो जाती है कि देखने वाला उसका भेद समझ नहीं पाता।

4. मारणान्तिक समुद्घात चौथा है। यह मरने से कुछ समय पहले किसी-किसी को होता है। जीव के लिए उत्तरकाल में जहाँ उपजना है उस क्षेत्र का स्पर्श करके वह संकुचित हो जाता है।

5. तैजस व

6. आहारक शरीर समुद्घातरूप ही हैं।

7. केवलिसमुद्घात सातवाँ है। इसके प्रारम्भ होकर संकुचित होने में आठ समय लगते हैं। पहले समय में शरीर के आत्मप्रदेश ऊपर, नीचे की तरफ दंडरूप से वातवलय के सिवाय लोकान्त तक पसर जाते हैं। दूसरे समय में सीधे व बाँयें तरफ लोकान्त तक कपाटरूप से पसर जाते हैं। तीसरे समय में आगे-पीछे की तरफ लोकपर्यन्त प्रतररूप से पसर जाते हैं। चौथे समय में वातवलय में अभी तक जो व्यापे नहीं थे वे पूरे लोक में व्याप जाते हैं। पाँचवें समय में संकुचित होकर तीसरे समय के तुल्य, छठे समय में दूसरे समय के तुल्य, सातवें समय में प्रथम समय के तुल्य व आठवें समय में शरीर प्रमाण हो जाते हैं, यह केवलिसमुद्घात है।

केवलिसमुद्घात के दूसरे, तीसरे, छठे व सातवें इन समयों में औदारिक मिश्र योग हो जाता है और चौथे, पाँचवें इन दो समयों में कार्मणकाययोग रहता है। इसी कार्मण काययोग के दो समय में केवली जीव अनाहारक रहते हैं। समुद्घात के बाकी चार समयों में अनाहारक नहीं होते। अयोगी भगवान् चौदहवें गुणस्थान के यावत्समयों में अनाहारक ही रहते हैं। विग्रहगति के जीवों का अनाहारक स्वरूप आगे कहेंगे।

विग्रहगति शब्द का अर्थ—

विग्रहो हि शरीरं स्यात् तदर्थं या गतिर्भवेत्।
विशीर्णपूर्वदेहस्य सा विग्रहगतिः स्मृता॥ 96॥

अर्थ—विग्रह नाम शरीर का है। इस नये शरीर के लिए जो गमन है वह विग्रहगति—ऐसा अर्थ होता है। जीव जब दूसरा शरीर धारण करने के लिए निकलता है उस समय पहला शरीर छोड करके निकलता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

देहान्तर के लिए गति होने का हेतु—

जीवस्य विग्रह-गतौ, कर्मयोगं जिनेश्वराः।
प्राहुर्देहान्तरप्राप्तिः कर्मग्रहण-कारणम्॥ 97॥

अर्थ—योगों की चंचलता उत्पन्न हुए बिना शरीर सम्बन्धी कुछ भी हीनाधिकता नहीं हो पाती, इसलिए विग्रहगति में भी कोई योग होना चाहिए। विग्रहगति में कर्मबन्धन का कार्य व दूसरे शरीर की जगह तक पहुँचने का कार्य, ये दो कार्य होते हैं जो कि किसी योग की अपेक्षा रखते हैं। दूसरा, कोई योग वहाँ सम्भव नहीं होता, इसलिए उक्त दोनों कार्यों का साधन कार्मणकाय योग ही है—ऐसा जिनेश्वर भगवान् ने कहा है। आठ कर्मों के पिंड का नाम कार्मण शरीर है। इसी का अवलम्बन लेकर आत्मा वहाँ उक्त दोनों कार्य करता है।

विग्रहगति का मार्ग—

जीवानां पञ्चताकाले यो भवान्तरसंक्रमः।
मुक्तानां चोर्ध्वगमनमनुश्रेणिगतिस्तयोः॥ 98॥

अर्थ—जीवों का मरते समय जो भवान्तर की तरफ गमन होता है तथा जो मुक्त होने पर ऊर्ध्वगमन होता है, वे दोनों गमन आकाश प्रदेशों की श्रेणी के अनुकूल होते हैं। आकाश प्रदेशों की रचना दिशाओं के अनुकूल रहती है, इसलिए दिशानुकूल ही गमन होता है।

विग्रहगति के भेद—

सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिर्द्विधा।
अविग्रहैव मुक्तस्य शेषस्यानियमः पुनः॥ 99॥

अर्थ—विग्रह शब्द का जैसा शरीर अर्थ है वैसा मुड़ना तथा अग्रहण भी अर्थ होता है। विग्रहगति मुड़कर भी होती है और बिना मुड़े भी होती है। मुक्त जीवों का बिना मुड़े ही ऊर्ध्वगमन होता है। संसारी जीवों का एक नियम नहीं है। किसी की गति मुड़कर भी होती है और किसी की बिना मुड़े ही हो जाती है।

विग्रहगतियों के कालनियम तथा नाम—

अविग्रहैकसमया कथितेषुगतिर्जिनैः।
अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा॥ 100॥
द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लांगलिकां जिनाः।
गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यात् त्रिविग्रहा॥ 101॥

अर्थ—बिना मोड़े की गति दूसरे नवीन शरीर तक एक समय में ही हो जाती है। उसका नाम जिनेश्वरदेव ने इषुगति कहा है। एक मोड़ेवाली दूसरी गति में दो समय लगते हैं, इसका नाम पाणिमुक्ता है। लांगलिका तीसरी गति का नाम है। इसमें तीन समय व दो मोड़े लगते हैं। चौथी का नाम गोमूत्रिका

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है। इसमें चार समय व तीन मोड़े लगते हैं। कम से कम एक समय तो सभी गतियों में लगना ही चाहिए। एक के सिवाय जितने समय लगते हैं वे मोड़े के कारण लगते हैं। जिसमें जितने मोड़े लिये जाते हैं उतने ही उसमें अधिक समय खर्च होते हैं। गमन दिशा के अनुसार ही होता है, इसलिए जिसका उत्पत्तिस्थान दिशाओं की मर्यादा से जितनी जगह वक्र होगा उतने ही बार मोड़े लेने पड़ते हैं, परन्तु तीन वक्रता से अधिक वक्रता जहाँ हो ऐसा कोई स्थान नहीं है, इसीलिए तीन मोड़े से अधिक मोड़े लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। गमन में विलम्ब होने के कारण जो सम्भव हैं वे वहाँ पर नहीं रहते, इसलिए अधिक समय तक विग्रह-गति में रहना असम्भव है।

अनाहारक की समय मर्यादा—

समयं पाणिमुक्तायामन्यस्यां समयद्वयम्।
तथा गोमूत्रिकायां त्रीण्यनाहारक इष्यते॥ 102॥

अर्थ—जिसमें जितने मोड़े हों उसे उतने ही समय तक अनाहारक रहना पड़ता है, इसीलिए एक समयवाली गति में अनाहारक रहना नहीं पड़ता है। जिस समय विग्रहगति में रहता है उसी समय वह जाकर नवीन शरीर ग्रहण कर लेता है। एक मोड़े की गति में एक समयपर्यन्त अनाहारक, दो मोड़े की गति में दो समय तक अनाहारक, तीन मोड़ेवाली गति में तीन समय तक अनाहारक रहता है। इन तीनों गतियों में भी जो मोड़े के बाद अन्त का एक समय अधिक लगता है उसमें जीव अनाहारक नहीं रहता।

जीवों के जन्म भेद—

त्रिविधं जन्म जीवानां सर्वज्ञैः परिभाषितम्।
सम्मूर्च्छनात्तथा गर्भादुपपादात्तथैव च॥ 103॥

अर्थ—कीड़े आदि बहुत से जन्तुओं का अनियमित स्थानों में चारों ओर से परमाणु इकट्ठे करके जन्म होता है, शरीर बन जाता है उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं। कितने ही जीवों का गर्भ द्वारा जन्म होता है, उसे गर्भजन्म कहते हैं। 'उपपाद' यह जैन सिद्धान्त का रूढ़ शब्द है जिसका अर्थ है—देव व नारकों के उत्पत्ति-स्थान, इसलिए देव व नारकों का जन्म उपपाद जन्म कहना चाहिए। उसके अतिरिक्त कोई चौथा जन्म का प्रकार नहीं है—ऐसा जिन भगवान सर्वज्ञदेव ने बताया है।

गर्भ व उपपाद जन्मवाले जीव—

भवन्ति गर्भजन्मानः पोताण्डज जरायुजाः।
तथोपपाद जन्मानो नारकास्त्रिदिवौकसः॥ 104॥
स्युः सम्मूर्च्छन जन्मानः परिशिष्टास्तथापरे।

अर्थ— पोत, जरायुज, अंडज ये जीव गर्भज कहलाते हैं। जो जन्मते ही चलने फिरने लगें वे पोत हैं। उनके ऊपर जन्मते समय झिल्ली नहीं रहती, जैसे सिंह का बच्चा। झिल्ली के साथ जो जन्मते हैं वे जरायुज हैं। जो अंडे से पैदा हों वे अंडज हैं। देव, नारकी जीव उपपाद जन्मवाले माने जाते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

गर्भ व उपपाद जन्म के अतिरिक्त जिनका अनियत जन्म हो वे सभी सम्मूर्च्छन जन्मवाले कहलाते हैं।

योनि प्रकरण—

योनयो नव निर्दिष्टाः त्रिविधस्यापि जन्मनः॥ 105॥
सचित्त-शीत-विवृता अचित्ताशीत-संवृताः।
सचित्ताचित्त-शीतोष्णौ तथा विवृतसंवृतः॥ 106॥

अर्थ—तीनों प्रकार के जन्म जिनमें हों ऐसी योनियाँ बताई गयी हैं। 1. सचित, 2. शीत, 3. विवृत, 4. अचित, 5. उष्ण, 6. संवृत, 7. सचित्ताचित्त-मिश्र, 8. शीतोष्ण-मिश्र और 9. विवृत-संवृत मिश्र।

जीव-उत्पत्ति के स्थान का नाम योनि है। वह जीवयुक्त हो तो सचित्त कहना चाहिए। निर्जीव हो तो अचित्त कहना चाहिए। जिस स्थान का कुछ भाग जीव से युक्त हो और कुछ न हो उसे सचित्ताचित्त-मिश्र कहते हैं। उत्पत्ति-स्थान कुछ शीत व कुछ उष्ण होते हैं और कुछ शीतोष्ण मिश्रित भी होते हैं। ढके हुए स्थान को संवृत और खुले स्थान को विवृत कहते हैं। कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जो कुछ खुले और कुछ ढके होते हैं।

जन्मों के साथ योनियों का विभाग—

योनिर्नारकदेवानामचित्तः कथितो जिनैः।
गर्भजानां पुनर्मिश्रः शेषाणां त्रिविधो भवेत्॥ 107॥
उष्णः शीतश्च देवानां नारकाणां च कीर्तितः।
उष्णोऽग्निकायिकानां तु, शेषाणां त्रिविधो भवेत्॥ 108॥
नारकैकाक्षदेवानां योनिर्भवति संवृतः।
विवृतो विकलाक्षाणां मिश्रः स्याद् गर्भजन्मनाम्॥ 109॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने देव व नारकों की योनि अचित्त बतायी है। गर्भजों की योनि मिश्र है। शेष जीवों की योनि तीनों प्रकार की है। कुछ देव व नारकों की योनि शीत व कुछ की उष्ण होती है। अग्निकायिक जीवों की योनि उष्ण ही होती है। बाकी जीवों में किसी की उष्ण, किसी की शीत व किसी की शीतोष्णमिश्र रहती है। देव, नारक व एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत रहती है। विकलेन्द्रियों की योनि विवृत रहती है। गर्भजों की योनि संवृत-विवृत की मिश्ररूप रहती है।

योनियों के उत्तरभेद—

नित्येतरनिगोदानां भूम्यम्भो-वात-तेजसाम्।
सप्त सप्त भवन्त्येषां लक्षाणि दश शाखिनाम्॥ 110॥
षट् तथा विकलाक्षाणां मनुष्याणां चतुर्दश।
तिर्यग्-नारक-देवानामेकैकस्य चतुष्टयम्॥
एवं चतुरशीतिः स्यात् लक्षाणां जीवयोनयः॥ 111॥ (षट्पदी)

अर्थ—नित्यनिगोद, इतरनिगोद, भूमि, जल, वायु, अग्नि इनमें से प्रत्येक की सात-सात लाख योनि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। वनस्पति की दश लाख हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय में से प्रत्येक की दो-दो लाख होने से समस्त विकलेन्द्रियों की छह लाख हैं। मनुष्यों की चौदह लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यंच व नारक, देव इन में से प्रत्येक की चार-चार लाख हैं। इस प्रकार सर्व जीवों की योनि चौरासी लाख हैं।

कुलों की संख्या—

द्वाविंशतिस्तथा सप्त, त्रीणि सप्त यथाक्रमम्।
कोटी लक्षाणि भूम्यम्भः तेजोऽनिलशरीरिणाम्॥ 112॥
वनस्पतिशरीराणां तान्यष्टाविंशतिस्तथा (स्मृताः)।
स्युर्द्वित्रिचतुरक्षाणां सप्ताष्ट नव च क्रमात्॥ 113॥
तानि द्वादश सार्द्धानि भवन्ति जलचारिणाम्।
नवाऽहिपरिसर्पाणां गवादीनां तथा दश॥ 114॥
वीनां द्वादश तानि स्युश्चतुर्दश नृणामपि।
षड्विंशतिः सुराणां तु श्वाभ्राणां पञ्चविंशतिः॥ 115॥
कुलानां कोटिलक्षाणि नवतिर्नवभिस्तथा।
पञ्चायुतानि कोटीनां कोटी कोटी च मीलनात्॥ 116॥

अर्थ—जिस स्थान अथवा पर्याय में रहकर उत्पत्ति हो उस आधार को योनि कहते हैं और जो परमाणु स्वयं जीव के शरीरमय परिणमते हों उसे कुल कहते हैं। यही कुल तथा योनि में भेद है। योनियों के प्रकार ऊपर कहे जा चुके हैं। अब यहाँ कुल गिनाते हैं।

भूमि के बाईस कोटिलाख, तथा जल के सात, अग्नि के तीन, वायु के सात, वनस्पति के अट्ठाईस, द्वीन्द्रिय के सात, त्रीन्द्रिय के आठ, चतुरिन्द्रिय के नौ, पंचेन्द्रिय जलचर तिर्यंचों के साढ़े बारह, भूमि के भीतर रहनेवाले सर्पादिकों के नौ, गौ आदि पशुओं के दश, पक्षियों के बारह, मनुष्यों के चौदह और देवों के छब्बीस, नारकों के पच्चीस कोटि लाख—इस प्रकार एक-एक जाति के जीवों के कुल समझने चाहिए। सर्व जाति के कुलों के सर्व कोटिलक्ष जोड़ने से एक कोटा-कोटी, निन्यानवे कोटि लाख व पचास लाख 'कुल' होते हैं। यानि एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख कोटा-कोटी कुल होते हैं।

एकेन्द्रियों और तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु—

द्वाविंशतिर्भुवां सप्त पयसां दश शाखिनाम्।
नभस्वतां पुनस्त्रीणि वीनां द्वासप्ततिस्तथा॥ 117॥
उरगाणां द्विसंयुक्ता चत्वारिंशत् प्रकर्षतः।
आयुर्वर्षसहस्राणि सर्वेषां परिभाषितम्॥ 118॥

अर्थ—भूमि की बाईस हजार वर्ष, जल की सात हजार, वनस्पति की दश हजार, वायु की तीन हजार, पक्षियों की बहत्तर हजार, सर्पों की ब्यालीस हजार वर्ष—इस प्रकार इन सबों की उत्कृष्ट आयु समझना चाहिए।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दिनान्येकोनपञ्चाशत् त्र्यक्षाणां त्रीणि तेजसः।
षण्मासाश्चतुरक्षाणां भवत्यायुः प्रकर्षतः॥ 119॥

अर्थ—त्रीन्द्रिय जीवों की आयु का प्रमाण उनचास दिन, तेज:कायिक जीवों का तीन दिन, चतुरिन्द्रियों जीवों का छह महीना—यह उत्कृष्ट आयु-प्रमाण है।

नवायुः परिसर्पाणां पूर्वांगाणि प्रकर्षतः।
द्व्यक्षाणां द्वादशाब्दानि जीवितं स्यात्प्रकर्षतः॥ 120॥

अर्थ—परिसर्प जाति के सर्पों की उत्कृट आयु नौ पूर्वांगप्रमाण होती है। द्वीन्द्रियों का उत्कृष्ट जीवन बारह वर्ष का है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय, कर्मभूमि मनुष्य, तिर्यंचों की अत्कृष्ट आयु—

असंज्ञिनस्तथा मत्स्याः कर्मभूजाश्चतुष्पदाः।
मनुष्याश्चैव जीवन्ति पूर्वकोटि प्रकर्षतः॥ 121॥

अर्थ—कर्मभूमि के पशु, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मच्छ, कर्मभूमि के मनुष्य एक पूर्वकोटि पर्यंत उत्कृष्ट जीते हैं।

भोगभूमिज एवं कुभोगभूमिज मनुष्य, तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु—

एकं द्वे त्रीणि पल्यानि नृ-तिरश्चां यथाक्रमम्।
जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभोगभूमिषु जीवितम्॥
कुभोगभूमिजानां तु पल्यमेकं हि जीवितम्॥ 122॥ (षट्पदम्)

अर्थ—सुभोग भूमियों में से जघन्य में एक पल्य, मध्यम में दो पल्य, तथा उत्कृष्ट भोगभूमि में तीन पल्य का उत्कृष्ट जीवन रहता है। कुभोगभूमिज जीवों का एक पल्य का जीवन होता है।

नारकियों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु—

एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशेति च।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशद् घर्मादिषु यथाक्रमम्॥ 123॥
स्यात् सागरोपमाण्यायुर्नारकाणां प्रकर्षतः।
दश वर्षसहस्राणि, घर्मायां तु जघन्यतः॥ 124॥
वंशादिषु तु तान्येकं त्रीणि सप्त तथा दश।
तथा सप्तदश द्व्यग्रा विंशतिश्च यथोत्तरम्॥ 125॥

अर्थ—1. घर्मा, 2. वंशा, 3. मेघा, 4. अंजना, 5. अरिष्टा, 6. मघवी, 7. माघवी—ये सात नरकों के नाम हैं। इनमें रहनेवाले नारकों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर तथा तेतीस सागर तक होती है। जघन्य आयु घर्मा नरक में दश हजार वर्ष मात्र होती है। वंशादि दूसरे-तीसरे आदि नरकों में जघन्य का प्रमाण इस प्रकार है—दूसरे में एक सागर, तीसरे में तीन सागर, चौथे में सात सागर, पाँचवें में दश सागर, छठे में सत्रह सागर तथा सातवें नरक में बाईस सागर।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भवनवासी देवों की जघन्योत्कृष्ट आयु—

भवनानां भवत्यायुः प्रकृष्टं सागरोपमम्।
दशवर्षसहस्रं तु जघन्यं परिभाषितम्॥ 126॥

अर्थ—भवनवासियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर है और जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है।

व्यन्तर देवों की जघन्योत्कृष्ट आयु—

पल्योपमं भवत्यायुः सातिरेकं प्रकर्षतः।
दशवर्षसहस्रं तु व्यन्तराणां जघन्यतः॥ 127॥

अर्थ—व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक होती है और जघन्य आयु दश हजार वर्ष होती है।

ज्योतिष्क देवों की जघन्योत्कृष्ट आयु—

पल्योपमं भवत्यायुः सातिरेकं प्रकर्षतः।
पल्योपमाष्टभागस्तु ज्योतिष्काणां जघन्यतः॥ 128॥

अर्थ—ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य और जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

कल्पवासी देवों की उत्कृष्ट आयु—

द्वयोर्द्वयोरुभौ सप्त दश चैव चतुर्दश।
षोडशाष्टादशाप्येते सातिरेकाः पयोधयः॥ 129॥
समुद्राः विंशतिश्चैव तेषां द्वाविंशतिस्तथा।
सौधर्मादिषु देवानां भवत्यायुः प्रकर्षतः॥ 130॥

अर्थ—स्वर्गवासी देवों की उत्कृष्ट आयु इस प्रकार है—सौधर्म व ईशान इन दो स्वर्गों में कुछ अधिक दो सागर प्रमाण है, तीसरे व चौथे सनत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर प्रमाण से कुछ अधिक है, पाँचवें-छठे ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में दश सागर प्रमाण से कुछ अधिक है, सातवें-आठवें लान्तव-कापिष्ठ में कुछ अधिक चौदह सागर प्रमाण है, नौवें-दशवें शुक्र-महाशुक्र में सोलह सागर प्रमाण से कुछ अधिक है, ग्यारह-बारहवें सतार-सहस्रार में अठारह सागर प्रमाण से कुछ अधिक है, तेरहवें-चौदहवें आनत-प्राणत स्वर्ग में बीस सागर प्रमाण है, पन्द्रहवें-सोलहवें, आरण व अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर प्रमाण है।

कल्पातीत देवों की उत्कृष्ट आयु—

एकैकं बर्द्धयेदब्धिं नवग्रैवेयकेष्वतः।
नवस्वनुदिशेषु स्याद् द्वात्रिंशदविशेषतः॥ 131॥
त्रयस्त्रिंशत्समुद्राणां विजयादिषु पञ्चसु।

अर्थ—अब जो सोलह स्वर्गों से भी ऊपर देवों के स्थान हैं वहाँ पर देखिए। एक के ऊपर दूसरा ऐसे नौ ग्रैवेयक हैं। इन सभी में बाईस के ऊपर एक-एक सागर बढ़कर अन्तिम ग्रैवेयक में इकतीस

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सागर उत्कृष्ट आयु हो जाती है। इसके ऊपर एक और पटल है जिसे अनुदिश कहते हैं, इस पटल के एक बीचोंबीच व आठ दिशाओं में, ऐसे नौ विमान हैं। इनमें एक सागर और भी पहले से बढ़ जाता है जिससे कि उत्कृष्ट आयु का प्रमाण बत्तीस सागर हो जाता है। इससे ऊपर एक ही पटल में पाँच विमान और भी हैं। इनके नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि हैं। पहले चार पटल चारों दिशाओं में हैं और सर्वार्थसिद्धि मध्य में है। यहाँ एक सागर और भी बढ़ने से तेतीस सागर तक उत्कृष्ट आयु हो जाती है।

वैमानिक देवों की जघन्य आयु—

साधिकं पल्यमायुः स्यात् सौधर्मैशानयोर्द्वयोः ॥ 132 ॥
परतः परतः पूर्वं शेषेषु च जघन्यतः।
आयुः सर्वार्थसिद्धौ तु जघन्यं नैव विद्यते ॥ 133 ॥

अर्थ—सौधर्म व ईशान इन पहले दो स्वर्गों में जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है। यहाँ से ऊपर के स्थानों में अन्त तक अपने से नीचे-नीचे की उत्कृष्ट आयु, ऊपर-ऊपर की जघन्य आयु समझना चाहिए। हाँ, अन्तिम पटल के मध्यवर्ती सर्वार्थसिद्धि विमान में जघन्य आयु नहीं मिलती। वहाँ केवल तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु ही रहती है।

मनुष्य एवं तिर्यंचों की जघन्य आयु—

अन्यत्रानपमृत्युभ्यः सर्वेषामपि देहिनाम्।
अन्तर्मुहूर्तमित्येषां जघन्येनायुरिष्यते ॥ 134 ॥

अर्थ—मनुष्य व तिर्यंचों में से कुछ की आयु जिसका बीच में घात नहीं होता, उन्हें छोड़कर शेष तिर्यंच-मनुष्यों में जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र तक होती है।

किनकी आयु नहीं घटती है—

असंख्येयसमायुष्काश्चरमोत्तममूर्त्तयः।
देवाश्च नारकाश्चैषामपमृत्युर्न विद्यते ॥ 135 ॥

अर्थ—असंख्यात वर्ष की आयुवाले भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच, कर्मभूमि के उसी जन्म से मुक्त होनेवाले मनुष्य तथा देव, नारकी—इतने जीवों का, जो आयु काल नियत हुआ हो उसका शस्त्रादि निमित्तों से उपघात नहीं हो सकता है। यद्यपि अन्तःकृत केवली आदि कुछ ऐसे हुए हैं कि जिनका शरीर उपसर्गों से विदीर्ण किया गया था, परन्तु उन्हें भी हम अनपवर्त्यायु वाले ही मानते हैं। सूत्रकार ने तथा इस ग्रन्थ के कर्ता ने भी उन चरमशरीरी जीवों के आयु को अनपवर्त्य बताया है कि जो उत्तम[1] हों, परन्तु उत्तम

1. उत्तमग्रहणं चरमस्योत्कृष्टत्वख्यापनार्थं नार्थान्तरविशेषोऽस्ति। सर्वा.सि., वृ. 365 ॥ चरमग्रहणमेवेति चेन्न तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात्। (रा.वा. 2/53, वा. 9)। चरमदेहा इति वा पाठ इति सर्वा.सि., रा.वा.। 'चरमदेहा' इतना ही पाठ कोई-कोई मानते हैं ऐसा सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक इन दोनों में उल्लेख किया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का अर्थ चरमशरीर की केवल प्रशंसा है, अधिक कुछ भी नियम नहीं समझना चाहिए। जो लोग उत्तम का अर्थ मोक्षगामियों में से त्रिषष्टिशलाका वाले अथवा कामदेवादि पदवीयुक्त ऐसा करते हैं वह ठीक नहीं[1] है, अर्थात् मोक्षगामी जीव सभी अनपवर्त्य आयुवाले मानने चाहिए। शेष जीवों का घात[2] हो सकता है।

सर्वजीवों का शरीरमान—

घर्मायां सप्त चापानि, सपादं च करत्रयम्।
उत्सेधः स्यात्ततोऽन्यासु द्विगुणो द्विगुणो हि सः॥ 136॥

अर्थ—पहले नरक में रहनेवाले नारकों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष तथा सवा तीन हाथ प्रमाण होती है। नीचे सातों नरकपर्यन्त प्रत्येक नरक के नारकियों की ऊँचाई दूनी-दूनी है। दो हाथ प्रमाण को गज कहते हैं। चार हाथ या दो गज को दंड या धनुष[3] कहते हैं।

शतानि पञ्च चापानां पञ्चविंशतिरेव च।
प्रकर्षेण मनुष्याणामुत्सेधः कर्मभूमिषु॥ 137॥

अर्थ—कर्मभूमि के मनुष्यों की सबसे अधिक ऊँचाई सवा पाँच सौ धनुष हो सकती है।

एकः क्रोशो जघन्यासु द्वौ क्रोशौ मध्यमासु च।
क्रोशत्रयं प्रकृष्टासु भोगभूषु समुन्नतिः॥ 138॥

अर्थ—जघन्य भोगभूमियों के मनुष्यों की ऊँचाई एक कोस, मध्यम भोगभूमियों में दो कोस, उत्कृष्ट भोगभूमियों में तीन कोस प्रमाण रहती है।

---

1. **चरमांगधरावेतौ नानयोः काचन क्षतिः**। यह वचन श्री जिनसेनाचार्य के महापुराण पर्व 36 में लिखा है। इसका अर्थ यह है कि भरत व बाहुबली ये दोनों मोक्षगामी जीव हैं। केवल चरमशरीरी होने का कारण दिखाकर अक्षय बताने से भी यही बात सिद्ध होती है कि यावत् चरमशरीरी जीव अनपवर्त्य आयुवाले ही होने चाहिए। 1. विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, श्वासावरोध तथा आहारनिरोध ये असमय मरने के कारण हैं।
2. विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं। उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ॥ गो. क., गा. 57
3. अन्त-आदि-मध्य से रहित अविभागी अतीन्द्रिय एकेक रसगन्धवर्ण से युक्त दो स्पर्शयुक्त परमाणु होता है। अनन्तानन्तपरमाणुसंघात के परिमाण से एक उत्संज्ञासंज्ञा नाम का स्कन्ध होता है। आठ उत्संज्ञा संज्ञा की एक संज्ञासंज्ञा, आठ संज्ञासंज्ञा का एक रेणु। आठ रेणुओं का एक त्रसरेणु। आठ त्रसरेणुओं का एक रथरेणु, आठ रथरेणुओं से एक देवकुर्वादि मनुष्य की केशाग्रकोटी होती है। उन आठ की एक हरिवर्षादि मनुष्य की केशाग्रकोटी। उन आठ की एक हैमवत मनुष्य-केशाग्र कोटी। इन आठों की एक भरत मनुष्य केशाग्रकोटी। इन आठ कोटी की एक लीख। आठ लीख की एक यूका। आठ यूका का एक यवमध्य। आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल। इसी अंगुल के प्रमाण से (धनुष्यादि प्रमाण बनाकर) नारक, तिर्यंच, देव, मनुष्यों का तथा अकृत्रिम जिनालय प्रतिमा इत्यादि का शरीरोत्सेध निश्चित किया जाता है। उक्त अंगुल का छह गुणा एक पैर। बारह अंगुल प्रमाण वितस्ति (विलंयद)। दो वितस्ति का एक हाथ। दो हाथ का एक किष्कु (गज)। दो किष्कु का एक दंड या धनुष। दो हजार धनुष का एक कोस। चार कोस का एक योजन होता है। (रा.वा. 3/38, वा. 6)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तर देवों की ऊँचाई—

ज्योतिष्काणां स्मृताः सप्तासुराणां पञ्चविंशतिः।
शेषभावन-भौमानां कोदंडानि दशोन्नतिः॥ 139॥

अर्थ—ज्योतिष्क देवों की ऊँचाई सात धनुष होती है। भवनवासियों में से असुरों की ऊँचाई पच्चीस धनुष होती है। शेष सर्व भवनवासियों की तथा व्यन्तरों की ऊँचाई दश धनुष होती है।

वैमानिक देवों की ऊँचाई—

द्वयोः सप्त द्वयोः षट् च हस्ताः पञ्च चतुर्ष्वतः।
ततश्चतुर्षु चत्वारः सार्द्धाश्चातो द्वयोस्त्रयः॥ 140॥
द्वयोस्त्रयश्च कल्पेषु समुत्सेधः सुधांशिनाम्।
अधौग्रैवेयकेषु स्यात् सार्द्धं हस्तद्वयं यथा॥ 141॥
हस्तद्वितयमुत्सेधो मध्यग्रैवेयकेषु तु।
अन्त्यग्रैवेयकेषु स्यात् हस्तोऽप्यर्द्ध समुन्नतिः।
एकहस्तः समुत्सेधो विजयादिषु पञ्चसु॥ 142॥ (षट्पदी)

अर्थ—प्रथम-द्वितीय स्वर्गों में शरीर की ऊँचाई सात हाथ है। तृतीय-चतुर्थ में छह हाथ है। चौथे से ऊपर आठवें पर्यन्त पाँच हाथ है। नौवें से बारहवें पर्यन्त चार हाथ है। तेरहवें-चौदहवें में साढ़े तीन हाथ है। पन्द्रहवें-सोलहवें में तीन हाथ है। इसके ऊपर पहले तीन ग्रैवेयक विमानों में अढ़ाई हाथ है। बीच के तीन विमानों में दो हाथ है। अन्तिम तीन ग्रैवेयकों में डेढ़ हाथ है। (इसके ऊपर एक पटल में जो नौ अनुदिश विमान[1] हैं उनमें भी डेढ़ हाथ प्रमाण है)। विजयादि पाँच अनुत्तर विमानों में एक हाथ[2] प्रमाण है।

तिर्यंच गति के शरीरों का परिमाण—

योजनानां सहस्रं तु सातिरेकं प्रकर्षतः।
एकेन्द्रियस्य देहः स्याद्विज्ञेयः स च पद्मनि॥ 143॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवों में सबसे बड़ा शरीर कमल का हो सकता है। उसका प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन का होता है।

त्रिकोशः कथितः कुम्भी शङ्खो द्वादशयोजनः।
सहस्रयोजनो मत्स्यो मधुपश्चैकयोजनः॥ 144॥

अर्थ—द्वीन्द्रियों में कुम्भी का शरीर तीन कोश का होता है। त्रीद्रिन्यों में बारह योजन का शंख का शरीर होता है। पंचेन्द्रियों में हजार योजन का मच्छ का शरीर होता है। चौइन्द्रियों में भौंरा का शरीर सबसे

---

1. अनुदिशविमानेषु चाध्यर्धऽरत्निः (रा.वा. 4/21, वा. 8)
2. यहाँ पर हाथ के प्रमाण से ऊँचाई लिखी है, परन्तु राजवार्तिकादि ग्रन्थों में अरत्नि का प्रमाण है। कोहनी से मध्यम अंगुल पर्यन्त को हाथ कहते हैं और कोहनी से कनिष्ठ अंगुली पर्यन्त को अरत्नि कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बड़ा एक योजन मिलता है। पंचेन्द्रियों में शरीर की अवगाहना देवादि गतियों की जुदा-जुदा करके लिख ही चुके हैं। ये सभी बड़ी से बड़ी अवगाहनाएँ हैं।

असंख्याततमो भागो यावानस्त्यङ्गुलस्य तु।
एकाक्षादिषु सर्वेषु देहस्तावान् जघन्यतः ॥145॥

अर्थ—एकेन्द्रियादि पाँचों प्रकार के जीवों में सबसे छोटी शरीरावगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र तक होती है। यह अंगुल घनांगुल समझना चाहिए।

नरकगति में गमनागमन की योग्यता—

घर्मामसंज्ञिनो यान्ति वंशान्ताश्च सरीसृपाः।
मेघान्ताश्च विहंगाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिनः॥ 146॥
तामरिष्टां च सिंहास्तु मघव्यन्तास्तु योषितः।
नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माघवीं तांश्च पापिनः॥ 147॥

अर्थ—असंज्ञी जीव प्रथम घर्मा नरक तक जाकर उत्पन्न होते हैं। दूसरे वंशा नामक नरकपर्यन्त सरीसृप मरकर उत्पन्न होते हैं। मेघा नामक तीसरे नरकपर्यन्त पक्षी मर कर जा सकते हैं। चौथे अंजना नामक नरकपर्यन्त सर्प जाकर उत्पन्न हो सकते हैं। सिंह अरिष्टा नामक पाँचवें नरकपर्यन्त मरकर जाते हैं। स्त्री जाति के जीव मघवी नामक छठे नरकपर्यन्त मरकर उत्पन्न होते हैं। पापी पुरुष व मच्छ ये माघवी नामक सातवीं नरकभूमि-पर्यन्त मरकर उपजते हैं।

नरकगति से जीवों के आगमन की योग्यता—

न लभन्ते मनुष्यत्वं सप्तम्या निर्गताः क्षितेः।
तिर्यक्त्वे च समुत्पद्य नरकं यान्ति ते पुनः॥ 148॥
मघ्व्या मनुष्यलाभेन षष्ठ्या भूमेर्विनिर्गताः।
संयमं तु पुनः पुण्यं, नाप्नुवन्तीति निश्चयः॥ 149॥
निर्गताः खलु पञ्चम्या लभन्ते केचन व्रतम्।
प्रयान्ति न पुनर्मुक्तिं भावसंक्लेशयोगतः॥ 150॥
लभन्ते निर्वृतिं केचिच् चतुर्थ्या निर्गताः क्षितेः।
न पुनः प्राप्नुवन्त्येव पवित्रां तीर्थकर्तृताम्॥ 151॥
लभन्ते तीर्थकर्तृत्वं ततोऽन्याभ्यो विनिर्गताः।
निर्गत्य नारकान्न स्युर्बलकेशवचक्रिणः॥ 152॥

अर्थ—सातवीं नरकभूमि से मरकर जीव मनुष्य पर्याय नहीं पा सकता है। वह तिर्यंचों में ही उत्पन्न होगा और वहाँ से मरकर एक बार पुनः वह नरक में जाता है। मघवी नाम छठी नरकधरा से मरकर आया हुआ जीव मनुष्य हो सकता है, परन्तु वह पवित्र संयम की आराधना करने योग्य विशुद्ध नहीं हो पाता—यह निश्चय है। पाँचवें नरक से मरकर आये हुए जीव मनुष्य होते हैं व व्रतधारण करने योग्य विशुद्ध परिणाम भी कर सकते हैं, परन्तु इतनी विशुद्धता नहीं हो पाती कि क्षपक श्रेणी प्राप्त कर वे मुक्ति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में जा सकें। यह सब मलिन परिणामों का फल है। चौथे नरक से मरकर आने वाले कुछ जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु तीर्थंकर नहीं हो सकते। धर्म के नेता को तीर्थंकर कहते हैं, यह अतिपवित्र पदवी है। तीसरे आदि नरकों से मरकर आये हुए जीव तीर्थंकर भी बन सकते हैं, परन्तु बलभद्र, नारायण या चक्रवर्ती का पद किसी भी नरक से आये हुए जीव को प्राप्त नहीं हो सकता है।

किसका जन्म कहाँ होता है—

सर्वेऽपर्याप्तका जीवाः सूक्ष्मकायाश्च तैजसाः।
वायवोऽसंज्ञिनश्चैषां न तिर्यग्भ्यो विनिर्गमः॥ 153॥

अर्थ—सभी अपर्याप्त जीव, तैजसकायिक सूक्ष्म जीव, वायुकायिक सूक्ष्म जीव तथा असंज्ञी जीव—ये सभी मरकर तिर्यंचों में ही उत्पन्न होते हैं, इनकी तिर्यंचगति छूट नहीं पाती है।

त्रयाणां खलु कायानां विकलानामसंज्ञिनाम्।
मानवानां तिरश्चां वाऽविरुद्धः संक्रमो मिथः॥ 154॥

अर्थ—द्वीन्द्रिय, त्रीद्रिन्य व चतुरिन्द्रिय इन तीन विकलेन्द्रिय कायों का, असंज्ञी जीवों का एवं मनुष्य व संज्ञी तिर्यंचों का परस्पर में उत्पाद हो सकता है अर्थात् ये मरकर एक दूसरों में उपज सकते हैं।

नारकाणां सुराणां च विरुद्धः संक्रमो मिथः।
नारको नहि देवः स्यान् न देवो नारको भवेत्॥ 155॥

अर्थ—नारक व देवों का परस्पर संक्रम नहीं हो सकता है अर्थात् नारक मरकर देव नहीं हो सकता और देव मरकर सीधा नारक नहीं हो सकता है।

कौन से स्थावर में मनुष्यादि मरकर उत्पन्न हो सकते हैं?

भूम्यापः स्थूलपर्याप्ताः प्रत्येकांगवनस्पतिः।
तिर्यग्मानुषदेवानां जन्मैषां परिकीर्तितम्॥ 156॥

अर्थ—बादर पर्याप्तक भूमिकायिक व जलकायिक तथा प्रत्येक शरीर वाले वनस्पति, इनमें तिर्यंच, मनुष्य व देव—ये सब उत्पन्न हो सकते हैं।

मनुष्यों में कौन से स्थावर उत्पन्न नहीं होते?

सर्वेऽपि तैजसा जीवाः सर्वे चानिलकायिकाः।
मनुजेषु न जायन्ते ध्रुवं जन्मन्यनन्तरे॥ 157॥

अर्थ—सभी तैजस एवं वायुकायिक जीव मरकर सीधे मनुष्यों में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

असंज्ञी का जन्म चारों गतियों में हो सकता है—

पूर्णासंज्ञितिरश्चामविरुद्धं जन्म जातुचित्।
नारकामरतिर्यक्षु नृषु वा न तु सर्वतः॥ 158॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—असंज्ञी पर्याप्तक तिर्यंचों का जन्म नारक, देव व तिर्यंचों में से किसी में भी हो सकता है एवं कभी-कभी वे मनुष्यों में भी उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु सर्वदा ऐसा नहीं होता।

भोगभूमि में कौन उपजते हैं?—

संख्यातीतायुषां मर्त्यतिरश्चां तेभ्य एव तु।
संख्यातवर्षजीविभ्यः, संज्ञिभ्यो जन्म संस्मृतम्॥ 159॥

अर्थ—असंख्यात वर्षवाले भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंचों में जन्म उन्हीं मनुष्य-तिर्यंचों का होता है जो कि संज्ञी पर्याप्तक संख्यात वर्ष वाले कर्मभूमिज हों। पर्याप्तक या असंज्ञी तिर्यंचों का तथा सम्मूर्च्छन मनुष्यों का भोगभूमि में जन्म नहीं होता। देव, नारक भी वहाँ नहीं उत्पन्न हो सकते हैं।

भोगभूमि के जीव कहाँ उपजते हैं?

संख्यातीतायुषां नूनं देवेष्वेवास्ति संक्रमः।
निसर्गेण भवेत्तेषां यतो मन्दकषायता॥ 160॥

अर्थ—असंख्यात वर्षवाले भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों का जन्म देवों में ही होता है, क्योंकि वहाँ स्वाभाविक मन्दकषाय रहती है, जिससे देवायु का ही बन्ध होता है।

शलाकापुरुषों का जन्मनिश्चय—

शलाकापुरुषा नैव, सन्त्यनन्तरजन्मनि।
तिर्यंचो मानुषाश्चैव भाज्याः सिद्धगतौ तु ते॥ 161॥

अर्थ—शलाकापुरुष उन्हें कहते हैं जो कि चक्रवर्त्यादि पदों के धारक हों। ऐसे पुरुष मरकर सीधे तिर्यंच भी नहीं होते और मनुष्य भी नहीं होते हैं, वे प्राय तो सिद्ध होते हैं, परन्तु यह भी नियम नहीं है। जो तद्भव सिद्ध नहीं होते वे स्वर्ग या नरक में जाते हैं। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलभद्र, नौ प्रतिनारायण—ये त्रेसठ 'शलाकापुरुष' कहलाते हैं।

कर्मभूमि के मिथ्यादृष्टि जीवों की उत्पत्ति—

ये मिथ्यादृष्टयो जीवाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनोऽथवा।
व्यन्तरास्ते प्रजायन्ते तथा भवनवासिनः॥ 162॥

अर्थ—जो संज्ञी तथा असंज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव मरते हैं वे व्यन्तर देवों में तथा भवनवासी देवों में उपजते हैं।

भोगभूमि के मिथ्यादृष्टियों की और तापसों की उत्पत्ति—

संख्यातीतायुषो मर्त्याः तिर्यंचाप्यसद्दृशः।
उत्कृष्टाः तापसाश्चैव यान्ति ज्योतिष्कदेवताम्॥ 163॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—भोगभूमिज मिथ्यादृष्टि मनुष्य, तिर्यंच तथा उत्कृष्ट तापसी ये सभी मरकर ज्योतिष्क देव होते हैं।

इतर तपस्वियों का जन्म—

ब्रह्मलोके प्रजायन्ते परिव्राजः प्रकर्षतः।
आजीवास्तु सहस्त्रारं प्रकर्षेण प्रयान्ति हि॥ 164॥

अर्थ—संन्यासी लोग अधिक से अधिक ब्रह्मलोक नामक पाँचवें स्वर्गपर्यन्त मरकर उत्पन्न होते हैं। आजीवक नाम के साधु बारहवें सहस्त्रार स्वर्गपर्यन्त मरकर जन्म लेते हैं, यहाँ से ऊपर वे नहीं जाते।

सम्यक्त्वी मनुष्य और देशव्रती तिर्यंच का जन्म—

उत्पद्यन्ते सहस्त्रारे तिर्यंचो व्रतसंयुताः।
अत्रैव हि प्रजायन्ते सम्यक्त्वाराधका नराः॥ 165॥

अर्थ—व्रतयुक्त पंचमगुणस्थानवर्ती तिर्यंच मरकर बारहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। सम्यक्त्व के धारी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती मनुष्य भी मरकर बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

अन्यलिंगियों के जन्म की मर्यादा—

न विद्यते परं ह्यस्मादुपपादोऽन्यलिंगिनाम्।
निर्ग्रन्थश्रावका ये ते जायन्ते यावदच्युतम्॥ 166॥

अर्थ—निर्ग्रन्थ दिगम्बर वेष के अतिरिक्त वेषधारी कोई भी साधु मरकर बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जन्म ले सकते हैं—यह नियम है। आर्यिका तथा निष्परिग्रह श्रावक मरकर अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग तक उपजते हैं।

कल्पातीत देवों में कौन उपजते हैं?

धृत्वा निर्ग्रन्थलिंगं ये, प्रकृष्टं कुर्वते तपः।
अन्त्यग्रैवेयकं यावदभव्याः खलु यान्ति ते॥ 167॥
यावत्सर्वार्थसिद्धिं तु, निर्ग्रन्था हि ततः परम्।
उत्पद्यन्ते तपोयुक्ता रत्नत्रयपवित्रताः॥ 168॥

अर्थ—जो अभव्य जीव निर्ग्रन्थ वेष धारण कर अतिशय तप करते हैं वे मरकर अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं। किन्तु ग्रैवेयक के भी ऊपर सर्वार्थसिद्धि अन्तिम विमान पर्यन्त वे ही जीव उपजते हैं जो भव्य हैं और रत्नत्रय धारण कर उत्कृष्ट तप करते हैं।

कल्पवासी देव मरकर कहाँ उपजते हैं?—

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः।
तिर्यक्त्व-मानुषत्वाभ्यामासहस्त्रारतः पुनः॥ 169॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ततः परं तु ये देवाः ते सर्वेऽनन्तरे भवे।
उत्पद्यन्ते मनुष्येषु न हि तिर्यक्षु जातुचित्॥ 170॥

अर्थ—ईशान स्वर्ग तक के देव मरकर एकेन्द्रिय तक होते हैं और बारहवें सहस्रार स्वर्ग तक के देव मरकर तिर्यंच भी हो सकते हैं तथा मनुष्य भी हो सकते हैं। यहाँ से ऊपर के जितने देव हैं वे मरकर मनुष्य ही होते हैं, तिर्यंच कभी नहीं होते।

शलाकापुरुषा न स्युर्भौम-ज्योतिष्क-भावनाः।
अनन्तरभवे तेषां भाज्या भवति निर्वृतिः॥ 171॥

अर्थ—व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा भवनवासी देवों में से मरकर आनेवाले जीव शलाकापुरुष नहीं हो सकते हैं, परन्तु तद्भव मुक्त हो सकते हैं।

कल्पातीत देव कहाँ उपज सकते हैं?—

ततः परं विकल्प्यन्ते यावद् ग्रैवेयकं सुराः।
शलाकापुरुषत्वेन निर्वाणगमनेन च॥ 172॥

अर्थ—इसके ऊपर जितने ग्रैवेयकपर्यन्त के देव हैं वे शलाकापुरुष भी हो सकते हैं तथा निर्वाण भी प्राप्त कर सकते हैं।

अनुदिशादि देव मरकर कहाँ उपज सकते हैं?

तीर्थेशरामचक्रित्वे निर्वाणगमनेन च।
च्युताः सन्तो विकल्प्यन्तेऽनुदिशानुत्तरामराः॥ 173॥

अर्थ—ग्रैवेयक के ऊपर अनुदिश एवं अनुत्तर विमानवासी जो देव हैं वे जब मरकर मनुष्य हो जाते हैं तब उसी भव से निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं और तीर्थंकर, राम (बलभद्र) तथा चक्रवर्ती तक भी हो सकते हैं।

कौन से कल्पातीत देव चरमशरीरी हैं?—

भाज्याः तीर्थेश-चक्रित्वे च्युताः सर्वार्थसिद्धितः।
विकल्प्या रामभावेऽपि सिद्ध्यन्ति नियमात्पुनः॥ 174॥

अर्थ—सर्वार्थसिद्धि से आये हुए देव तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती हो सकते हैं, बलराम भी हो सकते हैं, परन्तु उसी मनुष्य भव से वे मोक्ष को अवश्य पाते हैं।

कल्पवासी पर्यन्त चरमशरीरी कौन से देव हैं?

दक्षिणेन्द्रास्तथा लोकपाला लौकान्तिकाः शची।
शक्रश्च नियमाच्च्युत्वा सर्वे ते यान्ति निर्वृतिम्॥ 175॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—दक्षिण दिशा के स्वर्गनिवासी इन्द्र, लोकपाल, सर्व लौकान्तिक देव, शची इन्द्राणी तथा सौधर्म इन्द्र—ये सभी मरकर मनुष्य-भव धारण कर मुक्त ही होते हैं। उस मनुष्यभव से आगे उन्हें फिर भव धारण नहीं करना पड़ता है।

लोक का स्वरूप—

धर्माधर्मास्तिकायाभ्यां व्याप्तः कालाणुभिस्तथा।
व्योम्नि पुद्गलसंछन्नो लोकः स्यात्क्षेत्रमात्मनाम्॥ 176॥
अधो वेत्रासनाकारो मध्येऽसौ झल्लरीसमः।
ऊर्ध्वं मृदंग-संस्थानो लोकः सर्वज्ञवर्णितः॥ 177॥

अर्थ—आकाश के बीचोंबीच धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा काल परमाणुओं से सर्वत्र व्याप्त एवं पुद्गलद्रव्य से भरा हुआ लोक जीवों के रहने का क्षेत्र है।

लोक का आकार स्थूल रूप से देखें तो वह अधोभाग में वेंत के आसन (मूँढा) समान है, मध्य में झल्लर के समान सपाट है, और ऊपर की तरफ मृदंग के समान है; ऐसा सर्व चराचर के ज्ञाता भगवान ने कहा है।

तिर्यंचों का क्षेत्र विभाग—

सर्वः सामान्यतो लोकः तिरश्चां क्षेत्रमिष्यते।
श्वाभ्र-मानुष-देवानामथातस्तद्विभज्यते॥ 178॥

अर्थ—तिर्यंच त्रस, पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्यन्त जीव यद्यपि मध्यलोक में ही रहते हैं, तो भी एकेन्द्रिय तिर्यंच सर्वलोक भर में रहनेवाले हैं, इसलिए तिर्यंचों का क्षेत्रविभाग कुछ भी विशेष न दिखलाकर केवल देव, मनुष्य तथा नारकों का क्षेत्र विभाग कहते हैं।

नारकों का क्षेत्र-विभाग—

अधो भागे हि लोकस्य सन्ति रत्नप्रभादयः।
घनाम्बुपवनाकाशे प्रतिष्ठाः सप्त भूमयः॥ 179॥
रत्नप्रभादिमा भूमिः ततोऽधः शर्कराप्रभा।
स्याद् वालुकाप्रभातोऽधस्ततः पंकप्रभा मताः॥ 180॥
ततो धूमप्रभाधस्तात् ततोऽधस्तात्तमःप्रभा।
तमस्तमःप्रभातोऽधो भुवामित्थं व्यवस्थितिः॥ 181॥

अर्थ—इस लोक के अधोभाग में रत्नप्रभादि सात नरकभूमि हैं। प्रत्येक भूमि के नीचे आश्रय देनेवाले तीन प्रकार के पवन हैं। प्रथम घनपवन है, दूसरा अम्बुपवन है, तीसरा सूक्ष्मपवन है। ऐसे तीन-तीन पवन सर्वत्र हैं। प्रत्येक बीस-बीस हजार योजन फैले हुए हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नीचे की तरफ सबसे प्रथम रत्नप्रभा भूमि है, फिर दूसरी भूमि शर्कराप्रभा है। इसके नीचे बालुकाप्रभा है। इसके भी नीचे चौथी भूमि पंकप्रभा है। इसके बाद पाँचवीं धूमप्रभा है। फिर नीचे छठी भूमि तम:प्रभा है। इसके भी नीचे सातवीं भूमि तमस्तम:प्रभा अथवा महातम:प्रभा है। इस प्रकार सात भूमियों के स्वरूप नीचे-नीचे समझने चाहिए। ये नाम रंग-स्वरूप की अपेक्षा से कहे गये हैं। वास्तविक घर्मा वंशादि नाम हैं जो कि पहले कहे जा चुके हैं।

नरकों में उत्पत्तिस्थानों की बिल संख्या—

त्रिंशन्नरकलक्षाणि भवन्त्युपरिमक्षितौ।
अध: पञ्चकृतिस्तस्यास्ततोऽधो दश पञ्च च॥ 182॥
ततोऽधो दशलक्षाणि, त्रीणि लक्षाण्यधस्तत:।
पञ्चोनं लक्ष्मेकं तु ततोऽध: पञ्च तान्यत:॥ 183॥

अर्थ—प्रथम नरक में नारक जीव उत्पन्न होने के स्थान तीस लाख हैं। दूसरे में पच्चीस लाख हैं। तीसरे में पन्द्रह लाख हैं। चौथे में दश लाख हैं। पाँचवें में तीन लाख हैं। छठे में पाँच कम एक लाख हैं। सातवें में पाँच हैं। सबका जोड़ चौरासी लाख होता है।

नरकों में कर्मकृत दु:ख—

परिणाम-वपुर्लेश्या-वेदना-विक्रियादिभि:।
अत्यन्तमशुभैर्जीवा भवन्त्येतेषु नारका:॥ 184॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए बिलों में नारक जीव उत्पन्न होते हैं। इनके शरीर के स्पर्शादिक पर्याय अत्यन्त असह्य होते हैं। शरीर अति असुहावना होता है। शरीर की लेश्या का वर्ण अति अशुभ रहता है। वेदना इन्हें अत्यन्त रहती है। शरीर को नानारूप करने की शक्ति होती है, परन्तु वह भी अति दु:ख के कामों में लगाई जाती है।

नरकों में स्व-परकृत दु:ख—

अन्योऽन्योऽदीरितासह्यदु:खभाजो भवन्ति ते।
संक्लिष्टासुरनिर्वृत्तदु:खाश्चोर्ध्वक्षितित्रये॥ 185॥
पाकान्नरकगत्यास्ते तथा च नरकायुष:।
भुञ्जते दुष्कृतं घोरं चिरं सप्तक्षितिस्थिता:॥ 186॥

अर्थ—ऊपर की तीन नरकभूमियों में नारकों को कुछ दुष्ट अम्बरीश जाति के असुर परस्पर में भिड़ाया करते हैं, जिससे वे असह्य दु:ख भोगते हैं। स्वयं भी नारकी जीव परस्पर में लड़ते भिड़ते रहते ही है, उससे भी अति दु:ख भोगना पड़ता है। परस्पर लड़-भिड़कर एक-दूसरे को दु:ख देने की चाल सातों ही नरकों में एक समान है। सातों भूमियों के जीव अशुभ नरकगति तथा नरकायु कर्म के उदयवश

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने पूर्वकृत दुष्कर्मों का फल इसी प्रकार अपनी पूरी आयुपर्यन्त भोगते हैं। उनका आयु कर्म भी अति विशाल रहता है। इनके जघन्य व उत्कृष्ट आयु का प्रमाण पहले ही कह चुके हैं।

मध्यलोक का स्वरूप—

मध्यभागे तु लोकस्य, तिर्यक्प्रचयवर्द्धिनः।
असंख्याः शुभनामानो भवन्ति द्वीपसागराः॥ 187॥
जम्बूद्वीपोऽस्ति तन्मध्ये, लक्षयोजनविस्तरः।
आदित्यमण्डलाकारो बहुमध्यस्थ मन्दरः॥ 188॥

अर्थ—लोक के ऊपर, नीचे के भाग छोड़कर जो मध्य का भाग है उसमें तिरछे चारों तरफ पसरे हुए असंख्यातों द्वीप व समुद्र हैं। नाम सभी के ऐसे हैं जो सुनने में मधुर लगते हैं। सबके बीच में पहला जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप का व्यास अर्थात् एक किनारे से दूसरे सामने के किनारे तक का विस्तार एक लाख योजन का होता है। सूर्यमंडल के समान वह गोल है। उसके ठीक बीच में सुमेरु नाम का पर्वत है।

द्वीप-समुद्रों की रचना—

द्विगुणद्विगुणेनातो विष्कम्भेणार्णवादयः।
पूर्वं पूर्वं परिक्षिप्य वलयाकृतयः स्थिताः॥ 189॥

अर्थ—इस जम्बूद्वीप के बाद क्रम से समुद्र व द्वीप, एक-दूसरे को घेर कर पड़े हुए हैं। इस द्वीप से आगे के सभी द्वीप व समुद्रों का विस्तार पूर्वपूर्व के द्वीप तथा समुद्रों से दूना-दूना है। द्वीप के बाद एक महासमुद्र रहता है और समुद्र के बाद एक महाद्वीप रहता है। इस प्रकार जब कि एक दूसरे को घेरकर समुद्र व द्वीपों की रचना है तो जम्बूद्वीप के सिवाय सभी की आकृति कंकण (चूड़ी) के तुल्य हुई।

कुछ क्रमवर्ती द्वीपसमुद्रों के नाम—

जम्बूद्वीपं परिक्षिप्य, लवणोदः स्थितोऽर्णवः।
द्वीपस्तु धातकीखण्डः तं परिक्षिप्य संस्थितः॥ 190॥
आवेष्ट्य धातकीखण्डं स्थितः कालोदसागरः।
आवेष्ट्य पुष्करद्वीपः स्थितः कालोदसागरम्॥ 191॥
परिपाट्यानया ज्ञेयाः स्वम्भूरमणोदधिः।
यावज्जिनाज्ञया भव्यैरसंख्या द्वीपसागराः॥ 192॥

अर्थ—जम्बूद्वीप को बेढ़कर रहनेवाले प्रथम समुद्र का नाम लवणोद है। इस लवणोद को बेढ़कर रहनेवाला धातकीखंड द्वीप है। धातकीखंड का घेरा देकर कालोद समुद्र पड़ा हुआ है। कालोद सागर का घेरा देकर रहनेवाला पुष्करद्वीप है। इसी प्रकार स्वयंभूरमण नाम अन्तिम समुद्र पर्यन्त असंख्यातों द्वीप

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व समुद्र हैं। यद्यपि उनका प्रत्यक्ष होना कठिन है, परन्तु जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से भव्य जीवों को वे मानने चाहिए।

जम्बूद्वीप के सात क्षेत्र—

सप्त क्षेत्राणि भरतः तथा हैमवतो हरिः।
विदेहो रम्यकश्चैव हैरण्यवत एव च॥
ऐरावतश्च तिष्ठन्ति जम्बूद्वीपे यथाक्रमम्॥ 193॥ (षट्पदी)

अर्थ—जम्बूद्वीप सबके मध्य का द्वीप है, इसलिए जम्बूद्वीप का वर्णन करने से बाकी द्वीपों का वर्णन सुगमता से होगा। जम्बूद्वीप की दक्षिण से उत्तर बाजू तक सात क्षेत्र हैं। 1. भरत, 2. हैमवत, 3. हरि, 4. विदेह, 5. रम्यक, 6. हैरण्यवत, और 7. ऐरावत—ये उन क्षेत्रों के नाम हैं।

जम्बूद्वीप के कुलाचल—

पार्श्वेषु मणिभिश्चित्रा ऊर्ध्वाधः तुल्यविस्तराः।
तद्विभागकराः षट् स्युः शैलाः पूर्वापरायताः॥ 194॥
हिमवान् महाहिमवान् निषधो नीलरुक्मिणौ।
शिखरी चेति सञ्चिन्त्या एते वर्षधराद्रयः॥ 195॥
कनकार्जुनकल्याणवैडूर्यार्जुनकाञ्चनैः।
यथाक्रमेण निर्वृताः[1] चान्त्यास्ते षण्महीधराः॥ 196॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए सातों क्षेत्रों का विभाग छह पर्वतों द्वारा होता है। 1. हिमवान्, 2. महाहिमवान्, 3. निषध, 4. नील, 5. रुक्मी, और 6. शिखरी—ये उन पर्वतों के नाम हैं। वर्ष या क्षेत्र का एक ही अर्थ है। सीमाओं के विभाग करनेवाले ये छहों पर्वत हैं, इसलिए इन्हें वर्षधर कहते हैं। नीचे ऊपर तथा मध्य में इनकी चौड़ाई एक सी है। पार्श्वभागों में प्रत्येक पर्वत की दोनों बाजू नाना प्रकार के रत्न-मणियों से घिरी हुई है। प्रत्येक पर्वत पूर्व दिशा में पश्चिम की तरफ लम्बे पड़े हुए हैं। इतने लम्बे हैं कि पूर्व-पश्चिम के समुद्रों तक पहुँचे हुए हैं। प्रथम पर्वत स्वर्ण का है। दूसरा चाँदी का है। तीसरा ताँबे के समान रंगवाले स्वर्ण का है। चौथा वैडूर्य का नीलमणिमय है। पाँचवाँ चाँदी का है। छठा स्वर्ण का है।

कुलाचलों के सरोवरों का कथन—

पद्मस्तथा महापद्मस्तिगिञ्छः केशरी तथा।
पुण्डरीको महान् क्षुद्रो ह्रदा वर्षधराद्रिषु॥ 197॥

---

1. कुछ लोगों की यह समझ है कि हिमवान् आदि पर्वत सोने-चाँदी आदि के बने हुए नहीं हैं। सादृश्य अर्थ में भी मयट् प्रत्यय होता है। "विकारागमसादृश्यानि मयडर्थाः" ऐसा कहा भी है, परन्तु ऊपर के श्लोक में बने हुए, कहने से सोने आदि के बने हुए ही मानना चाहिए।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—एक-एक पर्वत पर एक-एक तालाब है। पहले पर पद्म, दूसरे पर महापद्म, तीसरे पर तिगिंछ, चौथे पर केशरी, पाँचवें पर महापुंडरीक तथा छठे पर पुंडरीक—ये उनके नाम हैं।

ह्रद व पुष्करों का परिमाण—

सहस्रयोजनायाम आद्यस्तस्यार्द्ध-विस्तरः।
द्वितीयो द्विगुणस्तस्मात् तृतीयो द्विगुणस्ततः॥ 198॥
उत्तरा दक्षिणौस्तुल्या निम्नास्ते दशयोजनीम्।
प्रथमे परिमाणेन योजनं पुष्करं ह्रदे॥ 199॥
द्वि-चतुर्योजनं ज्ञेयं तद् द्वितीय-तृतीययोः।
अपाच्यवदुदीच्यानां पुष्कराणां प्रमाश्रिता॥ 200॥

अर्थ—सभी ह्रद (या तालाब) पर्वतों के समान पूर्व पश्चिम दिशाओं की तरफ लम्बे हैं। पहले की लम्बाई एक हजार योजन है। उत्तर-दक्षिण की तरफ विस्तार, लम्बाई से आधा है इसलिए, पाँच सौ योजन है। दूसरे पर्वत पर का ह्रद पहले से दूना है। दूसरे से तीसरा दूना है। आगे के चौथे, पाँचवें, छठे ह्रद तीसरे, दूसरे व पहले के समान विस्तीर्ण तथा चौड़े हैं। इनकी दश योजन की गहराई रहती है। प्रथम ह्रद के बीच एक योजन का एक कमल है। बीच की कर्णिका दो कोश तथा आजू-बाजू के दो पत्र एक-एक कोश के हैं, इसलिए उस पुष्प का एक योजन व्यास हो जाता है। दूसरे ह्रद में का कमल दो योजन का व्यास वाला है। तीसरे में चार योजन का व्यास है। ह्रदों के समान कमल भी जो आगे के तीन हैं वे व्यास, विस्तार तथा गहराई में तीसरे, दूसरे, पहले के समान दूने-दूने हैं।

कमलों पर निवासिनी देवियाँ—

श्रीश्च ह्रीश्च धृतिः कीर्तिर्बुद्धि र्लक्ष्मीश्च देवताः।
पल्योपमायुषस्तेषु पर्षत्सामानिकान्विताः॥ 201॥

अर्थ—छहों ह्रदों के छहों मुख्य कमलों पर महल बने हुए हैं। उनमें क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियाँ रहती हैं। इनकी एक पल्य के प्रमाण आयु होती है। ये अपने स्थानों की स्वामिनी हैं। इनके पास सभासद तथा सामानिक ये दो प्रकार के आश्रित देव होते हैं। वे आसपास के शेष कमलों पर रहते हैं। ये वास्तव में कमल नहीं हैं, किन्तु कमलाकार हैं।

महानदियों के नाम—

गंगासिन्धू उभे रोहित्रोहितास्ये तथैव च।
ततो हरिद्धरिकान्ते शीता-शीतोदके तथा॥ 202॥
स्तो नारी-नरकान्ते च सुवर्णार्जुनकूलिके।
रक्तारक्तोदके च स्तो द्वे द्वे क्षेत्रे च निम्नगे॥ 203॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—1. गंगा-सिन्धु, 2. रोहित्-रोहितास्या, 3. हरित्-हरिकान्ता, 4. शीता-शीतोदा, 5. नारी-नरकान्ता, 6. सुवर्णकूला-रूप्यकूला, 7. रक्ता-रक्तोदा—ये चौदह नदियों के सात जोड़े हैं। क्रम से ये सातों जोड़े सात क्षेत्रों में बहते हैं।

नदियों का प्रवाह किस दिशा में है?

पूर्वसागरगामिन्यः पूर्वा नद्यो द्वयो-र्द्वयोः।
पश्चिमार्णवगामिन्यः पश्चिमास्तु तयोर्मताः॥ 204॥
गंगासिन्धू परीवारः सहस्राणि चतुर्दश।
नदीनां द्विगुणास्तिस्त्रस्तिसृतोऽर्द्धार्द्धहापनम्॥ 205॥

अर्थ—प्रत्येक क्षेत्र की पूर्व पश्चिम दिशाओं में समुद्र हैं। ये नदियाँ जो प्रत्येक क्षेत्र में बहनेवाली दो-दो कही गयी हैं उनमें से पहली-पहली पूर्व समुद्र में जाकर मिलती हैं और दूसरी-दूसरी बहते हुए पश्चिम समुद्र की तरफ जाती हैं। गंगा सिन्धु इनमें से प्रत्येक नदी में दूसरी छोटी-छोटी चौदह-चौदह हजार नदियाँ आकर मिलती हैं। आगे के तीन जोड़ों में इनसे दूनी-दूनी नदियाँ मिलती हैं। उससे भी आगे के तीन जोड़ों में फिर आधी-आधी संख्या कम होती गयी है।

भरतआदि क्षेत्रों का विस्तार—

दशोनद्विशतीभक्तो, जम्बूद्वीपस्य विस्तरः।
विस्तारो भरतस्यासौ, दक्षिणोत्तरतः स्मृतः॥ 206॥
द्विगुण द्विगुणा वर्षधरवर्षास्ततो मताः।
आविदेहात्ततस्तु स्युरुत्तरा दक्षिणैः समाः॥ 207॥

अर्थ—एक सौ नब्बे की संख्या से लाख योजन जम्बूद्वीप का विभक्त करने पर जो एक भाग का परिमाण हो उतना दक्षिण, उत्तर दिशा में भरतक्षेत्र का विस्तार है। विदेहपर्यन्त आगे के पर्वत एवं क्षेत्र सब दूने-दूने विस्तारयुक्त हैं। विदेह से आगे के आधे-आधे कम होकर आधे-आधे विस्तारयुक्त हैं।

एक लाख योजन के एक सौ नब्बे भाग करने पर पाँच सौ छब्बीस पूर्ण योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग (अपूर्णांश) आते हैं। यही भरतक्षेत्र का दक्षिणोत्तर विस्तार है। विदेह पर्यन्त सभी पर्वत तथा क्षेत्रों का विस्तार भरतक्षेत्र के हिसाब से दूना-दूना रख लें तथा विदेह से आगे का आधा-आधा कर दें तो सातों क्षेत्र तथा छहों पर्वतों का सब विस्तार एक लाख योजन हो जाता है और भाग सब एक सौ नब्बे हो जाते हैं। योजनों का व भागों का जोड़ लगाकर देखिए—

भाग—1+2+4+8+16+32+64+32+16+8+4+2+1=(मिलकर) 190 हुए। योजन—526 $^{6}/_{19}$ + 1052 $^{12}/_{19}$ + 2105 $^{5}/_{19}$ + 4210 $^{10}/_{19}$ + 8421 $^{1}/_{19}$ + 16842 $^{2}/_{19}$ + 33684 $^{4}/_{19}$ + 16842 $^{2}/_{19}$ + 8421 $^{1}/_{19}$ + 4210 $^{10}/_{19}$ + 2105 $^{5}/_{19}$ + 1052 $^{12}/_{19}$ + 526 $^{6}/_{19}$ =(मिलकर एक लाख) 100000 होते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नदी,पर्वतों का विशेष स्वरूप :

भरत क्षेत्र में एक पर्वत पूर्व-पश्चिम की तरफ समुद्रपर्यन्त और भी है, उसे विजयार्ध कहते हैं। भरत के छह खंडों में से तीन खंड विजयार्ध के उत्तर की तरफ हैं। चक्रवर्ती सम्राट् कोई तभी बन पाता है जब इन छहों खंडों पर विजय प्राप्त कर ले। उत्तर के उन तीन खंडों पर जब तक विजय न हो तब तक चक्रवर्ती अर्धविजयी ही कहलाएगा। उस अर्ध विजय का विभाग दिखाने वाला है, वह पर्वत इसीलिए उसे विजयार्ध कहते हैं। विजयाद्रि तथा रजताद्रि भी इसके नाम हैं। इसमें उत्तर-दक्षिण की तरफ मुख युक्त दो गुफाएँ हैं। उनमें से निकलकर क्षेत्र में बहती हुई गंगा-सिन्धु नदी पूर्व-पश्चिम की तरफ समुद्र में मिल जाती हैं। विजयार्ध के उत्तर भाग में इन दो नदियों के प्रवाह से तीन हिस्से हो जाते हैं और दक्षिण भाग में भी तीन हिस्से हो जाते हैं। इन्हीं छह हिस्सों को भरत के छह खंड कहते हैं। विजयार्ध के उत्तर के तीन खंड तथा दक्षिण में आजूबाजू के दो खंड—ये पाँच खंड म्लेच्छखंड कहलाते हैं। बीच का एक आर्य खंड है। भरत के पश्चिम, दक्षिण, पूर्व दिशाओं में सर्वत्र समुद्र है और उत्तर में कुलपर्वत है। जम्बूद्वीप के सातवें क्षेत्र में भी ऐसी ही खंडों की रचना है।

पहले व सातवें क्षेत्र में अतिरिक्त बीच के पाँचों ही क्षेत्रों में एक-एक गोल पर्वत है। दूसरे हेमवत क्षेत्र में जो गोल पर्वत है उसका नाम शब्दवद्वृत्तवेदाढ्य है। हिमवान् पर्वत के पद्मह्रद में से दो नदियाँ तो निकलकर भरतक्षेत्र में आयी हैं और एक चौथी रोहितास्या नदी निकलकर इस दूसरे क्षेत्र में बहती है। वह नदी वृत्तवेदाढ्य पर्वत की आधी-सी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिम समुद्र को चली जाती है। इस क्षेत्र की उत्तर सीमा पर जो महाहिमवान् है उस पर के ह्रद में से तीसरी नदी निकलकर वृत्तवेदाढ्य की आधी-सी प्रदक्षिणा देकर पूर्व समुद्र में चली जाती है। तीसरे क्षेत्र की भी यही स्थिति है। दोनों सीमाओं के दूसरे-तीसरे पर्वतवर्ती ह्रदों में से छठी, पाँचवीं नदी निकलकर वृत्तवेदाढ्य नाम मध्यवर्ती गोल पर्वत की आधी-आधी प्रदक्षिणा देकर पश्चिम के व पूर्व के समुद्रों में जाकर मिल जाती हैं। इन दूसरे-तीसरे क्षेत्रों में जघन्य व मध्यम भोगभूमि मानी गयी है।

चौथा क्षेत्र विदेह है। विदेह के गोल पर्वत को सुमेरु कहते हैं। सुमेरु के उत्तर, दक्षिण भागों में उत्कृष्ट भोगभूमि है। पूर्व, पश्चिम दिशाओं में बत्तीस देश कर्मभूमि के हैं। इन्हीं को बत्तीस विदेह कहते हैं। इनमें एक-एक विजयार्ध व दो-दो उपसीता पूर्व की तरफ तथा सीतोदा पश्चिम की तरफ समुद्र में जा मिलती हैं।

पाँचवें, छठे क्षेत्र में दो-दो नदियाँ, एक-एक पर्वत—ये सब तीसरे-दूसरे क्षेत्र के समान हैं और वे क्षेत्र मध्यम व जघन्य भोगभूमि हैं। विशेष रचना त्रिलोकसार, राजवार्तिकादि ग्रन्थों में से देखनी चाहिए।

भरत, ऐरावत में हानिवृद्धि का हेतु—

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ षट्समे वृद्धि-हानिदे।
भरतैरावतो मुक्त्वा नान्यत्र भवतः क्वचित्॥ 208॥

अर्थ—पहला क्षेत्र भरत तथा सातवाँ क्षेत्र ऐरावत—इन दोनों में कालचक्र के फेर से आयुः, शरीर, शक्ति सभी बातों की हानि-वृद्धि होती रहती है। वृद्धि के कालचक्र को उत्सर्पिणी व ह्रास करनेवाले

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कालचक्र को अवसर्पिणी कहते हैं। इन दोनों कालों के प्रत्येक के छह-छह भेद किये गये हैं। पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा ये काल जैसे क्रम से आते-जाते हैं, वैसे ही सर्व पदार्थों में ह्रास होता जाता है। आज उसी ह्रास का कारण पाँचवाँ काल है। छठा काल बीतने पर पुनः छठा, पाँचवाँ, चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला—ऐसी वृद्धि होने लगती है। उस समय सभी वस्तुओं के परिवर्तन अधिक शक्ति वाले होते जाते हैं। इस ह्रास व वृद्धि का परिणाम भूमि पर भी हुए बिना नहीं रहता। भूमि की रचना यथावत् न रहकर उसमें बहुत उथल-पुथल होती रहती है। भरत तथा ऐरावत के सिवाय ऐसी हीनाधिकता दूसरे किसी भी क्षेत्र में नहीं होती।

धातकीखंड और पुष्करार्ध का स्वरूप—

जम्बूद्वीपोक्तसंख्याभ्यो वर्षा वर्षधरा अपि।
द्विगुणा धातकीखण्डे पुष्करार्धे च निश्चिताः॥ 209॥

अर्थ—जम्बूद्वीप के चारों तरफ से घेरा देकर रहनेवाला लवणोदक का विस्तार किसी भी एक तरफ की समुद्र की बाहरी वेदी से लेकर बीच के जम्बूद्वीप में होकर दूसरी तरफ के समुद्रान्त तक यदि रेखा की जाए तो उसका पाँच लाख योजन प्रमाण होगा।

उस लवणोद को घेरकर रहनेवाला धातकीखंड नाम द्वीप है। लवणोद से दूना व जम्बूद्वीप से चौगुना इसका विस्तार है। सूचीव्यास इसका तेरह लाख योजन का है। यहाँ जम्बूद्वीप तो सूर्यमंडल के अथवा थाली के समान गोल है, इसलिए इसके क्षेत्र पर्वत एक तरफ से दूसरी तरफ तक आगे-आगे पड़े हुए हैं, परन्तु धातकीखंड कंकण के समान बीच में खाली है, इसलिए इसमें जो रचना है वह सब तरफ है। रथ के पहिये में जैसे बीच-बीच में आरा रहते हैं वैसे इस द्वीप में पर्वत हैं। आराओं के बीच में जैसे खाली जगह रहती है वैसे पर्वतों के बीच-बीच में क्षेत्र हैं, इसीलिए इसका दृश्य ठीक पहिए के समान है। इस द्वीप में सब रचना जम्बूद्वीप की रचना से दूनी-दूनी है। यहाँ पर्वत बारह हैं। छह-छह पर्वतों के बीच एक-एक मेरु—इस प्रकार दो मेरु पर्वत हैं। क्षेत्र सब चौदह हैं। विदेह चौसठ हैं। बारह भोगभूमि हैं।

धातकीखंड के आगे कालोद समुद्र है और उसके आगे का द्वीप पुष्कर द्वीप है। कालोद की चौड़ाई आठ लाख योजन तथा पुष्कर की सोलह लाख है। पुष्कर द्वीप के भीतर के आठ लाख योजन प्रमाण क्षेत्र में धातकीखंड के समान दो-दो हिमवदादि पर्वत तथा दो ही दो भरतादि क्षेत्र हैं। इसका सब स्वरूप धातकीखंड के समान है। आगे के आधे विभाग में ऐसी रचना क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर आगे है।

मनुष्य क्षेत्र की सीमा—

पुष्करद्वीपमध्यस्थो मानुषोत्तरपर्वतः।
श्रूयते वलयाकारः तस्य प्रागेव मानुषाः॥ 210॥
द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु द्वयोश्चापि समुद्रयोः।
निवासोऽत्र मनुष्याणामत एव नियम्यते॥ 211॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—पुष्करद्वीप के ठीक बीच में एक मानुषोत्तर नाम का पर्वत है। वह भी उस द्वीप के समान कंकणाकार सर्वत्र पड़ा हुआ है। उस पर्वत के भीतर की तरफ में ही मनुष्य हैं, इसीलिए उसको मानुषोत्तर कहते हैं। उसके आगे मनुष्यों[1] का गमन नहीं होता। और तो और, विद्याधर तथा ऋद्धिधारी ऋषि भी उसके आगे नहीं जा सकते हैं। पर्वतक्षेत्रादिकों की रचना भी इन पर्वत क्षेत्रों की-सी आगे नहीं है, आगे सर्वत्र भोगभूमि है। उन सभी द्वीपों में तिर्यंच रहते हैं। मनुष्यों के रहने के केवल अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र—ये ही स्थान हैं।

मनुष्यों के प्रकार—

आर्य-म्लेच्छविभेदेन द्विविधास्ते तु मानुषाः।
आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः॥
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि॥ 212॥ (षट्पदम्)

अर्थ—मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—आर्य और म्लेच्छ। जिनमें उत्तर गुण तथा मोक्ष की प्रवृत्ति पाई जाती हो उन्हें आर्य कहते हैं और जिनमें ये बातें नहीं मिलतीं उन्हें म्लेच्छ समझने चाहिए। आर्यखंड में आर्य मनुष्य मिलते हैं। आर्यखंड के भीतर जो शक, भील आदि जातियाँ हैं वे म्लेच्छ हैं। पाँच म्लेच्छ-खंडों में जो रहते हैं वे म्लेच्छ ही हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे स्थान भी हैं जहाँ म्लेच्छ रहते हैं। उन स्थानों को अन्तर्द्वीप कहते हैं।

अढ़ाई द्वीपों के बाजुओं में अन्तर्द्वीप हैं। लवणोद की आठ दिशाओं में आठ और आठ उनके एक-एक अन्तराल में ऐसे सोलह हैं। हिमवान्, शिखरी ये दो आद्यन्त के वर्षधर-पर्वत तथा आद्यन्त क्षेत्रगत दो विजयार्ध पर्वत इन चारों पर्वतों की आठ टोंकों में आठ अन्तर्द्वीप हैं। लवणोद का उत्तर तीर व धातकीखंड की भीतरी वेदी इनमें भी चौबीस अन्तर्द्वीप हैं। चौबीस कालोद समुद्र के भीतरी तीर तथा धातकीखंड की बाहरी वेदी के बीच में भी अन्तर्दीप हैं। कालोद के बाहरी तीर तथा पुष्कर की भीतरी वेदी के बीच में भी चौबीस अन्तर्द्वीप हैं। सब मिलकर 96 अन्तर्द्वीप हैं। इन द्वीपों की सौ-सौ, पचास-पचास योजन के करीब विस्तीर्णता है। इनमें रहनेवाले मनुष्य भोगभूमिज कहलाते हैं। एक टाँग, लम्बे कान, वानर, अश्वादिकों के-से मुख ऐसे उन मनुष्यों में, यहाँ के मनुष्यों में अनेक विचित्रताएँ मानी गई हैं। ये सभी म्लेच्छ कहलाते हैं। जो आर्यखंड के अतिरिक्त पाँच-पाँच खंड प्रत्येक क्षेत्र में भीतर रहते हैं वे भी म्लेच्छखंड ही हैं। आर्यखंड के अन्तर्गत जो जंगली जातियाँ हैं वे भी म्लेच्छ कहलाती हैं।

आर्यपुरुष कई कारणों से आर्य कहलाते हैं : 1. क्षेत्र की अपेक्षा जो काशी आदि आर्यक्षेत्रों में रहते हैं वे क्षेत्रार्य कहलाते हैं। 2. इक्ष्वाकु आदि उत्तम कुलों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य जात्यार्य कहलाते हैं। 3. वाणिज्यादि जीविका कर्म करनेवाले संयमासंयमधारी गृहस्थ श्रावक, पूर्ण संयमी साधु—ये सब कर्मार्य कहलाते हैं। जीविका करनेवाले सावद्यकर्मार्य हैं। श्रावक अल्पसावद्यकर्मार्य हैं। साधु असावद्यकर्मार्य

1. नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विद्याधरा ऋद्धिप्राप्ता अपि मानुषा गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्घाताभ्याम्। ततोऽस्यान्वर्थसंज्ञा।—रा.वा., 3/35 जो मनुष्य होनेवाले जीव विग्रहगति में हों तथा केवल समुद्घात जिन्होंने किया हो वे मनुष्य कहलाकर भी बाहर मिल सकते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। 4. मोक्षसाधनीभूत चारित्र की जिन्हें जितनी प्राप्ति हुई हो वे उतने अंशों में चारित्रार्य कहलाते हैं। असावद्य कर्मार्य तथा चारित्रार्य—ये दोनों ही साधु होते हैं, परन्तु पुण्य कर्म का जब वे बन्धन करते हैं तब असावद्य कर्मार्य कहलाते हैं और जब कर्मों की निर्जरा करते हैं तब वे ही चारित्रार्य कहलाते हैं। 5. सम्यग्दर्शन के धारियों को दर्शनार्य कहते हैं। ऋद्धियों के द्वारा भी आर्य नाम विशेषता से प्राप्त होता है। बुद्धिऋद्धि, क्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, क्षेत्रऋद्धि, विक्रियाऋद्धि ये आठ ऋद्धियाँ हैं। ये साधुओं को प्रकट होती हैं।

कर्मभूमि और भोगभूमि : जहाँ राज्य करके, व्यापार करके, खेती करके, विद्या सिखाकर तथा सेवा करके पेट भरना हो वहाँ कर्मभूमि कही जाती हैं। कर्मभूमि का एक ऐसा भी अर्थ किया है कि संसार से छूटने का जहाँ मार्ग जारी हो उसे कर्मभूमि कहना चाहिए अथवा सर्वाधिक पुण्य-पाप कर्मों का जहाँ बन्धोदय होता हो वे कर्मभूमि समझनी चाहिए।[1] ऐसा जहाँ न हो वे भोगभूमि हैं। यह सब कल्पना, भेद मनुष्यों की मुख्यता से किये गये हैं।

जम्बूद्वीप में, एक भरत दूसरा ऐरावत ये दो आद्यन्त क्षेत्र तथा बत्तीस विदेहवर्ती क्षेत्र इस प्रकार चौंतीस कर्मभूमि हैं। धातकीखंड में तथा आधे पुष्कर में दूनी-दूनी हैं। इसलिए 34+68+68=170 कर्मभूमियाँ होती हैं। विदेहक्षेत्र में बत्तीस कर्मभूमि इस प्रकार होती हैं कि, विदेह के बीच सुमेरु पर्वत है। उसकी आधी-आधी प्रदक्षिणा देकर सीता तथा सीतोदा ये दो महानदी विदेहक्षेत्र के बीचोंबीच बहती हुई पूर्व, पश्चिम समुद्रपर्यन्त जाती हैं, इसलिए मेरु के दोनों तरफ पूर्व-पश्चिम दिशाओं में दो-दो भाग हो जाते हैं। उन दो भागों के भी आठ-आठ टुकड़े करनेवाले चार पर्वत तथा तीन नदियाँ ये कारण हैं। ये सातों उत्तर-दक्षिण की तरफ फैले हुए हैं। प्रथम, त्रिकूट तथा दूसरा, वैश्रवणकूट इन दो पर्वतों के बीच एक विभंगनदी है। दूसरे के बाद दूसरी विभंगनदी है और फिर तीसरा अंजन नाम का पर्वत है। इसके आगे तीसरी विभंगनदी और फिर चौथा आत्मांजन नाम का पर्वत है। चार पर्वत तथा तीन नदियाँ, इन सबके अन्त में समुद्र के पास तथा आदि में सुमेरु के पास एक-एक वेदी है। इस प्रकार नौ पर्वतों के बीच आठ क्षेत्र हैं। ये भेद सीता नदी के दक्षिण भागवाले क्षेत्र तथा पर्वत-नदियों के हैं। इसी प्रकार सीता के उत्तर में आठ और सीतोदा नदी के दोनों तरफ आठ-आठ मिलाने से बत्तीस कर्मभूमियाँ होती हैं। इन सर्व पर्वतादिकों के नाम दूसरे-दूसरे हैं। इन बत्तीसों कर्मभूमियों में भरत-ऐरावत की तरह छह-छह खंड होते हैं। वहाँ के जो चक्रवर्ती होते हैं वे इन एक-एक क्षेत्रवर्ती छह-छह खंडों के उपभोक्ता होते हैं। यहाँ भी छह खंड होने के कारण एक-एक विजयार्ध तथा दो-दो नदियाँ हैं। यह सब विदेह[2] का वर्णन है।

---

1. प्रकृष्टशुभाशुभकर्मोपार्जननिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः कर्मभूमयः। प्रकृष्टं शुभकर्म सर्वार्थसिद्धिसौख्यप्रपकं तीर्थंकरत्वमहाद्धिनिर्वर्तकं, प्रकृष्टमशुभं कर्म कलंकपृथ्वीमहादुःखप्रापकं कर्मभूमिष्वेवोपार्ज्यते, संसारकारणनिर्जराकर्म चात्रेव प्रवर्तते। षट्कर्मदर्शनाच्च असिमषिकृषिविद्यावणिक्शिल्पानामत्रैव दर्शनाच्च कर्मभूमिव्यपदेशो भरतादिष्वेव युक्तिमान्॥ रा.वा. 3/37, वा. 2

2. सीताया नद्या पूर्वविदेहो द्विधा विभक्त उत्तरो दक्षिणश्च। तत्रोत्तरो भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्नदीभिर्विभक्तोष्टधा भिन्नः। सीताया दक्षिणतः पूर्वविदेहश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभंगनदीभिर्विभक्तोष्टधा भिन्न अष्टभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः। सीतोदया महानद्यऽपरविदेहो द्विधा विभक्तो दक्षिण उत्तरश्च। तत्र दक्षिण उत्तरश्च (प्रत्येकं) भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभंगनदीभिश्च विभक्तोष्टधा भिन्नः। (एवं द्वात्रिंशद्विदेहाः) रा.वा. 3/10, वा. 13

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगभूमियों का संक्षिप्त वर्णन : जहाँ पर वाणिज्य तथा कृषि आदि कर्म न किये जाते हों, राजा-प्रजा की परस्पर कल्पना न हो, मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति न चलती हो उस क्षेत्र को भोगभूमि कहते हैं। भरत तथा ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी (गिरते हुए काल के चक्र) में प्रथम ही तीन काल तक भोगभूमि रहती है, परन्तु फिर तीन कालों में कर्मभूमि हो जाती है। ऐसा ही परिवर्तन उत्सर्पिणी (चढ़ते कालचक्र) में भी रहता है। इन दोनों क्षेत्र को कर्मभूमि की मुख्यता मानकर कर्मभूमियों में गिनाया है। यद्यपि कर्मभूमियों और भोगभूमियों के लिए तीन-तीन ही काल नियत हैं, परन्तु मोक्षमार्ग के प्रादुर्भाव का कारण होने से कर्मभूमि जहाँ थोड़ी-सी भी हो वहाँ के क्षेत्र को कर्मभूमि में ही गिनना उचित है। अधिकांश होने पर भी निकृष्ट वस्तु की उतनी प्रसिद्धि नहीं होती जितनी कि थोड़ा प्रमाण होने पर भी उत्कृष्ट वस्तु की प्रसिद्धि होती है। भरतैरावत को भोगभूमियों में न गिनने का यही कारण है।

सात क्षेत्रों में से बाकी पाँच रहे, परन्तु विदेह में बत्तीस कर्मभूमि जिस प्रकार हैं उसी प्रकार शाश्वत रहनेवाली दो भोगभूमि भी हैं। मेरु के पूर्व-पश्चिम भागों में कर्मभूमि हैं और दक्षिणोत्तर भागों में भोगभूमि हैं। दक्षिण भोगभूमि को देवकुरु व उत्तर भोगभूमि को उत्तरकुरु कहते हैं। ये दो उत्कृष्ट भोगभूमि हैं। दूसरे, हैमवत क्षेत्र में तथा हैरण्यवत छठे क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि हैं। तीसरे हरि, पाँचवें रम्यक—इन दो क्षेत्रों में मध्यम भोगभूमियाँ हैं। जघन्य भोगभूमियों में आयु एक पल्यप्रमाण, मध्यमों में दो पल्य तथा उत्कृष्टों में तीन पल्य प्रमाण रहती है। भोगभूमियों में लिखने योग्य जघन्य आयु नहीं मिलती। इस प्रकार जम्बूद्वीप की छह भोगभूमि हुईं। धातकीखंड तथा पुष्कर की बारह-बारह भोगभूमियाँ मिलाने से सब शाश्वत भोगभूमि तीस होती हैं। यह अढ़ाई द्वीप की व्यवस्था है। अढ़ाई द्वीप के आगे सब भोगभूमियाँ ही हैं, परन्तु उन्हें कुभोगभूमि कहते हैं। वहाँ केवल तिर्यंच ही उपजते हैं।अन्तरद्वीप, जिन्हें म्लेच्छों के स्थान बताये हैं वे भी सब कुभोगभूमियाँ ही हैं।

देवों के भेद-प्रभेद—

भावनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकविभेदतः।
देवाश्चतुर्णिकायाः स्युर्नामकर्म विशेषतः॥ 213॥
दशधा भावना देवा अष्टधा व्यन्तराः स्मृताः।
ज्योतिष्काः पञ्चधा ज्ञेयाः सर्वे वैमानिका द्विधा॥ 214॥

अर्थ—देव चार प्रकार के हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। भवनवासी देवों के उत्तर भेद दश हैं। व्यन्तरों के आठ भेद हैं। ज्योतिष्कों के पाँच भेद हैं। वैमानिकों के दो भेद हैं। ये सब भेद एक-एक विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं। देवगति यह सामान्य एक गतिकर्म है। इसके उदय से वे देव कहलाते हैं। भवनवासी आदि देवगति कर्म के उत्तर भेद हैं। इन कर्मों के उदय से भवनवासी आदि विशेष अवस्थाएँ[1] प्राप्त होती हैं।

1. देवगतिनाम्नो मूलस्य उत्तरोत्तरप्रकृतिभेदस्योदयाद्विशेषसंज्ञा भवन्ति।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भवनवासियों के दश भेद—

नागासुर[1]सुपर्णाग्नि-दिग्वात-स्तनितोदधिः।
द्वीप-विद्युत्कुमाराख्या दशधा भावनाःस्मृताः॥ 215॥

अर्थ—प्रत्येक भेद के साथ 'कुमार' शब्द जोड़ने की यहाँ रूढ़ि है। 1. नागकुमार, 2. असुरकुमार, 3. सुपर्णकुमार, 4. अग्निकुमार, 5. दिक्कुमार, 6. वातकुमार, 7. स्तनितकुमार, 8. उदधिकुमार, 9. द्वीपकुमार और 10. विद्युत्कुमार, ये भवनवासियों के दश भेद हैं।

व्यन्तरों के आठ भेद—

किन्नराः किंपुरुषाश्च गन्धर्वाश्च महोरगाः।
यक्ष-राक्षस-भूताश्च-पिशाचा व्यन्तराः स्मृताः॥ 216॥

अर्थ—1. किन्नर, 2. किंपुरुष, 3. महोरग, 4. गन्धर्व, 5. यक्ष, 6. राक्षस, 7. भूत, 8. पिशाच, ये व्यन्तरों के आठ उत्तर भेदों के नाम हैं।

ज्योतिष्कों के पाँच भेद—

सूर्या-चन्द्रमसौ चैव ग्रह-नक्षत्र-तारकाः।
ज्योतिष्काः पञ्चधा ज्ञेया ते चलाचलभेदतः॥ 217॥

अर्थ—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे—ये पाँच भेद ज्योतिष्क देवों में होते हैं। इन ज्योतिष्कों में बहुत से चल हैं और बहुत से अचल हैं।

वैमानिकों के दो भेद—

कल्पोपपन्नास्तथा कल्पातीता वैमानिका द्विधा।

अर्थ—स्वर्गवासी देवों का वैमानिक नाम है। इनमें से सोलहवें स्वर्ग तक के देवों को कल्पोत्पन्न या कल्पोपपन्न कहते हैं। ऊपरवालों को कल्पातीत कहते हैं। इन्द्र, सामानिक इत्यादि अथवा राजा-प्रजा इत्यादि कल्पना सोलहवें स्वर्ग तक है; ऊपर नहीं है। ऊपर के सभी देव अपने-अपने को इन्द्र या स्वामी मानते हैं, इसीलिए उन्हें अहमिन्द्र भी कहते हैं। यह राजा प्रजादि की कल्पना रहने से सोलह स्वर्गविमानों को कल्प कहना सार्थक है।

ये दो भेद तो हैं ही, परन्तु सोलह स्वर्गपर्यन्त राजा-प्रजा के बारह इन्द्र माने गये हैं। उनका एक-एक परिकर जुदा-जुदा गिनने से बारह भेद भी हो जाते हैं। भवनवासी तथा व्यन्तरों में भी जो दश तथा आठ भेद किये हैं वे भी दश-आठ इन्द्र, अपने परिकर के स्वामी अलग-अलग होने से किये हैं, इसीलिए वैमानिकों के भेद सूत्रकार[2] ने बारह बताये हैं।

---

1. पहला यह भाग नियमानुसार नहीं दिखता क्योंकि तीसरे दूसरे चरणों में समास नहीं होता। इसलिए या तो इसे श्लोकसम गद्य मानना चाहिए नहीं तो—'नागोऽसुरः सुपर्णोग्निर्दिग्वातः स्तनितोदधी।' ऐसा पाठ मान लेना ठीक है।
2. दशाष्टपंचद्वादशविकल्पः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः॥ तत्त्वा.सू., 4/3, 'कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च' तत्त्वा.सू. 4/17 ऐसे दो भेद भी सूत्रकार ने ही किये हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ तक चार मूल भेदों और उत्तर भेदों के नाम बताये, अब उन प्रत्येक भेदों में किस-किस प्रकार के देव रहते हैं यह बताते हैं।

देवों में इन्द्र आदि भेदों का वर्णन—

इन्द्राः सामानिकाश्चैव त्रायस्त्रिंशाश्च पार्षदाः ॥ 218 ॥
आत्मरक्षास्तथा लोकपालानीक-प्रकीर्णकाः।
किल्विषा आभियोग्याश्च भेदाः प्रतिनिकायकाः ॥ 219 ॥
त्रायस्त्रिंशैस्तथा लोकपालैर्विरहिताः परे।
व्यन्तरज्योतिषामष्टौ भेदाः सन्तीति निश्चिताः ॥ 220 ॥

अर्थ—1. इन्द्र, 2. सामानिक, 3. त्रायस्त्रिंश, 4. पार्षद, 5. आत्मरक्ष, 6. लोकपाल, 7. अनीक, 8. प्रकीर्णक, 9. किल्विषक और 10. आभियोग्य—ये दश भेद प्रत्येक उत्तरभेद में पाये जाते हैं। ये पूरे दश भेद तो वैमानिक तथा ज्योतिष्कों में ही रहते हैं। भवनवासी तथा व्यन्तरों में त्रायस्त्रिंश व लोकपाल—ये दो भेद न होने से आठ-आठ भेद मिलते हैं।

देवों में मैथुनकर्म का विचार—

पूर्वे कायप्रवीचारा व्याप्यैशानं सुराः स्मृताः।
स्पर्शरूपध्वनिस्वान्तः प्रवीचारास्ततः परे॥
ततः परेऽप्रवीचाराः कामक्लेशाल्पभावतः ॥ 221 ॥

अर्थ—भवनवासी, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क ये सब और वैमानिकों में से सौधर्म व ईशान इन दो स्वर्गों के देव, ये सब शरीर-सम्बन्धपूर्वक मनुष्य, तिर्यंचों की तरह स्त्री-सम्भोग करते हैं। इसके आगे तीसरे-चौथे स्वर्गवर्ती देव अपनी स्त्री का केवल आलिंगन करके अपने मन में सन्तोष मानते हैं। यहाँ विषयभोग की यही पद्धति है। इसके भी ऊपर पाँचवें स्वर्ग से आठवें तक के देव अपनी स्त्री का रूप देखते ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। आगे बारह स्वर्ग तक चार स्वर्गों के देव अपनी स्त्रियों के शब्दमात्र सुनकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक के देव अपनी देवांगनाओं का मन में चिन्तवन करते ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इससे आगे के ग्रैवेयकादि देवों में मैथुन की वासना उत्पन्न ही नहीं होती, क्योंकि उनकी कामवासना मन्द रहती है।

सन्तति की उत्पत्ति तो देवों में गर्भ द्वारा होती ही नहीं और न उनका वीर्य तथा इतर धातुओं से बना हुआ शरीर ही होता है। केवल मन की कामभोगरूप वासना तृप्त करने के ये उपाय हैं। सो उत्तरोत्तर वेग मन्द होने से थोड़े ही साधनों से वह वेग मिट जाता है। नीचे के देवों की वासना तीव्र होने से वीर्यस्खलन का सम्बन्ध न रहते हुए भी शरीर सम्बन्ध हुए बिना वासना दूर नहीं होती। इसके आगे वासना कुछ मन्द हो जाती है, इसलिए आलिंगन मात्र से उन्हें सन्तोष हो जाता है। आगे-आगे और भी वासना मन्द हो जाने से रूप देखते ही तथा शब्द सुनते ही वासना शान्त होने लगती है और भी ऊपर चलने

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पर केवल चिन्तवन करते ही काम-शान्ति हो जाती है। यह रीति सोलहवें स्वर्गपर्यन्त है। आगे इस बात की भी वासना नहीं है, इसीलिए वे नीचे के देवों से असंख्यगुणे सुखी रहते हैं। अप्राप्त वस्तु की इच्छा न रहने का नाम सुख है। जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा होने पर उसे प्राप्त करने का क्लेश उठाकर पीछे से अपने को सुखी मानते हैं उनसे वे ही वास्तविक सुखी मानने चाहिए कि जिन्हें इच्छा ही न हो, इसीलिए कामवासना न रखनेवाले ऊपर के देवों को कामवासना युक्त नीचे के देवों से अधिक सुखी माना गया है। सहज ब्रह्मचारी से अधिक सुखी कौन हो सकता है?

भवनवासी देवों के निवास-स्थान—

घर्मायाः प्रथमे भागे द्वितीयेऽपि च कानिचित्।
भवनानि प्रसिद्धानि वसन्त्येतेषु भावनाः॥ 222॥

अर्थ—प्रथम नरक की भूमि के तीन भाग हैं। पहले भाग को खरभाग कहते हैं, दूसरे को पंकभाग कहते हैं और तीसरे को अब्बहुल भाग कहते हैं। इनमें से दूसरे भाग में भवनवासियों के दश भेदों में से एक असुरकुमार नामवाले देवों के निवास हैं। शेष नव भेदों का रहना प्रथम खरभाग के भीतर है। इन्हीं दो भागों में इन सभी भवनवासियों के भवन बने हुए हैं।

व्यन्तर देवों के निवास-स्थान—

रत्नप्रभाभुवो मध्ये तथोपरितलेषु च।
विविधेष्वन्तरेष्वत्र व्यन्तरा निवसन्ति ते॥ 223॥

अर्थ—रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक के दूसरे भाग में राक्षस व्यन्तरों के निवासस्थान हैं और प्रथम खर भाग में शेष सात प्रकार के व्यन्तरों के निवास-स्थान हैं। इन स्थानों के अतिरिक्त द्वीपों में भी चाहे जहाँ व्यन्तरों के स्थान होते हैं। कोई अकृत्रिम पर्वत, गुफा, समुद्र प्रान्तादिकों में रहते हैं और कोई शून्यगृह, वृक्षकोटर, चौपथ रास्ता इत्यादि स्थानों में भी रहते हैं; इसीलिए इन्हें व्यन्तर कहते हैं। इनकी पिशाचादि संज्ञा कर्मोदयवश तथा रूढ़िवश मानी जाती है।

ज्योतिष्क देवों के निवास-स्थान—

उपरिष्टान्महीभागात् पटलेषु नभोंऽगणे।
तिर्यग्लोकं समाच्छाद्य ज्योतिष्का निवसन्ति ते॥ 224॥

अर्थ—भूमि से ऊपर जहाँ तक मध्यलोक है उस सीमा के भीतर आकाशपटलों में ज्योतिष्क देव रहते हैं। इनकी प्रदक्षिणा के तथा रहने के आकाशपटल इस प्रकार हैं—

इस भूमितल से ऊपर सात सौ नव्बे योजन तक तो किसी जाति के भी ज्योतिष्क देव नहीं रहते। सात सौ नव्बे से उनका रहना शुरू होता है। उसमें नौ सौ योजन तक एक सौ दश योजन की मोटाई में नीचेवाले भाग में समझे जाते हैं। इससे दश योजन ऊपर जाने पर आठ सौ योजन ऊँचे सूर्य विमान फिरते हैं। सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चलकर चन्द्र के विमान रहते हैं। चन्द्र से तीन योजन ऊपर जाने

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पर नक्षत्रों का भ्रमण है। नक्षत्रों के ऊपर तीन योजन जाने पर बुध के विमान भ्रमण करते हैं। बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र हैं। शुक्र से तीन योजन ऊँचे गुरु या वृहस्पति हैं। गुरु से चार योजन ऊँचे मंगल ग्रह हैं। मंगल से चार योजन ऊँचे शनैश्चर विमान विचरते हैं। इस प्रकार यह ज्योतिश्चक्र एक सौ एक योजन ऊपर से नीचे तक मोटे आकाश में है। तिरछी तरफ में देखें, तो मध्यलोक के अन्तिम घनोदधिपर्यन्त यावत् द्वीप-समुद्रों के ऊपर सर्वत्र आकाश में ये ज्योतिष्क मिलेंगे।

इनके फिरने की अलग-अलग असंख्यात परिधि हैं। अभिजित् नाम का एक नक्षत्र है। उसकी परिधि सब परिधियों के भीतर है और मूल नाम के नक्षत्र की परिधि सबसे बाहरी है। शेष ज्योतिष्क यथायोग्य परिधियों में रहते व फिरते हैं। भरणी नक्षत्र सबके नीचे विचरता है और स्वाति सबसे ऊपर। इसी प्रकार दूसरों के यथायोग्य बीच में स्थान हैं।

सूर्य-विमान की कान्ति तप्त स्वर्ण के समान है। उसकी मणिमय अकृत्रिम रचना है। अड़तालीस बटे इकसठ योजना (48/61) प्रमाण इस सूर्य विमान का व्यास है। कुछ इससे अधिक तिगुनी परिधि है। इसकी मोटाई अपने विमान के विस्तार से आधी है। इसकी आकृति आधे गोले की तरह है। सोलह हजार सेवक देव इसको धारण करते हैं। इन विमानों में सूर्यनाम का देव स्वामी रहता है और उसके परिवारजन भी रहते हैं। यह सूर्य का स्वरूप है। बाकी सबका यथागम से समझ लेना चाहिए।

भवनवासी आदि देवों में जैसे असुरादि भेद होते हैं और उन प्रत्येक भेदों में इन्द्र, सामानिक आदि की कल्पना की गयी है, वैसी ज्योतिष्कों के पाँचों भेदों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल की कल्पना नहीं है। ये पाँच भेद केवल हीनाधिक प्रभाव, शक्ति, ऐश्वर्य इत्यादि हेतुवश माने गये हैं। इन्द्रादिक भेदों की अपेक्षा से देखें तो चन्द्र इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। ऐसा सूर्य चन्द्रादिकों का समुदाय अलग-अलग एक-एक देखें तो असंख्यात हैं। जम्बूद्वीप के ऊपरी भाग में दो चन्द्र, दो सूर्य तथा प्रत्येक के अलग-अलग परिवार हैं। लवणोद समुद्र के ऊपर चार सूर्य तथा चार चन्द्र हैं। इसके आगे प्रति द्वीप तथा प्रति समुद्र के ऊपर दूने-दूने समझने चाहिए। अढ़ाई द्वीप के आगे दूने का हिसाब नहीं है।

अढ़ाई द्वीपों के भीतर रहनेवाले ज्योतिष्क जो भ्रमते हैं सुमेरु की प्रदक्षिणा देते हुए भ्रमण करते हैं। अढ़ाई द्वीप के आगे के सभी ज्योतिष्क स्थिर हैं। उनकी गति एक-सी होती है।

वैमानिक देवों के निवास-स्थान—

ये तु वैमानिका देवा, ऊर्ध्वलोके वसन्ति ते।
उपर्युपरि तिष्ठत्सु विमानप्रतरेष्विह॥ 225॥

अर्थ—देवों का चौथा भेद वैमानिक है। ये देव ज्योतिष्क देवों से बहुत ऊँचे रहते हैं। ज्योतिष्क देवों का निवास मध्यलोक में गिना जाता है और वैमानिक जहाँ से शुरू होते हैं, वह ऊर्ध्वलोक है। सुमेरु की शिखा के ठीक ऊपर से वैमानिकों के आवास तथा ऊर्ध्वलोक की स्थिति शुरू होती है। ऊपर ऊपर स्वर्ग और स्वर्गों के अन्तर्गत प्रतरों की रचना है, उन्हीं में ये वैमानिक देव रहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विमान व पटलों के भेद—

ऊर्ध्वभागे हि लोकस्य, त्रिषष्टिः प्रतराः स्मृताः।
विमानैरिन्द्रकैर्युक्ताः श्रेणीबद्धैः प्रकीर्णकैः॥ 226॥

अर्थ—लोक के ऊर्ध्वभाग में ये स्वर्ग अथवा कल्प हैं। इनके अन्तर्गत त्रेसठ पटल हैं। प्रत्येक पटल में एक-एक इन्द्रक विमान तथा कुछ श्रेणीबद्ध, व कुछ प्रकीर्णक नाम के विमान हैं।

कल्पों के नाम—

सौधर्मैशानकल्पौ द्वौ तथा सानत्कुमारकः।
माहेन्द्रश्च प्रसिद्धौ द्वौ ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरावुभौ॥ 227॥
उभौ लान्तवकापिष्ठौ शुक्र-शुक्रौ महास्वनौ।
द्वौ सतार-सहस्त्रारावानतप्राणतावुभौ॥ 228॥
आरणाच्युतनामानौ द्वौ कल्पाश्चेति षोडश।

अर्थ—प्रथम एक पटल में 1. सौधर्म और 2. ईशान ये दो कल्प उत्तर-दक्षिण दिशाओं में हैं। इसी प्रकार ऊपर 3. सानत्कुमार और 4. माहेन्द्र कल्प हैं और ऊपर 5. ब्रह्म और 6. ब्रह्मोत्तर ये दो कल्प हैं। इसके भी ऊपर 7. लान्तव और 8. कापिष्ठ ये दो कल्प हैं। इसके ऊपर 9. शुक्र और 10. महाशुक्र ये दो कल्प हैं। इसके ऊपर 11. सतार और 12. सहस्त्रार ये दो कल्प हैं। इसके ऊपर 13. आनत और 14. प्राणत ये दो कल्प हैं। इसके ऊपर 15. आरण और 16. अच्युत ये दो कल्प हैं। ये सब मिलकर सोलह कल्प होते हैं।

कल्पों की अपेक्षा ये सोलह भेद होते हैं, परन्तु इन सोलहों के स्वामी इन्द्र सब बारह हैं, इसलिए बारह भेद भी कह सकते हैं—1. सौधर्म कल्प का स्वामी सौधर्मेन्द्र है। 2. ईशान कल्प का ईशानेन्द्र है। 3. सनत्कुमार का सानत्कुमार इन्द्र है। 4. महेन्द्र का माहेन्द्र इन्द्र है। ऊपर 5. ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर इन दो कल्पों का ब्रह्मेन्द्र है। इसके ऊपर के 6. लान्तव और कापिष्ठ इन दो कल्पों का लान्तवेन्द्र है। फिर 7. शुक्र, महाशुक्र इन नौवें, दशवें दो कल्पों का एक शुक्रेन्द्र है। 8. ग्यारहवें, बारहवें दो कल्पों का एक सतार नाम इन्द्र है। 9. आगे तेरहवें आनत कल्प का एक आनत नाम इन्द्र है। 10. चौदहवें प्राणत कल्प का प्राणत नाम इन्द्र है। 11. पन्द्रहवें आरण कल्प का आरण नाम इन्द्र है। 12. सोलहवें अच्युत कल्प का एक अच्युत नाम इन्द्र है।

यहाँ तक चारों देवों के भेदों में इन्द्र, सामानिकादि की कल्पना है, आगे फिर यह कल्पना नहीं है। इन्द्रादि दश भेदों के अर्थ इस प्रकार हैं : (1) इन्द्र अर्थात् सबका स्वामी। (2) इन्द्र के तुल्य सुख भोगनेवाले कुछ देव होते हैं, जो कि माता-पिता आदि के समान माने जाते हैं उन्हें सामानिक देव कहते हैं। तो भी उनकी आज्ञा इन्द्र के समान नहीं रहती और न सैन्यादि का ऐश्वर्य ही उतना रहता है। 3. मन्त्री-पुरोहितादि के तुल्य प्रत्येक इन्द्र के पास तैंतीस देव रहते हैं उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। 4. इन्द्र की सभा में जिनका बैठने का नियोग होता है वे पारिषद अथवा सभासद कहलाते हैं। 5. इन्द्र की बाजुओं

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में खड़े रहकर जो इन्द्र की रक्षा करने को तैयार रहते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। 6. पुलिस की तरह दुष्ट का निग्रह करने की सँभाल रखनेवालों को लोकपाल कहते हैं। 7. अनीक का अर्थ सैन्य है। 8. शहरों में रहनेवाले प्रजाजनों का नाम प्रकीर्णक है। 9. सेवा करनेवालों को आभियोग्य कहते हैं। 10. चांडालादिकों की तरह जो निम्नकोटि के माने जाते हैं उन देवों को किल्विषक कहते हैं।

ये दश भेद जहाँ नहीं हैं उनका वर्णन—

ग्रैवेयाणि नवातोऽतो नवानुदिशचक्रकम्॥ 229॥
विजयं वैजयन्तं च, जयन्तमपराजितम्।
सर्वार्थसिद्धिरित्येषां, पञ्चानां प्रतरोऽन्तिमः॥ 230॥

अर्थ—सोलह स्वर्गों के ऊपर ग्रैवेयक नामवाले नौ विमान अथवा नौ पटल हैं। उन नौ पटलों के ऊपर अनुदिश नामक पटल है। अनुदिश के ऊपर एक पटल और है—इस अन्तिम पटल में चारों दिशा की तरफ विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित ये चार नामवाले चार विमान हैं और एक सर्वार्थसिद्धि नाम विमान मध्य में है। यहाँ तक सब त्रेसठ पटल हैं—यह बात पहले भी कह चुके हैं।

उन त्रेसठ पटलों का विवरण : एक समान आकाशभाग में सौधर्म ईशान जो दो कल्प हैं उनमें इकतीस पटल हैं—1. ऋतु, 2. विमल, 3. चन्द्र, 4. वल्गु, 5. वीर, 6. अरुण, 7. नन्दन, 8. नलिन, 9. कांचन, 10. रोहित, 11. चंचत्, 12. मारुत, 13. ऋद्धीश, 14. वैडूर्य, 15. रुचक, 16. रुचिर, 17. अंक, 18. स्फटिक, 19. तपनीय, 20. मेघ, 21. अभ्र, 22. हारिद्र, 23. पद्म, 24. लोहिताक्ष, 25. वज्र, 26. नन्द्यावर्त, 27. प्रभंकर, 28. पृष्टक, 29. गज, 30. मित्र, 31. प्रभ, ये नाम हैं। तीसरे-चौथे कल्प में सात पटल हैं—32. अंजन, 33. वनमाल, 34. नाग, 35. गरुड़, 36. लांगल, 37. बलभद्र, 38. चक्र। पाँचवें-छठे कल्प में चार पटल हैं—39. अरिष्ट, 40. देवसमित, 41. ब्रह्म, 42. ब्रह्मोत्तर। सातवें-आठवें कल्पों में दो पटल हैं—43. ब्रह्महृदय, 44. लान्तव। नौवें दशक कल्पों का एक पटल है—45. महाशुक्र। ग्यारहवें-बारहवें कल्पों का भी एक पटल है—46. सतार। तेरह-चौदह-पन्द्रह-सोलहवें चार कल्पों में छह पटल हैं—47. आनत, 48. प्राणत, 49. पुष्पक, 50. सातक, 51. आरण, 52. अच्युत। इसके ऊपर ग्रैवेयक के तीन भेदों में से अधोग्रैवेयक तीन पटल वाला है—53. सुदर्शन, 54. अमोघ, 55. सुप्रबुद्ध। पुनः मध्यम ग्रैवेयक के तीन पटल हैं—56. यशोधर, 57. सुभद्र, 58. विशाल। उपरिम ग्रैवेयक के तीन पटल हैं—59. सुमन, 60. सौमन, 61. प्रीतिंकर हैं। इनके ऊपर एक अनुदिश नाम विमान है। उसका एक ही 62वाँ अनुदिश पटल है। 63वाँ सर्वार्थसिद्धि है।

सोलहवें स्वर्ग तक जो बावन पटल हैं उनकी रचना इस प्रकार है—प्रत्येक पटल में तीन-तीन प्रकार के आवास हैं—1. इन्द्रक विमान, 2. श्रेणीबद्ध, 3. प्रकीर्णक। इन्द्रक विमान सबके बीच में रहता है और वह एक ही होता है। उसके चारों दिशाओं में विमानों की चार श्रेणी रहती हैं। प्रत्येक श्रेणी में प्रथम तो विमान संख्या त्रेसठ है, परन्तु ऊपर-ऊपर प्रत्येक पटल की प्रत्येक श्रेणी में एक-एक विमान कम होता गया है। इस प्रकार बासठवें पटल में इन्द्रक विमान एक तथा चार दिशाओं में चार विमान श्रेणीबद्ध हैं। यहाँ तक जितनी श्रेणीबद्ध विमानों की हीनाधिक रचना है वैसी ही चार-चार विदिशाओं में हीनाधिक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विमानसंख्या है। विदिशाओं के विमानों को प्रकीर्णक या पुष्पप्रकीर्णक कहते हैं। त्रेसठवें पटल में चार दिशाओं में चार और मध्य में एक इन्द्रक विमान ऐसे पाँच विमान हैं। प्रकीर्णक विमान इस अन्तिम पटल में नहीं हैं। इसके पाँचों विमानों के विजयादिक नाम ऊपर बताये हैं।

ऊपर-नीचे के देवों में अन्तर क्या हैं?

एषु वैमानिका देवा जायमानाः स्वकर्मभिः।
द्युति-लेश्याविशुद्धयायुरिन्द्रियावधिगोचरैः॥ 231॥
तथा सुख-प्रभावाभ्यामुपर्युपरितोऽधिकाः।
हीनास्तथैव ते मान-गति-देह-परिग्रहैः॥ 232॥

अर्थ—इन विमान या पटलों में देव अपने-अपने कर्म के अनुसार ऊपर-नीचे उत्पन्न होते हैं। इन देवों में ऊपर-ऊपर द्युति, लेश्याविशुद्धि, आयु, इन्द्रियज्ञान, अवधिज्ञान, सुख तथा प्रभाव ये बढ़ते हुए होते हैं और मानकषाय, गमन, शरीरप्रमाण, परिग्रह—ये सब घटते हुए होते हैं।

मानकषाय[1] नीचे के देवों की जैसी होती है, वैसी ऊपर-ऊपर नहीं है। ऊपर-ऊपर के देव अपने स्थान छोड़कर इधर-उधर कम फिरते[2] हैं। शरीर की ऊँचाई उत्तरोत्तर कम है—यह बात पहले कह चुके हैं। विषयलोलुपता एवं कषायमन्द होने से ऊपर-ऊपर परिग्रह[3] का संग्रह भी कम रहता है।

शरीर का तेज[4] उत्तरोत्तर अधिक होता है। भवनवासी, व्यन्तर तथा ज्योतिष्कों की लेश्या कृष्ण, नील, कपोत, पीत इन चार तक रहती हैं अर्थात् शरीर के वर्ण ऐसे ही होते हैं। वैमानिक देवों में से सौधर्म, ईशान इन दो स्वर्गवालों में पीतलेश्या रहती है। तीसरे, चौथे स्वर्गों में कुछ पीत कुछ पद्म ये दो लेश्यावाले देव हैं। पाँचवें से आठवें तक पद्मलेश्या है, उससे ऊपर बारहवें तक पद्म और शुक्ल दोनों ही लेश्याएँ हैं। तेरहवें से ऊपर के सब देवों में केवल शुक्ल लेश्या[5] ही पाई जाती[6] है।

संसारी व सिद्धों का क्षेत्र—

इति संसारिणां क्षेत्रं सर्वलोकः प्रकीर्तितः।
सिद्धानां तु पुनः क्षेत्रमूर्ध्वलोकान्त इष्यते॥ 233॥

---

1. प्रतनुकषायाल्पसंक्लेशावधिविशुद्धितत्त्वावलोकनसंवेगपरिणामानामुत्तरोत्तराधिक्यादभिमानहानिः। (रा.वा. 4/21)
2. देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः कायपरिस्पन्दः। वही
3. लोभकषायस्योदयान्मूर्छा परिग्रहः। वही
4. शरीरवसनाभरणादिदीप्तिर्द्युतिः। सर्वा. सि., वृ. 481
5. ये सर्व लेश्याएँ शरीर के वर्ण विशेष हैं। जो परिणामों में कषाय की हीनाधिकतावश भावलेश्याएँ होती हैं वे क्षणक्षण में बदल सकती हैं; इसलिए यद्यपि उनके विषय का कुछ निश्चय वर्णन नहीं हो सकता तो भी भावलेश्या प्रायः द्रव्यलेश्याओं के अनुसार ही रहती हैं।
6. आयु की उत्तरोत्तर अधिकता बता चुके हैं। इन्द्रियों की तथा अवधिज्ञान की मर्यादा देवों में कहाँ तक बढ़ती है यह बात राजवार्तिक से मालूम हो सकती है। हाँ अवधि का प्रथम भेद देशावधि ही देवों में होता है। सर्वावधि, परमावधि साधुओं के सिवाय कहीं नहीं रहता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—इस प्रकार संसारी जीवों का सब लोक क्षेत्र है, यह बात दिखा दी गयी। सिद्ध जीवों का लोक के ऊपर केवल अन्तिम थोड़ा-सा भाग ही निवास-क्षेत्र है। संसारी जीव यद्यपि सभी सर्वत्र नहीं रह सकते हैं। त्रस जीव त्रसनाली में ही रहते हैं। नारक, मनुष्य तथा देवों के स्थान भी त्रसनाली के अन्तर्गत थोड़े से नियत किए हुए ही हैं। तिर्यंच भी जो पंचेन्द्रिय हैं वे केवल मध्यलोक में ही रहते हैं, तो भी संसारी जीवों का निवास क्षेत्र कहने का मतलब यह होना चाहिए कि एक भव का क्षेत्र नियत होगा, परन्तु भवान्तरों का क्षेत्र नियत नहीं हो सकता है। एक ही जीव चाहे वहाँ उत्पन्न हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि निगोद जीवों की अपेक्षा से सर्वलोक ही भरा हुआ है। सिद्ध जीवों का ऐसा भ्रमण सर्वत्र नहीं हो सकता है; इसलिए उनका निवास-क्षेत्र सदा के लिए नियत हो जाता है।

जीवों के भंग—

सामान्यादेकधा जीवो, बद्धो मुक्तस्ततो द्विधा।
स एवासिद्धनो-सिद्ध सिद्धत्वात्कीर्त्यते त्रिधा॥ 234॥

अर्थ—उपयोग को लक्षण मानकर जीव का विचार किया जाए तो जीव एक ही प्रकार का है। उपयोग लक्षण सभी का समान है। संसारी तथा मुक्त ऐसे दो भेद भी होते हैं। संसारी, जीवन्मुक्त, कर्ममुक्त, ऐसे तीन भेद भी होते हैं, अथवा मिथ्यादृष्टि को असिद्ध कहना चाहिए; सम्यग्दृष्टि को पत्सिद्ध कहना चाहिए और रत्नत्रय प्राप्त जीव को सिद्ध कहना चाहिए—ऐसे भी तीन भेदों की योजना बनती है।

श्वाभ्र-तिर्यङ्-नरामर्त्यविकल्पात् स चतुर्विधः।
प्रशम-क्षय-तदुद्वन्द्व-परिणामोदयोद्भवात्॥ 235॥
भावात् पञ्चविधत्वात्स पञ्चभेदः प्ररूप्यते। (षट्पदम्)

अर्थ—नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच इन गतियों के भेद से देखा जाए तो चार प्रकार के जीव हो सकते हैं। उपशम, क्षय, क्षयोपशम, परिणाम तथा उदय—ये पाँच स्वभाव जीवों में मिलते हैं, इसलिए जीव पाँच प्रकार के भी मानने चाहिए।

षण्मार्गगमनात् षोढा सप्तधा सप्तभंगतः॥ 236॥
अष्टधाऽष्टगुणात्मत्वादष्टकर्मकृतोऽपि च।
पदार्थनवकात्मत्वात् नवधा दशधा तु सः।
दशजीवभिदात्मत्वादिति चिन्त्यं यथागमम्॥ 237॥ (षट्पदम्)

अर्थ—गमन का अर्थ ज्ञान है और जानने के साधन का नाम मार्ग हो सकता है। छह इन्द्रियों के द्वारा जीव ज्ञान उत्पन्न करते हैं अथवा विषयों में प्रवृत्ति करते हैं इसलिए एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (असंज्ञी) तथा समनस्क ऐसे छह भेद भी जीवों में हो सकते हैं।

1. स्याज्जीवोऽस्ति[1], 2. स्याज्जीवो नास्ति, 3. स्याज्जीवोऽस्तिनास्ति, 4. स्याज्जीवोऽवक्तव्यः, 5. स्याज्जीवोऽस्त्यवक्तव्यः, 6. स्याज्जीवो नास्त्यवक्तव्यः, 7. स्याज्जीवोऽस्तिनास्ति चावक्तव्यः—इन सात भंगों से जीव को सात प्रकार का भी कह सकते हैं।

1. सप्तभंगी का स्वरूप अभी कहने वाले हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जीव में अष्टगुण स्वाभाविक गुण माने जाते हैं जो कि सिद्धात्मा में पूर्ण प्रकट होते हैं—1. सम्यक्त्व, 2. ज्ञान, 3. दर्शन, 4. वीर्य, 5. सूक्ष्मत्व, 6. अवगाहन, 7. अगुरुलघुत्व, 8. अव्याबाध। ये आठ गुण जीव में रहते हैं, इसलिए जीव को आठ प्रकार का भी कह सकते हैं। अथवा आठ कर्मों के द्वारा आठ पर्याय उत्पन्न होते हैं, इसलिए भी जीव को आठ प्रकार का कह सकते हैं।

सात तत्त्व तथा पुण्य, पाप ये नौ स्वरूप जीव में ही मिलते हैं, इसलिए जीव के नौ भेद भी कहे जा सकते हैं। जीवों में दश प्राण रहते हैं; प्राणों के अतिरिक्त जीव का कोई दूसरा स्वरूप नहीं हो सकता, इसलिए जीव को दश प्रकार का भी मान सकते हैं।

तत्त्व श्रद्धा का फल—

इत्येतज्जीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥ 238॥

अर्थ—इस प्रकार जो मनुष्य अजीवादि छह तत्त्वों के साथ जीवतत्त्व मिलाकर इन सातों के प्रति श्रद्धा, ज्ञान रखता है तथा हेयांश की उपेक्षा कर चारित्र धारण करता है वही निश्चय से निर्वाण का पात्र है।

सप्तभंगी का स्वरूप

1. स्यादस्ति, 2. स्यान्नास्ति, 3. स्यादवक्तव्यः, 4. स्यादस्तिनास्ति, 5. स्यादस्त्यवक्तव्यः, 6. स्यान्नास्त्यवक्तव्यः, और 7. स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य—ऐसे सात भंग प्रत्येक तत्त्व की सिद्धि में उपयोगी होते हैं। जैसे—एक जीव द्रव्य को ही यदि हम केवल सद्भावरूप मानें तो 'जीव' शब्द बोलने पर भी जीव का पूर्ण निश्चयज्ञान नहीं हो पाता है। किसी भी वस्तु की विशेषता दूसरों से मिलती नहीं है, इसलिए जीव की विशेषता दूसरों से जुदी समझने के लिए दूसरे पदार्थों का निराकरण जीव का अस्तित्व कहते समय ही करना पड़ता है। अतएव यह मानना चाहिए कि जीव का स्वरूप इतर-निषेधमय है। इतर-निषेध का ज्ञान, 'जीव' शब्द बोलने पर हुआ हो तो उसे जीव का स्वरूप न मानकर अन्य का स्वरूप मानना उचित नहीं है। अन्य का वह निषेध स्वरूप तब हो सकता है जब कि अन्य के देखने पर निषेध ज्ञान हो, परन्तु अन्य के देखने पर तो उसका अस्तित्व भासता है, न कि निषेध। इसलिए 'जीव' शब्द बोलने पर जो जीवेतर वस्तुओं का निषेध भासता है वह जीव का ही स्वरूप होना चाहिए। जिसके देखने या बोलने पर जैसा मानस ज्ञान हो वैसा उस प्रकृत वस्तु का ही स्वरूप मानना चाहिए। जो पदार्थ जीव के समय उपस्थित ही नहीं है, उसका वह निषेध स्वरूप ठहराना अप्रासंगिक है। नहीं तो चाहे जो स्वरूप चाहे जिसका मान लेने में कोई भी रोधक नहीं होगा। बस, इसलिए यह मानना चाहिए कि 'जीव' शब्द बोलने पर जो जीवविषयक सत्ता भासती है वह भी जीव का ही स्वरूप है और इतर निषेध भासता है वह भी जीव का ही स्वरूप है। अन्तर केवल अपेक्षाओं का है। जीव के अस्तित्वज्ञान[1] में स्वयं की अपेक्षा होती है और इतर निषेधात्मक मानने में इतर वस्तुओं की अपेक्षा होती है। इस प्रकार प्रथम दो भंग सिद्ध हुए।

1. आप्तमीमांसा (111वीं कारिका) के व्याख्यान में अकलंक स्वामी लिखते हैं कि "वाचः स्वभावोऽयं येन स्वार्थसामान्यं प्रतिपादयन्ती तदपरं निराकरोति"। अर्थात् वचन का यही स्वभाव है कि स्वविषय का अस्तित्व दिखाता हुआ वह तदितरों का निराकरण करे। "तद्विधेयप्रतिषेध्यात्मविशेषात् स्याद्वादः प्रक्रियते सप्तभंगी समाश्रयात्"। इसलिए अस्तित्व इन दो मूल धर्मों के आश्रय से सप्तभंगी कल्पना करते हुए स्याद्वाद की सिद्धि करते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जब किसी अपेक्षा को खुलासा दिखाना हो तो 'स्यात्' शब्द बोलने की आवश्यकता नहीं है और यदि 'स्यात्' बोला हो तो 'स्यात्' शब्द से ध्वनित होनेवाली अपेक्षा को बोलना नहीं चाहिए। 'स्यात्' शब्द अपेक्षाओं का सामान्य सूचक है, इसीलिए दोनों शब्द एक वाक्य में बोलने से पुनरुक्ति दोष आ सकता है। 'स्यात्' इस शब्द को यहाँ संशयसूचक नहीं मानना चाहिए। 'कथंचित्' शब्द का भी स्यात् के बदले में प्रयोग हो सकता है।

3. यद्यपि अस्ति और नास्ति ये दो स्वभाव जीव के सिद्ध हुए तो भी उन दोनों को एक साथ बोलना अशक्य है। एक वाक्य के परस्पर विरोधी दो अर्थ होना सम्भव नहीं हैं इसलिए युगपत् बोलने की अपेक्षा के समय जीव अवक्तव्य हो जाता है।

4. क्रम से बोलना हो तो अस्ति-नास्ति ऐसे दोनों धर्ममय जीव होगा। इसी को 'स्यादस्तिनास्ति' ऐसा कहते हैं।

5. अस्तित्व कहने की उत्कंठा हुई कि नास्तित्वधर्म के विचार ने यदि उसे दबा दिया तो उस समय यही कहना चाहिए कि जीव अस्ति होकर भी अवक्तव्य है अर्थात् 'स्यात् अस्त्यवक्तव्य' है।

6. नास्तित्व बताने की इच्छा के समय अस्तिरूप यदि अस्तित्व धर्म भी प्रतिपक्षी रूप से मन में खड़ा हो जाए तो नास्तित्व होकर भी अवक्तव्य हो जाता है इसी को 'स्यान्नास्त्यवक्तव्य' ऐसा कहते हैं।

7. क्रम से दोनों धर्म वक्तव्य हैं, परन्तु युगपत् की दृष्टि से अवक्तव्य हैं। किसी मनुष्य ने जीव को क्रमापेक्षया जिस समय अस्ति नास्ति ऐसे दोनों धर्मयुक्त कहना चाहा हो उसी समय यदि युगपत् की अपेक्षा भी मन में उठ खड़ी हो तो जीव स्याद् अस्तिनास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य हो जाता है, इसी को 'स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य' कहते हैं। इस सातवें भंग में अस्तिनास्तित्व का अवक्तव्यपना विशेषण करना चाहिए। जो अस्तिनास्ति इन दो धर्मों की तरह अवक्तव्य को एक तीसरा धर्म स्वतन्त्र मानते हैं उनके अनुसार सातवाँ भंग बन नहीं सकता है।

इन सात भंगों में से ईप्सित (अभीष्ट) को विधेय बना लेने से स्याद्वाद व्यवहारोपयोगी होता है। यह संशयवाद नहीं है, क्योंकि संशयवाद में एक भी कोटी विधेय नहीं बन पाती है।

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य रचित 'तत्त्वार्थसार' में, 'धर्मश्रुतज्ञान' हिन्दी टीका में जीव तत्त्व का कथन करनेवाला द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

---

1. विधेयमीप्सितार्थांगं प्रतिषेध्याऽविरोध यत्।
तथैवाऽऽदेयहेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थिति: ।—आप्तमीमांसा ॥113 ॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अधिकार

अजीवतत्त्व

मंगलाचरण और विषय-प्रतिज्ञा

अनन्तकेवलज्योतिः प्रकाशितजगत् त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान् सर्वानजीवः संप्रचक्ष्यते॥ 1॥

अर्थ—जिन्होंने केवलज्ञान रूप अपार प्रकाश के द्वारा तीनों जगत् को प्रकाशित किया, उन सब जिनेन्द्र भगवन्तों को नमस्कार करके अजीवतत्त्व का वर्णन करता हूँ। सात तत्त्वों में से जीव तत्त्व का वर्णन हो चुकने पर दूसरा अजीवतत्त्व वर्णन करने के योग्य है।

पाँच अजीवों के नाम—

धर्माधर्मावथाकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः।
अजीवाः खलु पञ्चैते, निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः॥ 2॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीवरूप पदार्थ कहे जाते हैं—ऐसा सर्वदर्शी भगवान् ने कहा है। अजीव के सामान्यापेक्षया ये पाँच ही भेद हैं।

द्रव्यों की छह संख्या—

एते धर्मादयः पञ्च जीवाश्च प्रोक्त लक्षणाः।
षड् द्रव्याणि निगद्यन्ते द्रव्य-याथात्म्यवेदिभिः॥ 3॥

अर्थ—जीवों का लक्षण (स्वरूप) कह चुके हैं। पाँच धर्मादिकों के साथ उक्त जीव को मिलाने से सब द्रव्य छह हो जाते हैं। द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप जाननेवाले सर्वज्ञदेव ने इस प्रकार छह ही द्रव्यों का कथन किया है।

पञ्चास्तिकाय का वर्णन—

विना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिनपुंगवैः।
पञ्चास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः॥ 4॥

अर्थ—काल के सिवाय पाँचों द्रव्यों में अनेक प्रदेश माने गये हैं। काल द्रव्य में प्रत्येक सूक्ष्म प्रदेश अलग-अलग रहता है। जिस वस्तु में एक से अधिक प्रदेशों का समुदाय मिल रहा हो उसे संचय (काय)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कह सकते हैं। 'काय' शब्द का भी अर्थ संचय ही होता है। 'अस्ति' शब्द का अर्थ सद्भाव अथवा विद्यमान होता है। पाँचों द्रव्य विद्यमान हैं और अनेक प्रदेशी होने से संचयरूप भी हैं, इसीलिए जिन भगवान ने पाँचों द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है। काल द्रव्य अस्तिरूप तो है, परन्तु कायवान् नहीं है।

द्रव्य का लक्षण—

समुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः।
गुणपर्ययवद् द्रव्यं वदन्ति जिनपुंगवाः॥ 5॥

अर्थ—वीतराग जिनेन्द्र भगवान ने द्रव्य का लक्षण इस प्रकार कहा है : उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य जिसमें हों वह द्रव्य है अथवा गुणपर्याययुक्त वस्तु का नाम द्रव्य है। गुणपर्यायों का लक्षण आगे कहेंगे, परन्तु दोनों लक्षणों का तात्पर्य एक ही है। शाश्वत शक्तियों को गुण कहेंगे और एक-एक समय में तथा कुछ काल तक टिककर रहनेवाले विकार को पर्याय कहेंगे। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का मतलब है। शाश्वतिक शक्ति को ध्रौव्य कहते हैं और पर्याय को उत्पाद तथा व्यय नाम से कहते हैं। जहाँ उत्पाद-व्यय होते हैं वहाँ ही मूल वस्तु में विक्रिया होती है। विक्रिया हुए बिना एक क्षणभर भी कोई वस्तु रह नहीं सकती है। एक विक्रिया नष्ट हुई कि दूसरी विक्रिया उत्पन्न हो जाती है। हम वस्तुमात्र का यह स्वभाव देखते हैं। विक्रियाओं का जो आधार रहता है वही ध्रौव्य है। आधार रहे बिना भी विक्रिया होना असम्भव है, इसलिए ध्रौव्य धर्म को भी वस्तुमात्र का स्वभाव मानना उचित ही है।

कितने ही लोगों का ऐसा मत है कि ध्रौव्यमात्र वस्तु का मूल स्वभाव है। विक्रिया मूल स्वभाव नहीं है। विक्रिया किसी उपाधिवश होती है, इसलिए विक्रिया को वस्तु-स्वभाव मानना अन्याय है।

कितने ही यह कहते हैं कि विक्रिया परनिमित्त में नहीं होती, किन्तु स्वयं ही होती है। देखते हैं कि कुछ भी निमित्त न मिलने पर भी पका हुआ खेत सूखता ही है, फिर वह टिक नहीं सकता। ऐसे और भी बहुत उदाहरण हैं, इसलिए विक्रिया को ही वस्तु का स्वभाव मानना चाहिए। विक्रिया के सिवा क्षणभर भी ध्रौव्य स्वभाव स्वतन्त्र नहीं रह सकता है और अलग से ध्रौव्य देखने में भी नहीं आता है, इसलिए विक्रिया ही वस्तु का स्वभाव है, ध्रौव्य नहीं। यह मत बौद्धों का है और ध्रौव्य को माननेवाले वेदान्ती तथा सांख्य हैं। नैयायिक आकाशादि कुछ पदार्थों को केवल नित्य ही मानता है और पृथ्वी आदि को कारण दशा में नित्य व कार्यदशा में अनित्य मानता है। इस प्रकार हमारे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण में अलग-अलग लोगों की अलग-अलग शंकाएँ और विरुद्ध मत हैं।

जिसका समाधान इस प्रकार है—कोई भी वस्तु न केवल ध्रुव ही है और न क्षणिक-पर्यायरूप ही है। प्रत्येक वस्तु ध्रुव भी है और अध्रुव भी है। देखने से वस्तुस्वभाव की परीक्षा सहज हो सकती है। जो वस्तु जिस प्रकार की दिखती हो उसे वैसा ही मानना चाहिए। विशेषता से देखते हैं तो वही वस्तु विशेष तरह की भासती है। सामान्यता से देखते हैं तो वही वस्तु सामान्य भासने लगती है। अथवा जब पूर्वापर पर्यायों का विचार छोड़कर देखते हैं तो वस्तु ध्रुव दिखती है। जब पूर्वापर पर्यायों पर लक्ष्य देते हैं तो उसका पर्याय या क्षणिकरूप ही भासने लगता है। इसीलिए वस्तुओं को क्षणिक भी मानना चाहिए और ध्रुव भी मानना चाहिए। एक घट को जब हम सामान्य दृष्टि से देखते हैं तो कपालादि तथा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

माटी आदि पूर्वोत्तर अवस्थाओं से उस घट में कुछ भी विशेषता नहीं भासती। उस समय हम यही कहते हैं कि घट भी एक माटी है और कपाल भी एक माटी है, इसीलिए कपाल और घट में परस्पर कुछ भी अन्तर नहीं है। जब हम विशेषता से या पर्यायदृष्टि से देखते हैं, तब घट तथा कपाल में अन्तर मानने लगते हैं। उस समय हम कहते हैं कि घट, कपाल एक नहीं है। इसके लिए प्रमाण देते हैं कि दोनों के नाम भिन्न हैं, लक्षण[1] भिन्न हैं। वस्तु एक ही हो तो उसके लक्षण दो नहीं हो सकते और प्रयोजन में भी अन्तर नहीं रह सकता है। घट में जो हम पानी भर सकते हैं वह प्रयोजन कपाल से सधता नहीं है। यदि ये दोनों एक होते तो कपाल से पानी भरने का काम निकलना चाहिए था। बस, इसीलिए घट और कपाल परस्पर भिन्न हैं। ये एक ही माटी के पर्याय हैं, परन्तु भिन्न प्रयोजनसाधक[2] होने से दोनों सत्य हैं। इस प्रकार माटी की दृष्टि से घट व कपाल अध्रुव हैं और माटीपना ध्रुव है। इसलिए माटी घट-कपाल को ध्रुवाध्रुवरूप मानने में हानि नहीं है। अध्रुव को पर्याय या उत्पाद-व्यय कहते हैं। इसलिए घट-कपाल व मिट्टी उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सिद्ध हुए।

जो केवल क्षणिक या पर्यायरूप वस्तु को मानते हैं उनके कथन में निराधारता का दोष लगता है। ध्रुव आश्रय को न मानकर केवल पर्याय को वस्तुस्वरूप कहें तो बीज तथा वृक्ष का कुछ भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा। जिनका सम्बन्ध ही कुछ परस्पर में न हो वे एक दूसरे के अधीन नहीं रह सकते हैं। बीज के बिना भी वृक्ष उत्पन्न होना चाहिए, परन्तु होता नहीं है। इसीलिए, बीज का वृक्ष के साथ सामान्यरूप सम्बन्ध मानना पड़ता है। वह सामान्यरूप सम्बन्ध ऐसा है कि बीज-वृक्ष इन दोनों अवस्थाओं में शाश्वत रहता है, अतः उसे नित्य या ध्रुव मानने की आवश्यकता है।

इससे उलटा यह भी नहीं कह सकते हैं कि अध्रुव को न मानकर केवल ध्रुव ही मान लेना चाहिए। क्योंकि, केवल ध्रुव मानने से पर्याय बदलने का सामर्थ्य सर्वथा माना ही नहीं जा सकता और तब पदार्थों का स्वरूप सदा एक सरीखा रहने लगेगा, परन्तु यह सम्भव नहीं है। माटी से घट पर्याय बदलता है और घट से कपाल, शर्करा आदि पर्याय बदलते जाते हैं, इसलिए केवल ध्रुव मानना भी ठीक नहीं है।

इस प्रकार कथंचित् ध्रुवाध्रुव होने से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-स्वरूप की सिद्धि होती है। यहाँ पर एक यह शंका होना सम्भव है कि जब उत्पाद होता है तब व्यय नहीं होता और जब किसी में व्यय होता है तब उत्पाद नहीं होता, इसलिए किसी एक समय में व्ययोत्पाद ये दोनों सम्भव नहीं हो सकते हैं, अतएव लक्षण व्यय, ध्रौव्य तथा उत्पाद, ध्रौव्य ऐसे भिन्न-भिन्न समयों की दृष्टि से दो क्यों न मानने चाहिए? इसका उत्तर है—

व्यय और उत्पाद, ये दोनों प्रत्येक समय में रहते हैं और युगपत् रहते हैं। देखिए, घटनाश के समय में ही यदि कपालोत्पाद न हो तो माटी की या उस घटनाश की अवस्था निराकार हो जाएगी, क्योंकि पूर्वाकार का नाश है और उत्तराकार आगे होगा, इसलिए एक भी आकार व्यय के समय में नहीं रहा। जो निराकार या निर्विशेष है अथवा जिसकी कोई अवस्था सिद्ध नहीं है उसे अवस्तु मानना न्याय है। इस प्रकार उत्पाद

---

1. संज्ञासंख्यालक्षणप्रयोजनादिभेदाद् भेदः।

2. अर्थक्रियाकारित्वं (प्रयोजनसाधकत्वं) हि वस्तुनो वस्तुत्वम्। (आ. प.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व व्यय का कालभेद मानना मानो व्यय के समय वस्तु का अभाव कर देना है, परन्तु सत् का अभाव मानना न्यायविरुद्ध है। अतएव ऐसा मानना ठीक होगा कि जब किसी वस्तु में किसी पूर्वावस्था का व्यय होता है तभी उत्तरावस्था का उत्पाद होता है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय को युगपत् मानना युक्तियुक्त हुआ। सूक्ष्म परिवर्तन की तरफ देखें तो कुछ-न-कुछ सदा ही परिवर्तन होना सिद्ध होगा, इसलिए वस्तु का उक्त लक्षण त्रिकालाबाधित है।

उत्पाद का लक्षण—

द्रव्यस्य स्यात् समुत्पादश्चेतनस्येतरस्य च।
भावान्तर-परिप्राप्तिर्निजां जातिमनुज्झतः॥ 6॥

अर्थ—चेतन अथवा अचेतन किसी पदार्थ में किसी उत्तर अवस्था का प्रादुर्भाव होना—यही द्रव्य का उत्पाद है। प्रत्येक उत्पाद के होते हुए भी पूर्वकाल से चला आया हुआ जो स्वभाव या स्वजाति है वह कभी छूट नहीं सकती, इसीलिए जैन सिद्धान्त के अनुसार जो उत्पाद होता है वह बौद्धों के उत्पाद की तरह निरन्वय नहीं है।

व्यय का लक्षण—

स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि।
विगमः पूर्वभावस्य, व्यय इत्यभिधीयते॥ 7॥

अर्थ—स्वजाति या मूल स्वभाव को नष्ट न करते हुए जो चेतन-अचेतन वस्तुओं में पूर्वावस्था का विनाश होना है वही व्यय समझना चाहिए। बौद्ध सर्वथा नाश मानते हैं, वे लोग मूल स्वभाव को कायम नहीं मानते, इसलिए वह जैन सिद्धान्त से विरुद्ध है।

ध्रौव्य का लक्षण—

समुत्पादव्ययाभावो यो हि द्रव्यस्य दृश्यते।
अनादिना स्वभावेन तद् ध्रौव्यं ब्रुवते जिनाः॥ 8॥

अर्थ—अनादि काल से लेकर कायम रहनेवाले मूल स्वभाव का जो व्यय एवं उत्पाद होता नहीं दिखता उसे जिन भगवान् ने ध्रौव्य कहा है।

गुण-पर्याय के लक्षण—

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्यविक्रिया।
द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात् समुदायस्तयोर्द्वयोः॥ 9॥

अर्थ—किसी द्रव्य में शक्ति की अपेक्षा से भेद कल्पित करना, यही गुण-शब्द का अर्थ है। जैसे अखंड एक घट में रूप, रसादिक अनेक भेद ठहराना। यही घट की गुण-अवस्था समझनी चाहिए। द्रव्य में जो विकार उत्पन्न होता है अथवा जो अवस्था बदलती है—इसी का नाम पर्याय है। इन गुणपर्यायों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के शाश्वत अपृथक् सम्बन्ध से जो मिश्रित कल्पना होती है उसी को द्रव्य कहते हैं। अयुत सम्बन्ध का 'तादात्म्य सम्बन्ध' ऐसा अर्थ होता है। एक-दूसरे का परस्पर में जो तन्मय होकर रहना है उसी को तादात्म्य कहते हैं। पर्याय व गुणों में परस्पर यही सम्बन्ध होता है, इसीलिए वे कभी जुदे-जुदे नहीं होते। केवल सामान्य विशेषता के कारण उनका भेद समझ में आता है। इसीलिए गुण-पर्यायों को परस्पर में केवल सम्बन्धी न मानकर कथंचित् अभिन्न भी कहते हैं।

गुण-पर्याय शब्दों का अर्थ—

सामान्यमन्वयोत्सर्गौ शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः।
व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः॥ 10॥

अर्थ—सामान्य, अन्वय, अनुवृत्ति, उत्सर्ग, विधि, शक्ति इत्यादि शब्दों का अर्थ गुण होता है। व्यतिरेक, भेद, व्यावृत्ति, परिणाम इत्यादि शब्दों का अर्थ पर्याय होता है।

द्रव्य से गुणों का अभेद—

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः।
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता॥ 11॥

अर्थ—गुणों के बिना द्रव्य नहीं हो सकता और द्रव्य के बिना एकाकी गुण नहीं रहते, इसलिए द्रव्य व गुणों को परस्पर अभिन्न माना जाता है।

पर्याय-द्रव्य का अभेद—

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः।
वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः॥ 12॥

अर्थ—पर्याय के बिना द्रव्य नहीं दिखता और द्रव्य के बिना पर्याय भी नहीं हो सकता है। इसलिए आचार्य द्रव्य और पर्याय इन दोनों को भिन्न-भिन्न न मानकर अनन्यभूत मानते हैं।

उत्पाद-व्यय की सत्यार्थता—

न च नाशोऽस्ति भावस्य, न चाभावस्य सम्भवः।
भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च॥ 13॥

अर्थ—सत् वस्तु[1] का अभाव होना असम्भव है और असत् का सद्भाव होना असम्भव है, इसलिए व्यय का अर्थ 'नाश' तथा उत्पाद शब्द का अर्थ 'असत् का प्रादुर्भाव' ऐसा नहीं करना चाहिए, किन्तु ऐसा अर्थ मानना चाहिए कि पदार्थ अपने पर्याय तथा गुणों में व्ययोत्पाद करते हैं। इसी को भूत्वा-भवन

1. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। इति स्मृतिकाराः।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् 'होकर होना' ऐसा भी कहते हैं। भूत्वा-भवन शब्द बोलने से जो व्ययोत्पाद का सत्-नाश तथा असत्-उत्पाद ऐसा अनर्थ करने रूप विपर्यास होना सम्भव था वह नहीं रहता। क्योंकि होकर होना—ये पूर्वोत्तर दोनों क्रियाएँ एक पदार्थाश्रित[1] हो सकती हैं, इसलिए जो पहले हुआ था वही अब भी होता है, ऐसा 'भूत्वा भवन' शब्द का अर्थ मानना उचित है, अर्थात् अवस्थाओं का परिवर्तन अवश्य होता है तो भी किसी भी सत् का नाश नहीं होता और न किसी असत् का प्रादुर्भाव ही होता है।

सभी गुणों के परिवर्तन को यद्यपि पर्याय कह सकते हैं, परन्तु यहाँ ऐसा नहीं किया है। यहाँ द्रव्य की आकृति बदलने को पर्याय कहते हैं और शेष गुणों को या गुणों की पर्यायों को 'गुण' शब्द से कहते हैं, इसीलिए पर्याय और गुण, इन दोनों में व्ययोत्पाद का वर्णन किया है।

द्रव्यों की नित्यता—

द्रव्याण्येतानि नित्यानि तद्भवान्न व्ययन्ति यत्।
प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावस्तु निगद्यते॥ 14॥

अर्थ—पूर्वोक्त सभी द्रव्य अपने-अपने मूल स्वभावों से कभी च्युत नहीं होते, इसीलिए द्रव्यों को नित्य कहते हैं। द्रव्यों के मूल स्वभावों की परीक्षा करने का उपाय यह है कि जो एकत्व-प्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न कर सकते हों वे ही मूल स्वभाव हैं और उन्हें नित्य मानना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञान परोक्षज्ञान का एक प्रकार है। इसका स्वरूप पीठिका में मतिज्ञान का वर्णन करते समय कह चुके हैं। प्रथमानुभव का स्मरण होने पर तथा वर्तमान किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर जो दोनों ज्ञानों के विषयों में किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ना है वह तृतीय ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्य-प्रत्यभिज्ञान, एकत्व-प्रत्यभिज्ञान इत्यादि उसके अनेक भेद हैं। यहाँ पर जो नित्यता बतानेवाला प्रत्यभिज्ञान कहा गया है वह केवल एकत्व-प्रत्यभिज्ञान है। किसी एक ही वस्तु को प्रथम देखा हो और फिर भी वही देखने में आवे तो प्रथमानुभव का स्मरण होते ही ऐसा संकल्प उत्पन्न होता है कि अमुक जो चीज पहले देखी थी वही यह है। यह एकत्व-प्रत्यभिज्ञान, पूर्वोत्तर पर्यायों को भिन्न मानने से नहीं हो सकता है, परन्तु होता अवश्य है, इसलिए जहाँ पर एकत्व-प्रत्यभिज्ञान हो वहाँ मानना चाहिए कि उस पूर्वोत्तर पर्यायों में कोई मूल स्वभाव शाश्वत है, इसीलिए एकत्व-प्रत्यभिज्ञान होता है, यह नित्यता की सिद्धि हुई।

द्रव्यों के अपरिहार्य भेद—

इयत्तां नातिवर्तन्ते यतः षडिति जातुचित्।
अवस्थितत्वमेतेषां कथयन्ति ततो जिनाः॥ 15॥

अर्थ—द्रव्यों के जो मूल भेद छह किये गये हैं और उत्तर भेद जिसके जितने किये गये हैं उनकी मर्यादा का भंग कभी नहीं हो सकता, इसलिए सभी द्रव्य ज्यों के त्यों बने रहते हैं, ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। ज्यों के त्यों कायम रहने का नाम अवस्थित है, इसलिए द्रव्यों को अवस्थित कहते हैं।

---

1. 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा' यह व्याकरण का वचन है। क्त्वा प्रत्यय करते समय पूर्व क्रिया का भी कर्ता वही होगा जो कि उत्तर का है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

'अवस्थित' तथा 'नित्य' शब्द का अर्थ एक ही है, परन्तु सूत्रकारादिक द्रव्यों को नित्य भी कहते हैं और अवस्थित भी कहते हैं। वह इसलिए कि, जिस प्रकार एक-एक द्रव्य में कालक्रम से अनेक पर्याय होते हैं तो भी द्रव्य शाश्वत माना जाता है, इसी प्रकार एक द्रव्य स्वयं किसी दूसरे द्रव्यमय यदि हो जाए तो वह जुदा नहीं रहेगा तो भी सत् का निरन्वय नाश शायद न कहा जा सकेगा, क्योंकि जिस द्रव्य में वह लीन हुआ था वह अब भी कायम है। ऐसा होने से द्रव्यों की संख्या निश्चित करना कठिन हो जाएगा और वास्तविक सत्ता कदाचित् किसी एक द्रव्य की ही रह जाएगी। जिस प्रकार वस्तुगत पर्यायों की सर्वकालिक संख्या ठहराना कठिन है उसी प्रकार द्रव्यों की अवस्था भी होगी। परन्तु जिनेन्द्र भगवान का उपदेश ऐसा है कि द्रव्यों की मूलोत्तर संख्या सदा कायम रहती है। न्याय से भी यही सिद्ध होता है। यदि द्रव्यान्तरों में भी परिवर्तन होने लगा तो नाना विरुद्ध कार्यों की उत्पत्ति का वास्तविक कारण भेद सिद्ध न हो सकेगा, परन्तु कारण भेद के विना कार्यगत भेद मानना न्याय विरुद्ध है। कार्य की सत्ता दिखने से कारण को सत्रूप मानना, यह जैसा न्याय है वैसा ही कार्यभेद से कारण का भेद मानना भी न्याय है। वेदान्ती लोग कार्य सत्ता से कारण सत्ता का होना मानकर[1] भी कार्यभेद से कारण-भेद की कल्पना नहीं करते। यह उनकी भूल है। जैन सिद्धान्त में कार्यसत्ता से कारण-सत्ता के न्याय को नित्य विशेषण द्वारा स्वीकार किया है और कार्यभेद से कारणभेद के न्याय को अवस्थित-विशेषण देकर स्वीकार किया है। दोनों विशेषणों[2] का यह जुदा-जुदा फल समझना[3] चाहिए।

द्रव्यों की मूर्तामूर्तत्व व्यवस्था—

शब्द-रूप-रस-स्पर्शगन्धात्यन्तव्युदासतः।
पञ्चद्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलः पुनः॥ 16॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव—ये पाँच द्रव्य शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—गुणों से सर्वथा शून्य हैं, इसलिए इन्हें अरूपी तथा अमूर्तिक कहते हैं। पुद्गल द्रव्य में ये पाँचों गुण रहते हैं, इसलिए पुद्गलों को रूपी तथा मूर्तिक कहते हैं। रूपादि गुणों का नाम ही मूर्त है।

द्रव्यों में उत्तर भेदों का निश्चय—

धर्माधर्मान्तरिक्षाणां द्रव्यमेकत्वमिष्यते।
काल-पुद्गल-जीवानामनेकद्रव्यता मता॥ 17॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश ये तीनों द्रव्य ऐसे हैं कि सर्वत्र अखंड रूप में व्यापक हैं। आकाश है वह सर्वत्र एक ही है। धर्माधर्म भी सर्वत्र एक-एक ही हैं। परन्तु जीव, पुद्गल, काल—ये तीन द्रव्य अनेक उत्तर भेद रखनेवाले हैं। आकाशादि की तरह सर्वत्र एक ही जीव नहीं है। भिन्न-भिन्न शरीरों में

1. 'नाभाव उपलब्धेः' यह ब्रह्मसूत्र के द्वितीयाध्याय में है। वे सर्व उत्पत्ति का एक ब्रह्म को कारण मानते हैं, यह शांकर सिद्धान्त प्रसिद्ध ही है।
2. दोनों विशेषणों में से बौद्ध एक भी नहीं मानते और वेदान्ती एक मानते हैं किन्तु हम दोनों मानते हैं।
3. जो फल अवस्थित विशेषण का है वह अगुरुलघु गुण द्वारा पूरा हो सकता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तो भिन्न-भिन्न हैं ही परन्तु एक-एक स्थान में कहीं-कहीं पर अनन्त-अनन्त जीव रहते हैं। यही अवस्था पुद्गल की है। पुद्गल द्रव्य भी अनन्त हैं। काल द्रव्य के परमाणु एक-एक प्रदेश में एक-एक ही हैं, तो भी काल की सब संख्या असंख्यात है। इस प्रकार तीन द्रव्यों की अनेक-अनेक संख्या रहते हुए भी केवल छह द्रव्य इसलिए कहे गये हैं कि सामान्य छह लक्षणों में सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।

चलनशक्ति का निश्चय—

धर्माधर्मौ नभः कालश्चत्वारः सन्ति निष्क्रियाः।
जीवाश्च पुद्गलाश्चैव भवन्त्येतेषु सक्रियाः॥ 18॥

अर्थ—छह द्रव्यों में से इधर-उधर हलने-चलने की क्रिया जीव तथा पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही रहती है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार द्रव्य केवल स्थिर हैं, इनमें से कभी कोई भी इधर-उधर हिलता नहीं है।

द्रव्यों की प्रदेशसंख्या—

एकस्य जीवद्रव्यस्य धर्माधर्मास्तिकाययोः।
असंख्येयप्रदेशत्वमेतेषां कथितं पृथक्॥ 19॥

अर्थ—एक-एक जीव द्रव्य के प्रदेशों की संख्या असंख्यात है। धर्माधर्म के प्रदेश भी असंख्यात हैं। तीनों की असंख्यात संख्या समान है। जितनी लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या है उतनी ही इनकी है।

संख्येयाश्चाप्यसंख्येया अनन्ता यदि वा पुनः।
पुद्गलानां प्रदेशाः स्युरनन्ता वियतस्तु ते॥ 20॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य के परमाणु और स्कन्ध, ये दो प्रकार के भेद माने जाते हैं। जिसमें फिर विभाग नहीं हो सकता हो उस सूक्ष्म पुद्गल को परमाणु कहते हैं। अनेक परमाणु इकट्ठे होने से जो पिंड हो चुका हो उसे स्कन्ध कहते हैं। निमित्तों के मिलने पर परमाणुओं से पिंड और पिंड से परमाणुओं की अवस्था बदलती रहती है। परमाणु पुद्गलों में पुनर्विभाग नहीं हो सकता है, इसलिए उनमें अन्तर्गत अवयवों की या प्रदेशों की कल्पना नहीं हो सकती है और जो स्कन्ध हैं उनमें प्रदेशों की संख्या मानी गयी है। कोई पुद्गल स्कन्ध संख्यात प्रदेशवाले होते हैं, कोई असंख्यात व कोई अनन्त वाले। प्रदेश व परमाणुओं में आकार से तो कुछ अन्तर नहीं पड़ता है, परन्तु अन्तर यह है कि जब जुदे-जुदे रहते हैं तब परमाणु नाम रहता है और जब मिले हुए हों तब स्कन्ध नाम प्रदेश नाम होता है। प्रदेश का अर्थ अतिसूक्ष्म अवयव है। परमाणु का अर्थ केवल अतिसूक्ष्म, स्वतन्त्र वस्तु होता है। प्रदेश शब्द विशेषणवाची है और परमाणु विशेष्य वाची। किसी वस्तु में प्रदेशों की मर्यादा देखनी हो तो परमाणुओं की मर्यादा से ही मालूम हो सकती है, परन्तु बद्ध अवस्था में परमाणु कहने की रूढि नहीं है। परमाणु में अन्तर्भेद नहीं होते इसलिए उसे अप्रदेशी कहते हैं। परन्तु परमाणु भी होता प्रदेशमात्र ही है। पुद्गल के सिवाय अन्य किसी भी द्रव्य में पुद्गल की-सी मिलन शक्ति नहीं है। आत्मा भी अशुद्ध होकर पुद्गलों में मिलता है, परन्तु तभी तक, जब तक कि पुद्गल से सर्वथा जुदा न हो पाया हो, पुद्गल परमाणु तक शुद्ध हो जाने पर भी फिर मिल जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आकाश, लोकालोक में सर्वत्र व्याप्त है। उसके प्रदेश या सूक्ष्म अवयव देखें तो अनन्तानन्त हैं। केवल लोकाकाश के असंख्यातमात्र ही प्रदेश हैं। उतने ही एक-एक जीव के प्रदेश बताए गये हैं।

पुद्गल द्रव्य के स्कन्धों की उत्पत्ति परमाणुओं के मिलने पर होती है और टूटने-फूटने पर परमाणु प्रकट हो जाते हैं, इसलिए स्कन्धों में प्रदेश मानना तो ठीक है, परन्तु जिन कालादिकों में प्रदेशों का प्रादुर्भाव ही जुदा कभी नहीं होता उनमें प्रदेश क्यों माने जाते हैं?

उत्तर—प्रदेशों की कल्पना इसलिए नहीं की गयी है कि वे जुदे होने ही चाहिए अथवा पहले से ही जुदे हों। तो? इसलिए कि लम्बाई-चौड़ाई आदि का ज्ञान हो। एक पुद्गल का परमाणु तथा एक हाथभर चौड़ी पत्थर की शिला, इन दोनों की चौड़ाई आदि का अन्तर, यदि प्रदेश कल्पना न की जाए तो, किस प्रकार जाना जा सकता है? जिस प्रकार हाथ, गज इत्यादि किसी चीज को नापने के साधन हैं, उसी प्रकार प्रदेश कल्पना भी एक-एक अवयव संख्या समझने का साधन है। हाथ, गज इत्यादि मोटे साधन हैं और प्रदेश सबसे छोटा साधन है। जब कि परमाणु की अपेक्षा एक हाथ लम्बी शिला में लम्बाई अधिक है तो वह कितनी अधिक है, यह प्रश्न परमाणुओं से ज्ञात होने पर ही दूर हो सकता है। भावार्थ—उसकी लम्बाई पर जितने परमाणु क्रम से रखे जा सकते हों उतने ही उसकी लम्बाई में प्रदेश होंगे, यह उत्तर हो जाता है। यदि घनफल के परमाणुओं की संख्या जोड़ ली जाए तो उस शिला के समस्त प्रदेश जाने जा सकते हैं। यदि इस प्रकार प्रदेश कल्पना वस्तुओं में नहीं की जाएगी तो परमाणु तथा परमाणु से अधिक बड़ी वस्तु में अन्तर ही क्या रहेगा? बस, यही प्रदेश कल्पना करने का प्रयोजन है। जब तक यह प्रयोजन सत्य है तब तक प्रदेश कल्पना से सिद्ध हुए किसी वस्तु के प्रदेश भी सत्य ही मानने चाहिए।

यह प्रदेश कल्पना के द्वारा जो प्रदेशसिद्धि हुई वह जैसी एक पुद्गल-स्कन्ध में सत्य है वैसी ही आकाशादि सतत अखंड पदार्थों में भी सत्य ही माननी चाहिए। क्योंकि वर्तमान में जैसा पुद्गल स्कन्ध अखंड है वैसे ही आकाशादिक भी अखंड हैं। जब कि स्कन्ध में परमाणु बद्ध होकर एकमय हो जाते हैं तभी स्कन्ध नाम प्राप्त होता है। इसलिए पूर्वोत्तर काल में परमाणु जुदे-जुदे रहने के कारण केवल इस समय के स्कन्ध में प्रदेश कल्पना नहीं माननी चाहिए, नहीं तो, वर्तमान में भी वह स्कन्ध एक नहीं ठहर सकेगा और उसकी अधिक मोटाई भी नहीं ठहर सकेगी। यह दोष हटाने के लिए जबकि अखंड स्कन्ध में प्रदेश माने जा सकते हैं तो आकाशादिकों में मानने से क्या हानि है?

प्रदेश कल्पना कहाँ पर नहीं है?

कालस्य परमाणोश्च[1] द्वयोरप्येतयोः किल।
एकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वमिष्यते॥ 21॥

अर्थ—काल भी छह द्रव्यों में से एक द्रव्य है। काल के दो प्रकार माने हैं—व्यवहार और निश्चय। काल के निमित्त से प्रत्येक द्रव्यपर्याय में उत्पन्न होनेवाली भूत, भविष्यत्, वर्तमानरूप तथा समय,

1. 'कालस्य परिमाणोऽस्तु' ऐसा छपी हुई पुस्तक में पाठ है; परन्तु हम उपर्युक्त पाठ को ही ठीक समझते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

घड़ी, मुहूर्त आदि रूप कल्पना को व्यवहार काल[1] कहते हैं। जो भूत, भविष्यत् आदि कल्पनाएँ उत्पन्न करने का मूल कारण है उसे निश्चय काल कहते हैं। इनमें से जो निश्चय काल तथा पुद्गल द्रव्य के परमाणु हैं, उनका एक-एक प्रदेश मात्र स्वरूप है। प्रत्येक काल का एक-एक परमाणु जुदा-जुदा है। एक-दूसरे में कोई भी कालाणु मिलकर अखंड एक द्रव्य रूप नहीं होता और न अनादि से ही रहा है, इसलिए काल सदा ही एक प्रदेश मात्र है। उसके अन्तर्गत प्रदेश-कल्पना नहीं होती, इसलिए उसे अप्रदेशी कहते हैं। स्वयं यद्यपि प्रदेश मात्र है तो भी उसे प्रदेशी नहीं कह सकते हैं। प्रदेशी वहाँ कहा जा सकता है जो कि किसी बड़े पदार्थ का एक सूक्ष्म अंश हो। काल में परम-अणु अवस्था स्वयं है, इसलिए वह एक अणु रहने पर भी प्रदेशी या प्रदेश युक्त कहने में नहीं आता है। पुद्गलों के परमाणुओं की भी यही बात है। वे जब जुदे-जुदे स्वतन्त्र रहते हैं तब स्वतः एक प्रदेश मात्र हैं, इसलिए अप्रदेशी कहे जाते हैं। व्यवहार काल को भी काल कहते हैं, परन्तु द्रव्य के कालकृत पर्याय का नाम व्यवहार काल है। वे पर्याय अपने-अपने द्रव्यों में शामिल हो जाते हैं। वह कोई जुदा काल नामक द्रव्य नहीं है जिससे कि उसका अप्रदेश आदि विशेषणों द्वारा वर्णन कर सकें, इसीलिए उसको काल कहना भी अमुख्य है। उसे केवल भविष्यत्[2] आदि तथा घटिका आदि नामों से कहना ही वास्तविक है।

कुछ लोग वस्तुगत क्रियाओं को ही काल कहते हैं। वे निश्चयकाल[3] को जुदा नहीं मानते हैं, परन्तु वास्तव में एक जुदा कालद्रव्य होना ही चाहिए। नहीं तो जगत् में से काल का नाम ही नष्ट हो जाना चाहिए। मुहूर्तादिक जो काल के नाम हैं वे एक स्वतन्त्र कालद्रव्य[4] के बिना नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार 'देवदत्त' यह एक स्वतन्त्र नाम रहते हुए भी उसको यदि दंडी कहें तो वह दंडी नाम एक देवदत्त की अपेक्षा से नहीं हो सकता, वहाँ सम्बन्ध रखनेवाला दंड भी मानना ही पड़ता[5] है। इसी प्रकार मुहूर्तादि साध्य पर्यायों के 'घटादि' ये नाम स्वतन्त्र रहते हुए भी मुहूर्तादि नाम, बिना अन्य सम्बन्ध के नहीं कहे जा सकते हैं, इसीलिए मुहूर्तादि विशेषण उत्पन्न करनेवाला काल एक स्वतन्त्र जुदा भी अवश्य मानना ही उचित है। नहीं तो कालवाचक नामों का व्यवहार निराधार हो जाएगा।

द्रव्यों के रहने का क्षेत्र—

लोकाकाशेऽवगाहः स्याद् द्रव्याणां न पुनर्बहिः।
लोकालोक-विभागः स्यादतएवाम्बरस्य हि॥ 22॥

अर्थ—लोकाकाश के भीतर ही सब द्रव्यों का ठहरना है अथवा द्रव्यों का जितने आकाश में ठहराव है उसी का नाम लोकाकाश है। उससे बाहर कभी द्रव्य नहीं जाते और न रहते ही हैं, इसीलिए आकाश

1. व्यवहारकाले कालव्यपदेशो गौणः भूतादिव्यपदेशो मुख्यः। निश्चयकाले तु भूतादिव्यपदेशो गौणः कालव्यपदेशो मुख्यः। तयोः कालकृतत्वाद् द्रव्यपर्यायकृतत्वाच्च (सर्वा.सि., वृ. 569)।
2. यथा वृक्षपङ्क्तिमनुसरतो देवदत्तस्य एकैकतरं प्रति प्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन्निति व्यपदेशस्तथा तत्कालाणूननुसरतां द्रव्याणां क्रमेण वर्तनापर्यायमनुभवतां भूतवर्तमानभविष्यद्व्यवहारसद्भावः। तत्र परमार्थकाले भूतादिव्यपदेशो गौणः, व्यवहारकाले मुख्यः। (रा.वा., 5/22, वा. 25)।
3. क्रियामात्रमेव कालस्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेन्न, कालाभिधानलोपप्रसंगात्। (रा.वा., 5/22, वा. 26)
4. समय उच्छ्वासो निश्वासो मुहूर्त इति स्वसंज्ञाभिर्निरूढानां काल इत्याभिधानमकस्मान्न भवति। (वही)।
5. यथा देवदत्तसंज्ञया निरूढे पिण्डे दण्ड्यभिधानमकस्मान्न भवतीति दण्डसम्बन्धसिद्धिः। तथा कालसिद्धिरपि (वही)।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के लोक व अलोक ये दो विभाग मान लिये गये हैं। वास्तविक आकाश दोनों जगह का एक-सा ही है, परन्तु इतर द्रव्यों के रहने की मर्यादा हो जाने से उतने आकाश का 'लोकाकाश' नाम पड़ गया है।

धर्माधर्म की अवगाहना का परिमाण—

लोकाकाशे समस्तेऽपि धर्माधर्मास्तिकाययोः।
तिलेषु तैलवत्प्राहुरवगाहं महर्षयः॥ 23॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्यों का अवगाहन समस्त लोकाकाश में तिल में तेल की तरह है। लोकाकाश का एक अंश भी इन दोनों द्रव्यों से रहित नहीं है—ऐसा महर्षि भगवान ने कहा है।

जीव की अवगाहना का परिमाण—

संहाराच्च विसर्पाच्च प्रदेशानां प्रदीपवत्।
जीवस्तु तदसंख्येय-भागादीनवगाहते॥ 24॥

अर्थ—लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर जीव के भी असंख्यात प्रदेश हैं, परन्तु जीव शरीरादिजनक कर्मों के वश शरीर के भीतर ही रहता है। प्रत्येक जीव की यही अवस्था है। एक शरीर छूटता है तो दूसरा शरीर एक, दो, तीन या चार समय के भीतर ही मिल जाता है, इसलिए जीव शरीर के बाहर न रहकर भीतर ही रहता है। शरीरों का आकार एक-सा नहीं होता, इसलिए जैसा जिस समय शरीर मिलता है, वैसा ही उस समय अपने आकार को पूर्व की अपेक्षा कुछ संकोच या विस्तार करके जीव शरीराकार हो जाया करता है। यदि कोई जीव मुक्त हो तो भीजे हुए कपड़े की तरफ जैसे शरीर के आकार में से छूटता है वैसा ही सदा के लिए रह जाता है।

शरीरों में प्रवेश कर रहने के लिए कर्मों का उदय तो निमित्त कारण है ही, जीवों में स्वयं शक्ति भी ऐसी होनी चाहिए जिससे वह संकोच व विस्तार कर सकें। यदि स्वयं शक्ति न हो तो केवल निमित्त क्या कर सकता है?

निमित्त मिलने पर संकोच व विस्तार होना असम्भव बात नहीं है। पुद्गलों में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं। देखिए, दीपक यदि खुली जगह में रखा हो तो उसके प्रकाश का परिमाण नहीं हो सकता है, परन्तु वही दीपक एक घड़े के भीतर रख दिया जाए तो सारा प्रकाश उसी के भीतर आ जाता है। यदि घड़े में से निकालकर एक घर में रख दिया जाए तो घरभर में प्रकाश फैल जाता है। इसी प्रकार शरीरों के वश जीवों का संकोच विस्तार होता रहता है।

लोकाकाश के प्रदेश भी सब असंख्यात हैं और उस असंख्यात से एक छोटी-सी असंख्यात संख्या द्वारा लोकाकाश प्रदेशों को भाजित कर दें तो भाग भी असंख्यात हो जाते हैं। असंख्यात संख्या, असंख्यात प्रकार की हो सकती है, इसीलिए भाजक संख्या असंख्यात होकर भाज्य असंख्यात संख्या को विभक्त कर सकती है और फिर एक-एक भाग में भी प्रदेश संख्या असंख्यात रहती है। जीवों के एक-एक शरीर की आकृति छोटी, बड़ी अनेक प्रकार की है। उनमें से सबसे छोटा जो शरीर होता है उसे निगोद शरीर कहा है। वह लोकाकाश का असंख्यातवाँ एक भाग है। उसमें आकाश के प्रदेश असंख्यातों घिर जाते

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। जब जीव को वह शरीर मिलता है तब उसकी उतनी छोटी अवगाहना हो जाती है। इसके ऊपर एक प्रदेशादिक बढ़ते हुए असंख्यातों प्रकार की बड़ी शरीराकृति भी होती हैं। सबसे बड़ी शरीराकृति एक मच्छ की होती है। उस योनि को जब जीव पाता है तो उतना प्रदेश विस्तार भी कर लेता है।

समुद्घातों के समय तीव्र कषायादि निमित्त उत्पन्न होने पर जीव का शरीर से बाहर भी निर्गमन हो जाता है, परन्तु वह कदाचित्, और थोड़े से समयों के लिए ही होता है। उस समय भी आत्मा शरीर को पूर्णतः छोड़ नहीं देता, कुछ आत्म प्रदेश तब भी मूल शरीर में रहते हैं। मूल शरीर के बाहर जहाँ तक वे प्रदेश जाते हैं, वहाँ तक एक-दूसरे प्रदेशों में परस्पर सम्बन्ध बना रहता है। ये प्रदेश पुद्गल की तरह टूटते नहीं हैं, संकोच होने पर फिर मूल शरीर मात्र हो जाते हैं। यह सब अवगाहनाओं में परस्पर अनेक भेद दिखाना शरीरों की अवगाहनावश है। वास्तव में प्रदेश संख्या की तरफ देखें तो प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी होता है। सबके प्रदेश बराबर होते हैं। वे प्रदेश जब केवली-समुद्घात के समय पसरते हैं तो ठीक लोक के बराबर हो जाते हैं। जब संकोच होने लगता है तो अत्यन्त संकोच हो जाता है, जो मरण के तीसरे समय की सूक्ष्म अवगाहना सदृश होता है। क्योंकि उससे सूक्ष्म कोई भी शरीर नहीं है।

पुद्गलों की अवगाहना का परिमाण—

लोकाकाशस्य तस्यैकप्रदेशादींस्तथा पुनः।
पुद्गला अवगाहन्ते इति सर्वज्ञ शासनम्॥ 25॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्य की अवगाहना के विषय में सर्वज्ञ का उपदेश ऐसा है कि लोक के अन्तर्गत आकाश के एक प्रदेश से लेकर अवगाहना शुरू होती है और इसके ऊपर असंख्यातों प्रकार की छोटी-बड़ी अवगाहनाएँ मिलती हैं।

पुद्गल का परमाणु तो एक ही आकाशप्रदेश को घेर सकता है, परन्तु जो स्कन्ध पुद्गल हैं वे एक प्रदेश में भी रहनेवाले कुछ होते हैं और कुछ एक प्रदेश से अधिक प्रदेशों को भी अपनी अवगाहनाओं से घेरनेवाले होते हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि जितने किसी स्कन्ध में प्रदेश या परमाणु होंगे वह स्कन्ध उतने आकाशप्रदेशों से कम में तो रह सकता है, परन्तु अधिक आकाश को कभी नहीं घेर सकता है। यदि कोई स्कन्ध बहुत अधिक पसरा तो जितने उसमें परमाणु हैं उतने आकाश के प्रदेशों तक पसर सकता है और संकोच करे तो एक आकाशप्रदेशपर्यन्त भी सूक्ष्म हो सकता है। यह बन्धन की विचित्रता है। देखिए, एक तरफ रुई और दूसरी तरफ लोहे का एक टुकड़ा। बन्ध की विचित्रता कहने में नहीं आती कि कितने प्रकार की है।

शंका—एक आकाश प्रदेश में एक परमाणु या प्रदेश आ जाता तो न्याययुक्त है, क्योंकि जितना सूक्ष्म आकाश का प्रदेश होता है उतना ही सूक्ष्म परमाणु होता है, परन्तु अनेक परमाणु या प्रदेश, एक आकाशप्रदेश में समाना सम्भव है?

उत्तर—परमाणु अति सूक्ष्म होता है, इसलिए उसमें दूसरे परमाणुओं को बाधा करने की शक्ति नहीं रहती है। बहुत से स्थूल पदार्थ भी ऐसे देखने में आते हैं जो कि परस्पर दूसरों को अपनी जगह में आते हुए बाधा नहीं करते हैं। देखिए, पानी में शक्कर डाल देने से उसी के भीतर आ जाती है। यदि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

थोड़ी-सी राख डाली जाए तो वह भी समा जाती है। जिस बर्तन में पानी भरा होता है उसमें एक प्रदेश भी पानी से खाली नहीं है, तो भी उसमें कुछ शक्कर और ऊपर से राख क्यों आ जाती है? इसका कारण यही कहना पड़ता है कि पानी में उन चीजों को पुनः स्थान देने की शक्ति है। जो पत्थर आदि कुछ ऐसी स्थूल चीजें हैं जो कि अपनी जगह में दूसरे स्थूल पदार्थों को नहीं आने देतीं उनमें स्थूलता कारण है। बस, इसीलिए असंख्यात प्रदेशी छोटे आकाश के एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त पुद्गल तथा शेष द्रव्य आ जाते हैं।

विशेष : जैसे कोई एक व्यक्ति जंगल में जाकर एक हजार प्रकार की वनस्पति के एक-एक पत्ते लाकर काढ़ा (उकाली) बनाये, पुनः सुई की नोंक बराबर काढ़े में एक हजार प्रकार की वनस्पति का सत्त्व है, उसी प्रकार पाँच हजार, दश हजार, पचास हजार, एक लाख प्रकार की वनस्पति के पत्तों के काढ़े बनाकर सुई के नोंक बराबर काढ़े में पाँच, दश, पचास हजार एवं लाख प्रकार की वनस्पति का सत्त्व पाया जाता है। उस सुई के नोंक बराबर बूँद का न आकार बढ़ता है न वजन बढ़ता है, ऐसे ही आकाश के एक प्रदेश में या आत्मा के एक प्रदेश पर अनन्तानन्त परमाणु या कर्म समा जाते हैं।

इसका कारण यह है कि किसी भी शुद्ध द्रव्य में किसी को बाधा देने की योग्यता नहीं रहती है। जितने पदार्थ एक दूसरे को बाधा देते हैं वे सब अशुद्ध द्रव्य हैं। बाधा देनेवाला भी अशुद्ध ही होता है और जो बाधा सहता है वह भी अशुद्ध ही होता है। हाँ, बहुत-सी चीजें अशुद्ध होकर भी बाधा नहीं करती हैं, जो बाधा करती हैं वे सब अशुद्ध ही होती हैं यह इकतरफी व्याप्ति है। जो बाधा नहीं करती हैं उनमें यों कहना चाहिए कि अभी तक और प्रकार की अशुद्धताएँ उत्पन्न हो जाने पर भी बाधाकरण योग्य अशुद्धता हो सकती हैं, परन्तु वे सभी स्थूलताएँ बाधक नहीं होती हैं, इसलिए स्थूलता के थोड़े से प्रकार ही बाधक मानने चाहिए। देखिए, पानी शक्कर आदि की भाँति अग्नि, हवा इत्यादि में भी परस्पर बाधा करने की योग्यता नहीं रहती है। हवा चाहे जिस के भीतर समा जाती है। अग्नि एक कठोर लोह के पिंड में भी प्रवेश कर जाती है।

अब यह देखिए कि जो अनेकों परमाणु परस्पर एक ही जगह में आकर ठहर जाते हैं वे किस प्रकार के होते हैं? वे अति शुद्ध होते हैं। जो अशुद्ध स्कन्धों में सहस्रशः वैभाविक स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं वे धीरे-धीरे, जैसा वह स्कन्ध फूटता-टूटता हुआ छोटा होता जाता है वैसे ही, कम होते जाते हैं। अतिस्थूल एक कोई स्कन्ध जब एक बार फूटता है तभी कम से कम उसका एक वैभाविक रूप भी नष्ट हो जाता है। ऐसे, स्कन्ध के फूटते-फूटते वैभाविक पर्याय नष्ट होते जाते हैं। इस प्रकार अन्त में जब परमाणु-अवस्था हो जाती है तब एक भी वैभाविक पर्याय उसमें नहीं रहता है। बस, इसीलिए परमाणु किसी दूसरे का बाधक भी नहीं हो सकता है और दूसरों से बाध्य भी नहीं हो सकता है। स्थूलता का साधारण लक्षण यह है कि जो इन्द्रियग्राह्य हो वह स्थूल मानना चाहिए। शेष सब सूक्ष्म मानने चाहिए। यह स्थूल-सूक्ष्म की मध्यगत सीमा हुई। परस्पर में जो स्थूल, सूक्ष्मों के और भी अनेक भेद हो सकते हैं वे आपेक्षिक मानने चाहिए। जैसे आँवला, बेल से सूक्ष्म है और झरबेर से स्थूल है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

एक आकाश-प्रदेश में अनेक वस्तु—

अवगाहन-सामर्थ्यात् सूक्ष्मत्वपरिणामिनः।
तिष्ठन्त्येकप्रदेशेऽपि बहवोऽपि हि पुद्गलाः॥ 26॥

अर्थ—आकाश में यह गुण सर्वत्र और सदा विद्यमान ही है कि जो जहाँ चाहे वह वहाँ अवस्थान कर ले। अब रही यह बात कि घट-पटादिक सब पदार्थ एक ही आकाश-स्थान में क्यों नहीं समाते हैं? इसका उत्तर यह है कि अवकाश देनेवाले आकाश का सामर्थ्य जो अवकाश देना था वह तो कभी कम नहीं होता। हाँ, जहाँ स्थूल पदार्थ एक-एकत्र रहता है, दूसरा कोई वहाँ आना चाहे तो, प्रथम पदार्थ उसे रोकता है। यह हुई पदार्थों की परस्पर की लड़ाई, परन्तु वह भी केवल स्थूल पदार्थों की परस्पर लड़ाई है। आकाश तब भी किसी को आने से नहीं रोकता। पदार्थों में भी जो परस्पर अवगाहन न होने देने का विरोध है वह मात्र स्थूलों में है, इसलिए यदि अवगाहन लेनेवाला पदार्थ सूक्ष्म हुआ तो अवरोधक शक्ति उसमें भी नहीं रहती है। इस प्रकार आकाश के एक-एक प्रदेश में यदि बहुतेरे पुद्गल रहें तो रह सकते हैं।

अवगाहनत्व का दृष्टान्त—

एकापवरकेऽनेकप्रकाश-स्थिति-दर्शनात्।
न च क्षेत्रविभागः स्यान्न चैक्यमवगाहिनाम्॥ 27॥

अर्थ—एक घर में एक दीपक का प्रकाश सर्वत्र व्याप्त हो जाने पर भी दूसरे, तीसरे दीपकों का प्रकाश समा जाता है। प्रकाश भी पुद्गल है। प्रत्येक दीप-प्रकाश का स्थान जुदा-जुदा विभक्त नहीं रहता और अवकाश लेनेवाले प्रकाश-पुद्गल एक भी नहीं हो जाते हैं। प्रकाश अनेकों हैं और क्षेत्र यहाँ एक ही है। इसी प्रकार अन्यत्र भी एक-एक क्षेत्र में अनेक पुद्गल समा जाना सम्भव है।

उपसंहार—

अल्पेऽधिकरणे द्रव्यं महीयोनावतिष्ठते।
इदं न क्षमते युक्तिं दुःशिक्षितकृतं वचः॥ 28॥

अर्थ—'छोटे आधार में बड़ा समा नहीं सकता' ऐसी शंका ठीक नहीं है, यह शंका केवल अज्ञानवश होती है।

एक क्षेत्र में अनेक वस्तु समानेवाला दूसरा दृष्टान्त—

अल्पक्षेत्रे स्थितिर्दृष्टा प्रचयस्य विशेषतः।
पुद्गलानां बहूनां हि करीष-पटलादिषु॥ 29॥

अर्थ—पुद्गल के परमाणुओं का परस्पर सम्बन्ध अनेक प्रकार होता है। उस बन्धन की ही यह महिमा है कि बहुत से पुद्गल भी छोटी-सी जगह में समा जाते हैं। इसका उदाहरण करीष-पटल हैं,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ईंधन है। सुगन्धित पुष्पादिक भी इसी के उदाहरण हो सकते हैं। पुष्प के गन्ध प्रदेश पुष्प के ही भीतर रहनेवाले होते हैं, परन्तु वायु के सम्बन्ध से सर्व दिशाओं में कोसों दूर तक फैल जाते हैं। इसी प्रकार ईंधन का तथा करीष-पटल का बन्धन होता है। करीष सूखे हुए गोबर को कहते हैं। उसका पटल छोटी-सी जगह में रहनेवाला होकर भी जब जलाया जाता है, तब आकाश मंडलभर को धुआँ बनकर घेर लेता हैं। क्या धुआँ ईंधन में से ही अथवा करीष में से ही नहीं निकलता है? इसलिए मानना पड़ता है कि दिङ्मंडल को धुआँ बनकर व्यापनेवाले सर्व प्रदेश करीष की तथा ईंधन की अवस्था में अल्पक्षेत्र में ही संकुचित होकर रहा करते हैं। यह सब बन्धन की महिमा है कि थोड़े से आकाश में अधिक पुद्गल समा सके। असंख्यात आकाशप्रदेशों में अनन्तानन्त पुद्गल इसी प्रकार रहते हैं।

धर्म-अधर्म-आकाश द्रव्य का उपकार—

धर्मस्य गतिरत्र स्यादधर्मस्य स्थितिर्भवेत्।
उपकारोऽवगाहस्तु नभसः परिकीर्तितः॥ 30॥

अर्थ—धर्म द्रव्य का उपयोग यह है कि सभी जीव तथा पुद्गलों का गमन उसके आश्रय से होता है। मछलियाँ चलें तो जल प्रेरणा नहीं करता और ठहरें तो भी वह चलाने की प्रेरणा नहीं करता। वे चलें तो चलो, और ठहरें तो ठहरो। चलना या ठहरना केवल मछलियों की इच्छा पर अधीन है। तो भी जल के सहारे विना वे चल नहीं सकतीं, इसलिए उनके चलने में जल को सहायक माना जाता है। यही बात 'धर्म द्रव्य' की है। वह उदासीनता से सबके गमन में सहायक होता है। वह जहाँ न हो वहाँ किसी भी वस्तु का गमन नहीं हो सकता है, इसीलिए लोकालोक की मर्यादा बनी हुई है।

लोक मूर्तिमान है अतएव अवधियुक्त है। यदि कोई पदार्थ गतिसाधक जुदा न हो तो अवधि से आगे भी गमन होने लगेगा। यदि लोकवर्ती एक-एक वस्तुओं का लोकाकाश के आगे गमन होने लगा तो वस्तुओं की जो एकत्र शृंखला दिख पड़ती है वह नहीं रहेगी, क्योंकि अमर्यादित अलोक में एक पदार्थ चला गया तो फिर लोक के भीतर उसे लानेवाला कौन है? इस क्रम में अलोक में एक-एक पदार्थ जाते-जाते आज एक भी पदार्थ यहाँ दृष्टिगत न होता, परन्तु अनेकों पदार्थ यहाँ परस्पर में मिश्रित दिख पड़ते हैं, इसलिए मानना चाहिए कि जिसके बिना गति नहीं होती ऐसा दूसरा पदार्थ है और वह लोक में ही है, अलोक में नहीं। अतएव लोक के भीतर गति होती है, और लोक के बाहर पदार्थ जा नहीं पाते हैं।

जबकि पदार्थों के गमन का एक दूसरा कारण है तो गमन एक बार जो हुआ वह सतत न होता रहे, किन्तु स्थिति होने के समय पदार्थ ठहर भी जाए, इसलिए स्थितिसाधक उदासीन निमित्त भी एक मानना चाहिए। उस निमित्त को 'अधर्म द्रव्य' कहते हैं। इसका उदाहरण यह है कि एक पुरुष जो सूर्य की किरणों से सन्तापित होकर ठहरना तो चाहता है, परन्तु छाया जहाँ हो वहाँ ठहरता है। यद्यपि छाया में यह शक्ति नहीं है कि वह मनुष्य को बलात् ठहरा ले, तो भी ठहरनेवाले के लिए वह कारण है। इसी प्रकार उदासीन कारणता अधर्म-द्रव्य में है। यह अधर्म द्रव्य का उपयोग हुआ। आकाश का उपयोग अवगाह देना है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह ये धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य तथा काल द्रव्य, ये चारों द्रव्य ऐसे हैं कि जीव-पुद्गल के सम्बन्ध से इनका सद्भाव जाना जाता है। जीव-पुद्गल न होते तो इन चारों का सिद्ध होना भी कठिन होता है। इन चारों की सिद्धि आगे खुलासा करेंगे।

पुद्गलों का उपकार—

पुद्गलानां शरीरं वाक् प्राणापानौ तथा मनः।
उपकारः सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा॥ 31॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य के उपयोग क्या हैं? शरीर बनाना, वचन उत्पन्न होना, श्वासोच्छ्वास चलना, मन का होना एवं सुख, दुःख, जीवन, मरण—ये सब पुद्गल के कार्य हैं। यद्यपि जीव के सम्बन्ध से ये सब होते हैं तो भी उपादान कारण इन सब के लिए पुद्गल द्रव्य ही है। प्रथम चार के लिए पुद्गल उपादान व जीव निमित्त है, परन्तु सुखादि चार कार्यों के लिए जीव की मुख्यता है। तो भी वे पुद्गल सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकते हैं, इसलिए वे भी पुद्गल के उपकार बताये गये हैं।

जीवों का और काल का उपकार—

परस्परस्य जीवानामुपकारो निगद्यते।
उपकारस्तु कालस्य वर्तना परिकीर्तिता॥ 32॥

अर्थ—जीव परस्पर में एक-दूसरे की सहायता करते हैं—यह उनका उपयोग है। काल का उपयोग वर्तना है, अर्थात् काल सभी वस्तुओं के परिणमन में सहयोगी होता है। परिणमन का नाम वर्तना है।

धर्म द्रव्य का स्वरूप—

क्रिया परिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम्।
आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते॥ 33॥

अर्थ—जो स्वयं गमन—सामर्थ्य युक्त हों और गमन करने लगे हों, उन्हें जो सहायता देता है या सहायता पहुँचाता है उसे 'धर्म द्रव्य' कहते हैं।

धर्म द्रव्य का दृष्टान्त—

जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे।
जलवन् मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः॥ 34॥

अर्थ—गमन शक्तिवाले दो ही द्रव्य हैं, जीव और पुद्गल। इन दोनों द्रव्यों का जब-जब गमन होता है, तब-तब धर्म द्रव्य एक साधारण सहायक बन जाता है। जैसे मछलियों के चलने में जल सहायक होता है।

प्रश्न—यहाँ धर्म द्रव्य को समझाने के लिए मछली और जल का ही दृष्टान्त क्यों दिया? उत्तर—मछली जल के बिना नहीं रह सकती, मछली हजार फुट ऊपर से भी नीचे गिरनेवाले पानी के सहारे

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर चढ़ सकती है, तीव्र वेग के बीच भी रुक सकती है, जल का वेग उसे बहा नहीं सकता है, इसीलिए 'द्रव्य संग्रह' की गाथा में 'अच्छंता णेव सो णेई' अर्थात् ठहरे हुए जीव एवं पुद्गल को धर्म द्रव्य नहीं चलाता ऐसा कहा है। अभिप्राय यह है कि जब यह जीव या पुद्गल ऊर्ध्वगमन करता है तो जल में मछली की तरह ऊपर को चढ़ता है उसमें धर्म द्रव्य सहायक होता है।

अधर्म द्रव्य का स्वरूप—

स्थित्या परिणतानां तु सचिवत्वं दधाति यः।
तमधर्मं जिनाः प्राहुर्निरावरण-दर्शनाः॥ 35॥

अर्थ—स्थित होने में लगे हुए पदार्थों को जो सहायता देता है, उस द्रव्य को प्रत्यक्षज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् 'अधर्म' कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान् अनावरणज्ञानी हैं, वे जो कहते हैं वह सब सत्य है।

अधर्म द्रव्य का दृष्टान्त—

जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये स्थित्युपग्रहे।
साधारणाश्रयोऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ॥ 36॥

अर्थ—स्थित तो सभी पदार्थ हैं, परन्तु जो चलता-चलता स्थित हो वह स्थित कहा जाता है, इसलिए 'अधर्म' को,ठहरते हुए जीव पुद्गलों के स्थित होने में सर्वसामान्य सहायक मानते हैं। जैसे, पशुओं के ठहरने में पृथिवी ही है। उसी प्रकार गमन में धर्म द्रव्य की तरह यह 'अधर्म द्रव्य' यावत् ठहरने में एक सामान्य कारण है। अधर्म द्रव्य को समझाने के लिए छाया और पथिक का उदाहरण भी देते हैं। जिस प्रकार वृक्ष की छाया वृक्ष के नीचे आसपास ही रहती है, पथिक छाया में रुक भी सकता है, अन्यथा छाया से निकलने पर छाया पथिक को रोकती नहीं है, अतः 'द्रव्यसंग्रह' की गाथा में 'गच्छंता णेव सो धरई' अर्थात् चलते हुए को अधर्म द्रव्य ठहराता नहीं है—यह कथन समीचीन है।

आकाश द्रव्य का लक्षण—

आकाशान्तेऽत्र द्रव्याणि स्वयमाकाशतेऽथवा।
द्रव्याणामवकाशं वा करोत्याकाशमस्यतः॥ 37॥

अर्थ—सभी द्रव्य इसमें प्रकाशित होते हैं और स्वयं भी यह प्रकाशित होता रहता है एवं सब द्रव्यों को यह अवकाश देता है, इसलिए इसे आकाश कहते हैं। इस प्रकार इस द्रव्य का 'आकाश' नाम पड़ने में उक्त तीन हेतु हैं।

आकाश द्रव्य का कार्य—

जीवानां पुद्गलानां च कालस्याधर्म-धर्मयोः।
अवगाहन-हेतुत्वं तदिदं प्रतिपद्यते॥ 38॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, काल, अधर्म, धर्म—इन पाँचों द्रव्यों का प्रवेश कर रखना ही आकाश का प्रयोजन है। छह द्रव्यों में से पाँच प्रवेश करनेवाले हैं और छठा यह आकाश द्रव्य प्रवेश करा लेनेवाला

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है। जो दूसरों को प्रवेश करा लेता है उसे अपने रहने के लिए स्थान देखने की अलग जरूरत नहीं पड़ती है, इसलिए वह आप भी अपने में ही रहता है।

धर्म द्रव्य की क्रिया गमन कराने की है, अधर्म द्रव्य की ठहराने की है और आकाश की क्रिया इतर द्रव्यों का प्रवेश करा लेने की है। ये सब क्रिया कब हो सकती हैं जब कि क्रिया करानेवाले धर्मादि द्रव्य स्वयं चंचल हों, परन्तु धर्मादि द्रव्यों में चंचलता है नहीं तो फिर वे किस प्रकार दूसरों में क्रिया करा सकेंगे? इस प्रश्न का उत्तर—

धर्मादि द्रव्यों की सार्थकता—

क्रिया-हेतुत्वमेतेषां निष्क्रियाणां न हीयते।
यतः खलु बलाधानमात्रमत्र विवक्षितम्॥ 39॥

अर्थ—धर्मादि द्रव्य स्वयं निश्चल हैं, तो भी क्रिया करा देना असम्भव नहीं है। जो प्रेरणा करके किसी को चंचल करना चाहे उसे स्वयं चंचल होना पड़ता है, परन्तु ये प्रेरणा नहीं करते हैं। केवल गमनादि क्रियाओं का बल द्रव्यों में आरोपित कर देते हैं।

जैसे, एक मनुष्य पुस्तक पढ़ना चाहे तो पढ़ेगा वह स्वयमेव, परन्तु दीप या सूर्यादि का प्रकाश न हो तो नहीं पढ़ सकता है, इसलिए दीपक स्वयं पढ़ाने की प्रेरणा न करता हुआ भी कारण माना[1] जाता है। क्योंकि, पढ़ने का वह सामर्थ्य उसी ने दिया है।

काल का प्रयोजन व लक्षण—

स कालो यन्निमित्ताः स्युः परिणामादि-वृत्तयः।
वर्तना-लक्षणं तस्य कथयन्ति विपश्चितः॥ 40॥

अर्थ—जिसके निमित्त से वस्तुओं में परिणाम क्रिया इत्यादि कार्य होते हैं और छोटे-बड़े का व्यवहार होता है उसे 'काल' कहते हैं।

1. वस्तुओं में जो इधर से उधर जाने की क्रिया होती है उसे यहाँ क्रिया कहा है। 2. क्रिया के सिवाय जितने और परिवर्तन होते हैं उन्हें 'परिणाम'[2] कहते हैं। 3. प्रथम उत्पन्न हुए को बड़ा कहते हैं। 4. पीछे से उपजने वाले को छोटा कहते हैं। ये चारों बातें काल के निमित्त से होती हैं। परत्वापरत्व का अर्थ छोटा-बड़ा होता है और आगे-पीछे ऐसा भी होता है। ये दोनों अर्थ वस्तुओं में रहते हैं तथा क्षेत्र में भी दिख पड़ते हैं, परन्तु यहाँ काल सम्बन्ध से जो वस्तुओं में होते हैं वे ही लेने चाहिए। क्योंकि यह प्रकरण काल का है। उक्त चारों ही कार्य इस काल द्रव्य के सूचक हैं, परन्तु निर्दोष लक्षण 'वर्तना' है, ऐसा विद्वान लोग कहते हैं।

वर्तना का लक्षण—

[3]अन्तर्नीतैक-समया प्रतिद्रव्य-विपर्ययम्।
अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना॥ 41॥

---

1. यथा कारीषोऽग्निरध्यापयतीति।—सर्वा.सि., वृ. 569
2. द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः।—रा.वा. 5/22, वा. 10
3. प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना।—रा.वा. 5/22, वा. 4

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—प्रत्येक द्रव्य के, प्रत्येक सूक्ष्म पर्याय में जो एक समय के भीतर उसकी सत्ता का अनुभव होते दिखता है वह वर्तना समझनी चाहिए।

वर्तना की सहायकता—

आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः।
वर्तनाकरणात्कालो[1] भजते हेतुकर्तृताम्[2] ॥ 42 ॥

अर्थ—द्रव्यों में जो अपने-अपने पर्याय होते रहते हैं, वे अपने आप ही होते हैं तो भी उनका वर्तन कराना काल के अधीन है, इसलिए वर्तन-क्रिया का मूलकर्ता तो स्वयं अपना द्रव्य ही होता है, परन्तु हेतुकर्ता काल है। क्रिया के कर्ता को जो सहायता देता है उसे हेतुकर्ता कहते हैं। सभी पदार्थ अपने पर्यायों के करने में कर्ता आप ही रहते हैं तो भी काल उन सबों को सहायता देता है, इसलिए मूल कर्ताओं की क्रिया देखी जाए तो पर्यायों का वर्तना है और सहायक काल की क्रिया देखी जाए तो वर्ताना है। यहाँ जो वर्तना को काल का लक्षण कहा है उस वर्तना का अर्थ वर्ताना ही है। 'वर्तना' का अर्थ वर्तना भी होता है, परन्तु वह शक्ति या क्रिया वस्तुओं के अन्तर्गत रहनेवाली हो सकती है, इसीलिए वह काल का ठीक लक्षण है।

काल की निष्क्रियता का समर्थन—

न चास्य हेतुकर्तृत्वं निष्क्रियस्य विरुध्यते।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतु-कर्तृत्वमिष्यते ॥ 43 ॥

अर्थ—धर्मादि द्रव्यों की तरह काल भी स्वयं निष्क्रिय है, तो भी पर्याय उत्पन्न करनेवाले द्रव्यों की निमित्तमात्र सहायता करने में कुछ असम्भवता नहीं हो सकती है, क्योंकि जो उदासीन होते हैं वे भी हेतुकर्ता या कर्ताओं के सहायक कहे जा सकते हैं। यहाँ भी उदाहरण दीपक का समझिए। दीपक, पढ़ने में सहायक हो सकता है तो भी वह स्वयं किसी क्रिया को करता नहीं है।

निश्चय काल द्रव्य की स्थिति—

एकैकवृत्त्या प्रत्येकमणवस्तस्य निष्क्रियाः।
लोकाकाश-प्रदेशेषु, रत्नराशिरिव स्थिताः ॥ 44 ॥

अर्थ—लोकाकाश के प्रदेशों में कालद्रव्य के एक-एक अणु ठहरे हुए हैं। वे अणु परस्पर में बद्ध नहीं है, एक-दूसरे से भिड़े हुए हैं, इसीलिए वे एक रत्नराशि के समान कहे जाते हैं। वे अणु जुदे-जुदे होने से काल द्रव्य की असंख्यात संख्या मानी जाती है। काल द्रव्य को समझाने के लिए रत्नों की राशि का दृष्टान्त क्यों दिया? उत्तर—जैसे लोक-व्यवहार में रत्न कीमती होते हैं, उसी प्रकार काल द्रव्य

---

1. णिजन्ताद्युचि वर्तना।—रा.वा. 5/22, वा. 2
2. तद्योजको हेतुः॥ क्रियायाः कर्तुर्यः प्रयोजको भवति स हेतुकर्तृसंज्ञको भवेत्। हेतौ णिचु।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(समय) कीमती है। रत्न कभी पुराने नहीं होते वैसे समय पुराना नहीं होता। गेहूँ आदि में घुन लग जाती है तो वे चिपक जाते हैं। रत्नों में ऐसी घुन नहीं लगती, चिपकते नहीं हैं, उसी तरह कालाणु में भी घुन नहीं लगती, चिपकते नहीं हैं अतः काल द्रव्य को समझाने के लिए रत्नराशि का दृष्टान्त दिया है।

व्यवहार काल के चिह्न—

व्यावहारिक-कालस्य परिणामस्तथा क्रिया।
परत्वं चापरत्वं च लिंगान्याहुर्महर्षयः॥ 45॥

अर्थ—निश्चय काल के द्वारा जो पदार्थों में विशेषता होती है उसे महर्षियों ने व्यवहार काल की सूचक कहा है। उसके चार प्रकार हैं—(1) परिणाम, (2) क्रिया, (3) परत्व, और (4) अपरत्व।

परिणाम का लक्षण—

स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः।
परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः॥ 46॥

अर्थ—अपनी जाति को न छोड़ते हुए वस्तुओं में जो विकार हो उसे जिन भगवान् परिणाम कहते हैं, परन्तु इतना विशेष है कि वह विकार चंचलतायुक्त नहीं होना चाहिए। क्रिया को आगे कहते हैं। उससे इस परिणाम में चंचलता न होने की ही विशेषता है।

कालकृत क्रिया का लक्षण—

प्रयोगविस्त्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते।
द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया॥ 47॥

अर्थ—द्रव्यों में जो चंचलता युक्त विकार हो उसे क्रिया कहते हैं। क्रिया कुछ तो ऐसी होती हैं जो मनुष्यों के प्रयत्न से उत्पन्न हों और कुछ ऐसी होती हैं जो स्वयं ही निमित्त मिलने पर उत्पन्न हो जाती हैं। जो क्रिया स्वयं होती हैं उन्हें वैस्रसिक क्रिया कहते हैं और जो मनुष्य के प्रयत्न से होती हैं उन्हें प्रायोगिक कहते हैं।

कालकृत परत्वापरत्व का लक्षण—

परत्वं विप्रकृष्टत्वमितरत् सन्निकृष्टता।
ते च कालकृते ग्राह्ये कालप्रकरणादिह॥ 48॥

अर्थ—दूर का नाम परत्व है और समीप का नाम अपरत्व है। यहाँ काल का प्रकरण होने से काल सम्बन्धी दूरता एवं समीपता को ग्रहण किया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार काल-समय के प्रतीक—

ज्योतिर्गतिपरिच्छिन्नो मनुष्या क्षेत्रवर्त्यसौः।
यतो नहि वहिस्तस्माज्-ज्योतिषां गतिरिष्यते॥ 49॥

अर्थ—इस व्यवहार काल की प्रवृत्ति मनुष्य क्षेत्र में सूर्यादिकों के गमन से सिद्ध होती है। क्योंकि, सूर्यादि ज्योतिश्चक्र का गमन मनुष्यलोक के भीतर ही है; बाहर नहीं है। सूर्यादिकों के गमन में दिन और रात का विभाग सिद्ध होता है। दिन-रात का विभाग सिद्ध हुआ कि घड़ी, मुहूर्त, मास, वर्ष आदि की कल्पनाएँ सहज में ही सिद्ध हो जाती हैं; इसी का नाम व्यवहार काल है। जहाँ पर सूर्यादिकों की गति नहीं होती, ऐसे क्षेत्र अढ़ाई द्वीप के बाहर के द्वीप, समुद्र हैं तथा स्वर्ग, नरकादिक हैं। वहाँ पर दिन-रात की कल्पना भी नहीं होती है, अतएव इस प्रकार का व्यवहार काल भी वहाँ पर नहीं है। यद्यपि इस प्रकार का काल-व्यवहार वहाँ पर नहीं है, परन्तु अब तब आदि दूसरा अनेक प्रकार का व्यवहार वहाँ भी होना ही चाहिए, उस व्यवहार की सिद्धि वहाँ के अन्य पर्यायों द्वारा बन सकती है। उन कारणों का यहाँ पर प्रयोजन न होने से उल्लेख नहीं किया है।

व्यवहार काल के पर्याय—

भूतश्च वर्तमानश्च भविष्यन्निति च त्रिधा।
परस्पर व्यपेक्षत्वाद् व्यपदेशो ह्यनेकशः॥ 50॥

अर्थ—जो परिणामादि द्वारा सूचित होनेवाला व्यवहार काल है उसके भूत, भविष्यत्, वर्तमान—ये तीन भेद हैं। परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा जब देखने में आती है तभी भूतादि कल्पनाएँ होती हैं, इसीलिए इन कल्पनाओं के और भी अनेक तरह नाम रखे जा सकते हैं। जैसे, एक बीती हुई चीज को भूत कहते हैं, परन्तु जो उससे भी पहले बीत चुकी हो उसे परभूत कहेंगे और तब इसे अपरभूत कहेंगे। इसी प्रकार वर्तमान तथा भविष्यत् व्यवहार काल में भी भेद हो सकते हैं।

भूत-भविष्यत् आदि व्यवहार का दृष्टान्त व निदान—

यथानुसरतः पङ्क्ति बहूनामिह शाखिनाम्।
क्रमेण कस्यचित्पुंस एकैकानोकहं प्रति॥ 51॥
सम्प्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् व्यपदेशः प्रजायते।
द्रव्याणामपि कालाणूः तथानुसरतामिमान्॥ 52॥
पर्यायं चानुभवतां वर्तनाया यथाक्रमम्।
भूतादि-व्यवहारस्य गुरुभिः सिद्धिरिष्यते॥ 53॥
भूतादि-व्यपदेशोऽसौ मुख्यो गौणो ह्यनेहसि।
व्यावहारिक-कालोऽपि मुख्यतामादधात्यसौ॥ 54॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य बहुत से वृक्षों की एक पंक्ति में से पार होना चाहता हो तो वह क्रम से एक-एक वृक्ष के पास होकर गमन करता जाएगा। चलते-चलते जो वृक्ष उस मनुष्य के पीछे रह गये हों उनको तो वह प्राप्त हो चुका और जिनके पास में अभी है उनको प्राप्त हो रहा है, एवं जो वृक्ष अभी आगे हैं उनको वह प्राप्त होगा। ऐसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान सम्बन्धी संयोग की अपेक्षा से जुदे-जुदे विशेषण उस मनुष्य में जोड़े जा सकते हैं। इसी प्रकार काल द्रव्य भी कालाणुओं की पंक्ति का स्पर्श करते हुए क्रम से भूत, भविष्यत्, वर्तमान नामों को पाते हैं।[1]

गुरुओं का इस भूतादि नामकरण के विषय में ऐसा उपदेश है कि द्रव्यों को कालाणुओं का स्पर्श तथा वर्तना स्वभाव के पर्यायों का अनुभव होने से यथाक्रम भूत, भविष्यत् व वर्तमान विशेषण प्राप्त होते हैं। द्रव्यों के पर्यायों में भूतादि व्यवहार होने का यही असाधारण हेतु है। भावार्थ—काल की गति अविच्छिन्न सदा चलती ही रहती है। उसका गति-प्रवाह होने के लिए अन्य सहायकों की आवश्यकता नहीं पड़ती है और इतर कारणों का सम्पर्क न होने से औपाधिक कोई विशेष नाम भी काल को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। काल कहना ही निरुपाधि नाम दिख पड़ता है। भूतादिक नाम कालनिमित्तक केवल वस्तु-पर्यायों के हो सकते हैं।

लोगों की प्रवृत्ति भी ऐसी ही देखने में आती है। औपाधिक विशेष नाम उसी चीज में सम्भव हो सकते हैं जो स्वयं अकेली भी आप प्रसिद्ध हो और फिर कदाचित् उसका दूसरे किसी पदार्थ से सम्बन्ध जुड़ा हो। जो स्वयं प्रसिद्ध न हो, किन्तु इतर प्रसिद्ध पदार्थों की किसी अवस्था का उत्पादन होने से प्रसिद्ध होता है उसमें औपाधिक विशेष नाम कहाँ से प्रसिद्ध हो सकता है? क्योंकि उसकी सिद्धि होना भी स्वयं अनुमानाधीन है। ऐसे पदार्थ का नाना प्रकार से लोगों में उपयोग होना सम्भव है। यही अवस्था काल की है। काल इसलिए माना जाता है कि जीवादि वस्तुओं के पर्यायों को भूत-वर्तमानादि विशेषण युक्त कहना काल के बिना नहीं बनता, इसीलिए उक्त वस्तुओं के पर्यायों में भूतादि नाम जोड़ना तो मुख्य व्यवहार तो हो सकता है, परन्तु जो कोई काल को ही भूतादि नाम लगाते हैं, वह उनका औपचारिक प्रयोग है। क्योंकि काल स्वयं अप्रसिद्ध है; और इतर वस्तुएँ स्वयं प्रसिद्ध हैं, इसलिए इतर वस्तुओं में लोगों की औपचारिक आदि अनेक कल्पनाएँ जुड़ना युक्त है। पर निमित्त से सिद्ध हुए नामों को औपाधिक या औपचारिक नाम कहते हैं। औपचारिक कल्पनाएँ भी परनिमित्त से ही होती हैं।

काल द्रव्य का स्पष्टीकरण : इस काल द्रव्य की कल्पना दो तरह की है—निश्चय और व्यावहारिक। मूल तत्त्व तो निश्चय काल कहा जाता है। उसके अधीन जो भूतादि व्यवहार होता है वह व्यावहारिक काल है। व्यावहारिक काल का दो तरह अर्थ होता है। कितने ही लोग निश्चय काल को वस्तु-पर्यायों को उत्पन्न करने का कारण मानते हैं और उससे उत्पन्न हुए वस्तु-पर्यायों को व्यवहार काल—ऐसा कहते हैं। कितने ही लोग, वस्तु-पर्याय में काल की जिस रूप से सहायता लगती है उसे व्यवहार काल कहते हैं। इस दूसरे अर्थ की तरफ लक्ष्य दिया जाए तो व्यवहार काल भी मुख्य काल का ही पर्यायरूप हो जाता है। उसमें भूतादिक नाम जोड़ना केवल गौण पक्ष है। उसे केवल काल तथा समयादि शब्दों से ही सम्बोधन बन सकता है। इस, दूसरे अर्थ के अनुसार व्यवहार काल को भूतादि

1. यथा वृक्षपङ्क्तिमनुसरतो देवदत्तस्यैकैकतरं प्रति प्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् व्यपदेशस्तथा तत्कालाणूननुसरतां द्रव्याणां क्रमेण वर्तनापर्यायमनुभवतां भूतवर्तमानभविष्यद्व्यवहारसद्भावः।—रा.वा. 5/22, वा. 25

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायों का तथा पचन, गमन आदि क्रियाओं का हेतुमात्र कह सकते हैं। जैसे कि धर्म द्रव्य को गतिहेतु कह सकते हैं, न कि स्वयं गतिरूप कह सकते हों। इसी प्रकार 'अब, तब' इत्यादि कल्पनाओं से भी काल द्रव्य की ही सिद्धि होती है।

किसी भी पर्याय में जो अब, तब इत्यादि कल्पना होती है उसका कुछ भी कारण होना चाहिए। उसी कारण को काल कहते हैं। अब, तब ऐसी कल्पना यद्यपि वस्तुओं के देखने पर ही होती है, परन्तु उन वस्तुओं का वह स्वाभाविक-सा धर्म जाना नहीं जा सकता है, इसीलिए जो कल्पना उसके देखने पर ही होती है, परन्तु उन वस्तुओं का वह स्वाभाविक-सा धर्म मानते हैं। जिसकी उत्पत्ति का कारण भिन्न नहीं होता वह स्वाभाविक-सा उत्पन्न हुआ जान पड़ता है। यदि 'अब' इसी प्रकार की होनी चाहिए और या 'तब' इसी प्रकार की होनी चाहिए। स्वाभाविक गुण धर्म, बिना परनिमित्त के अपना विरूप कभी नहीं कर सकते हैं, इसीलिए वे सदा एक से रहते हैं।

जैसे, ज्ञान गुण में जब तक परनिमित्त नहीं मिलता तब तक उसका विपर्यास नहीं होता। परनिमित्त मिलने पर विपर्यास अवश्य ही होता है। इसी प्रकार स्वयं वस्तु 'अब' तथा 'तब' ऐसे दो रूप बदल नहीं सकती है, इसलिए अब, तब आदि भिन्न स्वरूपों के होने से उन स्वरूपों का उत्पादक भिन्न कारण मानना पड़ता है। यदि इस युक्ति से काल द्रव्य की सिद्धि न होगी तो आकाशादि द्रव्य भी सिद्ध होना कठिन हो जाएगा।

पुद्गल शब्द का अर्थ—

भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद् गलनादपि।
पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति॥ 55॥

अर्थ—विदारण या संयोगादि निमित्तों से जो टूटते-फूटते भी रहते हैं—उपचित होते हैं, उन्हें पुद्गल कहते हैं। पुद्गल स्वभाव के ज्ञाता जिनेन्द्र ने पुद्गल का यह शब्दार्थ कहा है।

पुद्गलों के मूल भेद—

अणु-स्कन्ध-विभेदेन द्विविधाः खलु पुद्गलाः।
स्कन्धो देशः प्रदेशश्च स्कन्धस्तु त्रिविधो भवेत्॥ 56॥
अनन्त-परमाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते।
देशस्तस्यार्धमर्धार्धं प्रदेशः परिकीर्तितः॥ 57॥

अर्थ—पुद्गलों के दो प्रकार देखने में आते हैं—अणु और स्कन्ध। इनके लक्षण आगे कहेंगे। स्कन्ध का साधारण अर्थ 'अनेक परमाणुपिण्ड' होता है। जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके ऐसे अतिसूक्ष्म अविभाज्य एक टुकड़े को परमाणु कहते हैं। स्कन्ध तीन प्रकार के मिलते हैं जो संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले होते हैं। उनमें से एक का नाम स्कन्ध, दूसरे का नाम देश और तीसरे का नाम प्रदेश है। अनन्त-अनन्त परमाणु जिस पिंड में मिले हुए हों उसे स्कन्ध कहते हैं। उससे आधे परमाणुओं के पिंड को देश तथा उससे भी आधे परमाणुओं के पिंड को प्रदेश कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्कन्ध-परमाणु बनने का कारण—

भेदात्तथा च संघातात् तथा तदुभयादपि।[1]
उत्पद्यन्ते खलु स्कन्धा भेदादेवाणवः पुनः॥ 58॥

अर्थ—स्कन्धों में से कुछ की उत्पत्ति फूटने पर होती है, कुछ की जुड़ने पर होती है और कुछ की उत्पत्ति होने में फूटना और जुड़ना—ये दोनों ही बातें लगती हैं, परन्तु परमाणु सदा फूटने पर ही उत्पन्न होता है। संयोग से उसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती; क्योंकि, यदि जघन्य से जघन्य पुद्गल का भी संघात हुआ तो दो अणु तो अवश्य ही इकट्ठे हो जाएँगे और दो अणु एकत्र हुए कि वह स्कन्धों की श्रेणी में आ जाएगा। इस प्रकार संघात होने पर पुद्गल में परम अणु अवस्था रहना कठिन है, इसलिए परमाणु की उत्पत्ति का कारण भेद होना ही है। वह भेद अन्तिम भेद होगा। बीच में भेद ऐसे भी होते हैं जो कि स्कन्धों के ही देश, प्रदेश बनाते हैं।

अब रहे स्कन्ध, उनकी उत्पत्ति तीन तरह से होती है : 1. कोई एक स्कन्ध फूटने-टूटने पर दो स्कन्ध जो तैयार होंगे वे भेदपूर्वक हुए कहलाएँगे। 2. दो स्कन्ध अथवा दो परमाणु जुड़ जाने पर जो एक स्कन्ध होगा उसे संघातपूर्वक हुआ मानना चाहिए। इसी प्रकार दो से अधिक परमाणु या स्कन्धों का मेल होने पर भी जो स्कन्ध तैयार होते हैं वे सब संघातपूर्वक हुए ही माने जाते हैं। 3. स्थूल सूक्ष्मादि विसदृश दो स्कन्धों का जब मेल होता है तो पूर्ण मेल नहीं होता। निर्बल एक स्कन्ध दूसरे सबल स्कन्ध में पूर्णतया मिल नहीं सकता। उस समय निर्बल का कुछ अंश फूट-टूटकर जुदा रह जाता है और कुछ मिल जाता है। इस प्रकार वहाँ जो तृतीय स्कन्ध उत्पन्न होता है वह भेद व संघात—इन दोनों की क्रिया से होता है। ऐसे ही स्कन्धों को भेद-संघातपूर्वक उत्पन्न माना जाता है। जब ये भेद-संघात दोनों एकदम हों तभी दोनों[2] को जुदा कारण मानना चाहिए। जब भिन्न-भिन्न समयों में भेद और संघात, ये दोनों हों तो उस क्रिया को भेद और संघात में से एक—कारणजन्य ही मानना ठीक है। इस प्रकार स्कन्धों की उत्पत्ति के तीन कारण जुदे-जुदे कहे गये हैं।

परमाणु का लक्षण एवं विशेषता—

आत्मादिरात्म-मध्यश्च तथात्मान्तश्च नेन्द्रियैः।
गृह्यते योऽविभागी च परमाणुः स उच्यते॥ 59॥
सूक्ष्मो नित्यस्तथान्यश्च कार्यलिंगस्य कारणम्।
एकगन्ध-रसश्चैकवर्णो द्विस्पर्शकश्च सः॥ 60॥

---

1. अन्यतो भेदेन अन्यस्य संघातेनेत्येवं भेदसंघाताभ्यामेकसमयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते।—सर्वा.सि., वृ. 576
2. भेद व संघात को जब जुदा-जुदा कारण मान लिया है तो भेद-संघात जो एक समयवर्ती होंगे वे भी उक्त दो कारणों में गर्भित हो सकते हैं, परन्तु एक समयवर्ती दोनों को ही वहाँ कारण मानना चाहिए। वहाँ किसी एक को कारण मानना ठीक नहीं है। ऐसा इस तृतीय भेद को जुदा गिनाने का प्रयोजन है। जैसे लोहे की हथौड़ी से हमने गिट्टी को फोड़ा अर्थात् पत्थर पर हथौड़ी लगते ही पत्थर के दो टुकड़े हुए, परन्तु उन दोनों टुकड़ों के साथ लोहे के परमाणु चिपककर मिल गये जिससे संघात हुआ, अतः यह तीसरा भेद, भेद-संघात कहलाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—किसी भी पदार्थ में आदि, मध्य, अन्त—ये तीन भेद कम से कम अवश्य हो सकते हैं ऐसी लोगों की समझ है, परन्तु जो अतिसूक्ष्म हो उसमें ये भेद होना असम्भव है। अतिसूक्ष्म कहने का अर्थ इतना ही है कि उसका फिर विभाग नहीं हो सकता है। जिसमें विभाग नहीं हो सकते हों उसके आदि मध्यादि भेद कैसे होंगे? परमाणु भी ऐसा ही होता है। वह अतिसूक्ष्म होता है। किसी स्थूल पदार्थ के टुकड़े होते-होते जो अविभागी टुकड़े तक पहुँच जाता है, उस अवस्था को परमाणु कहते हैं। उसकी सूक्ष्मता का वर्णन यों करते हैं—

आदिम विभाग करने का यदि प्रयत्न किया जाए तो जो स्वत: सम्पूर्ण ही आदि में आ जाता हो, मध्य विभाग करने पर जो मध्य में सबका सब आ जाता हो और अन्तिम विभाग करने पर अन्त में भी सबका सब आ जाता हो—अर्थात् जो विभागयोग्य ही न हो उसे परमाणु कहते हैं। यह भी अतिसूक्ष्मता का ही कारण है कि वह इन्द्रियगोचर नहीं हो सकता है। वह अतिसूक्ष्म होता है और नित्य भी होता है। पुद्गल की अन्तिम दशा वही है। बहुत से परमाणु मिलने पर ही कार्ययोग्य स्थूल घटपटादि पदार्थ तैयार होते हैं, इसलिए वे परमाणु ही उन सबों के मूल कारण हैं, परन्तु स्कन्धों से ही वे जाने जाते हैं।

एक से अधिक परमाणुओं के मिलने पर भी सूक्ष्मता शीघ्र नष्ट नहीं हो पाती है, इसलिए कुछ स्कन्धों का भी सूक्ष्म स्वभाव माना गया है, परन्तु उस सूक्ष्मता का भी कारण परमाणुगत सूक्ष्मता ही है, इसलिए परमाणुओं का सूक्ष्मता स्वभाव ही वास्तविक सूक्ष्मता स्वभाव है।

परमाणु जब तक एक स्कन्ध में मिल न चुका हो, तब तक जैसा कुछ रहता है वैसा ही मिलकर छूटने पर भी रहता है। यह बात किसी भी स्कन्ध में दिख नहीं पड़ती है। स्कन्ध एक समय, एक प्रकार का होता है तो दूसरे समय उन्हीं परमाणुओं का होकर भी वह दूसरे प्रकार का हो जाता है। यह बन्धन की विचित्रता है, इसीलिए किसी भी स्कन्ध को नित्य नहीं कह सकते हैं, परन्तु परमाणुओं को उक्त अपेक्षा से नित्य कह सकते हैं। यदि यह अपेक्षा न मानी जाए तो कार्यमय घटपदादिक स्कन्ध तथा परमाणुओं को एक से विशेषण भी लगाये जा सकते हैं अर्थात् परमाणु तथा स्कन्ध में परस्पर अवयव-अवयवी रूप सम्बन्ध होता रहता है और छूटता भी रहता है, इसलिए नित्य हैं तो दोनों ही नित्य हैं और अनित्य हैं तो दोनों ही अनित्य हैं; ऐसा मानना पड़ता है। यह सापेक्ष नित्यानित्यपना, द्रव्य लक्षण कहते समय बता चुके हैं और उसका समर्थन भी कर चुके हैं।

परमाणुओं को कार्यरूप घटादिद्रव्यों का जो कारण माना है वह अपेक्षावश माना है। किसी स्कन्ध के फूटने-टूटने पर जो परमाणु व्यक्त होते हैं उन परमाणुओं का कारण वह स्कन्ध है और स्कन्ध बनते समय, उस स्कन्ध का कारण वे परमाणु हैं। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के कारण होते हैं और दोनों ही एक-दूसरे के कार्य हैं, परन्तु शुद्ध पुद्गल द्रव्य का स्वरूप देखना चाहें तो स्कन्ध में नहीं रहता, वह परमाणुओं में रहता है। स्कन्ध की अवस्था सदा अशुद्ध होती है, इसीलिए मूल अवस्था की तरफ विचार करने से वास्तविक कारण परमाणु द्रव्य ही जान पड़ता है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि स्कन्ध रूप अशुद्धता का आश्रय तथा उपादान कारण परमाणु ही है। वह अशुद्धता जब नष्ट हो जाती

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है तब फिर परमाणुओं का शुद्ध स्वरूप शेष रह जाता है, इसीलिए स्कन्ध रूप विकारी उत्पन्न होने में परमाणुओं की अपेक्षा पड़ती है। परमाणु रूप शुद्धता, विकार नष्ट होने पर, स्वयं प्रकट हो जाती है। अत एव परमाणु सदा कारण हैं और स्कन्ध सदा कार्य माने जाते हैं।

स्कन्ध के समय अनेकों विकारी धर्म व्यक्त होते हैं परन्तु, परमाणुओं की शुद्ध अवस्था में एक गन्ध, एक रस, एक कोई वर्ण तथा दो स्पर्शों के अतिरिक्त वे सब विकार नष्ट हो जाते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—ये सब स्वरूप बन्ध विचित्रता के वश स्कन्ध के समय ही दिख पड़ते हैं। मूल में ये परमाणुगत भेद नहीं हैं। यदि वास्तव में जलादि जातियों के परमाणु भिन्न-भिन्न रहते तो जल से वायु तथा वायु से जल एवं जल से पृथ्वी, पृथ्वी से जल-वायु-अग्नि इत्यादि रूपान्तर बनना सम्भव न होता, परन्तु ऐसा होते हुए दिखता है। यन्त्रों द्वारा जल का वायु और वायु से जल बनते हुए दिख पड़ते हैं। दियासलाई एक लकड़ी और गन्धक आदि पृथ्वी के पर्यायों का संयोग है, परन्तु घिसने पर उसमें से अग्नि प्रगट हो जाती है। ऐसे अनेक उदाहरणों को देखकर यही निश्चय करना ठीक जान पड़ता है कि ये सब बन्धन की विचित्रता से नानारूप हो जाते हैं; किन्तु जाति सब की एक है।

पुद्गल का लक्षण—

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शसंयुक्ताः परमाणवः।
स्कन्धा अपि भवन्त्येते वर्णादिभिरनुज्झिताः॥ 61॥

अर्थ—वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श—ये चारों गुण परमाणुओं में रहते हैं। चूँकि ये चारों गुण परमाणुओं में रहते हैं तभी तो परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं, इसलिए स्कन्ध भी उक्त चारों गुणों से रहित नहीं हो सकते हैं।

वर्ण के स्थूल भेद पाँच माने गये हैं : (1) काला, (2) हरा[1], (3) लाल, (4) पीला, (5) सफेद। गन्ध के सुगन्ध व दुर्गन्ध ये दो प्रकार हैं। रस के पाँच भेद हैं : (1) तीखा, (2) कडुवा, (3) कषाय, (4) खट्टा, (5) मीठा। स्पर्श आठ प्रकार का है : (1) कठोर, (2) मृदु, (3) हलका, (4) भारी, (5) चिकना, (6) रूखा, (7) ठंडा, (8) गरम। नेत्र—स्पर्शनादि इन्द्रियों से इतने प्रकारों का अनुभव सर्वत्र व सुगमता से होता हुआ दिख पड़ता है। इनके अतिरिक्त अधिक भेद भी हो सकते हैं, परन्तु वे सूक्ष्मभेद होंगे, इसीलिए उन्हें जुदा गिनाने में ग्रन्थकार ने उपेक्षा की है। हरा रंग, कुछ रंगों के मिलाने पर हो जाता है; अत एव पाँच भेद जो वर्ण के बताये हैं वे मूल भेद कैसे ठहर सकते हैं? ऐसी आशंका कुछ लोग करते हैं, परन्तु यह आशंका निर्मूल है। यहाँ पर मूल सत्ता की अपेक्षा से ये भेद नहीं लिखे गये हैं, किन्तु परस्पर के स्थूल अन्तर की अपेक्षा से हैं। इसी प्रकार रसादिक सम्बन्धी आशंका भी दूर कर लेनी चाहिए, क्योंकि वर्णादि भेदों की संख्या नियत होना अवश्य है।

वर्णादि चारों गुण तथा उत्तर बीस पर्यायों का रहना पुद्गल के सिवाय दूसरे किसी द्रव्य में नहीं

1. काले व नीले ऐसे दो भेद मानकर हरे रंग को कितने ही लोग जुदा नहीं मानते परन्तु गोम्मटसार गाथा संस्कृत टीका में काले नीले की जगह एक ही वर्ण माना है और हरा जुदा एक रंग माना है, यही ठीक भी है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होता, इसीलिए इनका रहना पुद्गल द्रव्य का लक्षण है। बीसों भेद यद्यपि स्कन्ध में मिलते हैं, परन्तु एकदम नहीं मिलते। रस के पाँच भेद, गन्ध के दो, वर्ण के पाँच—ये परस्पर में विरोधी पर्याय कालक्रमवर्ती हैं, इसलिए एक समय में उक्त तीनों गुणों के कोई तीन पर्याय ही रह सकते हैं, परन्तु कालक्रम से ये सभी भेद रहते हैं। ये सब पर्याय कालक्रमवर्ती हैं, इसलिए काल के भेद से उक्त सभी पर्यायों का एक-एक पदार्थ में रहना हो सकता है। स्पर्श के जो आठ भेद लिखे गये हैं उनके चार जोड़े किये गये हैं। जैसे कि शीत-उष्ण, कर्कश-मृदु, गुरु-लघु, स्निग्ध-रूक्ष। ये चारों अपने जोड़ों में एक-दूसरे के विरोधी रहते हैं। जब एक रहता है तब दूसरा नहीं रहता, परन्तु चार-चार एकदम रह सकते हैं। जैसे कि शीत, मृदु, गुरु, रूक्ष। ऐसा न समझना चाहिए कि चारों जोड़ों से पहले के ही चार रह सकते हैं अथवा अन्तिम चार ही रह सकते हैं, किन्तु इतना ही समझना चाहिए कि, किसी भी जोड़े के दोनों गुण युगपत् नहीं रहते, शेष कोई भी चार रह सकते हैं। अब रही परमाणुओं की बात, सो सभी आठ भेदों में से स्निग्ध व रूक्ष ये दो गुण तो परमाणुओं में रहते ही हैं। क्योंकि सूत्रकार ने स्वयं परमाणुओं का बन्ध स्निग्ध, रूक्षता के वश होने से लिखा है। इनके सिवा उष्ण व शीत ये दो गुण और भी परमाणुओं में रह सकते हैं। क्योंकि, इन दो गुणों का स्थूलता के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है और परमाणुओं के साथ कोई विरोध भी नहीं हो सकता है, इसीलिए परमाणु में उक्त चारों स्पर्शों में से दो स्पर्श रह सकते हैं। वर्णादिक तीन के मिलने से पाँच गुण परमाणु में एक साथ हो जाते हैं। शेष जो चार स्पर्श हैं वे स्कन्ध के ही विकार हैं। परमाणुओं में उनका प्रादुर्भाव होना असम्भव है। वर्णादि तीन गुणों के भेद सर्व बारह हैं। वे जिस प्रकार स्कन्ध में मिलते हैं उसी प्रकार परमाणुओं में भी मिल सकते हैं। सारांश, परमाणुओं में स्पर्श गुण के आठ पर्यायों में से चार नहीं मिलते, परन्तु वर्णादि तीन गुणों के जो मुख्य भेद हैं वे सभी मिलते हैं अर्थात् एक समय में एक परमाणु में चार गुणों के बीस उत्तर भेदों में से पाँच भेद मिल सकते हैं और स्कन्धों में एक समय में सात तक मिल सकते हैं।

पुद्गल के मुख्य पर्याय—

शब्द-संस्थान-सूक्ष्मत्व-स्थौल्य-बन्धसमन्विताः।
तमश्छाया-तपोद्योत-भेदवन्तश्च सन्ति ते॥ 62॥

अर्थ—शब्द, संस्थान, सूक्ष्मता, स्थूलता, बन्धन, तम, छाया, आतप, उद्योत और भेद ये दश अवस्थाएँ पुद्गल की ही असाधारण अवस्थाएँ हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी हैं कि जो स्कन्ध और परमाणु दोनों में मिलती हैं और कुछ केवल स्कन्ध के ही पर्याय हैं। इनका आगे खुलासा करते हैं।

शब्दों के भेद—

साक्षरोऽनक्षरश्चैव शब्दो भाषात्मको द्विधा।
प्रायोगिको वैस्त्रसिको द्विधाऽभाषात्मकोऽपि च॥ 63॥

अर्थ—कानों से जो सुना जाता है उसे शब्द कहते हैं। उसके भाषात्मक, अभाषात्मक, ऐसे दो भेद हैं। मुख से जो उत्पन्न हो वह भाषात्मक है। इसके अतिरिक्त जो दो वस्तुओं के आघात से उत्पन्न

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हो वह अभाषात्मक कहा जाता है। अभाषात्मक शब्द के उत्पन्न होने के दोनों निमित्त हैं; प्राणी तथा जड़ पदार्थ। जो केवल जड़ पदार्थों के आघात से उत्पन्न होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। प्राणियों के प्रयत्न से जो उत्पन्न हो उसे प्रायोगिक कहते हैं। बाँसुरी, भेरी, वीणा, ताल आदि के शब्दों को प्रायोगिक कहते हैं। मेघगर्जना आदि शब्दों को वैस्रसिक माना गया है। मुख से निकलने वाले शब्द जो अक्षर-पद-वाक्य रूप हों उन्हें साक्षर भाषात्मक कहते हैं। जो निरक्षर ध्वनि की जाती है उसे अनक्षर भाषात्मक कहते हैं। इन्हीं के दूसरे नाम वर्णात्मक व ध्वन्यात्मक भी हैं।

शब्द की मूर्तिकता : शब्द को नैयायिक लोग आकाश का गुण मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है। आकाश अमूर्तिक हैं, उसके गुण भी जितने होंगे वे अमूर्तिक ही होंगे। शब्द कानों से सुना जाता है, इसलिए अमूर्तिक नहीं हो सकता अतएव आकाश का गुण भी नहीं हो सकता है। अमूर्तिक पदार्थ तथा अमूर्तिक गुण बाहरी इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता है। कंठ, तालु आदि मूर्तिक वस्तुओं के सम्बन्ध से शब्द का प्रादुर्भाव होता है, इसलिए शब्द की उत्पत्ति के कारण भी मूर्तिक ही हैं। अमूर्तिक पदार्थ या गुण किसी मूर्तिक वस्तु को आघात नहीं पहुँचा सकता है, परन्तु शब्द से आघात उत्पन्न होता है। कुछ लोग उस आघात को उच्छ्वासादि वायु का कार्य मानते हैं, परन्तु ध्वनि भी उसी वायु में उत्पन्न होती है, उसे शब्द कहते हैं। वायु के अतिरिक्त ध्वनि का कोई दूसरा उपादान या आधार मानना युक्ति रहित है। इस प्रकार शब्द को मूर्तिक पुद्गल-पर्याय मानना ही युक्तियुक्त है।

संस्थान के भेद व उदाहरण—

संस्थानं कलशादीनामित्थंलक्षणमिष्यते।
ज्ञेयमम्भोधरादीनामनित्थंलक्षणं तथा॥ 64॥

अर्थ—संस्थान, आकृति को कहते हैं। नाना आकृतियों का होना पुद्गल द्रव्य में ही सम्भव है। आकृति एक तो ऐसी होती है कि जो कुछ नियत हो और जिसका मनुष्य कुछ नाम रख सकता हो। जैसे कि घटादि वस्तुओं की आकृति। घट की आकृति को कंबुग्रीवा आकृति कहते हैं। ऐसी आकृतियों को इत्थंलक्षण, ऐसा संस्कृत भाषा में कहते हैं। तिकोन, चौकोन, गोल, वर्तुल इत्यादि इसी इत्थंलक्षण आकृति के विशेष भेद हैं। जो नियत आकृति न हो और जिसका नाम रखा न जा सके उसे अनित्थंलक्षण आकृति कहते हैं। जैसे कि मेघों की आकृति।

सूक्ष्मत्व के भेद व उदाहरण—

अन्त्यमापेक्षिकं चेति सूक्ष्मत्वं द्विविधं भवेत्।
परमाणुषु तत्रान्त्यमन्यद्बिल्वारुणादिषु॥ 65॥

अर्थ—सूक्ष्मता स्वभाव भी पुद्गलों में ही पाया जाता है। एक-दूसरे को अपेक्षा से जहाँ सूक्ष्म कहते हैं वहाँ आपेक्षिक सूक्ष्मता कही जाती है। जैसे कि बेल के फल से मजीठ का फल छोटा या सूक्ष्म माना जाता है। जिससे अधिक सूक्ष्मता किसी में न मिल सकती हो उसे अन्तिम सूक्ष्मता कहते हैं। जैसे कि परमाणु की सूक्ष्मता। इस प्रकार सूक्ष्मता के अन्तिम व आपेक्षिक ये दो प्रकार हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थूलता के भेद व उदाहरण—

अन्त्यापेक्षिकभेदेन ज्ञेयं स्थौल्यमपि द्विधा।
महास्कन्धेऽत्यमन्यच्च बदरामलकादिषु॥ 66॥

अर्थ—स्थूलता होना भी पुद्गलों की पर्याय है। अन्तिम स्थूलता व आपेक्षिक स्थूलता—ऐसे स्थूलता के भी दो भेद हैं। सबसे बड़े महास्कन्ध की स्थूलता अन्तिम स्थूलता है। बेर, आँवले आदिकों को जो स्थूल कहते हैं वह एक-दूसरे की अपेक्षावश स्थूलता है।

बन्ध के भेद व उदाहरण—

द्विधा वैस्रसिको बन्धः तथा प्रायोगिकोऽपि च।
तत्र वैस्रसिको वह्नि-विद्युदम्भो-धरादिषु॥
बन्धः प्रायोगिको ज्ञेयो जतु-काष्ठादिलक्षणः॥ 67॥ (षट्पद)
कर्म-नोकर्मबन्धो यः सोऽपि प्रायोगिको भवेत्।

अर्थ—बन्धन होना भी पुद्गल में ही पाया जाता है। कोई-कोई बन्धन स्वाभाविक होते रहते हैं, उन्हें वैस्रसिक बन्धन कहते हैं। जैसे कि अग्नि, विद्युत्, मेघ। इनमें जो परस्पर बन्धन होता है उसे कोई मनुष्य अपने प्रयत्न से नहीं करता। प्रयत्न साध्य बन्धन को प्रायोगिक बन्धन कहते हैं। जैसे कि एक लकड़ी में लाख लगा देना। ये दो भेद बन्धन के हुए। कर्म का तथा शरीरादि नोकर्मों का जो बन्धन होता है वह आत्मा के प्रयत्न से होता है, इसलिए उसे भी प्रायोगिक बन्धन कहना चाहिए। उक्त दो भेदों के अतिरिक्त कोई तीसरा भेद नहीं है।

तम का स्वरूप—

तमो दृक्प्रतिबन्धः स्यात् प्रकाशस्य विरोधि च॥ 68॥

अर्थ—जिसके प्रसार में देखने की शक्ति रुक जाती है उसे तम या अन्धकार कहते हैं। प्रकाश से उलटा यह पर्याय है। नैयायिक लोग इसे नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रकाश के अभाव का नाम अन्धकार है। अभाव में अन्तर्भाव हो सकता है उसे जुदा पदार्थ क्यों मानें? इसका उत्तर यह है कि अभाव कोई जुदी वस्तु नहीं है। किसी के रूपान्तर हो जाने को ही उसका अभाव कहते हैं, इसलिए चाहे प्रकाश से उलटा ही अन्धकार हो, परन्तु वह भी एक वस्तु पर्याय ही मानना चाहिए। प्रत्येक वस्तु जिस प्रकार बदलती है, परन्तु सत्ता से वंचित नहीं होती। उसी प्रकार प्रकाश पर्याय जब नष्ट होता है उस समय उन प्रकाश परमाणुओं का भी कोई दूसरा पर्याय रहना चाहिए। वह पर्याय अन्धकार[1] के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता है। यदि उत्तर पर्याय न होकर ही प्रकाश का नाश हो जाता हो तो कहना पड़ेगा कि एक सत् पदार्थ का अभाव हो गया, परन्तु जो एक समय सत् है उसका नाश होना न्याय[2] विरुद्ध है, इसलिए तम को सत्य वस्तु मानना ही ठीक दिख पड़ता है। नील अन्धकार[3] हट रहा है ऐसी

1. नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति।
2. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। इति स्मृतिवचनम्॥
3. नीलं तमश्चलतीति प्रतीतेर्भ्रान्तत्वे मानाभावः॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जो प्रतीति उत्पन्न होती है उसे झूठा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। रही यह बात कि वह क्या चीज है सो विचार करें कि दृष्टि का प्रतिबन्ध करना—यह एक बड़ा बाह्य इन्द्रिय का आवरण है। बाह्य इन्द्रिय का विषय जिस प्रकार पुद्गलमय ही हो सकता है उसी प्रकार बाह्येन्द्रिय के आवरण करनेवाले पदार्थ को भी पौद्गलिक पर्याय ही कहना ठीक है। जगत् में मूर्तिक व अमूर्त ऐसे दो ही पदार्थों के भेद हैं। मूर्तिक पदार्थ की हम एक ही जाति मानते हैं जिसे पुद्गल कहते हैं। बन्धन की विचित्रता से जबकि अनेकों तरह के पर्याय एक ही प्रकार के मूर्तिक पदार्थ से होना सम्भव है तो मूर्तिक पदार्थ के वास्तविक उत्तर भेद मानने की क्या आवश्यकता है? इसलिए हम तम को पुद्गल पर्याय ही मानते हैं।

छाया के भेद व लक्षण—

प्रकाशावरणं यत् स्यान् निमित्तं वपुरादिकम्।
छायेति सा परिज्ञेया द्विविधा सा च जायते॥ 69॥
तत्रैका खलु वर्णादि-विकार-परिणामिनी।
स्यात्प्रतिबिम्ब मात्रान्या जिनानामिति शासनम्॥ 70॥

अर्थ—शरीरादि के निमित्त से जो प्रकाश का निरोध हो जाता है उसे छाया कहते हैं। उसके जिन शासन में दो भेद माने गये हैं। एक वह छाया कि जिसमें रूप तथा आकृति ज्यों-की-त्यों उतर जाती है। इसका उदाहरण दर्पण का प्रतिबिम्ब (पाजिटिव) है। दूसरी वह छाया होती है कि जिसमें रूपादि का दृश्य नहीं उतरता, केवल प्रकाश रुकने से उतनी आकृति जुदी दिख पड़ती है। जैसे कि धूप में चलने में एक प्रकार का धूप का आवरण उत्पन्न होता जाता है। उसको भी प्रतिबिम्ब (नेगेटिव) ही कहते हैं।

आतप का व उद्योत का लक्षण—

आतपोऽपि प्रकाशः स्यादुष्णश्चादित्य-कारणः।
उद्योतश्चन्द्र-रत्नादि-प्रकाशः परिकीर्तितः॥ 71॥

अर्थ—सूर्य के कारण जो उष्ण प्रकाश होता है वह आतप है तथा चन्द्रमा और रत्न आदि का जो प्रकाश है उसे उद्योत कहा जाता है।

भेद के भेद—

उत्करश्चूर्णिका चूर्णः खण्डोऽणुचटनं तथा।
प्रतरश्चेति षड्भेदा भेदस्योक्ता महर्षिभिः॥ 72॥

अर्थ—भेद होना—यह पुद्गल में ही सम्भव है। मिले हुए एक स्कन्ध के निमित्तवशात् टुकड़े होना—यह भेद का लक्षण है। भेद के छह प्रकार देखने में आते हैं—1. उत्कर, 2. चूर्णिका, 3. चूर्ण, 4. खंड, 5. अनुचटन, 6. प्रतर। आरी से लकड़ी को चीरने पर जो टुकड़ा हुआ हो वह उत्कर कहलाता है। मूँग आदि द्विदल के जो टुकड़े किये जाते हैं वह चूर्णिका है, हिन्दी भाषा में इसको चुनी भी कहते हैं। गेहूँ के पीसने पर जो टुकड़े होते हैं उसे चूर्ण या चून कहते हैं। घट फूटने पर जो कपाल या उससे भी छोटे टुकड़े होते हैं उन्हें खंड कहते हैं। तप्त लोहे पर घन मारने से जो फुलिंगा निकलते हैं वे अनुचटन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कहलाते हैं। अभ्रक के जो पटल निकलते हैं वे प्रतर कहलाते हैं। एक-एक उदाहरण देकर छहों भेदों के स्वरूप लिखे हैं, परन्तु इनके सिवा और भी उदाहरण यथायोग्य हो सकते हैं। व्यवहार में ये छह तरह के भेद दिख पड़ते हैं, इसलिए छह भेद ग्रन्थकार ने दिये हैं। इनके अतिरिक्त जो भेद होंगे उनके नाम इन्हीं में से रखे जो सकते हैं।

पुद्गल में बन्धन की योग्यता—

विसदृक्षाः सदृक्षा वा ये जघन्यगुणा नहि।
प्रयान्ति स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धं ते परमाणवः॥ 73॥
संयुक्ता ये खलु स्वस्माद् द्वयाधिकगुणैर्गुणैः।
बन्धः स्यात्परमाणूनां तैरेव परमाणुभिः॥ 74॥

अर्थ—'जघन्यगुण' शब्द का अर्थ जघन्यांश है। गुण शब्द के भाग तथा शक्ति ये दोनों अर्थ होते हैं। स्नेह एवं रूक्षता बन्ध का कारण है। स्नेहयुक्त परमाणुओं का भी बन्ध होता है, रूक्ष परमाणुओं का भी होता है और स्नेह-रूक्ष इन दोनों गुणवाले परमाणुओं का भी परस्पर में बन्ध होता है, परन्तु गुणों की मात्रा जिन परमाणुओं में सबसे जघन्य होगी उन परमाणुओं का उस समय बन्ध किसी के साथ भी नहीं होगा। जघन्य का प्रमाण यहाँ पर एकांश माना गया है। स्नेह रूक्षता के एकांश से अधिक अंश रहने पर भी सर्वत्र बन्ध नहीं होता और समान अंश रहने पर भी नहीं होता है। तो? दो अंश का अन्तर रहना चाहिए। दो अंश की हीनाधिकता वाले स्नेही या रूक्ष अथवा स्निग्धरूक्ष परमाणु परस्पर में इकट्ठे होने पर बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं।

दो अंश की अधिकता रहने का क्या कारण है?

बन्धेऽधिकगुणो यः स्यात् सोऽन्यस्य परिणामकः।
रेणोरधिकमाधुर्यो दृष्टः क्लिन्नगुडो यथा॥ 75॥

अर्थ—दो परमाणुओं की अवस्था जो प्रथम जुदी-जुदी रहती है वह बन्ध होने पर नष्ट हो जाती है और तीसरी नवीन अवस्था उत्पन्न होती है, इसी का नाम बन्ध है। जब तक पूर्व अवस्था कायम है तब तक दो का संयोग रहते हुए भी बन्ध नहीं होता। जबकि बन्ध में पूर्व की दोनों अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं तो तीसरी अवस्था जो उत्पन्न होगी वह कैसी होनी चाहिए? सुनिए, पूर्व दोनों अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था का रूपान्तर हो जाता है और दूसरे की अवस्था उसी में मिलकर तन्मय हो जाती हैं। वह कैसे?

वह ऐसे कि, दो अंश जिस परमाणु में अधिक होते हैं वह परमाणु हीनांशवाले परमाणु की स्नेह या रुक्षता को अपने समान एक कर लेता है। अर्थात्, अधिकांश गुणवाला परमाणु अपनी अवस्था का रूपान्तर होने नहीं देता, किन्तु हीनांश गुणवाले परमाणु के स्पर्श को बदल कर अपने समान कर लेता है। जहाँ दोनों ही स्निग्ध परमाणु हों वहाँ बन्ध होने पर स्निग्धता कायम रहती है। जहाँ दोनों ही रुक्ष

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं वहाँ उनकी रुक्षता कायम रहती है, परन्तु अधिकांश का परमाणु स्निग्ध हो तथा हीनांशवाला रुक्ष हो तो दोनों का पर्याय स्निग्ध रूप हो जाता है। इसी प्रकार जहाँ अधिकांश गुणवाला रुक्ष हो तथा हीनांशवाला स्निग्ध हो वहाँ बन्धोत्तर अवस्था केवल रुक्ष हो जाती है, यह इसका प्रकार है। यह नियम सर्वत्र ही दिख पड़ता है। गीला गुड़, यदि उसमें धूल माटी आकर मिल जाए तो भी वह गुड़ ही रहता है। धूलमाटी का स्वाद दब जाता है, परन्तु गुड़ का स्वाद फिर भी कायम रहता है। क्योंकि, गुड़ की मधुरता तेज होती है।

यह उदाहरण केवल इसलिए दिया गया है कि हीन शक्ति, प्रबल शक्ति द्वारा दब जाती है, परन्तु बन्ध का यह उदाहरण नहीं है। क्योंकि, बन्ध के कारण स्निग्ध-रुक्षता गुण हैं और यहाँ पर रस का प्रकरण है अर्थात् गुड़ के रस द्वारा धूलमाटी का रस दब या बदल जाता है, न कि उनकी स्निग्धता या रुक्षता बदल जाने के लिए यह बात कही गयी है, इसलिए स्निग्धता या रुक्षता के द्वारा बन्धोत्तर पर्याय का एक स्पर्श हो जाने पर भी रसरूपादि गुण जुदे-जुदे रह सकते हैं। देखो, एक आम का फल अधपका होने के समय दो-दो रंग और रस धारण करता है। डाँठले की तरफ खट्टा और नीचे की तरफ मीठा होता है एवं एक तरफ पीला हो जाता है। दूसरी तरफ हरा बना रहता है। घट का पाकज रूप एक तरफ तो पीला हो जाता है और दूसरी तरफ काला भी बना रहता है, इसीलिए इन पर्यायों को एकांगी या प्रादेशिक पर्याय कहते हैं। यह हुई परमाणुओं के बन्धन की व्यवस्था। इसी प्रकार स्कन्धों के परस्पर मिलने पर जो बन्ध होता है उसकी कारण सामग्री का भी यथायोग्य विचार लेना चाहिए।

बन्ध के भेद—

द्व्यणुकाद्याः किलानन्ताः पुद्गलानामनेकधा।
सन्त्यचित्तमहास्कन्धपर्यन्ता बन्धपर्यायाः॥ 76॥

अर्थ—यह बन्ध जब जघन्य से जघन्य, दो परमाणुओं का होता है तब उसे द्व्यणुक-स्कन्ध कहते हैं। इसी प्रकार सबसे अधिक परमाणुओं का जो स्कन्ध उत्पन्न होता है उसे महास्कन्ध कहते हैं। यह महास्कन्ध भी केवल पुद्गल परमाणुओं का ही जड़ पिंड है। इसमें जीव का सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। जीव का सम्बन्ध रहकर भी शरीर-स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, परन्तु अजीवतत्त्व के प्रकरण में यहाँ जीव के बन्ध कहने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी यह भी बात है कि जीव में भी जो बन्ध होता है वह तभी तक होता है जब तक कि उसमें पुद्गल का सम्बन्ध रहता है, इसलिए बाँधने की असली योग्यता पुद्गल में ही है। इस प्रकार जघन्य स्कन्ध से उत्कृष्ट स्कन्ध पर्यन्त पुद्गल में अनेकों प्रकार के बन्ध पर्याय होते हैं।

उन स्कन्ध पर्यायों के प्रदेश-तर-तमादि की अपेक्षा से बाईस भेद किये गये हैं—(1) संख्याताणु वर्गणा, (2) असंख्याताणुवर्गणा, (3) अनन्ताणुवर्गणा, (4) आहार वर्गणा, (5) अग्राह्य वर्गणा, (6) तैजस वर्गणा, (7) अग्राह्य वर्गणा, (8) भाषा वर्गणा, (9) अग्राह्य वर्गणा, (10) मनो वर्गणा, (11) अग्राह्य वर्गणा, (12) कार्मण वर्गणा (13) ध्रुव वर्गणा, (14) सांतरनिरन्तर वर्गणा, (15) शून्य वर्गणा, (16) प्रत्येक शरीर वर्गणा, (17) ध्रुवशून्य वर्गणा, (18) बादरनिगोद वर्गणा, (19) शून्य वर्गणा, (20) सूक्ष्मनिगोद वर्गणा, (21) नभो वर्गणा और (22) महास्कन्ध वर्गणा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अग्राह्य का खुलासा—अग्राह्य या अग्रहण वर्गणा आहार द्रव्य से प्रारम्भ होकर तैजस द्रव्य वर्गणा को प्राप्त नहीं होती है, अथवा तैजस द्रव्यवर्गणा से प्रारम्भ होकर भाषा द्रव्य को प्राप्त नहीं होती है, अथवा तैजस द्रव्यवर्गणा से प्रारम्भ होकर भाषा द्रव्य को प्राप्त नहीं होती है, अथवा भाषा द्रव्य वर्गणा से प्रारम्भ होकर मनो द्रव्य को प्राप्त नहीं होती है, अथवा मनोद्रव्यवर्गणा से प्रारम्भ होकर कार्मण द्रव्य को प्राप्त नहीं होती है। अत: उन दोनों द्रव्यों के मध्य में जो होतीं हैं उन सबकी अग्राह्य या अग्रहण द्रव्य वर्गणा संज्ञा है। (ष. ख. पु. 14, सूत्र 5, पृ. 6)

संख्याताणुवर्गणा नाम के प्रथम भेद में द्व्यणुकादिक स्कन्ध गर्भित होते हैं। सबसे अधिक परमाणुओं के पिंड को महास्कन्ध वर्गणा कहते हैं। चौथी, छठी, आठवीं, दशवीं और बारहवीं वर्गणा जीव के उपयोग में आती हैं। बाकी सभी जीव से जुदी ही रहती हैं। जो जीव से सम्बद्ध होती हैं उनके बीच-बीच में भी ऐसे एक-एक स्कन्धभेद होते हैं। उन्हें अग्राह्य नाम से कहा है। यह सब बन्ध की विचित्रता है।

अजीव तत्त्ववर्णन का उपसंहार—

इतीहाजीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥ 77॥

अर्थ—इस प्रकार जो शेष आस्रवादि छह तत्त्वों के साथ-साथ अजीव तत्त्व का श्रद्धान करता है, समझ लेता है और हेय को समझ कर छोड़ता है अथवा उससे उपेक्षित हो जाता है वह जीव संसारबन्धन से छूटकर मुक्त हो सकता है।

अमूर्त द्रव्यों का समर्थन : अजीव व जीव को मिलकर छह भेद माने गये हैं, परन्तु लोक व्यवहार में सर्वप्रसिद्ध व सर्वोपयोगयोग्य एक पुद्गल द्रव्य ही माना जाता है। बाकी के पाँच द्रव्य सर्वानुभवगोचर नहीं हैं। अत एव पुद्गल द्रव्य सभी को मान्य है, परन्तु पाँच द्रव्यों के विषय में अनेकों विवाद हैं। कितने ही तो जीवद्रव्य को नहीं मानते और कितने ही बाकी चार द्रव्यों के मानने में आनाकानी करते हैं, परन्तु इन द्रव्यों की सिद्धि इस प्रकार होती है—

जीव द्रव्य सिद्धि : पुद्गल द्रव्य तो सर्वमान्य है ही। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श-गुण युक्त होना पुद्गल का लक्षण है। जब तक इतर जड़ द्रव्य सिद्ध नहीं हुए तब तक जड़ता भी पुद्गल का लक्षण हो सकता है। मूर्त[1] भी हम पुद्गल को ही कहते हैं। मूर्त का अर्थ हम 'स्पर्शादि चारों गुणों का एकत्र निवास' ऐसा करते हैं। मध्यम परिमाण भी पुद्गल में ही रहता है। यद्यपि मध्यम परिमाण वाले पौद्लिक शरीर द्वारा बद्ध जीव का भी मध्यम परिमाण हो सकता है, परन्तु उसे मूर्त नहीं कह सकते हैं एवं पुद्गलों के परमाणु स्वयं मध्यम-परिमाणयुक्त नहीं होते, परन्तु मूर्त द्रव्यों के निदान कारण होने से मूर्त नाम पा सकते हैं। अच्छा, अब यह देखिए कि पुद्गल का लक्षण क्या हुआ? संक्षिप्त लक्षण जड़ता व मूर्तिकपना हुआ। जीव का स्वरूप इस पुद्गल से उलटा मानना चाहिए, इसलिए हम जीव को अमूर्तिक तथा चेतन

1. रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः।—सर्वा.सि., वृ. 535

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं। रूप रसादि रहित अवस्था का नाम अमूर्तिक है। पुद्गल द्रव्य से जीव सर्वथा उलटा है, इसीलिए वह चर्मेन्द्रियों से या बाह्येन्द्रियों से जाना नहीं जाता। तो भी जो मन में प्रत्येक ज्ञान के समय, एक आन्तरिक दृष्टि उत्पन्न होती है वह जीव का अनुभव[1] कराती है। उस अन्तर्विषय का हम 'अहं=मैं, मम=मेरा' इत्यादि शब्दों द्वारा उल्लेख भी कर सकते हैं।

कितने ही लोग द्राक्षादि अमादक वस्तुओं में, मादक मद्य की तरह जड़ पुद्गल में से संयोग विशेषता के वश चैतन्य-गुण का प्रादुर्भाव होना मान लेते हैं। उन्हें जीव द्रव्य अलग मान्य नहीं होता, परन्तु जहाँ चैतन्य वास्तविक स्वतन्त्र कोई गुण ही नहीं है वहाँ मद्य मादक है या नहीं इस बात की परीक्षा होना भी असम्भव हो सकता है। मद्य की शक्ति का उपयोग जीव पर ही होता है, पत्थर पर नहीं हो[2] सकता है, इसलिए कहना चाहिए कि जीव की शक्ति ठीक मद्य के तुल्य नहीं है, किन्तु मद्य से विलक्षण है। अतएव मादक, मद्य की सत्ता पुद्गल में रह सकती है, परन्तु चैतन्यसत्ता उसके आश्रित नहीं रह सकती है। संस्कार तथा स्मरण, एवं रागद्वेषादि कुछ ऐसे चैतन्य परिणाम भी सर्वानुभव सिद्ध हैं कि जिनका पौद्गल शरीर की हानि-वृद्धि होने के साथ अविनाभाव जुड़ता नहीं है। शरीर में कुछ भी हीनाधिकता न होते समय भी ये परिवर्तन होते ही रहते हैं। पुत्र की मृत्यु सुनते ही जो दुःख होता है वह अकस्मात् होता है। शरीर के विपरिणाम का उसमें कोई सम्बन्ध जुड़ता नहीं दिख पड़ता है, इसीलिए इस गुण का आश्रय अलग जीव द्रव्य मानना पड़ता[3] है।

कितने ही लोगों का यह कहना है कि जड़ता गुण, चैतन्य अवस्था में जब बदल जाते हैं तब उसे जीव कहने लगते हैं। जिस प्रकार एक हरा रंग बदलकर पीला हो जाता है। खट्टा रस बदलकर मीठा रस उत्पन्न हो जाता है। यही हालत जड़, चेतन की है। उन दोनों को एक ही पुद्गल के किसी मूल गुण का विपरिणाम रूप मान लेने से जबकि काम चल सकता है तो जीव द्रव्य को अलग मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—रूप गुण का हरा पर्याय बदलकर पीला हो जाना अथवा रस गुण का खट्टे से मीठा हो जाना जिस प्रकार निराधार नहीं है उसी प्रकार जड़-चैतन्य को कालक्रमवर्ती पर्याय माना जाए तो इनका आधार कोई त्रिकालाबाधित गुण सिद्ध होना चाहिए, परन्तु वह नहीं सिद्ध होता है। हरे, पीले आदि पर्यायों के आधारभूत गुण का हम लक्षण ऐसा करते हैं कि जो नेत्रग्राह्य हो सके वह रंग या रूप हैं। रस का लक्षण जीभ का विषय होना है। ये लक्षण रूप, रस के प्रत्येक पर्याय बदल जाने पर भी कायम रहते हैं। चैतन्य-जड़ता पर्यायों का ऐसा एक भी आधार सिद्ध नहीं होता कि जो दोनों अवस्थाओं में कायम रह सकता हो और अव्याप्ति आदि दोषों से मुक्त हो सके।

---

1. तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः। भूतानन्वयनात्सिद्धिः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥
2. उन्मादिका शक्तिरचेतना या गुडादिसम्बन्धभवान्यदर्शि। सा चेतने ब्रूहि कथं विशिष्टदृष्टांतकक्षामधिरोहतीह॥ धर्मश. 4.72॥
3. "स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं हि स्वस्य व्यवसायः"—प.मु., प्र.समु., सू. 6

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कुछ लोगों का कहना है कि जड़त्व व चैतन्य ये दोनों गुण पुद्गल के ही आश्रित हैं। एक के उद्भूत होते समय दूसरा दबकर रहने लगता है, इसीलिए जड़ वस्तुओं में चेतना और चेतन में जड़ता दिख नहीं पड़ती है। ये दोनों किसी गुण के पर्याय नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र दो गुण हैं। ऐसा मानें तो भी जीव द्रव्य को जुदा मानने की आवश्यकता नहीं रहती है।

उत्तर—परस्पर विरोधी दो गुणों का एक पदार्थ में रहना सम्भव नहीं है। शीतोष्णादि परस्पर विरोधी होकर भी एक पदार्थ में रहते हुए दिख पड़ेंगे, परन्तु युगपत् नहीं और वह भी इसलिए कि एक गुण के वे पर्याय हैं। उस गुण को स्पर्श कहते हैं। स्पर्श गुण का लक्षण ऐसा है कि जो छूने पर अपना ज्ञान करा दे। यदि इसी प्रकार किसी एक गुण के जड़तादि दो पर्याय माने जाएँ तो उनका आधारभूत कोई त्रिकालाबाधित अन्य गुण होना चाहिए, परन्तु नहीं है, यह बात कह चुके हैं। यदि ये दोनों गुण ही माने जायें तो इनकी सत्ता सर्वदा रहेगी। हरे-पीले पर्यायों की तरह एक के समय दूसरा न रहे, ऐसा नहीं हो सकता है। गुण के विना पर्याय नहीं होते, यह भी नियम है। यदि यों ही पर्याय उत्पन्न होने लगें तो बीज के बिना भी अंकुर हो सकेगा और ऐसा हुआ तो कार्यकारण-सम्बन्ध मानने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। एवं, अनियमित चाहे जो कार्य चाहे जहाँ पर हो उठना चाहिए, परन्तु ऐसा होने से सृष्टि का क्रम ही जुड़ नहीं सकेगा, इसलिए प्रत्येक पर्याय के आश्रयभूत जुदे-जुदे गुण मानने पड़ते हैं और वे शाश्वतिक माने जाते हैं। गुण न मानने पर जैसे पर्याय होना सम्भव नहीं होता वैसे ही गुण-जुदे-जुदे माने बिना भी काम नहीं चल सकता है। एक के जो पर्याय होंगे वे विजातीय नहीं हो सकते हैं। विजातीय का लक्षण ऐसा हो सकता है कि जिसका एक लक्षण से अन्तर्भाव न हो सके वह विजातीय है। साथ ही यह ध्यान रखना चाहिए कि सत्ता गुण का लक्षण करने पर एक भी गुण बाकी नहीं रहता—सभी सजातीय हो सकते हैं, परन्तु नानाजातीय पदार्थों को माने बिना सृष्टि का परिवर्तन होना सम्भव नहीं हो सकेगा, इसलिए सत्ता के सिवाय अवान्तर पदार्थों में परस्पर विजातीयता देखनी चाहिए।

इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि जड़ता व चेतनता ये दोनों किसी एक गुण के पर्याय नहीं हो सकते और न ये दो गुण होकर एक पदार्थ के अधीन ही रह सकते हैं। दूसरी यह भी बात समझ लेनी चाहिए कि जो गुण होता है वह निराधार नहीं रहता। प्रत्येक गुण के लिए किसी-न-किसी आधार की आवश्यकता रहती ही है। जड़ता गुण के आधार को पुद्गल द्रव्य कहते हैं। इसी प्रकार चैतन्य गुण का आधार भी कोई द्रव्य होना चाहिए और वह आधार जड़ता का आधार नहीं हो सकता, इसलिए वह अलग एक जीव द्रव्य मानना पड़ता है।

जीवसिद्धि का दूसरा प्रकार : जो जड़ से चेतन-जीव की उत्पत्ति मानते हैं उनके लिए कथन है कि (1) किसी भी पदार्थ में जब तक विजातीय संयोग नहीं होता तब तक पूर्वावस्था का परिवर्तन नहीं होता। पूर्वावस्था बदलने का कारण सर्वत्र विजातीय संयोग ही देखने में आता है। यह एक नियम हुआ। उदाहरणार्थ—शीतस्वभाव युक्त पानी तब तक नहीं सूखता जब तक कि उसमें उष्णता का थोड़ा बहुत मेल न हो, इसीलिए वह जाड़े के दिनों में देर से सूखता है और गरमी में जल्दी। वह सड़ता भी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तभी है जब कि उसमें विजातीय किसी माटी आदि का संयोग हो जाता है। इसी प्रकार एक कठोर पदार्थ से किसी नरम चीज में जख्म हो जाता है। बीज, माटी से एक जुदा पदार्थ है। वह जब माटी में डाला जाता है तब अंकुर उत्पन्न होता है। ऐसे उदाहरणों से ऊपर का नियम दृढ़ होता है।

(2) जिसकी सत्ता होगी उसका सर्वथा नाश नहीं होगा। जो नहीं है उसका निर्मूल उद्भव भी नहीं होगा। बीज के बिना अंकुर नहीं होता और बीजनाश होते ही अंकुर अवश्य उत्पन्न होता है। यह देखकर उक्त नियम को सत्य मानना चाहिए।

(3) कारण अनेक तथा अनेक प्रकार के जब तक न हों तब तक नाना विचित्र कार्य नहीं हो सकते हैं।

इन तीन नियमों के मान लेने से जीव सिद्ध होता है। कैसे? जग में यदि दृश्यमान एक ही रूपी पदार्थ सत्य हो तो उसमें नाना तरु-तृणादि विकार या रूपान्तर होना सम्भव नहीं है। क्योंकि, रूपी यावत् पदार्थों का वास्तविक एक ही लक्षण सिद्ध होता है। यह लक्षण जब कि सर्वत्र रह सकता है तो सभी पदार्थ एकजातीय होने चाहिए। जो एक जातीय पदार्थ होते हैं वे परस्पर मिलने पर भी किसी में उथल-पुथल या विकार उत्पन्न नहीं कर सकते हैं यह बात प्रथम नियम द्वारा सिद्ध होती है।

अब यह विचार करें कि, यद्यपि माटी-बीज इत्यादि जिन पदार्थों के मिलने से अंकुरादि विकार होते हैं वे भी परस्पर में विजातीय दिख पड़ेंगे। परन्तु हम उनमें भी यह प्रश्न कर सकते हैं कि जहाँ एक ही मूल द्रव्य है वहाँ बीजादि विचित्रता भी क्यों उत्पन्न हुई? तीसरे नियम को देखिए कि कारण वास्तविक व नाना न हों तो कार्य नाना तथा विचित्र उत्पन्न नहीं हो सकते हैं अर्थात्, जब कि अन्त में मूल द्रव्य एक ही था तो नाना विचित्र सृष्टि कार्य, जो आज दिख रहे हैं वे, कभी नहीं हो सकते थे, इसलिए मानना चाहिए कि दृश्यमान पदार्थ जग में जबसे हैं तभी से इससे लक्षणवाला भी कोई पदार्थ जग में अवश्य है। वह कैसा है?

दृश्यमान पदार्थ जब कि रूप से गन्ध स्पर्श युक्त और जड़ है तो इससे असली उलटा वही हो सकता है जो कि रूप रस गन्ध स्पर्श रहित और चैतन्य युक्त हो। दृश्यमान पदार्थों में रूपादि लक्षण सर्वत्र रहता है, यह हम लिख चुके हैं, इसलिए दृश्यमान पदार्थों में परस्पर विजातीयता नहीं है। दूसरे नियम के अनुसार यह शंका भी, कि जड़ पदार्थ ही कदाचित् चेतन हो जाता है, जिससे जड़ता दूर हो जाती है। यदि जड़ की जड़ता नष्ट हो सकती हो तो, सत् का लोप होना भी न्याययुक्त हो सकता है, और फिर सत् का विनाश तथा असत् का प्रादुर्भाव मानने में भी कुछ परेशानी नहीं होनी चाहिए, परन्तु ये बातें न्यायविरुद्ध हैं ऐसा हम दिखा चुके हैं।

विजातीय संयोग के बिना जड़ पदार्थ में कोई भी विकार उत्पन्न नहीं हो सकता है और जिस प्रकार दूसरे विकार होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार हलन-चलन होना भी सम्भव नहीं है। हलन-चलन भी एक विकार है। यद्यपि यह विकार जीव का भी गुण नहीं है, इसलिए जीव के मिल जाने पर भी वह उत्पन्न होना नहीं चाहिए—यह शंका होना सहज है; परन्तु विरुद्ध जातीय पदार्थों के योग से वस्तुओं में क्षोभ उत्पन्न होना भी सम्भव है। उसी क्षोभ का कार्य हलन-चलन माना गया है, इसलिए हलन-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चलन किसी एक पदार्थ का स्वभाव न होने पर भी विरुद्ध संयोगज स्वभाव हो सकता है। यहाँ पर एक दूसरी बात यह भी विचारने योग्य है कि जीव ऊर्ध्वगामी ही क्यों न हो, परन्तु गति स्वभाव युक्त माना गया है। वह इसीलिए कि यदि गति स्वभाव जीव का मूल स्वभाव न हो तो जड़ का संयोग होने पर भी वह जड़ की तरह हलचल नहीं हो सकेगा। जो मूल में गुण नहीं होता वह उत्तर अवस्थाओं में भी प्रकट नहीं हो सकता है, परन्तु संसार की जड़मिश्रित अवस्थाओं में हलना-चलना देखा जाता है, इसलिए मूलावस्था में भी वह गुण अवश्य होना चाहिए। हाँ, इतना परिवर्तन उस गुण में जड़ योगवशात् हो सकता है कि जो जीव शुद्धावस्था के समय ऊर्ध्वगामी है वह अशुद्धावस्था के समय सर्वतोगामी हो जाए। इस प्रकार निष्क्रिय जड़-पदार्थों को हलचल और परिवर्तन करानेवाला एक सर्वथा विरुद्ध स्वभावधारी जीवद्रव्य अवश्य मान लेना पड़ता है।

यद्यपि वह दिखता नहीं है, परन्तु जड़ पदार्थों[1] की चेष्टा दिखाने से प्रेरक जीव का अनुमान हो जाता है। दिखे भी क्यों वह! जो दिखने योग्य होता है वह जड़ वस्तुओं के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता है, और जो जड़ से विरुद्ध नहीं होगा वह जड़ वस्तुओं में विक्रिया कैसे करेगा? इसीलिए जो जड़ वस्तुओं में विक्रिया करता है वह दृश्यमान जड़ वस्तुओं से विरुद्ध अदृश्यमान व चेतन ही होना चाहिए। जड़ निष्क्रिय होते हैं तो वह सक्रिय होना चाहिए। इस प्रकार पृथक् जीव सिद्धि होती है।

जिस प्रकार जीव के संयोग बिना जड़ पदार्थों से विशेष कार्य होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार जड़ के बिना चेतन जीव द्रव्य भी कोई विकार धारण नहीं कर सकता है। क्योंकि, विजातीय संयोग के बिना अवस्थान होना सर्वत्र न्यायविरुद्ध है, इसीलिए जग में जो केवल जीव के सिवाय कुछ नहीं मानते हैं वे अविचारी हैं। हाँ, यह हो सकता है कि जीव सर्वत्र हो और सर्व क्रियाओं का जनक हो। क्योंकि; जड़ पदार्थों में स्वयं संचार-शक्ति नहीं है, किसी विषय को योजित करने की शक्ति भी नहीं है। केवल जीव के सम्बन्ध से संचारित होने की शक्ति है और किसी भी प्रकार योजित हो जाने की शक्ति है, इसीलिए किसी भी कार्य का मुख्य कर्ता जीव ही हो सकता है। जड़ पदार्थ केवल उपभोग्य हो सकते हैं, न कि किसी कार्य के कर्ता। यह बात यद्यपि सत्य है, परन्तु यह भी नियम साथ ही मानना पड़ता है कि जीव कार्यजनक शक्ति का धारक होने पर भी शुद्ध रहने पर या होने पर कुछ भी नहीं कर सकता है, इसीलिए सर्वसृष्टि या विश्व के कर्ता जीव अवश्य हैं, परन्तु वे जड़युक्त अथवा सकर्म होने चाहिए। जो लोग जीव की कर्तृत्व शक्ति के बिना विश्व की रचना होना असम्भव समझकर अलग किसी शुद्ध ब्रह्म या ईश्वर की कल्पना करते हैं वह व्यर्थ और असम्भव है। एक तो जीव जड़ में फसनेवाला जब स्वयं विद्यमान है, जो कि कर्ता होने की शक्ति रखता है तब अलग किसी कर्ता की कल्पना क्यों करना चाहिए? दूसरे, जो जड़ में लिप्त होगा वह उस जड़ को विकारयुक्त करेगा, जो स्वयं अलिप्त होगा उसके द्वारा दूसरे जीवों की सृष्टि होने का क्या सम्बन्ध है? यदि फिर भी कोई उस ईश्वर की कल्पना करे तो वह उसकी अन्ध श्रद्धा ही कहना चाहिए।

---

1. यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति।—सर्वा.सि., वृ. 563

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

फलितार्थ यह हुआ कि पदार्थ जग में दो ही हैं; एक चेतन-जीव, दूसरा जड़-पुद्गल। जो नाना कार्य अनुभवगोचर होते हैं वे इन्हीं दोनों की संयोगज अवस्थाएँ हैं। इन्हीं को विश्वकार्यकारी द्रव्य कहना चाहिए। जितना भोज्यभोजकता का अथवा विषयविषयिता का प्रकार देखने और जानने में आता है वह सब इन्हीं दो द्रव्यों का आडम्बर है।

धर्माधर्माकाश काल द्रव्यों की सिद्धि : आचार्य बता चुके हैं कि विजातीय पदार्थ के संयोग बिना किसी पदार्थ में अवस्थान्तरण नहीं हो सकता है। इसी को दूसरे शब्दों में कहें तो यों कह सकते हैं कि कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता है। कारण एक तो ऐसे होते हैं जो स्वयं कार्य की अवस्था में बदलकर कार्यरूप हो जाते हैं। जैसे माटी घट कार्यरूप स्वयं हो जाती है। इस कारण को हम उपादान कहते हैं। दूसरे कारण ऐसे होते हैं जो कार्योत्पत्ति होने में सहायता करते हैं, परन्तु कार्य उत्पन्न हो जाने पर भी स्वयं वे जुदे कायम बने रहते हैं। उनको आचार्य निमित्त या सहायक कारण कहते हैं। नैयायिकों ने भी इसे निमित्त ही कहा है, परन्तु प्रथम कारण का नाम समवायी रखा है। निमित्त कारण के उदाहरण घटोत्पत्ति के समय चाक, कुम्हार इत्यादि हो सकते हैं। कोई भी कार्य क्यों न हो, परन्तु उसके तैयार होने में उक्त दोनों ही कारणों की आवश्यकता पड़ती है।

उपादान कारण प्रत्येक कार्य के विषय में जीव व पुद्गल ये दो ही हो सकते हैं। यद्यपि ये द्रव्य हैं, इसलिए नित्य हैं। अतएव कार्यों की उत्पत्ति एकदम हो जाने की आशंका उत्पन्न होगी, परन्तु यह ध्यान रहे कि हम यहाँ पर जीव-पुद्गल के सम्बन्ध से होनेवाले विकारों का विचार कर रहे हैं। इस समय वे ही हमारी दृष्टि में कार्य हैं। वे सभी कार्य जीव-पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होते हैं और संयोग सदा एकसा रहता नहीं है, इसलिए वे कार्य यथासमय ही होते हैं, न कि सर्वदा। जिस प्रकार कार्य के उपादन कारण जुदे-जुदे होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक कार्य के निमित्त कारण भी जुदे-जुदे ही होते हैं।

प्रत्येक कार्य के निमित्त कारण जैसे जुदे-जुदे होने चाहिए वैसे ही उन निमित्तों के उपयोग भी प्रत्येक कार्य में कुछ-न-कुछ जुदे ही जुदे होने चाहिए। उनमें से जो निमित्त कारण प्रत्येक कार्य की जुदी-जुदी जिन विशेषताओं को उत्पन्न करते हैं उन विशेषताओं को तथा उन निमित्त कारणों को यहाँ जुदा-जुदा गिनाकर दिखाना तो अवश्य है, परन्तु कार्यों की जो विशेष अवस्थाएँ स्थूल तथा परिमित हैं वे ही दिखाई जा सकती हैं।

उपभोग्य व दृश्यमान पर्यायों में चार बातें ऐसी दिख पड़ती हैं कि जिनका सम्बन्ध उनके उपादानों के साथ ही नहीं कहा जा सकता है। (1) एक कोई भी पदार्थ देखिए, यहाँ है, वहाँ है, नीचे है, ऊपर है, ऐसा एक न एक विशेषण उसमें अवश्य दिख पड़ेगा। (2) दूसरा विशेषण जब-तब ऐसा दिख पड़ेगा। तब से अब तक, इत्यादि प्रकार भी इसी दूसरे विशेषण के समझने चाहिए। (3) रुकता है, ठहरता है, स्थिर है, यह तीसरा विशेषण है। (4) चलता है, हिल रहा है, चंचल है, अस्थिर है, जा रहा है,

1. 'कर्ता जीवः षट्सु नान्ये' इत्यसगकविकृतं वर्धमानपुराणम्, अ. 15, श्लोक 16

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पड़ रहा है, फेंका जा रहा है, सिकुड़ रहा है, पसर रहा है—इस प्रकार के विचार भी पदार्थ के देखने पर कभी-कभी हो उठते हैं, यह चौथा विशेषण है। प्रत्येक विशेषण को और भी अनेकों प्रकार से दिखा सकते हैं, परन्तु वे सभी उक्त प्रकार के ही प्रकारान्तर होंगे।

ये जो चार बातें देखने में आती हैं वे निष्कारण नहीं हो सकती हैं, क्योंकि, पदार्थ के न रहते हुए ज्ञान का होना असम्भव है। हाँ, मिथ्या ज्ञान ऐसे भी हो सकते हैं कि जिनका विषय जैसा कुछ दिख पड़ता है वैसा नहीं होता, परन्तु वे मिथ्याज्ञान सदा सर्वत्र सभी को एक से उत्पन्न नहीं होते और जिसको होते हैं उसको भी उनका मिथ्यापन कभी-न-कभी मालूम पड़ जाता है, परन्तु उक्त चार बातें जो भासती हैं उनका स्वरूप सर्वत्र व सभी को एक-सा भासता है। उत्तर काल में भी मिथ्यापना कभी किसी को प्रतीत नहीं होता, इसलिए उक्त चार बातों की निदान-कारणभूत चीजें अवश्य माननी चाहिए।

यद्यपि ये चारों बातें पदार्थों के देखने पर ही समझ में आती हैं तो भी इन बातों के द्वारा पदार्थों की कोई भी आकृति बदलती नहीं है। कोई भी पदार्थ जैसा चलने-फिरने में दिख पड़ता है वैसा ही ठहरने पर भी दिख पड़ता है। यदि किसी-किसी में अस्थिर से स्थिर अवस्था होने के समय कुछ बदलाव होता भी दिख पड़ता हो तो उसे गमन या ठहरने का कारण नहीं कह सकते हैं। क्योंकि, जो बदलाव ठहरने की अवस्था में एक बार दिख पड़ता है। वही दूसरी बार पदार्थ के चलते-फिरते समय भी दिख पड़ते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि वस्तुओं में परिवर्तन होना अलग बात है और ये चारों बातें अलग बात हैं, अत एव उक्त चारों विशेषण जो दिख पड़ते हैं वे जीव और पुद्गलों के गुण स्वभाव नहीं हो सकते और असत् भी नहीं हो सकते हैं। निराधार भी ये नहीं रह सकते हैं। जो गुण स्वभाव होते हैं वे किसी द्रव्य के अधीन रहते हैं। ये चारों गुण स्वभाव हैं और परस्पर में विजातीय हैं, इसलिए इनका आधार होना ही चाहिए, परन्तु वह आधार एक कोई पदार्थ नहीं हो सकता है। जिस प्रकार जड़ता तथा चैतन्य विजातीय होने से उनके आधार पुद्गल व जीव ऐसे जुदे-जुदे माने जाते हैं, उसी प्रकार उक्त चारों गुण स्वभावों के आधार भी चार मानने पड़ते हैं। प्रथम प्रकार के गुण के आधार को 'आकाश' कहते हैं। दूसरे विशेषण के आधार का नाम 'काल' है। तीसरे का आधार 'अधर्म' और चौथे का आधार 'धर्म' द्रव्य है।

भावार्थ—इन चारों द्रव्यों में उक्त चार सामर्थ्य हैं, इसीलिए दृश्यमान पदार्थों में इन चारों के सहवास से चार बातें पैदा होती हुई दिख पड़ती हैं। ये चारों द्रव्य व्यापक हैं, इसलिए कहीं और कभी भी इनके उक्त चारों कार्यों में अन्तर नहीं पड़ता। यदि आकाशादि द्रव्यों को अव्यापक माना जाए तो उक्त चारों कार्यों का सदा सर्वत्र होते रहना असम्भव हो जाएगा, परन्तु हम देखते हैं कि सदा और सर्वत्र ही उक्त चारों बातें दिखती हैं, इसीलिए उनके आधारों को भी व्यापक मानना न्यायसंगत है। यद्यपि काल कोई अखंड एक द्रव्य न मानकर अणु रूप माना गया है, परन्तु वे अणु यावत् आकाश में भरे हुए हैं, इसलिए काल को व्यापक कहना भी सिद्धान्त विरुद्ध नहीं हो सकता है। शेष तीन द्रव्य तो अखंड रूप से व्यापक माने ही गये हैं।

अखंड-सखंडता का हेतु : धर्म, अधर्म तथा आकाश को अखंड एक द्रव्य मानकर काल को अणुरूप असंख्यात द्रव्य माना है, परन्तु इसके लिए कोई युक्ति भी है या नहीं? ऋषियों के कहने पर से भी सूक्ष्म तत्त्वों को मान लेना अनुचित नहीं हैं, परन्तु इसके लिए एक युक्ति भी है। वह यह कि, अणुमात्र प्रमाण से अधिक प्रमाणवाले जीव तथा पुद्गल के पर्याय बहुत से दिख पड़ते हैं। उन पर्यायों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में जो गति, स्थिति या अवगाहना होती दिखती है वह तिरछी होती हुई दिख पड़ती है। लम्बाई, चौड़ाई को लेकर जो परिवर्तन होता है उसे तिरछा परिवर्तन कहते हैं। अथवा ऊपर से नीचे तक, नीचे से ऊपर तक तथा पूर्व पश्चिमादि दिशाओं में जो एक तरफ से दूसरी तरफ तक विस्तार लिए हुए परिवर्तन हो उसे तिर्यक् पर्याय कहते हैं। अर्थात् जिनमें क्षेत्र का आश्रय लिये हुए पर्याय उत्पन्न होता जान पड़े वे सब तिर्यक् पर्याय कहे जाते हैं और जिस पर्याय में जब-तब की कल्पना होती जान पड़े वह ऊर्ध्व पर्याय कहलाता है। 'ऊर्ध्व' शब्द का अर्थ भी क्षेत्र के सम्बन्ध से हो सकता है, परन्तु काल के प्रकरण में वह अर्थ न लेकर पूर्वापर आदि शब्दार्थ की तरह काल सम्बन्धी अर्थ लेना चाहिए। इन काल सम्बन्धी ऊर्ध्व पर्यायों में क्षेत्र की अपेक्षा नहीं ली जाती है।

काल का कार्य उत्तरोत्तर अवस्थाओं का बदलते जाना है। वह बदलना एक तो अतिशीघ्र होता है और दूसरा कुछ विलम्ब से होता है। जो विलम्ब से होता है उसे अज्ञानी, ज्ञानी सभी देखते हैं। जो अति शीघ्र होता है उसे तीव्रान्तर्दृष्टि ज्ञानी मनुष्य ही समझ पाते हैं। इसी दो प्रकार के परिवर्तन को यों भी कह सकते हैं कि परिवर्तन एक ही है और वह प्रति क्षण होता है, परन्तु परिवर्तन होते-होते जब अन्तर बहुत-सा पड़ जाता है तब मन्ददृष्टियों की समझ में आता है। मन्ददृष्टि का अर्थ ही यह है कि वह अधिक स्थूल होने पर इन्द्रिय के विषय को देख सकें।

इस पर से जब हम विचार करते हैं तो दिख पड़ता है कि काल के कार्यों में क्षेत्र की व क्षेत्र के कार्यों में काल की कुछ भी अपेक्षा नहीं है। जब-तब इत्यादि कल्पनाओं के द्वारा जब पर्याय बदलता हुआ हमारी समझ में आता है तब पर्याय की लम्बाई, चौड़ाई का हमें कुछ भी भान नहीं होता है, परन्तु जब हम अवगाहन तथा गति-स्थिति के विषय का विचार कहते हैं तब हमें लम्बाई-चौड़ाई वा ऊँचाई की कल्पना उठती है। कोई भी पदार्थ चलते-चलते ठहर गया—ऐसी जब हमारी कल्पना होती है तब उसके ठहरने की क्रिया का विस्तार पदार्थ के विस्तार पर से ध्यान में आता है। इसी प्रकार गमन भी एक बार होकर जब तक चालू रहता है तब तक की गमनक्रिया को हम एक कहते हैं और उसकी अखंडता एक प्रदेश से अधिक प्रदेश तक जान पड़ती है। इसी प्रकार अवगाहन भी इधर-उधर पसरा हुआ सदा जान पड़ता है, परन्तु काल की क्रियाएँ जितनी होती हैं उनके साथ इधर-उधर के प्रसार की कल्पना नहीं होती है। जिनके कार्यों में पसरने की कल्पना होती है उन कारणभूत पदार्थों को भी पसरा हुआ मानना चाहिए। जिसके कार्यों में पसरने की भावना कभी नहीं होती उस कारणभूत द्रव्य को भी पसरा हुआ मानने की आवश्यकता नहीं है, इसीलिए काल को परमाणुमय भिन्न-भिन्न मानते हैं और आकाश तथा धर्माधर्म को अखंड एक द्रव्य मानते हैं।

काल, लोकाकाशमात्रवर्ती होकर भी अलोकाकाश में समयप्रचय रूप कालनिमित्तक ऊर्ध्व पर्याय कराने में कारण माना गया है। जैसे कुम्हार के चाक के नीचे एक कील रहती है। उसका चाक से सर्वत्र सम्बन्ध नहीं रहता तो भी वह चाक को फिराती है। यही अवस्था काल[1] की है। परन्तु धर्मादि द्रव्य जहाँ पर है वहीं पर अपना कार्य कर सकते हैं, अन्यत्र नहीं।

---

1. लोकबहिर्भागे कालाणुद्रव्याभावात् कथमाकाशद्रव्यस्य परिणतिरिति चेदखंडद्रव्यत्वादेकदेशदंडाहतकुम्भकारचक्रभ्रमणवत्।—द्र.सं.टी., गा. 22।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ शंका यह होना सहज है कि जिस प्रकार लोकवर्ती काल, अलोकवर्ती आकाश के पर्यायों को दूर रहकर भी बदलता है उसी प्रकार लोक के भी किसी एक देश में उसकी सत्ता मान ली जाए तो सर्व लोकवर्ती सर्व जीव पुद्गलों के पर्यायों को वह बदलता रहेगा और यदि ऐसा है तो काल के असंख्य अणु सर्वत्र व्याप्त मानना अनुचित है?

उत्तर—कोई भी निमित्त कारण कार्य का निमित्त तभी हो सकता है जब कि कार्य की सामग्री के साथ जुड़ गया हो। कार्य की सामग्री से अलग रहनेवाला कारण कार्य की सहायता कभी नहीं कर सकता है। काल जब कि पदार्थों के ऊर्ध्व पर्याय उत्पन्न होने में निमित्त कारण है तो यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उन पदार्थों के साथ उसका थोड़ा-सा सम्बन्ध अवश्य होता है। अलोकवर्ती आकाश के ऊर्ध्व पर्याय होने में भी वह इसीलिए कारण होता है कि उसका आकाश के लोकवर्ती भाग के साथ सम्बन्ध है। आकाश अखंड है इसलिए सर्वत्र एक है, इसीलिए एकत्र सम्बन्ध होने से सर्वत्र उपयोग होता है, परन्तु ऐसा कभी कहीं नहीं हो सकता कि असम्बद्ध पदार्थों में कोई कारण कुछ भी अपना उपयोग दिखा सके। लोक के भीतर जीव पुद्गलों के जो ऊर्ध्व पर्याय होते हैं वे भी काल के निमित्त से होते हैं। जीव पुद्गल अव्यापी पदार्थ हैं, इसलिए किसी एक स्थान में रहनेवाले कालाणु के साथ सभी के सभी वे जीव पुद्गल सम्बन्ध नहीं कर सकते हैं, इसीलिए काल को अणुरूप मानकर भी उन्हें असंख्य और लोकभर में व्याप्त मानने पड़ते हैं। यदि किसी व्यापक द्रव्य का पर्याय मात्र उत्पन्न होने में काल को कारण माना होता तो एक अणु भी कार्यकारी हो सकता था, परन्तु अव्यापक पदार्थों के लिए भी काल कारण है, इसलिए उसकी असंख्य[1] संख्या माननी पड़ती है।

असंख्य काल के मानने में यही युक्ति है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं उनके सिद्ध करने के लिए युक्ति की अपेक्षा नहीं होती और न कोई उसके स्वीकार करने में विवाद ही करता[2] है, परन्तु जो परोक्ष हैं उनकी उतनी ही सिद्धि हो सकती है जितने के लिए कि युक्ति हो और उतना ही लोग उसका स्वरूप निःशंक मानने के लिए तैयार होते हैं। अधिक स्वरूप मानना और मनाना मानो एक प्रकार का अज्ञान और सख्ती है, इसीलिए हम आकाशादि तीनों द्रव्यों को अखंड एक-एक और काल को असंख्यात ऐसा युक्ति[3] द्वारा सिद्ध करते हैं। कालद्रव्य के परमाणुओं को भिन्न-भिन्न मानने के लिए ग्रन्थों में इसी प्रकार की युक्तियाँ[4] दिख पड़ती हैं।

भावार्थ—काल को व्यापक होने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, काल की अपेक्षा से जो प्रकार

---

1. ते कालाणवः कतिसंख्योपेताः? लोकाकाशप्रमितासंख्येयद्रव्याणीति—द्र.सं.टी., गा. 22
2. "प्रत्यक्षसिद्धत्वेनात्र पर्यनुयोगस्यानवकाशात्। व्यापारस्य तु प्रत्यक्षसिद्धत्वाभावान्न तथा स्वभावावलम्बनं युक्तम्।"—प्रमे.क.मा., प्र.सू.
3. "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥"
4. कालस्यैकप्रदेशत्वविषये युक्तिं प्रदर्शयति—तद्यथा किंचिदूनचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतं शुद्धात्मद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव। यथा वा मनुष्य-देवादिपर्यायोपादानकारणभूतं संसारिजीवद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव। तथा कालद्रव्यमपि समयरूपस्य कालपर्यायस्य विभागेनोपादानकारणभूतमविभाग्येकप्रदेश एव भवति। अथवा मन्दगत्या गच्छताः पुद्गलपरमाणोरेकाकाशप्रदेशपर्यन्तमेव कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणं भवति।—द्र.सं.टी., गा. 25

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों में दिख पड़ता है वह जबकि व्यापक नहीं है तो उसके कारण को व्यापक होने की क्या आवश्यकता है ? कार्यों की उत्पत्ति जैसी हो वैसा ही कारण का स्वरूप मानना ठीक है। गति, स्थिति व अवगाहन— ये पसरे हुए स्वभाव जान पड़ते हैं, इसलिए इन स्वभावों के जनक आकाशादि द्रव्यों को भी पसरा हुआ मानना पड़ता है। जैसे सिद्धान्तों में तिर्यक् शब्द का जो अर्थ किया है उसी को हम पसरा हुआ लिखते हैं।

दूसरी तरह से यों भी इसका समर्थन हो सकता है कि पर्यायों के भेद दो हैं; एक ऊर्ध्व पर्याय[1] दूसरे तिर्यक् पर्याय। तिर्यक् पर्यायों के उत्तर भेद तीन हैं; गति, स्थिति व अवगाहन। इसीलिए ये तीनों तिर्यक् पर्याय अपने-अपने उन धर्मादि कारणों को तिरछे सम्बद्ध हुए मानते हैं। ऊर्ध्व पर्यायों में उत्तर भेद भी नहीं है और तिरछे पर्यायों से उलटे होने के कारण काल के पर्यायों को तिरछे पसरे हुए मानने की भी आवश्यकता नहीं है, इसीलिए उनके कारणभूत कालाणुओं को भी परस्पर सम्बद्ध मानने की आवश्यकता नहीं है। गत्यादि चारों पर्यायों को हम तिर्यक् व ऊर्ध्व इन दो भेदों में इसलिए गर्भित करते हैं कि ये चारों ही पर्याय हैं और पर्यायों के मूल भेद उक्त दो ही किये गये हैं। यदि गत्यादि तीनों पर्यायों का तिर्यक् पर्याय न माना जाए तो पर्यायों के दो भेद संगत न होगें अथवा गत्यादिक पर्याय ही नहीं कहे जा सकेंगे, परन्तु ये गत्यादिक पर्याय ही हैं और पर्यायों के दो ही भेद हैं इसलिए गत्यादिकों को तिर्यक् पर्याय मानना सर्वथा उचित है।

यद्यपि आकाशादि अमूर्त द्रव्य प्रत्यक्षसिद्ध नहीं हैं तो भी गत्यादि चार प्रकार वस्तुओं में दिख पड़ने से उनके चार कारणों को मानना अवश्य पड़ता है। यह हम कह चुके हैं कि कारण के बिना कार्य नहीं होता और कार्यों की विचित्रता कारण भेद माने विना नहीं बन सकती है। गत्यादि चारों प्रकार परस्पर में विसदृश हैं और वस्तुस्वभाव में कुछ भी भेद करनेवाले नहीं है, इसलिए उक्त चारों प्रकार की अवस्थाएँ उत्पन्न करने के लिए चार जुदे-जुदे ही कारण मानने पड़ते हैं। यदि वे वस्तुओं के स्वभाव ही हों तो वस्तुओं में विशेषता करने वाले होने चाहिए, परन्तु वस्तुओं में इनके द्वारा कोई विशेषता नहीं होती, इसलिए ये सब वस्तु स्वभावमय नहीं हो सकते हैं एवं असत् भी नहीं हो सकते हैं। ये प्रकार औपचारिक अथवा इस सम्बन्ध से हुए माने जाते हैं अथवा यों कहिए कि जीवपुद्गल द्रव्य गत्यादि रूप से परिणत होने की योग्यता रखते हैं और धर्मादि द्रव्य गत्यादि धर्म उत्पन्न कराने की शक्ति रखते हैं, इसीलिए धर्मादि द्रव्य गत्यादि कार्यों के हेतु कहे जाते हैं और जीव पुद्गल गतियुक्त कहे जाते हैं। इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार अमूर्त द्रव्यों की सत्ता युक्तिसाध्य मानी जा सकती है।

पृथ्वी, जल इत्यादि और द्रव्य भी गत्यादिजनक होते हैं, परन्तु उनमें से कोई भी यावत् गत्यादि धर्मों के जनक नहीं हो सकते, किन्तु गत्यादि धर्मों की विशेषता मात्र प्रकट करते हैं, इसलिए गत्यादिकों के सामान्य कारणों को जुदा ही मानना चाहिए। दूसरी बात यह है कि जल, पृथ्वी आदिक दूसरे पदार्थों की गति में सहायक होते अवश्य हैं परन्तु जब स्वयं वे गमन करते हैं तब उन्हें भी दूसरे की सहायता लेनी ही पड़ती है। जो स्वयं गमनशक्ति का धारक हो उसे स्वयं चलते दूसरे का सहारा क्यों लेना चाहिए ?

---

1. सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्। विशेषश्च प.मु., सू.। तिर्यग्यथा, गोत्वे खण्डमुण्डादयो विशेषाः। ऊर्ध्वत्वे यथा, मृत्त्वे घट कपालादयः।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए कि जो धर्मादिकों के अतिरिक्त गत्यादि कारण दिख पड़ते हैं वे गत्यादि धर्मों की विशेषता मात्र के साधक हैं। अत: सामान्यसाधक धर्मादि द्रव्य जुदे ही मानना न्यायसंगत जान पड़ता है। जो गत्यादि धर्मों के सामान्य साधक होंगे उनको यदि स्वयं वे क्रियाएँ करनी पड़ें तो दूसरे का सहारा न लेकर ही वे उन क्रियाओं को कर सकते हैं। आकाश को अपना अवगाहन करने के लिए, काल को अपने ऊर्ध्व पर्याय उत्पन्न करने के लिए, अधर्म को अपनी स्थिति करने के लिए अन्य वस्तुओं की सहायता लेनी नहीं पड़ती है, इसलिए अनवस्थादि दोष भी दूर हो जाते हैं। इसके लिए दृष्टान्त यह है कि जो दीपक दूसरों को प्रकाशित करता है वह स्वयं अपने को भी प्रकाशित[1] क्यों न कर लेगा?

जिस प्रकार दृश्यमान पदार्थों को बड़ा-छोटा कहना इतर छोटे-बड़े पदार्थों की अपेक्षा से हो सकता है उसी प्रकार गति स्थिति आदि कहना भी इतर पदार्थों की अपेक्षा से होना चाहिए। आम को नारियल की अपेक्षा देखें तो छोटा जान पड़ता है और आँवले की अपेक्षा से देखें तो बड़ा जान पड़ता है। किसी भी दूसरे की तरफ न देखकर देखें तो छोटे-बड़े की भावना ही नहीं होती है, इसीलिए बड़ा या छोटापन केवल किसी एक-एक पदार्थ का धर्म नहीं है, किन्तु इतरापेक्षित है। ऐसे धर्मों को 'प्रतिजीवी स्वभाव' ऐसा नाम भी देते हैं। और जो स्वभाव अपने प्रकट होने में इतर की अपेक्षा नहीं रखते उन्हें सत्तात्मक अनुजीवी गुण-स्वभाव कहते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि गत्यादि धर्मों का प्रादुर्भाव धर्मादिद्रव्याधीन है, स्वतन्त्र नहीं है, इसलिए गत्यादि धर्म अनुजीवी गुण नहीं हो सकेंगे। यदि हो सकते हैं तो कैसे?

उत्तर—जहाँ इतर की अपेक्षा मात्र से किसी का व्यवहार होता हो और वह इतर पदार्थ व्यवहार योग्य पदार्थ के साथ जुड़कर कुछ विशेषता न करता हो वहाँ उस व्यवहार के धर्म को प्रतिजीवी स्वभाव कहते हैं। छोटे-बड़ेपन का व्यवहार इसी प्रकार का है, इसीलिए छोटा पदार्थ भी अधिक छोटे की अपेक्षा से बड़ा मान लिया जाता है। जिसकी अपेक्षा छोटा या बड़ापन माना जाता है उसका छोटे व बड़े पदार्थ के साथ कभी सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु गत्यादिकों में यह बात नहीं है। जिस प्रकार धर्मादिकों में गति आदि स्वभावों की साधकता एक-एक धर्म अनुजीवी व सत्तात्मक माना जाता है, उसी प्रकार जीव-पुद्गलों में गतिमत्ता आदि धर्म भी अनुजीवी व सत्तात्मक मानने चाहिए। क्योंकि, धर्मादिक द्रव्य पदार्थों के साथ जुड़ते हैं और गत्यादि रूप से पदार्थों की विशेषता उत्पन्न करते हैं। छोटे-बड़ेपन आदि व्यवहारों से यहाँ यह भी एक भेद है कि एक ही पदार्थ को एक ही समय में भिन्न-भिन्न अपेक्षावश कोई उसे छोटा मानता है और कोई बड़ा मान लेता है, परन्तु गत्यादि स्वभाव ऐसे हैं कि जब जिसमें एक मनुष्य को गति दिख पड़ती है तब सबों को गति ही दिख पड़ती है। उस समय किसी को भी स्थिति दिख नहीं पड़ती, इसलिए ये स्वभाव सत्तात्मक मानने चाहिए। जो सत्तात्मक होंगे और परस्पर विरोधवाले होंगे वे एक समय में एक साथ नहीं रह सकेंगे, इसीलिए गति के समय गति ही होती है, स्थिति नहीं होती एवं स्थिति के समय स्थिति ही रहती है, गति नहीं रहती है।

यद्यपि सत्तात्मक गुण गिनाते हुए ग्रन्थकारों ने धर्मादि द्रव्यों के गतिहेतुत्वादि गुण तो गिनाये हैं, परन्तु जीव-पुद्गलों के गतिमत्त्व आदि गुण नहीं गिनाये हैं तो भी इनका अन्तर्भाव दूसरे सत्तात्मक गुणों में हो सकता है। प्रदेशत्व तथा द्रव्यत्व गुणों में गत्यादि चारों स्वभाव गर्भित हो सकते हैं। गति, स्थिति

1. स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगात्। न्या.दी.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व अवगाहन ये तीनों स्वभाव निराले गुण न होकर केवल धर्मादि उपाधियों के सम्बन्ध से प्रदेशत्व गुण के विकार कहे जा सकते हैं। यद्यपि विकार क्रमभावी होते हैं और गति तथा अवगाहना ये दोनों एक साथ रहते हैं तो भी कुछ दोष नहीं है। ऐसे भी बहुत से गुण देखने में आते हैं कि जिनके अनेकों विकार एक साथ भी होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, स्पर्श गुण के स्निग्ध या रूक्षत्व, तथा गुरुत्व या लघुत्व, एवं मृदु या कठिन, तथा शीत या उष्ण—ये चार-चार विकार ऐसे हैं कि एक साथ बने रहते हैं। इसी प्रकार गत्यादि पर्यायों को एक प्रदेशत्व गुण के पर्याय मानना अनुचित नहीं है।

अथवा प्रत्येक पदार्थ में अनन्तों ऐसे गुण भी रहते हैं कि जो गिनाये नहीं गये हैं और न गिनाये ही जा सकते हैं, परन्तु उनके द्वारा पृथक्-पृथक् कार्योत्पत्ति दिख पड़ने से वे अनुमान साध्य होते हैं। उन्हीं में से गत्यादि गुण भी जुदे मान लिये जाएँ तो भी अनुचित नहीं है, परन्तु यह अवश्य मानना चाहिए कि ये गुणस्वभाव अनुजीवी व सत्तात्मक हैं। इस प्रकार धर्माधर्माकाश काल-द्रव्यों की जुदी सत्ता सिद्ध हुई।

परमाणु-स्कन्ध-विचार : परमाणुओं से स्कन्ध व स्कन्धों से परमाणु होते अवश्य हैं, परन्तु शाश्वतिकपना तो भी कायम रहता है। जो परमाणु परस्पर मिलते हुए स्कन्ध की अवस्था धारण करते हैं वे अपनी परमाणुता तथा सूक्ष्मता को छोड़ते नहीं हैं। तो भी उनके मिलने पर एक नवीन अवस्था हो जाती है। यह पुद्गल द्रव्य की एक वैभाविक शक्ति का कार्य है। परमाणुओं के जितने गुण होते हैं उनका अनुभव स्कन्धावस्था प्राप्त होने पर होता है और उन एक-एक गुणों के व्यक्त होने के लिए अलग-अलग स्कन्ध माने जाते हैं। एक स्कन्ध में जो गुण व्यक्त होता है वह दूसरे में नहीं होता, परन्तु परमाणु की शक्ति या गुण सर्वत्र एक से माने जाते हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है कि सर्व स्कन्धों का बन्धन मात्र परस्पर विचित्र है और उनकी सन्तति भी अनादि से रह रही है। गेहूँ से गेहूँ की उत्पत्ति होना, मनुष्य प्राणी से मनुष्य की उत्पत्ति होना—इत्यादि उदाहरणों में स्कन्धों की अनादिकालीन सन्तति जान भी पड़ती है। यद्यपि जो परमाणु मिलते-मिलते गेहूँ आदि व्यक्त स्कन्धाकार को कभी धारण नहीं कर सकते हैं, इसीलिए यों कहना चाहिए कि जितने स्कन्ध केवल परमाणुओं से बनते हैं वे इन्द्रिय तथा शरीर के उपभोग योग्य नहीं हो सकते हैं। उपभोग योग्य वे ही हो सकते हैं जो एक समय सम्बन्धी भेदसंघात-क्रिया द्वारा आकर किसी पूर्वबद्ध स्कन्ध में मिल जाते हैं। इसीलिए भेद व संघात के सिवाय एक-समयवर्ती भेद संघात को तृतीय कारण[1] माना गया है।

इस तृतीय कारण का उपयोग ग्रन्थकारों ने स्कन्धों में चाक्षुषत्व होना बताया है परन्तु चाक्षुषत्व का अर्थ उपभोग योग्यता ही हो सकता है। चक्षु के विषय को चाक्षुष कहते हैं। इस शब्द को उपलक्षण मानकर स्पर्शन आदि सभी उपभोगयोग्य विषयों का अर्थसंग्रह कर लेना चाहिए। यदि ऐसा न माना जाए तो बीजादि की सन्तति को न मानकर भी केवल परमाणुओं से सर्व स्कन्धों का होना क्यों नहीं माना जाता है? यदि ऐसा मानें भी तो कार्यकारण-व्यवहार के विरुद्ध है।

---

1. भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः॥ तत्त्वा.सू., 5/28

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

परमाणुओं के केवल जुड़ने से जो स्कन्ध बनते हैं उनमें जिस प्रकार उपभोग योग्यता नहीं रहती, उसी प्रकार स्थूलता भी नहीं रहती है। क्योंकि, स्थूलता प्राप्त हुए बिना पदार्थ, इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हो सकता है, इसलिए जब कि इन्द्रियाग्राह्यता नहीं होती तो स्थूलता होना भी असम्भव ही समझना चाहिए, कार्यकारी स्कन्ध तथा स्थूलता इन दोनों का अविनाभाव-सम्बन्ध मानना चाहिए। ऐसे स्कन्धों की उत्पत्ति में भेद व संघात इन दोनों की आवश्यकता रहती है, यह बात पहले कह चुके हैं।

जब कि परमाणु सूक्ष्मस्वभाव वाले होते हैं तो परमाणुओं से बननेवाले स्कन्धों में स्थूलता कहाँ से आ जाती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्थूलता यद्यपि मूल धर्म है तो भी अनादि से जिन स्कन्धों में स्थूलता का पर्याय प्रकट हो रहा है उन्हीं में आकर मिलने वाले परमाणु अपनी प्राथमिक सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता को धारण कर लेते हैं। जिस प्रकार कि कर्मबद्ध जीव में अनादि बन्धन रहने से नवीन-नवीन पुद्गल बन्ध भी होता रहता है, परन्तु जो जीव एक बार मुक्त हो चुका हो वह फिर बद्ध नहीं होता। इसी प्रकार स्थूल स्कन्ध में से टूट-फूट कर जो एकाध परमाणु जुदा हो जाता है वह फिर स्वयं स्थूल नहीं होता। हाँ, जीव जिस प्रकार फिर कभी बद्ध नहीं होता उस प्रकार परमाणुओं में परस्पर बन्ध होने का निषेध नियत नहीं है। वे फिर भी बद्ध होते हैं और किसी स्थूल में बद्ध हों तो स्वयं स्थूल भी हो जाते हैं, परन्तु स्वयं किसी स्थूल की सहायता के बिना वे स्थूलता को प्राप्त नहीं कर सकते—इतना नियम अवश्य है। इसीलिए असली बन्धक शक्ति पुद्गलों में ही मानी जाती है। जो जीव की बद्ध अवस्था मानी जाती है वह केवल बद्ध होने की योग्यता रहने से है, परन्तु उस जीव का भी बन्धक पुद्गल ही कहा जाता है अर्थात्, सर्वत्र बन्धनकर्ता पुद्गल ही होता है और जीव केवल उसके पराधीन होने से बद्ध हो जाता है। स्वयं जीव बन्धन करने की शक्ति नहीं रखता। नहीं तो, मुक्त होने पर भी फिर बद्ध हो सकता था। यही कारण है कि मुक्त होने पर जीव बध्यमानता रूप शक्ति के रहते हुए भी बद्ध नहीं होता। उस समय उसकी वैभाविकी शक्ति स्वभाव में ही परिणत होती रहती है।

परमाणुओं की बन्धन शक्ति जीव के समान सापेक्ष नहीं है, किन्तु निरपेक्ष ही काम देती है, इसीलिए परमाणु होकर भी पुद्गल परस्पर में बद्ध हो जाते हैं। तो भी स्थूलता प्राप्त होना पराधीन ही है। शुद्ध परमाणुओं के बँधते-बँधते अनन्तानन्त परमाणु भी यदि एकत्र हो गये हों तो वह स्कन्ध सूक्ष्म ही रहता है, इसीलिए सूक्ष्मता पुद्गल का शुद्ध पर्याय माना जाता है और स्थूलता विकारी। इसका उदाहरण, जीव का सम्यक्त्व गुण कर्मबन्धन की दशा में मिथ्यात्व रूप होकर रहता है और सम्यक्त्वघातक कर्म का नाश हो जाने पर स्वभाव हो जाता है एवं, सम्यक्त्व प्रकृति रहते समय भी स्वभावमय रहता है, परन्तु किंचित् अशुद्ध रहता है। इसी प्रकार स्थूलता विपरीत पर्याय है और परमाणुगत सूक्ष्मता पूर्ण शुद्ध पर्याय है। कुछ स्कन्धों में भी सूक्ष्मता रहती है, परन्तु वह वेदक सम्यक्त्व के समान किंचित् अशुद्ध सूक्ष्मता माननी चाहिए।

स्थूलता स्वयं उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वह विकारी पर्याय है। विकारी होने के लिए विजातीय कारणों की अपेक्षा पड़ती है। परन्तु स्थूलता, टूटते-फूटते, सूक्ष्मता में अपने आप परिणत हो जाती है। सूक्ष्मता होने के लिए परसंयोग की गरज नहीं रहती। परमाणु की दशापर्यन्त यही प्रकार है। जैसे-जैसे परमाणुओं के विशिष्ट बन्धनवश एक-एक कार्यकारिणी शक्ति स्कन्धों में प्रकट होती जाती है वैसे-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वैसे उनके परमाणु टूटने पर वह एक-एक शक्ति अव्यक्त होती जाती है। ऐसा होते-होते परमाणुदशा प्राप्त होने तक कार्यकारिणी सर्व शक्तियाँ दब जाती हैं। उस समय परमाणु केवल सत्ता की दशा धारण करता है। उसमें कुछ भी उस समय पर वस्तु को हलाने चलाने की तथा परिवर्तन करने की योग्यता नहीं रहती है, इसीलिए उस समय एक परमाणु की जगह यदि दूसरे अनन्तों परमाणु आ जायें तो भी एक-दूसरे में बाधा नहीं होती है। एक ही स्थान में वे सर्व रह सकते हैं। केवल मूर्त या स्थूल पदार्थ में ही एक-दूसरे को बाधित करने की योग्यता रहती है। परमाणु अमूर्त[1] नहीं माना गया है, परन्तु स्थूल भी नहीं माना गया है। इसीलिए परमाणुओं में बाधक या घातक शक्ति नहीं रह सकती है। किसी का घात या बाँध करना—यह एक विकारी स्वभाव है। शुद्ध पदार्थ किसी को भी बाधित नहीं करता और न कर ही सकता है। वह पुद्गल की पूर्ण शुद्धावस्था[2] रूप परमाणु है।

कितने ही लोगों को इस बात को सुनकर सन्तोष नहीं होता कि एक-एक स्थान में अनेक-अनेक परमाणु भी आकर रह सकते हैं और वे बद्ध होकर भी रह सकते हैं तथा जुदे होकर भी रह सकते हैं। ऐसी समझ होने का कारण यह होता है कि अपने देखने व अनुभवने में सदा विकारी स्थूल पर्याय ही आते हैं। बस, वैसा ही स्वभाव हम परमाणु का समझ बैठते हैं। अर्थात् परमाणु कैसा भी सूक्ष्म हो, वह थोड़ी-सी जगह तो घेरेगा ही, यह हमारी समझ रहती है, परन्तु यह समझ ठीक नहीं है। हम लिख चुके है कि परमाणु केवल एक सूक्ष्म अंश का ही नाम नहीं है, किन्तु कार्यकारिणी जितनी शक्तियाँ हैं उनके पूर्ण अव्यक्त या तिरोधान होने का नाम परमाणु है। दूसरे में आघात करना तथा दूसरे का आघात भोगना, यह एक अशुद्धता का कार्य है, इसलिए जो आघात करता है या सहता है वे दोनों ही अशुद्ध पर्याय होने चाहिए। अशुद्धता इतर संयोग के बिना होती नहीं है। तो फिर शुद्ध परमाणु में आघात होना और दूसरे को करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसी प्रकार चाहे इतरसंयोगी कुछ शुद्ध स्कन्ध पर्यायों में आघातता शक्ति प्रकट हो जाती हो, परन्तु उसकी भी कुछ सीमा है। वह यावत् स्कन्धों में नहीं होती है। आघातता व स्थूलता का अविनाभाव सम्बन्ध हो सकता है, इसलिए जब तक स्कन्धों की सूक्ष्मता नहीं जाती जब तक आघातता भी उत्पन्न नहीं होती।

देखो, आघातता अनेक प्रकार की अशुद्धताओं में से एक अशुद्धता है, इसलिए द्व्यणुक से अशुद्धता का प्रारम्भ हुआ कि आघातता भी उत्पन्न हो गयी ऐसा नियम भी नहीं हो सकता है। द्व्यणुक में एक किसी प्रकार की अशुद्धता उत्पन्न होगी, त्र्यणुक में दूसरे प्रकार की, चतुरणुक में तीसरे प्रकार की। इसी प्रकार जैसे-जैसे परमाणु संख्या बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही अशुद्धताओं की संख्या भी बढ़ती जाती है। कोई-कोई अशुद्धता परमाणु संख्या बढ़ने पर दब भी जाती है। अशुद्धताओं की उत्पत्ति का परमाणु संख्या के साथ कोई नियम तो बनाया नहीं जा सकता। हाँ, इतना कह सकते हैं कि अनेकों अशुद्धताओं के लिए परमाणु भी अनेकों ही लगते हैं। समान आकृति और उतना ही वजन रहने पर भी जो एक स्कन्ध

1. परमाणु को भी मूर्तत्व-गुणयुक्त मानते हैं परन्तु वह केवल इसलिए कि मूर्त द्व्यणुकादिकों का वह उत्पादक है और द्व्यणुकादिकों में से ही टूट-फूटकर निकलता है। अर्थात् उसके पूर्वोत्तर कारण-कार्य मूर्तिक हैं इसलिए वह भी मूर्तिक है। यह एक प्रकार का उपचार सिद्ध धर्म हुआ।

2. अविभागी पुद्गलपरमाणुः स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः। —आ.प.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में एक शक्ति व्यक्त रहती है, वह दूसरे में नहीं रहती। ऐसे पदार्थों में यही मानना पड़ता है कि परमाणु संख्या हीनाधिक है, अतएव बन्धन की विचित्रता से दोनों की अशुद्धता समान नहीं है। ऐसे अन्तर अनेक प्रकार के मिल सकते हैं और एक-एक स्कन्ध में असंख्यातों अशुद्धताएँ व्यक्त भी रहती हैं, इसलिए यह मानना पड़ता है कि स्थूल स्कन्धों में अनन्तों परमाणु होते हैं। स्कन्ध में आकृति के सूक्ष्म विभागों की संख्या की अपेक्षा परमाणुओं की संख्या अधिक माननी पड़ती है। अतएव एक परमाणु की जगह में दूसरे परमाणुओं का आ जाना भी सिद्ध होता है। जहाँ तक स्थूलता प्राप्त नहीं होती वहाँ तक के सूक्ष्म स्कन्धों में भी यह प्रवेशशक्ति माननी पड़ती है।

देखो, पानी-शक्कर इत्यादि कुछ स्थूल चीजें भी ऐसी देखने में आती हैं कि जो एक-दूसरे में मिलकर प्रविष्ट हो जाती हैं। तो फिर सूक्ष्म पदार्थों में प्रवेशशक्ति मानना क्या असम्भव है? उन चीजों के बीच-बीच में छिद्र या रिक्तता की कल्पना करना निर्हेतुक है। यह परमाणु स्कन्ध का विचार हुआ।

इस प्रकार सब द्रव्य छह हैं। इन छह भेदों से न तो कम ही हो सकते हैं और न अधिक। हाँ, कालद्रव्य की संख्या असंख्यात है और वह युक्ति से सिद्ध की गयी है। जीव व पुद्गल के भेद अनन्त-अनन्त हैं और वे अनुभवगोचर हैं। जीव विनाशीक सिद्ध न हो इत्यादि प्रयोजनवश जो जीव को एक अखंड या व्यापक मानते हैं वह मानना निर्हेतुक है। शरीरावच्छिन्न जीव की तो लक्षण द्वारा सिद्धि होती है, परन्तु अन्यत्र उसकी सत्ता मानने में कोई प्रमाण नहीं है। जीव का लक्षण चैतन्य है; वह शरीर के बाहर नहीं मिलता। नित्यता ठहराने के लिए भी जीव को व्यापक मानने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी पदार्थ केवल नित्य या केवल अनित्य नहीं हो सकता, यह बात हम पहले बता चुके हैं। पर्याय बदलते हुए भी जीव की सामान्यदृष्ट्या जो नित्यता है वह नष्ट नहीं होती और वैसी नित्यता मध्यम या शरीर प्रमाण आकार मानने पर भी कायम रहती है। यह नियम नहीं हो सकता कि मध्यम परिमाण वाले पदार्थ अनित्य ही होते हैं अथवा अवयवों की अपेक्षा से देखा जाए तो जीव के प्रदेश मध्यम परिमाण के योग्य भी नहीं हैं। हाँ, लोक के प्रदेशों के तुल्य उसके प्रदेश होकर भी वह सुख-दुःख भोगने के लिए सुख-दुःखाधिष्ठान रूप शरीर में समाकर रहता है। शुद्ध होने पर जिस शरीर में से छूटता है उस शरीर की आकृति को सदा के लिए धारण करके रहता है। क्योंकि, प्रदेशों की संख्या व्यापक बनने योग्य रहते हुए भी विजातीय संयोग न रहने से संकोच विस्तार-क्रिया का अभाव हो जाता है, इसलिए जीव द्रव्य को व्यापक बनने योग्य रहते हुए भी विजातीय संयोग न रहने से संकोच विस्तार-क्रिया का अभाव हो जाता है, इसलिए जीव द्रव्य को व्यापक मानने की आवश्यकता नहीं है। शेष रहे धर्माधर्माकाश, सो ये तीनों अखंड एक-एक ही हैं। हाँ, गुण-पर्याय तो तब भी सभी में होते रहते हैं।

इस प्रकार सब द्रव्य छह हैं और गुण अनन्त हैं। द्रव्यों की संख्या जो छह से अधिक मानते हैं वह ठीक नहीं है एवं गुणों की जो संख्या नियत कर देना है वह भी ठीक नहीं है। जो लोग द्रव्यों की संख्या छह नहीं मानते वे एक पुद्गल को पाँच विभाग रूप मानते हैं और धर्माधर्म को नहीं मानते, परन्तु आकाश के आकाश और दिशा ऐसे दो भेद मानते हैं। इस प्रकार उनके मत में जीव और काल द्रव्य को मिलाने से सब द्रव्य नौ हो जाते हैं।

आघातता अथवा मूर्तिमत्ता और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—ये चिह्न जिनमें पाये जाते हैं, उन्हें हम पुद्गल

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य कह चुके हैं। ये चिह्न ऐसे असाधारण और लक्ष्यभर में व्यापने वाले हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा मन में तो सर्वत्र मिलते हैं और आत्मा तथा आकाशादिक भिन्नजातीय द्रव्यों में कहीं भी नहीं मिलते, इसलिए पाँच द्रव्यों के स्थान में उक्त एक ही द्रव्य मान लेना निर्दोष तथा उपयोगी है।

मन में आघातता और आहतपना दिख पड़ता है। जैसे कि भयंकर शब्द सुनने पर जैसे कानों की झिल्ली फट जाती है वैसे मन पर भी आघात पहुँचता है और वह मन, शरीर के इतर अवयवों को आघात पहुँचाता है। इसके सिवाय यह भी देखना चाहिए कि मन है क्या चीज?

कर्मों की परतन्त्रता से जीव के साथ शरीर बन्धन होता है। उस बन्धन में अनेक प्रकार रहते हैं। उन प्रकारों को साधारण दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं; एक ज्ञान के साधक-बाधक, दूसरे क्रियाओं के साधक-बाधक। इन्हीं को कुछ लोग ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के नाम से कहते हैं। हाथ, पाँव आदि कर्मेन्द्रिय हैं और मन, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय हैं। जैसे शरीरावयव सब जीवों के समान नहीं होते, वैसे ही ज्ञानसाधन के अवयव भी समान नहीं होते।

वनस्पति में हाथ-पाँव आदि जुदे प्रगट नहीं होते और आगे द्वीन्द्रियादि जीवों में वे अवयव क्रम से प्रकट होने लगते हैं। इसी प्रकार ज्ञानसाधक इन्द्रियों की भी क्रम से वृद्धि होते-होते जहाँ पर बाह्य इन्द्रिय पूर्ण प्रकट हो जाते हैं। उसे अमनस्क पंचेन्द्रिय कहते हैं। इसके भी ऊपर जहाँ मनन करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है उसे समनस्क कहते हैं। जिस प्रकार बाह्य विषय के ग्राहक नेत्रादि इन्द्रिय शरीरावयव हैं, उसी प्रकार मनन रूप ज्ञान होने के जिस आधार को मन इन्द्रिय कहते हैं, वह भी शरीर का ही एक अवयव होना चाहिए। उसी के मन, हृदय, अंत:करण इत्यादि अनेकों नाम हैं। मन हृदय इत्यादिकों में कुछ लोग, कुछ भेद मानते हैं, परंतु वास्तविक भेद न होकर प्रयोजनादि के भेद से, भेद माना जा सकता है। इस प्रकार जबकि मन शरीरावयव है तो उसे शरीर से जुदी जाति का द्रव्य मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार सर्व इन्द्रियों को भी एक पुद्गल से हुए ही मानना ठीक होता है एवं, उन इन्द्रियों के जो शब्दादि विषय हैं उन्हें भी पुद्गल के पर्याय मानना ही ठीक है। दिशाओं की कल्पना आकाश में ही की जाती है, इसलिए दिशाओं को भी जुदा द्रव्य नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार सब द्रव्य छह ही सिद्ध होते हैं। विशेषताओं को गुण कहते हैं, इसलिए उनकी संख्या नियत होना कठिन है।

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य रचित तत्त्वार्थसार में, धर्मश्रुतज्ञान हिन्दी टीका में अजीव तत्त्व का कथन करनेवाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अधिकार

आस्रव प्रकरण

मंगलाचरण व विषय-प्रतिज्ञा

अनन्तकेवल-ज्योतिः प्रकाशित-जगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान् सर्वानास्रवः संप्रचक्ष्यते॥ 1॥

अर्थ—जिन भगवान् परिमित केवलज्ञानरूप ज्योति के द्वारा तीनों लोक को प्रकाशित करते हैं, इसलिए उन सब को नमस्कार करके उनके उपदेशानुसार मैं आस्रवतत्त्व का स्वरूप कहता हूँ।

आस्रव का लक्षण—

कायवाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः।
शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मनः॥ 2॥

अर्थ—जब तक जीव जड़ पुद्गल मिश्रित है तब तक उसे सदा ही कर्मों का या पुद्गलों का नवीन-नवीन बन्धन प्राप्त होता रहता है। जिस पुद्गल से जीव का मेल हो रहा है उसे शरीर या काय कहते हैं। शरीर का स्वभाव ऐसा है कि क्षणभर के लिए भी वह स्थिर नहीं रहता। कुछ-न-कुछ परमाणु उसमें से प्रति समय निकलते हैं और कुछ आकर मिलते हैं। इन पुद्गलों में जीव फँस रहा है, इसलिए पुद्गलों के बदलने के साथ-साथ वह भी स्वस्थ होकर नहीं रह पाता, कुछ-न-कुछ उसके प्रदेशों में चंचलता होती ही रहती है। बस, इसी चंचलता को योग कहते हैं। विशेष प्रयोजन दिखाने की अपेक्षा से आस्रव, यह नाम भी पड़ता है। किसी में जुड़ना, लगना, लगाना, ऐसा अर्थ युज् धातु का है। उसी का बना हुआ यह 'योग' शब्द है। आस्रव का अर्थ आगे बताने वाले हैं।

जीव तथा शरीर जुदे नहीं रहते, इसलिए जीव की चंचलता कहने का और शरीर की चंचलता कहने का[1] एक ही अर्थ होता है। क्योंकि, चंचलता न केवल शरीर में ही होती है और न केवल जीव में ही। केवल शरीर में हो तो मृत में भी होना चाहिए; और केवल जीव में हो तो मुक्त होने पर भी चंचलता चलनी चाहिए। इस चंचलता के द्वारा कुछ-न-कुछ पुद्गल सदा आते रहते हैं और जीव को पूर्ववत् बद्ध करते रहते हैं।

---

1. "कायवाङ्मनसां कर्म कायवाङ्मनःकर्मयोगः। आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः। स निमित्तभेदात् त्रिधा भिद्यते। काययोगो, वाग्योगो मनोयोग इति" सर्वा.सि., वृ. 610

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

साधारण दृष्टि से देखें तो शरीर के किसी भी अंगोपांग के हिलने से जो संयोग माना जाता है वह एक शरीरयोग ही कहा जाना चाहिए, परन्तु शरीर चंचलता की अपेक्षा मन तथा वचन की क्रिया कुछ विचित्र दिख पड़ती है, इसलिए शरीर, मन, वचन ये तीन भेद जुदे-जुदे कर दिए गये हैं। मन की चंचलता में विचार होना एक विशेषता है। वचन में मन की-सी विशेषता तो नहीं है, परन्तु यह विशेषता[1] है कि कंठादि स्थानों के प्रयत्न से पास के कुछ सूक्ष्म पुद्गलों में ध्वनि उत्पन हो जाती है। ध्वनि उच्छ्वास वायु के आघात से मुख के निकलती हुई सर्व दिशाओं में पसरने लगती है। उच्छ्वास का जैसा वेग हो वैसी ही दूरी तक वह ध्वनि पहुँचती है। इसी को वचन कहते हैं। यद्यपि वचन स्वयं शरीर नहीं है तो भी वचनोत्पत्ति के समय शरीर में क्रिया अवश्य होती है; इसीलिए मन की तरह वचन के योग को भी शरीर के योग में गर्भित कर सकते हैं। शरीर की क्रियाओं से मन वचन की क्रियाओं में उक्त विशेषता दिख पड़ती है, इसलिए दोनों को शरीर से जुदा मान कर योग के तीन भेद कर दिये हैं। इन दोनों की चंचलता के स्वरूप से शरीर की चंचलता एक जुदी ही दिख पड़ती है। उसका न तो मन का सा विचार होना ही कार्य है और न ध्वनि उत्पन्न करना ही कार्य है। यद्यपि शरीर के आघात से भी ध्वनि हो सकती है, परन्तु उसे वचन नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार जीव में चंचलता उत्पन्न होने के कारण तीन हुए। तीन कारणों की अपेक्षा से योग के भी मनोयोग, वचनयोग, काययोग ये तीन नाम रखे गये हैं।

धर्म या पुण्य के कार्यों में इनकी जब प्रवृत्ति होती है तब तीनों योगों को शुभ योग कहते हैं और जब ये पाप के कार्यों में लगते हैं तब अशुभ योग कहते हैं, अर्थात् शुभ[2] इच्छा होने पर उत्पन्न हुआ जो योग वह शुभ कहलाता है और अशुभेच्छा से जो हो वह अशुभ कहलाता है।

शुभाशुभ का सूक्ष्म स्वरूप तो विस्तृत है और आगे कहेंगे भी, परन्तु साधारणत: न्याय को शुभ तथा अन्याय को अशुभ कहते हैं। उदाहरणार्थ, (1) किसी के हित का चिन्तवन करना शुभ मनोयोग, (2) हितकारी बोलना शुभ वचनयोग, (3) दान देना, गुरु को मस्तक नवाना, शुभ काययोग। (4) अहितचिन्तवन अशुभ मनोयोग, (5) गाली देना अशुभ वचनयोग, (6) थप्पड़ मारना अशुभ काययोग। ये सामान्य छह भेद हुए।

आस्रव का शब्दार्थ—

सरसः सलिला वाहि, द्वारमत्र जनैर्यथा।
तदास्रवण-हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते॥ 3॥
आत्मनोऽपि तथैवैषा जिनैर्योगप्रणालिका।
कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते॥ 4॥

अर्थ—बहकर आनेवाले को आस्रव कहते हैं और बहकर आने का कारण भी आस्रव कहलाता

1. "प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः" इति न्यायदर्शनकारस्यापि सूत्रात्मकं वचनम्।
2. "कथं योगस्य शुभाशुभत्वं? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः। न पुनः शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्यते, शुभयोग एव न स्यात्॥" सर्वा.सि., वृ. 614

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है। पहला द्रव्यास्रव है और दूसरा भावास्रव। बहकर आनेवाला पदार्थ द्रव्य होगा, इसलिए द्रव्यास्रव नाम सार्थक है। कर्मबन्धन के प्रकरण में कर्म का संग्रह करनेवाला जो आत्मीय परिणाम होता है वह गुणपर्यायात्मक होता है, इसलिए उसे भावास्रव[1] कहते हैं। ये दो भेद ग्रन्थकारों ने वस्तुस्थिति जताने के लिए बताये अवश्य है, परन्तु इस प्रकरण में केवल भावास्रव दिखाने की ग्रन्थकार की इच्छा है।

बन्धनयोग्य द्रव्यकर्म जिस कारण से बन्धन की अवस्था में आकर प्राप्त हों उसे आस्रव कहते हैं। यह आस्रव का लक्षण तात्पर्य सिद्ध है। यह लक्षण द्रव्यास्रव व भावास्रव दोनों में ही जुड़ता है। कितने ही लोग तो क्रियायुक्त[2] पदार्थ को कार्य का मुख्य कारण कहते हैं और कितने ही कार्योत्पत्ति से पूर्वक्षणवर्ती क्रिया[3] को ही मुख्य कारण या करण[4] कहते हैं। प्रथम अर्थ लेने पर तो बन्ध का कारण भावास्रव हो सकता है और दूसरे अर्थ के अनुसार द्रव्यास्रव।

सरोवर के भीतर पानी आने की जो मोरी होती है उसमें होकर पानी भीतर बह आता है। संस्कृत भाषा में 'आस्रव' का अर्थ 'बह आने का द्वार' ऐसा होता है। योगरूप नली भी इसी प्रकार आत्मा के भीतर कर्मयोग्य परमाणु पिण्ड को बहाकर लाती है, इसलिए योग—नली को जिनेन्द्र ने आस्रव कहा है। क्योंकि, पानी बह आने के लिए मोरी जिस प्रकार कारण है उसी प्रकार योग भी कार्मण स्कन्धों को कर्मपर्याय बनाने के लिए कारण है। प्रत्येक आत्मा के साथ या भीतर कर्मपर्याय होने योग्य बहुत से पुद्गल-पिंड संचित रहते हैं। उन्हीं में से कुछेक योगवशात् कर्मरूप होते रहते हैं, इसलिए बहकर आने का दृष्टान्त कर्म के आने में तुलना नहीं रखता। ऐसी तुलना तभी हो सकती है जब कि बाहर से कर्म भीतर आते हों। यदि ऐसा है तो योग को आस्रव क्यों कहा जाता है? उत्तर—द्वार तथा आस्रव शब्द का जो अर्थ लोग मानते हैं वह कारण समझकर मानते हैं और कारणार्थ योगों में भी दिख पड़ता है, इसलिए योगों को कर्मद्वार तथा आस्रव कहने की रूढ़ि चल रही है, अर्थात् कारण मात्र की अपेक्षा से यहाँ तुलना है और आस्रव शब्द का प्रयोग उपचार से किया गया है।

कर्म के दो प्रकार—

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते साम्परायिकम्।
अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे॥ 5॥
साम्परायिकमेतत्स्यादार्द्रचर्मस्थरेणुवत्।
सकषायस्य यत्कर्म योगानीतं तु मूर्च्छति॥ 6॥
ईर्यापथं तु तच्छुष्क-कुड्य-प्रक्षिप्त-लोष्टवत्।
अकषायस्य यत्कर्म योगानीतं न मूर्च्छति॥ 7॥

अर्थ—जिन जीवों में क्रोधादि कषाय होते हैं वे साम्परायिक कर्म का बन्ध करते हैं। जिनके कषाय उपशान्त या क्षीण हो गये हों वे ईर्यापथ कर्म का ही संग्रह करते हैं। साम्पराय का अर्थ संसार है। संसार

1. आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेयो। भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि।—द्र.सं., गा. 29
2. व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्।
3. यद्व्यापारादनन्तरं कार्यमुत्पद्यते स व्यापारः करणम्।
4. कार्याव्यवहितपूर्वक्षयावृत्तित्वे सति असाधारणकारणं करणम्। साधकतमः करणमिति तु जैनेन्द्रे।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

की अथवा अशुद्धता की उत्पत्ति करनेवाला कर्म साम्परायिक कहा जाता है। सकषाय जीवों में जो कर्म इकट्ठे होते हैं वे कषाय के सामर्थ्य से जीवप्रदेशों में ऐसे बद्ध हो जाते हैं कि कुछ काल पर्यन्त उसी पर्याय में ठहरते हैं, इसीलिए उनमें जीव को संसारी बनाकर रखने की योग्यता मानी जाती है। उन कर्मों को साम्परायिक[1] कर्म कहते हैं। जिन जीवों का कषाय शान्त या क्षीण हो गया हो उनके भीतर भी योग जब तक नष्ट नहीं हो पाता तब तक कर्मों का संग्रह होता है, क्योंकि कर्मप्रदेशों को संग्रह करने का काम योग का है, परन्तु केवल योग के द्वारा संगृहीत हुए कर्मों में टिकने का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता और न ज्ञानावरणादि नाना घातक शक्ति व्यक्त होती हैं, इसीलिए वे कर्म जिस-जिस समय में आते हैं उसी-उसी समय में निकल भी जाते हैं। उन कर्मों में आठ या एक सौ अड़तालीस भेद भी उत्पन्न नहीं होते। केवल एक प्रकार होता है जिसे कि सद्वेद्य या सातावेदनीय कहते हैं।

वह सातावेदनीय ही क्यों रहता है? इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि कर्म जितने प्रकार के हैं उन सभी में से यदि कोई अधिक आत्मानुकूल हो सकता है तो वह सातावेदनीय ही है। उपशान्त कषाय वाले जीव से लेकर ऊपर के सभी जीवों में आत्मानुकूलता की सामग्री अधिक हो जाती है, इसलिए जो कर्मबन्धन होगा वह सब कर्मों में से अच्छा होगा। साता से अच्छा दूसरा कोई कर्म नहीं है, इसलिए साता का ही बन्ध होना वहाँ सम्भव है।

सातापना एक कर्मरस है। कर्मरस का व्यक्त होना कर्माधीन है। जबकि कषाय का लेश भी न रहा हो तब साता-रस का भी उत्पन्न होना कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है कि असली टिकाऊ कर्म कषाय द्वारा ही बँधता है। तो भी कर्मप्रदेशों का लानेवाला योग जब तक है तब तक कर्म थोड़ा-बहुत आएगा अवश्य और जो आएगा वह किसी-न-किसी कर्मशक्ति को रखनेवाला भी होगा ही। वह शक्ति भी एक सौ अड़तालीस प्रकार से भीतर की ही हो सकती है। उनमें से शेष अनुभावक शक्तियों के कारण उपस्थित न रहने से साता का अनुभव ही स्वीकार करना पड़ता है और फिर वह साता भी कषाय के न रहने से टिकाऊ नहीं होती।

यहाँ पर तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कषाय न रहते हुए भी शुक्ल लेश्या यहाँ मानी जाती है उसी प्रकार यहाँ कर्मबन्धन और वह सातारूप माना जा सकता है। कषायों के न रहने से कर्मों की टिकाऊ अवस्था नहीं होती, इसलिए यह कहना भी अनुचित नहीं है कि अकषाय जीवों के कर्म, कर्म ही नहीं हैं। कर्मों से मुक्त होने का यह ठीक पूर्वरूप है। यहाँ पर कर्मबन्ध सम्बन्धी कारण कार्यों के नाश का क्रम चालू है। वह नाश होते-होते टिकाऊपने का और कषाय का सर्वनाश हो जाता है और अनुभाग-शक्तियों में से भी साता के सिवाय सभी रुक जाती हैं। कारणों में योग और कर्मांशों में साता शेष रह जाती है।

उस साता के विषय में भी ऐसा न समझना चाहिए कि शेष अनुभाग शक्तियों की ही तरह बन्ध होते समय यह विशेषता से व्यक्त होती है। तो? जिन कार्मण वर्गणाओं में सातारूप शक्ति रहती है वे ही वर्गणा[2] उस समय केवल बद्ध होती हैं और इसीलिए उन्हें हम साताकर्म कहते हैं। जिस प्रकार साता

1. संपरायः संसारः तत्प्रयोजनं कर्म सांपरायिकम्। ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः। तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम्। सर्वा.सि., वृ. 616

2. जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति (योगात्प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवतः)—द्र.सं., गा. 33

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि अनुभाग शक्तियाँ व्यक्त होने के लिए कषायरूप सहकारी कारण की आवश्यकता मानी जाती हैं, उसी प्रकार वर्गणाओं में रहनेवाली उपादान शक्तियाँ भी कारण माननी पड़ती हैं। हाँ, सहकारी का तो नियम[1] भी नहीं है, परन्तु उपादान कारण अवश्य मानना पड़ता है। इसी बात को हम और भी सीधे शब्दों में कहें तो यों कह सकते हैं कि उस समय का सातारूप कहना भी कहना मात्र है। क्योंकि, कर्मों का असली कार्य यह है कि आत्मा में स्वरूप विपर्यास तथा परतन्त्रता उत्पन्न हो। परन्तु वह साताकर्म स्वरूपविपर्यास भी नहीं कर सकता, और परतन्त्रता भी नहीं कर सकता, इसलिए वह नाममात्र कर्म है। साताकर्म भी जो जीव को परतन्त्र करने में समर्थ हो सकते हैं वे कषाय के बिना बद्ध नहीं होते।

यदि साताकर्म योगियों को वास्तविक बन्ध ही उत्पन्न नहीं करता तो इसे कर्म क्यों कहते हैं और इसके रहते हुए आत्मा पूरा मुक्त नहीं होता? इसका उत्तर—

आत्मा को पूरा मुक्त होने में यह साताकर्म विघ्न नहीं डालता, किन्तु कषाय के सहवास से बँधे हुए पूर्वकर्म बाधक होते रहते हैं। वे जब तक पूर्ण नष्ट नहीं हो पाते हैं तब तक इस साताकर्म की अयोगवस्था के समय रुकावट हो जाने पर भी पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं होती और इस साताकर्म को कर्म कहने का हेतु यह नहीं है कि इसका कुछ कार्य होता रहता है। तो? एक देश कारणभूत योग के रहने से कर्म आने की क्रिया चालू रहती है, इसलिए इस क्रिया में समाविष्ट हुई कार्मण वर्गणाओं को कर्म न कहें तो क्या कहें?

इस प्रकार कर्मों के साम्परायिक और ईर्यापथ ये दो भेद हुए। अब दोनों के उदाहरण तथा समर्थन कहते हैं—

कषाय के द्वारा जीव की अवस्था गीले या चिकने चमड़े की-सी हो जाती है, इसलिए जिस प्रकार गीले चमड़े पर आकर पड़ी हुई धूल जम जाती है उसी प्रकार कषाय द्वारा आर्द्र या स्निग्ध हुए जीव में आए हुए कर्म कुछ काल के लिए जम जाते हैं इसी को साम्परायिक कर्म कहते हैं। जहाँ पर कषाय नहीं रहता वहाँ पर गीलापन या चिक्कणता नहीं हो सकती, इसीलिए जिस प्रकार माटी, पत्थर के सूखे या रुक्ष पड़े हुए ढेर में धूलकण उससे चिपटते नहीं हैं, उसी प्रकार कषाय रहित जीव निस्नेह या सूखा हो जाने के कारण उसमें आए हुए कर्म जम नहीं पाते। जैसे वे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं। इस कर्म को ईर्यापथ कर्म कहते हैं। ये दोनों भेद[2] हैं तो कर्मों के या जीवों के, परन्तु उपचार से आस्रव के कहे जाते हैं।

साम्परायिक कर्म के आने के कारण—

चतुःकषाय-पञ्चाक्षैः तथा पञ्चभिरव्रतैः।
क्रियाभिः पञ्चविंशत्या साम्परायिकमास्त्रवेत्॥ 8॥

अर्थ—चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच अव्रत, पच्चीस क्रियाएँ—इनके द्वारा साम्परायिक कर्मों का

1. "सहकारिणामप्रतिनियमात्" आ.परी., का. 35
2. स्वामिभेदादास्त्रवभेदः।—सर्वा.सि., वृ. 616

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आस्रव होता है। यद्यपि साम्परायिक कर्म का कारण कषाय ही है तो भी इन्द्रियादिकों को जुदा कारण इसलिए गिनाया है कि कषायों के कार्यकारण सम्बन्ध की अवस्थाएँ मालूम पड़ जाएँ। जब तक कषाय मनोगत रहे, तब तक उसे कषाय कहना चाहिए और इन्द्रिय, अव्रत तथा क्रियाओं को कषायों का कार्य कहना चाहिए। उन पच्चीस क्रियाओं के नाम तथा अर्थ दिखाते हैं—

1. चैत्य[1]—गुरु-प्रवचन की पूजा करना इत्यादि कार्यों से सम्यक्त्ववृद्धि होती है, इसलिए यह सम्यक्त्वक्रिया है।

2. जिनसे मिथ्यात्व बढ़े ऐसे कार्य करने का नाम मिथ्यात्वक्रिया है। जैसे मिथ्या देवों की स्तुति करना।

3. हाथ-पाँव आदि हिलाने की जो क्रिया हो वह प्रयोगक्रिया कहलाती है। जैसे कि चलना फिरना।

4. संयमी होकर असंयम की तरफ झुकना, समादानक्रिया कहलाती है। योगसाधक पुद्गल वर्गणाओं के संग्रह करने को भी समादान क्रिया कहते हैं। इस समादानक्रिया का तात्पर्य इतना ही है कि जो पुद्गल ग्रहण करने में कुछ समय से रुक रहे हैं उनका फिर ग्रहण करना अथवा नये-नये पुद्गलों को ग्रहण करने की तरफ प्रवृत्त होना।

5. ईर्यापथ-क्रिया पाँचवीं है। यह समादान-क्रिया से उलटी है। साधु को लक्ष्य कर चौथी व पाँचवीं ये दो क्रियाएँ बतायी हैं। संयमी की ऐसी कोई क्रिया होने लगे कि जिससे विषय ग्रहण हो वह संयमी की एक समादान नामक पाप क्रिया हुई। साधु संयम बढ़ानेवाली जिस क्रिया को करे उसे ईर्यापथ क्रिया कहते हैं। ईर्यापथ एक समिति है। ईर्यापथ का अर्थ आगे कहेंगे। इस क्रिया को यद्यपि ईर्यापथ नाम से कहा है, परन्तु पाँचों समितियों का अर्थ इसमें गर्भित है।

विशेष—इन पाँच क्रियाओं में से पहली दो क्रियाएँ सम्यक्त्व सुधरने, बिगड़ने की अपेक्षा से हैं। चौथी, पाँचवीं संयम सुधरने, बिगड़ने की अपेक्षा से हैं, बीच की तीसरी प्रयोग-क्रिया सामान्य जीव मात्र के लिए है जो मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों के साथ लगती है, अतः उसे मध्य दीपक बताया है। उन्हीं का उल्लेख यहाँ होना चाहिए। पाँचों समितियों का जो आगे स्वरूप कहेंगे उससे मालूम होगा कि पाँचों ही समितियाँ जैसे संवर के लिए कारण हैं, वैसे कुछ शुभ आस्रव के लिए भी कारण हैं। इसीलिए संयमवर्द्धक ईर्यापथ समिति को यहाँ क्रियाओं में गिनाया है। ईर्यापथ का अर्थ भी इसीलिए पाँचों समिति करना चाहिए। उपलक्षण न्याय से पाँचों का ग्रहण करना असम्बद्ध भी नहीं है।

आगे जिन पाँच क्रियाओं को कहते हैं वे परहिंसा[2] की मुख्यता से हैं—

6. क्रोध के आवेश से द्वेषादिरूप बुद्धि का कर लेना सो प्रादोषिक क्रिया है।

7. प्रदोष उत्पन्न हो जाने पर हाथ से मारने लगना, मुख से गाली देने लगना—ऐसी प्रवृत्ति को कायिक क्रिया कहते हैं।

8. हिंसा के साधनभूत बन्दूक, छुरी इत्यादि चीजों का लेना, देना, रखना—इस सबको आधिकरणिकी क्रिया कहते हैं।

---

1. "सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथक्रियाः पञ्च"—रा.वा. 6/5, वा. 7

2. प्रदोषकायाधिकरणपरितापप्राणातिपातक्रियाः पञ्च।—रा.वा. 6/5, वा. 8

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

9. दूसरों के दु:ख देने में लगना सो परिताप क्रिया है।

10. दूसरों के शरीर-इन्द्रिय-श्वासोच्छ्वास को नष्ट करना सो प्राणातिपात क्रिया है।

विशेष—1. ये पाँच क्रियाएँ सूक्ष्म से स्थूल की ओर, भाव से द्रव्य की ओर हैं, जैसे—क्रोधादि के निमित्त से जीव का अपने अन्दर रागद्वेष परिणाम करना, 2. पुन: कषाय आदि के निमित्त से वचन-काय का दुरुपयोग करना, 3. पुन: कषाय के प्रयोग को प्रदर्शित करने के लिए हिंसक हथियार, औजार आदि ग्रहण करना, 4. पुन: इन हथियारों से दूसरों को पीड़ा देना, 5. और पीड़ा देकर मार देना।

अब पाँच क्रियाएँ ऐसी हैं जिनका[1] इन्द्रियभोगों से सम्बन्ध है—

11. सौन्दर्य देखने की इच्छा सो दर्शनक्रिया है।

12. किसी चीज को छूने की इच्छा होना सो स्पर्शन क्रिया है। इन दो इन्द्रिय विषयों की वांछाओं में ही शेष इन्द्रिय विषय वांछाएं समाविष्ट है।

13. इन्द्रियभोगों की पूर्ति के लिए नये-नये सामान इकट्ठे करना या उत्पन्न करना सो प्रात्ययिकी क्रिया है।

14. स्त्री, पुरुष तथा पशुओं के बैठने, उठने के स्थानों को मल-मूत्र से खराब कर डालना सो समन्तानुपात क्रिया है।

15. बिना देखी, झाड़ी-पोंछी हुई भूमि पर बैठना, उठना, सोना सो अनाभोग क्रिया है।

अब पाँच क्रियाएँ ऐसी हैं कि जो ऊँचे धर्माचरण को दूषित करनेवाली हैं—

16. दूसरे के नियोगी काम को स्वत: करना सो स्वहस्त क्रिया है। वर्णाश्रित कार्यों के बदलने से यह दोष मुख्यतया लगता है और इसी से देश की व्यवस्था का भंग या अव्यवस्थितपना हो जाता है।

17. पाप साधनों के देने, लेने में सम्मति रखना सो निसर्ग क्रिया है। यहाँ निसर्ग शब्द का अर्थ है पापिष्ठ कामों की छूट देना।

18. अच्छे कामों को आलस्यवश स्वयं नहीं करना अथवा दूसरों के निंद्य कार्य का भंडाफोड़ करना—यह सब विदारण क्रिया का अर्थ है।

19. प्रमादवश आवश्यक धर्मकार्यों को न कर सकना या विपरीत उपदेश करना सो आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है।

20. प्रवचन में दिखाए हुए धर्मानुष्ठान के करने में उन्मत्तता के साथ आलस्य के वश होकर आदर या प्रेम न रखना सो अनाकांक्षा क्रिया है।

अब पाँच ऐसी क्रियाएँ गिनाते हैं कि जिनके रहने से धर्म धारने में विमुखता रहे—

21. काटना, तोड़ना, कुचलना—इत्यादि कार्यों में लगे रहना और दूसरा कोई ऐसा करे तो हर्षित होना सो आरम्भ क्रिया है।

22. परिग्रहों[2] का कुछ भी विध्वंस न हो जाए ऐसे उपायों में लगे रहना सो परिग्रह क्रिया है।

---

1. दर्शन-स्पर्शन-प्रत्यय-समन्तानुपातानाभोगक्रिया:पंच। स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनाकांक्षाक्रिया: पञ्च।—रा.वा. 6/5, वा. 9-10

2. आरम्भ-परिग्रह-माया-मिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया: पञ्च॥—रा.वा. 6/5, वा. 11

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

23. ज्ञानादि गुणों को मायाचार से छिपाए रखना माया क्रिया है।

24. मिथ्यादृष्टियों के मिथ्यात्वपूर्ण कामों की प्रशंसा करना मिथ्यादर्शन क्रिया है। ऐसी प्रशंसा में वही लग सकता है कि जिसे सत्य धर्म में अभिरुचि न हो।

25. देशव्रत के घातक[1] कषायकर्मों का उदय रहने से व्रतों से सर्वथा विमुख रहना अप्रत्याख्यान क्रिया है। प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग होता है। विषय त्याग न होकर उलटी आसक्ति होना—यह अप्रत्याख्यान शब्द का अर्थ है। कषाय सभी प्रवृत्तियों के कारण हैं। इन्द्रिय-शब्द से इन्द्रियज्ञान लेना चाहिए। अव्रत शब्द का अर्थ विषयासक्ति है। विषयासक्ति मनोविकार है, इसलिए क्रियाओं से उक्त तीनों ही जुदे कहे गये हैं। क्योंकि, क्रियाएँ जितनी हैं वे सब शरीरावयवों की सकम्प अवस्थाएँ हैं। इन्हीं सकम्पावस्थाओं को कारण-भेदवश अनेक नाम प्राप्त हुए हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्रिय का अर्थ इन्द्रियोपयोग है, परन्तु स्पर्शन क्रिया का अर्थ स्पर्शनेन्द्रिय-व्यापार है। बुरे, भले साम्परायिक कर्मबन्धनों के ये कारण हैं।

आस्रव की तरतमता के कारण—

तीव्र-मन्द-परिज्ञात-भावेभ्योऽज्ञातभावतः।
वीर्याधिकरणाभ्यं च तद्विशेषं विदुर्जिनाः॥ 9॥

अर्थ—इन्द्रियादिक साम्पराय कर्म के उनतालीस कारण कहे, परन्तु साम्परायिक कर्मों का फल भोगने वाले संसारी जीवों में अनन्त विचित्रताएँ देखने में आती हैं। क्या वे विचित्रताएँ निष्कारण होती हैं? यदि नहीं तो उनके लिए कौन से कर्म कारण हैं और वे कर्म कैसे बँधते हैं? इस प्रश्न का उत्तर उक्त श्लोक में हैं।

वह यों कि, साम्परायिक कर्मबन्ध के कारण जो उनतालीस ऊपर कहे वे ही हैं, परन्तु परिणामों की (1) तीव्रता, (2) मन्दता अनन्त तरह की हो सकती है। बस, उसी से कर्म सामर्थ्य में अनन्त भेद पैदा हो जाते हैं। इसके सिवाय, जो कर्म (3) ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं वे दूसरे प्रकार के होते हैं और (4) बिना जाने किये जाते हैं वे और दूसरे प्रकार के होते हैं। (5) शक्ति तथा (6) आश्रय से भी अन्तर पड़ जाता है। शक्ति नाम बल का है। विशेषता के ये छह कारण हुए।

अधिकरण या आश्रय का विस्तारार्थ—

तत्राधिकरणं द्वेधा जीवाजीवविभेदतः।
त्रिःसंरम्भ-समारम्भारम्भैर्योगैस्तथा त्रिभिः॥ 10॥
कृतादिभिः त्रिभिश्चैव चतुर्भिश्च क्रुधादिभिः।
जीवाधिकरणस्यैते, भेदा अष्टोत्तरं शतम्॥ 11॥
संयोगौ द्वौ निसर्गास्त्रीन् निक्षेपाणां चतुष्टयम्।
निर्वर्तनाद्वयं चाहुर्भेदानित्यपरस्य तु॥ 12॥

---

1. देशव्रत के घातक कर्मों को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—यहाँ कषायों के आधार को अधिकरण कहा है। वे अधिकरण दो प्रकार के हैं, जीव व अजीव। कषाय कहाँ उत्पन्न होता है इस प्रश्न का उत्तर देखने लगें तो जीव को अधिकरण कहना पड़ता है। कषाय किस विषय में उत्पन्न हुआ या होता है इस प्रश्न का निश्चय करना चाहें तो अजीव को अधिकरण कहना पड़ता है।

जीव में उत्पन्न हुआ किसी विषय सम्बन्धी कषाय जीव की कैसी-कैसी अवस्था करता है या कैसे-कैसे कार्य जीव से कराता है यह बात दिखाते हैं—

जिस विषय में कषाय उत्पन्न हुआ हो उस विषय को, इष्ट हुआ तो अपनाने और अनिष्ट हुआ तो हटाने का संकल्प मन में उत्पन्न हो जाता है। इस इच्छा या संकल्प के होते ही करने योग्य प्रयत्न की ओर झुकाव होता है। इसी को (1) संरम्भ[1] कहते हैं। उस झुकाव के बाद साधन इकट्ठे करने लगना इसको (2) समारम्भ है। फिर हटाने या अपनाने का कार्य शुरू हो जाना सो (3) प्रारम्भ है। मन के करने की यदि कोई बात हो तो ये संरम्भादि मन में होते हैं; वचन से करने योग्य कार्य है तो ये वचन में होते हैं; शरीर से करने योग्य कार्यों के समय शरीर में होते हैं, इसीलिए हम यदि तीनों योग सम्बन्धी संरम्भ, समारम्भ, आरम्भों को तीन योगों में विभक्त करें तो नौ प्रकार के संरम्भादिक हो जाते हैं।

इन नौ प्रकारों को कोई मनुष्य स्वयं करता है, कोई दूसरों को ऐसे कार्यों के करने में लगाता है और कोई दूसरों को वैसा करते देख प्रसन्न होता है या उसे अच्छा मानता है, इसीलिए तीन प्रकार और भी हो गये। स्वयंकृत, अन्यकारित, अनुमत या अनुमोदित ये तीनों प्रकारों के नाम हुए। इन तीनों से ऊपर के संरम्भादि नौ प्रकारों को गुणित करें तो सर्वभेद सत्ताईस हो जाते हैं।

ये सत्ताईस बातें कहीं तो क्रोध द्वारा की जाती हैं, कहीं मान कषाय द्वारा, कहीं मायाचार के वश और कहीं लोभ के वश। इसीलिए उन सत्ताईसों को क्रोध-मान-माया-लोभ की चार संख्या से गुणित करने पर एक सौ आठ भेद भी हो जाते हैं।

1. क्रोधकृतकाय संरम्भ,	2. मानकृतकाय संरम्भ,	3. मायाकृतकाय संरम्भ,
4. लोभकृतकाय संरम्भ,	5. क्रोधकारितकाय संरम्भ,	6. मानकारितकाय संरम्भ,
7. मायाकारितकाय संरम्भ,	8. लोभकारितकाय संरम्भ,	9. क्रोधानुमतकाय संरम्भ,
10. मानानुमतकाय संरम्भ,	11. मायानुमतकाय संरम्भ,	12. लोभानुमतकाय संरम्भ,
13. क्रोधकृतवचन संरम्भ,	14. मानकृतवचन संरम्भ,	15. मायाकृतवचन संरम्भ,
16. लोभकृतवचन संरम्भ,	17. क्रोधकारितवचन संरम्भ,	18. मानकारितवचन संरम्भ,
19. मायाकारितवचन संरम्भ,	20. लोभकारितवचन संरम्भ,	21. क्रोधानुमतवचन संरम्भ,
22. मानानुमतवचन संरम्भ,	23. मायानुमतवचन संरम्भ,	24. लोभानुमतवचन संरम्भ,
25. क्रोधकृतचित्त संरम्भ,	26. मानकृतचित्त संरम्भ,	27. मायाकृतचित्त संरम्भ,
28. लोभकृतचित्त संरम्भ,	29. क्रोधकारितचित्त संरम्भ,	30. मानकारितचित्त संरम्भ,
31. मायाकारितचित्त संरम्भ,	32. लोभकारितचित्त संरम्भ,	33. क्रोधानुमतचित्त संरम्भ,

1. प्रयत्नावेशः संरम्भः। साधनसप्रभ्यासीकरणं समारम्भः। प्रक्रम आरम्भः।—रा.वा. 6/8, वा. 2-4

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

34. मानानुमतचित्त संरम्भ, 35. मायानुमतचित्त संरम्भ, 36. लोभानुमतचित्त संरम्भ,
37. क्रोधकृतकाय समारम्भ, 38. मानकृतकाय समारम्भ, 39. मायाकृतकाय समारम्भ,
40. लोभकृतकाय समारम्भ, 41. क्रोधकारितकाय समारम्भ, 42. मानकारितकाय समारम्भ,
43. मायाकारितकाय समारम्भ, 44. लोभकारितकाय समारम्भ, 45. क्रोधानुमतकाय समारम्भ,
46. मानानुमतकाय समारम्भ, 47. मायानुमतकाय समारम्भ, 48. लोभानुमतकाय समारम्भ,
49. क्रोधकृतवचन समारम्भ, 50. मानकृतवचन समारम्भ, 51. मायाकृतवचन समारम्भ,
52. लोभकृतवचन समारम्भ, 53. क्रोधकारितवचन समारम्भ, 54. मानकारितवचन समारम्भ,
55. मायाकारितवचन समारम्भ, 56. लोभकारितवचन समारम्भ, 57. क्रोधानुमतवचन समारम्भ,
58. मानानुमतवचन समारम्भ, 59. मायानुमतवचन समारम्भ, 60. लोभानुमतवचन समारम्भ,
61. क्रोधकृतचित्त समारम्भ, 62. मानकृतचित्त समारम्भ, 63. मायाकृतचित्त समारम्भ,
64. लोभकृतचित्त समारम्भ, 65. क्रोधकारितचित्त समारम्भ, 66. मानकारितचित्त समारम्भ,
67. मायाकारितचित्त समारम्भ, 68. लोभकारितचित्त समारम्भ, 69. क्रोधानुमतचित्त समारम्भ,
70. मानानुमतचित्त समारम्भ, 71. मायानुमतचित्त समारम्भ, 72. लोभानुमतचित्त समारम्भ,
73. क्रोधकृतकायारम्भ, 74. मानकृतकायारम्भ 75. मायाकृतकायारम्भ,
76. लोभकृतकायारम्भ, 77. क्रोधकारितकायारम्भ, 78. मानकारितकायारम्भ,
79. मायाकारितकायारम्भ, 80. लोभकारितकायारम्भ, 81. क्रोधानुमतकायारम्भ,
82. मानानुमतकायारम्भ, 83. मायानुमतकायारम्भ, 84. लोभानुमतकायारम्भ,
85. क्रोधकृतवचनारम्भ, 86. मानकृतवचनारम्भ, 87. मायाकृतवचनारम्भ,
88. लोभकृतवचनारम्भ, 89. क्रोधकारितवचनारम्भ, 90. मानकारितवचनारम्भ,
91. मायाकारितवचनारम्भ, 92. लोभकारितवचनारम्भ, 93. क्रोधानुमतवचनारम्भ,
94. मानानुमतवचनारम्भ, 95. मायानुमतवचनारम्भ, 96. लोभानुमतवचनारम्भ,
97. क्रोधकृतचित्तारम्भ, 98. मानकृतचित्तारम्भ, 99. मायाकृतचित्तारम्भ,
100. लोभकृतचित्तारम्भ, 101. क्रोधकारितचित्तारम्भ, 102. मानकारितचित्तारम्भ,
103. मायाकारितचित्तारम्भ, 104. लोभकारितचित्तारम्भ, 105. क्रोधानुमतचित्तारम्भ,
106. मानानुमतचित्तारम्भ, 107. मायानुमतचित्तारम्भ, 108. लोभानुमतचित्तारम्भ

इस प्रकार जीवाधिकरण के 108 भेद[1] होते हैं।

अजीवाधिकरण के प्रकार—

कषायपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है वह जिन विषयों पर हो उसी को अजीवाधिकरण कह चुके हैं। उस अजीवाधिकरण को देखने जायें तो इतने प्रकारों में दिख पड़ेगा; (1) कुछ चीजों का संयोग या मिश्रण

1. गोम्मटसार में ऐसे संयोगजभंगों की संख्या यन्त्र द्वारा कर लेने की विधि लिखी है। तदनुसार जीवाधिकरणों की संख्या दिखानेवाला यहाँ एक यन्त्र देते हैं। इसमें 'क्रोध-कृत-काय-संरम्भ ऐसा प्रथम भेद होगा। दूसरा मान-कृत-काय-संरम्भ' ऐसा होगा। इसी प्रकार सर्व भंग जुड़ जाते हैं। चारों कोष्ठकों के एक-एक नाम व एक-एक संख्या जोड़ने से भंग संख्या भी मालूम हो जाती हैं।

क्रोध 1	मान 2	माया 3	लोभ 4
कृत 0	कारित 4	अनुमत 8	
काय 0	वचन 12	मन 24	
संरम्भ 0	समारम्भ 36	आरम्भ 72	

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

किया जाना, (2) योगों का निसर्ग या लगाना, (3) वस्तुओं का कहीं पर रखना अर्थात् निक्षेप, (4) शरीर की तथा बाकी चीजों की नयी तैयारी करना। अजीव पुद्गल के उपयोग के ये चार प्रकार हैं।

1. प्रथम संयोग। इसके दो प्रकार हैं—(1) भक्तपान संयोग, (2) उपकरण संयोग। खाने-पीने की वस्तुओं का इकट्ठा करना भक्तपान संयोग रूप अधिकरण है। चूल्हा, चक्की आदि उपभोग साधनों का इकट्ठा करना उपकरण संयोग नामक अधिकरण कहलाता है।

2. दूसरा निसर्ग नाम का अजीवाधिकरण। इसके तीन भेद हैं : (1) शरीरनिसर्ग, (2) वचननिसर्ग और (3) चित्तनिसर्ग। शरीर को कहीं पर टेकना या रखना शरीरनिसर्ग है। वचन निकलना वचननिसर्ग है। किसी चीज में मन का आसक्त होना चित्तनिसर्ग है।

3. तीसरा निक्षेपाधिकरण है। इसके (1) अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप, (2) अप्रमार्जितनिक्षेप, (3) सहसानिक्षेप और (4) अनाभोगनिक्षेप ये चार भेद हैं। बिना देखी भाली जमीन पर कुछ रख देना अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है। बिना झाड़ी हुई जमीन पर कुछ रख देना अप्रमार्जित निक्षेपाधिकरण कहलाता है। किसी चीज को एकदम जमीन पर कहीं डाल देना सहसानिक्षेपाधिकरण है। जहाँ पर कभी कोई जाता नहीं, बैठता-उठता नहीं उस जमीन पर कुछ रखना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है।

4. चौथा निर्वर्तनाधिकरण। इसके दो भेद हैं—(1) मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण और (2) उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण। पाँच शरीर तथा वचन, मन, श्वासोच्छ्वास की रचना होना मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण है। घर बाँधना, माटी-ईंट-पत्थरों के दूसरे कुछ काम करना, वास्तुशिल्प का ध्यान न रखना, लकड़ी, कागज के घोड़े आदि बनाना, इत्यादि उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण कहलाते हैं। ये सर्व अजीवाधिकरण के ग्यारह उत्तर भेद होते हैं। कर्ममात्र के लिए ये सर्व आस्रव के कारण कहे, परन्तु कर्मों के भेद आठ हैं, इसलिए अब प्रत्येक कर्म के आस्रवकारण जुदे-जुदे भी बताते हैं—

1. ज्ञानावरण कर्म के आस्रव-हेतु—

मात्सर्यमन्तरायश्च प्रदोषो निह्नवस्तथा।
आसादनोपघातौ च ज्ञानस्योत्सूत्रचोदितौ॥ 13॥
अनादरार्थश्रवणमालस्यं शास्त्रविक्रयः।
बहुश्रुताभिमानेन तथा मिथ्योपदेशनम्॥ 14॥
अकालाधीतिराचार्योपाध्याय-प्रत्यनीकता।
श्रद्धाभावोऽप्यनभ्यासः तथा तीर्थोपरोधनम्॥ 15॥
बहुश्रुतावमानश्च ज्ञानाधीतेश्च शाठ्यता।
इत्येते ज्ञानरोधस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥ 16॥

अर्थ—ज्ञान को घातनेवाले ज्ञानावरण नामक कर्म के आस्रव कारण निम्नलिखित हैं—

1. जो ज्ञान अपने में हो और दूसरा उसे समझना चाहे, परन्तु न कहना-न बताना यह मात्सर्य[1]-

1. यावद्यथावद्देयज्ञानाप्रदानं मात्सर्यम्।—रा.वा. 6/10, वा. 3

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दोष है। मत्सर का अर्थ द्वेष होता है। द्वेष रखकर ज्ञान का प्रकाश न करने वाला मनुष्य मत्सरी कहलाएगा और उसकी न प्रकाश करने की भावना को मात्सर्य कहें। इसके होने से ज्ञान का घात होता है, इसलिए यह ज्ञानावरण का आस्रव माना गया है। 2. दुष्टता या कालुष्य के वश होकर ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय[1] दोष है। 3. मति-श्रुतादि ज्ञानों को मोक्षसाधन मानकर यदि कोई प्रशंसा करे तो उत्तर में कहना तो कुछ नहीं, परन्तु मन के भीतर उस बात से ईर्ष्या करने लगना यह प्रदोष[2] कहलाता है। 4. किसी तत्त्वज्ञान के पूछने पर या बताने पर 'नहीं, ऐसा नहीं है, और मैं भी नहीं जानता' ऐसे कथन को निह्नव[3] कहते हैं। 5. कोई मनुष्य किसी दूसरे को किसी तत्त्वज्ञान का उपदेश करना चाहें और वह सुननेवाला पात्र भी हो, परन्तु उपदेशदाता को मना कर देना अथवा इशारे से रोक देना—इसे आसादनदोष[4] कहते हैं। 6. निर्दोष तत्त्वज्ञान को दोष लगा देना सो उपघात[5] है। 7. तत्त्वों का उत्सूत्र कथन करना, 8. तत्त्वोपदेश सुनने में अनादर रखना, 9. आलस रखना, 10. शास्त्र बेचना, 11. अपने को बहुश्रुत मानकर अभिमान में मिथ्या उपदेश देना, 12. अध्ययन के लिए जो समय निषिद्ध हैं उन समयों में पढ़ना, 13. आचार्य तथा उपाध्याय के विरुद्ध रहना, 14. तत्त्वों में श्रद्धा न रखना, 15. तत्त्वों का अनुचिन्तन न करना, 16. सर्वज्ञ भगवान् के शासन प्रसार में बाधा डालना, 17. बहुश्रुतज्ञानियों का अपमान करना, 18. तत्त्वाभ्यास करने में शठता करना—ये सब ज्ञानावरण के आस्रव-हेतु हैं। तात्पर्य यह कि जिन कामों के करने से अपने तथा दूसरों के तत्त्वज्ञान में बाधा आए, मलिनता हो जाए वे सब ज्ञानावरण के आस्रव के कारण समझना चाहिए। उनमें से बहुत से कामों का ग्रन्थकार ने उल्लेख कर दिया है, परन्तु और भी बहुत हैं कि जिन्हें स्वविवेक से समझ लेना चाहिए। जैसे कि एक ग्रन्थ को असावधानी से लिखते हुए कुछ पाठ छोड़ देना या कुछ का कुछ लिख जाना, यह भी ज्ञानावरण के आस्रव का कारण होगा।

2. दर्शनावरण के आस्रव-हेतु—

दर्शनस्यान्तरायश्च प्रदोषो निह्नवोऽपि च।
मात्सर्यमुपघातश्च तस्यैवासादनं तथा॥ 17॥
नयनोत्पाटनं दीर्घस्वापिता शयनं दिवा।
नास्तिक्यवासना सम्यग्दृष्टिसंदूषणं तथा॥ 18॥
कुतीर्थानां प्रशंसा च जुगुप्सा च तपस्विनाम्।
दर्शनावरणस्यैते भवन्त्यास्रवहेतवः॥ 19॥

---

1. ज्ञानव्यवच्छेदकरणमन्तरायः।—रा.वा. 6/10, वा. 4
2. ज्ञानकीर्तनानन्तरमनभिव्याहरतोन्तःपैशुन्यं प्रदोषः।—रा.वा. 6/10, वा. 1
3. पराभिसंधानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः।—रा.वा. 6/10, वा. 2
4. वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनम्।—रा.वा. 6/10, वा. 5
5. प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः।—रा.वा. 6/10, वा. 6

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—1. देखने में अन्तराय डालना, 2. किसी के देखने की प्रशंसा होती हो वहाँ पर मुख से कुछ न कहकर भीतर ईर्ष्या-द्वेष रखना, 3. अपने देखने को छिपाना, 4. दूसरों को दिखाना नहीं, 5. अच्छे दर्शन को दोष लगा देना, 6. दूसरे किसी को कुछ दिखाना चाहें तो मना कर देना—ये दर्शनसम्बन्धी दोष दर्शनावरण के आस्रव के कारण हैं। इनके सिवाय दर्शनावरण के और भी बहुत से आस्रव के कारण हैं। उनमें कुछ ग्रन्थकार स्वयं दिखाते हैं। जैसे कि किसी की आँखें निकलवा लेना, बहुत सोना, दिन में सोना इत्यादि काम भी दर्शनावरण के आस्रव-कारण हैं। नास्तिकता की वासना रखना, सम्यग्दर्शन में दोष लगाना, कुतीर्थों की प्रशंसा करना, तपस्वियों को देखकर उनके विषय में ग्लानि करना—ये भी दर्शनावरण के आस्रवहेतु हैं।

यहाँ शंका यह होगी कि नास्तिकता की वासना आदि बातों से दर्शनावरण का आस्रव क्यों होता है? यदि हो तो दर्शन मोह का आस्रव होना सम्भव है। क्योंकि, सम्यग्दर्शन के विपरीत कार्यों से सम्यग्दर्शन मलिन हो सकता है न कि दर्शनोपयोग।

उत्तर—जैसे बाह्य इन्द्रियों से मूर्तिक पदार्थों का दर्शन होता है वैसे ही विशेष ज्ञानियों को अमूर्तिक आत्मा का भी तो दर्शन होता है। जिस प्रकार सर्व ज्ञानों में आत्मज्ञान अधिक पूज्य है उसी प्रकार बाह्य विषय के दर्शनों की अपेक्षा अन्तर्दर्शन या आत्मदर्शन अधिक पूज्य है, इसलिए आत्मदर्शन के बाधक कारणों को दर्शनावरण के आस्रव का हेतु मानना अनुचित नहीं है। नास्तिकता की वासना आदि भी दर्शनावरण के आस्रवहेतु हो सकते हैं।

3. वेदनीय के प्रथम भेद, असातावेदनीय के आस्रव-हेतु—

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम्।
परात्मद्वितयस्थानि तथा च परपैशुनम्॥ 20॥
छेदनं भेदनं चैव, ताडनं दमनं तथा।
तर्जनं भर्त्सनं चैव, सद्यो विश्वसनं तथा॥ 21॥
पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च।
शस्त्रप्रदानं विश्रम्भघातनं विषमिश्रणम्॥ 22॥
शृंखला-वागुरा-पाश-रज्जु-जालादिसर्जनम्।
धर्मविध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथा॥ 23॥
तपस्विगर्हणं शीलव्रत-प्रच्यावनं तथा।
इत्यसद्वेदनीयस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥ 24॥

अर्थ—पीड़ा होने का नाम दुःख[1] और खेद का नाम शोक[2] है। शरीरेन्द्रियों का घात करना[3] सो

1. पीडालक्षणः परिणामो दुःखम्।—रा.वा. 6/11, वा. 1
2. अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः।—रा.वा. 6/11, वा. 2
3. आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः।—रा.वा. 6/11, वा. 5

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वध है। पश्चात्ताप या ताप[1] का एक ही मतलब है। विलाप का नाम क्रन्दन[2] है। इस तरह से रोना कि सुननेवाले भी दु:खी हो जाएँ सो परिदेवन[3] कहलाता है। इन बातों को स्वयं करना, दूसरों में उत्पन्न कर देना अथवा स्वयं भी करना, दूसरों में भी उत्पन्न कर देना, ऐसा करने से असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

इनके सिवाय दूसरों की चुगली खाने से, छेदने से, भेदने से, तोड़ने से, दमन करने से, डराने से, तरासने से, अति शीघ्र किसी के भी विश्वास में आ जाने से, पाप कर्म के द्वारा आजीविका अर्जित करने से, वक्र स्वभाव रखने से, शस्त्र-दान करने से, धर्म में विघ्न डालने से, तपस्वियों की निन्दा करने से, शीलव्रत के छोड़ने से, असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

असातावेदनीय के और दूसरे[4] भी कारण हैं। जैसे कि, दूसरों की निन्दा करना, चुगली खाना, दया न रखना, किसी को रोक लेना, दूसरे जीव पर सवार होकर चलना, अपनी प्रशंसा करना, महाआरम्भ, परिग्रह रखना ये सभी असातावेदनीय कर्मास्रव के हेतु हैं।

वक्र स्वभाव को अशुभ नाम कर्म का भी आस्रव का कारण लिखेंगे और ऊपर असातावेदनीय का कारण लिख चुके हैं, परन्तु यह कोई विरोध नहीं है, एक ही क्रिया अनेक प्रकार के परिणाम उत्पन्न कराती है। फिर जिस अभिप्राय से वह क्रिया की जाए वैसा ही वह फल देती है। वक्र स्वभाव आनन्द के लिए धारण किया जाए तो असांतावेदनीय का कारण हो। यदि वही वक्र स्वभाव किसी जीव का सहज स्वभाव सा पड़ गया हो तो अशुभ गति आदि नामकर्मों का भी कारण हो सकता है। इसी प्रकार यदि बहुत आरम्भ-परिग्रह में रत हो जाए तो उससे नरक आयु का आस्रव हो और उसी को आनन्द का हेतु मानने से असातावेदनीय का आस्रव हो सकता है। एक-एक कषाय क्रियाओं में इसी प्रकार और भी अनेक[5] अविरोधी कर्म लाने की शक्ति होती है।

सातावेदनीय के आस्रव-हेतु—

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा।
वैयावृत्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा॥ 25॥
सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा।
भूतव्रत्यनुकम्पा[6] च सद्वेद्यास्रवहेतवः॥ 26॥

---

1. परिवादादिनिमित्तमाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः।—रा.वा. 6/11, वा. 3
2. परितापजाश्रुपातप्रचुरविलापाद्यभिव्यक्तं क्रन्दनमाक्रन्दनम्।—रा.वा. 6/11, वा. 4
3. संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयनुकम्पाप्रायं परिदेवनम्।—रा.वा. 6/11, वा. 6
4. इतिकरणानुवृतेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः अर्थात् इस आस्रव प्रकरण के अन्त में राजवार्तिकालंकार के कर्ता श्री अकलंकदेव लिखते हैं कि सूत्र के एक 'इति' शब्द को प्रथम से लेकर यहाँ तक लाया जा सकता है और उसके लाने का प्रयोजन यह समझना चाहिए कि जिन कारणों का जिक्र नहीं हो पाया है वे भी उस-उस कर्मास्रव के कारण समझे जाएँ।
5. ज्ञानावरणे बध्यमाने युगपदितरेषामपि बन्ध इष्यते आगमे। अतो यत्प्रदोषनिह्नवादयो ज्ञानावरणादीनामास्रवाः प्रतिनियता उक्तास्ते सर्वेषां कर्मणां आस्रवा भवन्ति। किंच यद्यपि प्रदेशादिबन्धनियमो नास्ति तथापि अनुभागविशेषनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषादयः प्रविभज्यन्ते। (इति वार्ति.) अर्थात् अनुभाग भी प्रदेशादिबन्ध की तरह सामान्यतः तो सातों, आठों प्रकृतियों में उत्पन्न होता ही है, परन्तु विशेषानुभाग उसी कर्म में उत्पन्न होगा कि जिसका नियत कारण उपस्थित हो।
6. अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा। सर्वा.सि., वृ. 632

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—दया रखना, दान देना, तपश्चरण करना, शील धारण करना, सत्य बोलना, आत्मशौच को पालना, इन्द्रिय दमन करना, क्षमा धारण करना, धर्मात्माओं की सेवा में उपस्थित रहना, विनययुक्त रहना, जिन-पूजा, परिणाम सरल रखना, मुनियों का सरागसंयम या महाव्रत धारण करना, गृहस्थियों के देशव्रत धारण करना, प्राणिमात्र पर करुणा रखना और व्रतियों पर विशेष करुणा रखना—ये साता-वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

इन कारणों के सिवाय अकामनिर्जरा[1] बालतप[2], समाधि[3] इत्यादि कारण भी साता-वेदनीय में उपयोगी होते हैं। सरागसंयम का अर्थ मुनिचारित्र है, परन्तु मुनि वीतराग भी होते हैं, इसलिए जब तक राग नाश नहीं हुआ तब तक के सभी मुनि यहाँ लिये जा सकते हैं। संयम का अर्थ अशुभनिवृत्ति[4] करना है। शुद्ध चारित्र वाले जो साधु हैं वे सराग नहीं होते। दानादि का लक्षण आगे कहेंगे।

मोहनीय के दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय व चारित्रमोहनीय। इनका स्वरूप तो आगे कहेंगे, परन्तु इनके आस्रव हेतु यहीं बताते हैं।

दर्शनमोहनीय के आस्रव-हेतु—

केवलिश्रुतसंघानां धर्मस्य त्रिदिवौकसाम्।
अवर्णवादग्रहणं तथा तीर्थकृतामपि॥ 27॥
मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम्।
इति दर्शनमोहस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥ 28॥

अर्थ—केवली भगवान् की, शास्त्र की, संघ की, धर्म की, देवों की तथा तीर्थंकरों की झूठी निन्दा करना सो दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव का कारण है। झूठी निन्दा का मतलब यह है मन में ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न होने से झूठे दोष लगाना। इसी को अवर्णवाद भी कहते हैं। सच्चे मोक्षमार्ग को दूषित ठहराना, असत्य मोक्षमार्ग को सच्चा बताना—ये भी दर्शन मोहास्रव के कारण हैं।

इन्द्रियों द्वारा व क्रम से संसारीजनों को ज्ञान होता रहता है। यह क्रमसम्बन्धी तथा इन्द्रियपराधीनता सम्बन्धी दोष जिनके पवित्र आत्मा में से निकल गया हो—जो केवल आत्म बल से सर्व विषयों को युगपत् जानते रहते हों वे केवली कहलाते हैं। उन केवली ने जो तत्त्वोपदेश किया हो और ऋषियों ने फिर तदनुसार लिखा हो, उसे शास्त्र कहते हैं। उस निर्दोष प्रमाण शास्त्र को अप्रमाण बतलाना, मांसभक्षणोपदेश युक्त उसे कहना—इत्यादि श्रुतावर्णवाद है। इसी प्रकार धर्म का अवर्णवाद भी कहते हैं।

रत्नत्रयपूर्ण ऋषि-मुनि-यति-अनगार इन चारों का समूह सो संघ है, ये चारों साधु हैं। ये चार नाम पड़ने के चार कारण हैं। कर्मक्लेशों का नाश करने में जो उद्यत हों वे ऋषि हैं, ऋद्धि[5] धारण करने वाले मुनियों को भी ऋषि कहते हैं, आम विद्याओं के अभ्यासी हों सो मुनि हैं। जो पापनाश करने के लिए

---

1. विषयाननर्थनिवृतिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्याद्भोगोपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा।—रा.वा. 6/12, वा. 7
2. यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयस्तेषां तपो बालतपः। अग्निप्रवेशकारीषसादनादिप्रतीतम्।—रा.वा. 6/12. वा. 7
3. निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः समाधिः।—रा.वा. 6/12, वा. 8
4. प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः।—सर्वा.सि., वृ. 632
5. रेषणात्केशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः। मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः॥ यः पापप्रकाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत्। योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः॥ इति यशस्ति. 8 आ.।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यत्न करें वे यति हैं। जो शरीररूप घर से भी प्रीति छोड़ चुके हों वे अनगार हैं। यह शब्दार्थ हुआ। तदनुसार गुण भी इनमें रहते हैं। इनको शूद्र और अशुचि कहना सो सब संघावर्णवाद[1] है। देवों को मद्यादिसेवी कहना देवावर्णवाद है।

ये दोषारोपण झूठे क्यों हैं? इसलिए कि धर्म, देव, श्रुत, संघ का वैसा स्वरूप नहीं है। धर्म में तो मद्यादि सेवन की उलटे निन्दा ही की गयी है, देव भी मांसादिसेवी नहीं होते हैं। शास्त्रों में वैसा स्वरूप वर्णन भी नहीं किया गया है। साधुओं का आत्मा अतिपवित्र है। जो अपने स्वरूप को समझ चुके हों और शरीर संस्कार को मिथ्या मानकर शरीर संस्कार से विमुख हो चुके हैं उनसे भी अधिक शुचि कौन होगा? शरीर को आत्मा माननेवाले संसारीजन शरीर के पोषण से अपना हित समझते हैं। उन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ है, इसीलिए वे शरीरशौच को अपना शौच मानते हैं, परन्तु आत्मज्ञानी के लिए वह क्रिया तुच्छ है। वे पुद्गल से मिले हुए आत्मा को निष्कलंक करने में लगे हुए हैं, इसलिए वे ही सबसे शुचि हैं। शूद्रता का दोष भी उनमें नहीं आता। शूद्र का अति असंस्कृत आत्मा साधुपद के योग्य आत्मविशुद्धि नहीं कर सकता, इसलिए साधुओं में शूद्र का समावेश नहीं होता, वे शूद्र नहीं होते, इसलिए साधुओं में शूद्र भी रहते हैं—यह कहना मिथ्या है।

केवलियों को कवलाहार का दोष लगाया जाता है वह भी मिथ्या है। तीर्थंकरों में स्त्री होने का दोष लगाया जाता है यह भी मिथ्या है। ये दोनों बातें केवलज्ञान का लक्षण लिखते समय दिखाएँगे। आत्मा के सम्यग्दर्शनगुण को मलिन करनेवाले और भी सभी कार्य दर्शनमोहास्रव के कारण होते हैं। ऊपर जो अवर्णवाद बताये हैं उनसे आत्मस्वरूप का श्रद्धान तथा तत्त्वश्रद्धान विरुद्ध हो जाता है, इसलिए वे सब सम्यग्दर्शन घातक दर्शनमोहकर्म के अनुभाग सामर्थ्य को बढ़ाते हैं। आत्मा को न मानना इत्यादि दोष भी दीर्घ दर्शनमोहास्रव के कारण समझने चाहिए।

चारित्रमोहनीय के आस्रव-हेतु—

स्यात्तीव्रपरिणामो यः कषायाणां विपाकतः।
चारित्रमोहनीयस्य स एवास्रवकारणम्॥ 29॥

अर्थ—क्रोधादि कषायों का उदय होने से जो परिणामों में तीव्रता उत्पन्न होती है वह चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव का कारण है। क्रोध की तीव्रता क्रोधकर्म के आस्रव के कारण हैं। मान-माया-लोभ की तीव्रता मान-माया-लोभ कर्म के लिए कारण हैं, परन्तु सामान्यभाव से देखें तो जग के अनुग्रह में लगे हुए व्रतशील सम्पन्न तपस्वियों की निन्दा, धर्म का विध्वंसन अथवा धर्मसेवन में विघ्न डालना, मधुमांसादि से विरत रहनेवाले चित्त में भ्रम उत्पन्न करना, व्रतों में दोष लगाना, क्लेशदायक वेशधारण करना, अपने को कषाय उत्पन्न हो या दूसरे को हो ऐसा कार्य करना, इत्यादि आचरण से चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव होता है। खूब हँसना, दूसरों की हँसी करना, इत्यादि बातों से हास्यकर्म का आस्रव होता है।

---

1. अन्तःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः। मांसभक्षणानवद्याभिधानं श्रुते। निगुणत्वाद्यभिधानं धर्मे। शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघे। सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः।—रा.वा. 6/14, वा. 7-12

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कामोत्पादक कुचेष्टा करना, भोगोपभोग विषयों में अतिप्रेम रखना ये बातें रतिकर्मास्रव की कारण हैं। किसी चीज से आप द्वेष करना, दूसरों को अरति उत्पन्न कराना, पापियों की संगत करना ये सब काम अरतिकर्मास्रव के हेतु हैं। दूसरों को शोक होने पर आनन्दित होना, शोक उत्पन्न करना, दुख उत्पन्न करना—इन सबसे शोककर्म का आस्रव होता है। निर्दय रहने से, अधिक भय युक्त रहने से, दूसरों को भय उत्पन्न करने से, भयकर्म का आस्रव होता है। चारों वर्णवालों का जो वर्ग कुलक्रियाचार है उसमें ग्लानि दिखाने से जुगुप्सा कर्म का आस्रव होता है। अर्थात् अपने-अपने वर्ग या कुलों के अनुसार जो क्रियाचार होते हैं वे बहुत से लोगों को पसन्द नहीं होते—उसमें वे ग्लानि करते हैं, परन्तु ऐसा करना जुगुप्सा कर्म का कारण है। पुरुष-स्त्री-नपुंसक की तरह दूसरे को भोगने की वांछा रखने से स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद का आस्रव होता है। इसके सिवाय स्त्रीवेद कर्म का आस्रव होने में अतिमान, असत्य भाषण जैसी बातें भी कारण हो जाती हैं। स्त्रीभोग की अल्प आकांक्षा, मायाचार न रखना इत्यादि स्वभाव पुरुषवेद के कारण होते हैं। भोग की अतिआसक्ति, गुह्येन्द्रियछेदन इत्यादि क्रियाएँ नपुंसकवेदास्रव के लिए कारण होती हैं।

नरकायु के आस्रव-हेतु—

उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता।
मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता॥ 30॥
अजस्त्रं जीवघातित्वं सततानृतवादिता।
परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम्॥ 31॥
कामभोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता।
जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम्॥ 32॥
मार्जार-ताम्रचूड़ादिपापीयः प्राणिपोषणम्।
नैःशील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह॥ 33॥
कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम्।
आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः॥ 34॥

अर्थ—कठोर पत्थर के समान तीव्र मान रखना, पर्वतमालाओं के समान अभेद्य क्रोध रखना, मिथ्यादृष्टि होना, तीव्रलोभ होना, सदा निर्दयी बने रहना, सदा जीवघात करना, सदा ही झूठ बोलने में चतुराई मानना, सदा परधन हरने में लगे रहना, नित्य मैथुनसेवन करना, कामभोगों की अभिलाषा सदा जाज्वल्यमान रखना, जिन भगवान् की आसादना करना, साधुधर्म का उच्छेद करना, बिल्ली-कुत्ते-मुर्गे आदि हिंसक प्राणियों को पालना, शीलव्रत रहित बने रहना और आरम्भ-परिग्रह को अति बढ़ाना, कृष्ण लेश्या बनाये रखना, हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी व परिग्रहानन्दी नाम के चारों रौद्र ध्यान, जिन्हें आगे निर्जरा के वर्णन में लिखेंगे, उनमें लगे रहना—ये सब अशुभ कर्म नरकायु के आस्रव के हेतु हैं। अर्थात् जिन कार्यों को क्रूरकर्म कहते हैं और जिन्हें व्यसन कहते हैं वे सभी नरकायु के कारण हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यंच आयु के आस्रव-हेतु—

नैःशील्यं निर्व्रतत्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम्।
मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां च देशनम्॥ 35॥
कृत्रिमागुरु-कर्पूर-कुंकुमोत्पादनं तथा।
तथा मान-तुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम्॥ 36॥
सुवर्ण-मौक्तिकादीनां प्रतिरूपक-निर्मितिः।
वर्ण-गन्ध-रसादीनामन्यथापादनं तथा॥ 37॥
तक्रक्षीरघृतादीनामन्यद्रव्यविमिश्रणम्।
वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा॥ 38॥
कापोत-नील-लेश्यात्वमार्तध्यानं च दारुणम्।
तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः॥ 39॥

अर्थ—शील न रखना, व्रत न रखना, मिथ्यादृष्टि होना, दूसरों को ठगते रहना, मिथ्यादृष्टियों के खोटे धर्मों का उपदेश करना, अगर, कपूर, कुंकुम इत्यादि चीजों को नकली तैयार करना, बाँट तराजू आदि चीजों को हीनाधिक रखना, सोना, मोती आदि वस्तुओं को नकली तैयार करना, किसी चीज के रस-गन्ध-वर्ण-स्पर्श को बदलना, दूध, घी, छाँछ आदि चीजों में दूसरी चीजें मिला देना, वचन या शरीर की क्रिया से दूसरों में घबराहट पैदा कर देना। कापोत या नील लेश्या रहना, तीव्र आर्तध्यान करते रहना, ये सब तिर्यंच योनि के आयुकर्म के लिए आस्रव के कारण हैं। इनके सिवाय मायाचार सबसे मुख्य कारण है। दूसरों को ठगने में अति प्रयत्न रखना, दूसरे को ठग लेने पर प्रसन्न होना, ये सर्व मायाचार के ही भेद हैं और ये तिर्यंच आयु के कारण हैं।

आर्तध्यान का जो कारण कहा है वह यदि मरण समय में हो तो अवश्य ही तिर्यंच आयु का कारण हो जाए। बाकी समय में किसी भी आयु का कारण मिलने पर भी बन्ध होने का नियम नहीं रहता, क्योंकि भुज्यमान वर्तमान आयुकर्म की स्थिति का एक तृतीयांश शेष रह जाने पर उत्तर भव के आयुकर्म का बन्ध हो सकता है। इससे प्रथम तो कभी होता ही नहीं। उस प्रथम तृतीयांश में यदि बन्ध न हो तो उस शेष स्थिति का भी एक तृतीयांश शेष रहने पर होता है। तब भी न हो तो उस शेष के भी तृतीयांश शेष रहने पर होगा। ऐसे तृतीयांशों के प्रसंग किसी-किसी को आठ बार तक हो जाते हैं। इसे ही आठ बन्धापकर्ष काल कहते हैं। आठवें भाग में बन्ध अवश्य ही होता है, इसीलिए चाहे जब आयुबन्ध नहीं होता। यह सभी आयु कर्मों का सामान्य नियम है।

मनुष्यायु के आस्रव-हेतु—

ऋजुत्वमीषदारम्भपरिग्रहतया सह।
स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता॥ 40॥
अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः।
आयुषो मानुषस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः॥ 41॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—सदा सरल परिणाम रखने से, आरम्भ व परिग्रह थोड़ा रखने से, स्वभाव कोमल रखने से, गुरुजनों की पूजा, विनय करने में सदा तत्पर रहने से, कुटुम्बादि सम्बन्धी विषयों के इष्टानिष्ट वियोग, संयोग होने पर संक्लेश कम करने से, दान देने से, प्राणियों के घात को छोड़ने से मनुष्यायुकर्म का आस्रव होता है। मनुष्यायु के कारण और भी हो सकते हैं। जैसे कि शीलव्रत धारण न करके भी मन्द कषाय रखने से मनुष्यायु का आस्रव होता है। वह मन्दकषाय धूल में की हुई लकीर के समान जल्दी मिट जाने वाला हो। रति थोड़ी करने से, सन्तोष रखने से, प्रायश्चित लेने से, पापकर्म न करने से, थोड़ा बोलने से, मधुर स्वभाव रखने से, जीवन-निर्वाह के लिए दूसरों के अनुग्रह की प्रतीछा न रखने से, कापोत व पीत लेश्या धारने से और आयु के अन्त समय धर्मध्यान रखने से भी मनुष्यायु का आस्रव होता है।

देवायु के कर्मास्रव के हेतु—

अकामनिर्जरा बालतपो मन्दकषायता।
सुधर्मश्रवणं दानं तथायतनसेवनम्॥ 42॥
सरागसंयमश्चैव, सम्यक्त्वं देशसंयमः।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्त्रवहेतवः॥ 43॥

अर्थ—बालतप व अकामनिर्जरा का अर्थ लिख चुके हैं, इनके होने से, कषाय मन्द रखने से, श्रेष्ठ धर्म को सुनने से, दान देने से, आयतनसेवी बनने से, सराग संयम धारण करने से, देशसंयम धारण करने से, सम्यग्दृष्टि होने से देवायु का आस्रव होता है। आयतन नाम स्थान का है। यहाँ पर प्रसंगवशात् धर्मायतन या धर्माश्रय ऐसा आयतन शब्द का अर्थ होता है। धर्मायतन छह हैं—देव, गुरु, शास्त्र व देवोपासक, गुरूपासक, शिष्यगण। इन धर्मायतनों की सेवा करने से, इनकी संगति रखने से धर्मलाभ होता है इसीलिए ये आयतन शुभायु के आस्रव के हेतु माने गये हैं।

अकामनिर्जरा, बालतप यथा मन्दकषाय ये देवायु के कारण अवश्य हैं, परन्तु जीव मिथ्यादृष्टि हो तो भवनत्रिक देवों में जन्म ले सकता है। बालतप आदि जो मिथ्यादृष्टि के ही हाथ होते हैं, वे इसीलिए उत्कृष्ट देवायु के कारण नहीं हो सकते हैं। सम्यग्दर्शन, देशसंयम, सरागसंगम—इत्यादि जो कारण हैं वे सौधर्मादि स्वर्गवासी उत्कृष्ट देवायु के लिए होते हैं।

दान को देवायु का कारण बताया है और पहले मनुष्यायु का भी कारण कहा है, परन्तु मनुष्यायु का जो दान कारण होता है वह साक्षात् होता है और देवायु का परम्परा कारण। क्योंकि, दान का फल भोगभूमि प्राप्त होना है और भोगभूमि का जीव एक बार देव ही होता है यह नियम है। यह साक्षात् और परम्परा का मतलब है। दूसरे, ऐसा भी है कि एक जाति का परिणाम अन्तर्गत असाधारणता के वश अनेक कार्यों का कारण हो सकता है, इसलिए एक ही दान क्रिया भोगभूमि के मनुष्यायु का भी कारण हो सकती है, और देवायु का भी कारण हो सकती है। दान निकृष्ट हो तो तिर्यंच आयु का भी कारण हो सकता है, चित्त में दया रखना, प्रोषधोपवास करना, तपों में भावना रखना—इत्यादि क्रियाएँ भी देवायु के आस्रव की कारण होती हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अशुभ नामकर्म के आस्रव-हेतु—

मनो-वाक्-काय-वक्रत्वं विसंवादन-शीलता।
मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनास्थिरचित्तता॥ 44॥
विषक्रियेष्टकापाक-दावाग्नीनां प्रवर्तनम्।
प्रतिमायतनोद्यान-प्रतिश्रयविनाशनम्॥ 45॥
चैत्यस्य च तथा गन्ध-माल्य-धूपादिमोषणम्।
अतितीव्र-कषायत्वं पापकर्मोपजीवनम्॥ 46॥
परुषासह्यवादित्वं सौभाग्याकरणं तथा।
अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः॥ 47॥

अर्थ—मन, वचन, काय के योग को वक्र रखना, परस्पर विवाद करने की आदत पड़ जाना, मिथ्यादृष्टि बने रहना, झूठे लेख बनाना, झूठी साक्षी देना, चुगली खाना, चित्त अशान्त रखना, किसी को विष दे देना, ईंटों का, चूने का भट्टा-पजाया लगाना, जंगल में आग लगा देना, देव प्रतिमा के स्थान का नाश करना, बगीचा उजाड़ना, सभा-आश्रयस्थानादि का भंग कर देना, जिनेन्द्र देव की प्रतिमा की पूजा के लिए रखे हुए गन्ध-माला-धूप इत्यादि चीजों को चुराना, अतितीव्र क्रोधादि कषाय रखना, पाप कर्मों से जीविका करना, असुहावना, कठोर वचन बोलना, किसी के सौभाग्य का विनाश करना या सौभाग्य न होने देना, ये सर्व अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। अशुभ गति, अशुभ शरीर, इत्यादि अशुभ नामकर्म आगे लिखेंगे। इनके सिवाय और भी अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। जैसे—मद करना, दूसरों की निन्दा करना, परस्त्रीवशीकरण में लगना, बहुत बकना, आभूषण पहनने में प्रीति रखना, असत्य बोलना, दूसरों को सदा ठगते रहना इत्यादि भी अशुभनाम कर्म के आस्रव के कारण हैं।

शुभनाम कर्म के आस्रव-हेतु—

संसारभीरुता नित्यमविसंवादनं तथा।
योगानां चार्जवं नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः॥ 48॥

अर्थ—संसार से सदा डरते रहना, कभी किसी के साथ झगड़ा विसंवाद न करना, तीनों योगों को सरल रखना, ऐसे कामों से शुभ नाम कर्म का आस्रव होता है। धार्मिक को देखते ही झट से उठ खड़े होना, उसे आगे लाना, उच्चासन देना, प्रमाद न रखना, इत्यादि और भी शुभनाम कर्मास्रव के कारण हो सकते हैं।

शुभ नामकर्मों में भी तीर्थंकर नामकर्म सर्वोत्कृष्ट है। अनन्त-अनुपम उसका प्रभाव है। अचिन्त्य विभूति का कारण है।

तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव-हेतु—

विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैः तपस्त्यागौ च शक्तितः।
मार्गप्रभावना चैव सम्पत्तिर्विनयस्य च॥ 49॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शीलव्रतानतीचारो नित्यं संवेगशीलता।
ज्ञानोपयुक्ताभीक्ष्णं समाधिश्च तपस्विनः॥ 50॥
वैयावृत्त्यमनिर्हाणिः षड्विधावश्यकस्य च।
भक्तिः प्रवचनाचार्यजिनप्रवचनेषु च॥ 51॥
वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः।
नाम्नः तीर्थकरत्वस्य भवन्त्यास्त्रवहेतवः॥ 52॥

अर्थ—तीर्थकरत्व नामक शुभ नामकर्मास्त्रव के सोलह कारण हैं। उनमें से प्रथम का नाम दर्शनविशुद्धि है। सम्यग्दर्शन की निर्मलता होने से कभी किसी जीव के कषाय ऐसे मन्द हो जाते हैं कि जो तीर्थंकरत्व के बन्ध के लिए कारण हो सके। दर्शनविशुद्धि का साधारण शब्दार्थ यही होता है कि सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हो, परन्तु सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध से होनेवाली एक विशिष्ट कषायविशुद्धि ऐसा तात्पर्यार्थ लेना चाहिए। जैसे कि वचन कर्म को योग कहते हैं, परन्तु वचन द्वारा होनेवाला आत्मकर्म ही योग लिया जाता है, क्योंकि वचन, केवल कार्यकारी नहीं हो सकता है। जो आत्मा में बन्धास्त्रव होगा वह आत्मा की चंचलता से, न कि किसी केवल पुद्गल के निमित्त से। बस, इसी प्रकार बन्ध का कारण कहीं भी हो कषाय ही होगा न कि सम्यग्दर्शन[1]। जो सम्यग्दर्शन आत्मा को बन्ध से छुड़ानेवाला है वही बन्ध का कारण कैसे हो सकता है? तीर्थंकर कर्म चाहे कितना ही उत्तम हो, परन्तु है तो बन्धन? इसलिए दर्शनविशुद्धि का अर्थ दर्शन सहभावी कोई रागांश ही करना ठीक है। उनका उदाहरण श्री अकलंकदेव ऐसा करते हैं कि जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में रुचि होने का नाम 'दर्शनविशुद्धि' है। शंकादि दोष हट जाने से वह रुचि विशुद्ध या निर्मल होती है।

2. दूसरा कारण 'शक्त्यनुसार तप'[2] है। यह तप ऐसा करना चाहिए कि मोक्षमार्ग से विपरीत न हो और न शक्ति से अधिक या हीन हो।

3. तीसरा कारण 'शक्त्यनुसार त्याग' है।

4. चौथा कारण 'मार्ग प्रभावना' है। ज्ञान के माहात्म्य से, तपश्चरण के द्वारा, जिनपूजा करके धर्म को प्रकाशित करना सो मार्ग प्रभावना है।

इससे उत्तम प्रभावना 'आत्म प्रभावना'[3] है जो रत्नत्रय के तेज से देदीप्यमान किये जाने पर सर्वोत्कृष्ट फल को प्रदान करती है।

5. पाँचवाँ 'विनय सम्पत्ति' कारण है। विनय से परिपूर्ण रहना सो 'विनय सम्पत्ति'[4] है। वह विनय किसका? ज्ञानादिगुणों का तथा ज्ञानादिगुण युक्तों का—इनमें आदर उत्पन्न होना सो विनय है। कषाय को कृष कर देने से भी विनय होता है।

---

1. येनांशेन सुदृष्टिस्तेनाशेनास्य बन्धनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥—पु.सि., श्लो. 212
2. अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः—रा.वा. 6/24, वा. 17
3. आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव। दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥ पु.सि.,श्लो. 30। ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनम्।—रा.वा. 6/24, वा. 12
4. ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता।—रा.वा. 6/24, वा. 2

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

6. 'शीलव्रतों में अतिचार रहित प्रवर्तना'[1], यह छठा कारण है। अहिंसादि व्रत आगे कहेंगे। शील शब्द के अर्थ तीन हो सकते हैं; एक तो सत्स्वभाव, दूसरा स्वदारसन्तोष, तीसरा दिग्व्रत आदि सात व्रत, जो अहिंसादिव्रत रक्षार्थ आगे कहे जाने वाले हैं वे। इन तीनों अर्थों में से पहला और तीसरा यहाँ लेना ठीक है। सत्स्वभाव का अर्थ क्रोधादि कषाय के वश न होना है। यह सत्स्वभाव भी अहिंसादि व्रतरक्षार्थ होता है। अतिक्रोधी या लोभी, मानी, मायाचारी के अहिंसादिव्रत कभी निर्मल नहीं रह सकते हैं, इसीलिए व्रतरक्षार्थ क्रोधादिकषाय छोड़ने चाहिए। दिग्व्रतादिक भी व्रतरक्षार्थ ही होते हैं और वे भी कषाय अतिमन्द कर लेने पर हो सकते हैं। इसीलिए दिग्व्रतों को भी हम शील कहते हैं। इस प्रकार पहला व तीसरा अर्थ शीलशब्द का लेना उचित है, परन्तु दूसरा अर्थ जो स्वदार सन्तोष वह नहीं लेना चाहिए; क्योंकि वह अर्थ व्रतों में आ जाता है। शील या स्वदार सन्तोष भी गृहस्थों का एक मुख्य व्रत माना गया है।

7. सातवाँ कारण 'संवेग स्वभाव' है। संवेग सदा रहना चाहिए। संसार दुःखों से उद्विग्न रहने का नाम संवेग[2] है।

8. आठवाँ कारण—'सदा ज्ञानोपयोग' में रहना। ज्ञान के प्रत्येक कार्य को विचारकर उसमें प्रवृत्ति करना यह ज्ञानोपयोग का अर्थ है। ज्ञानाराधना का साक्षात् व परम्पराफल विचारना कि अज्ञान निवृत्ति व हिताहित प्राप्ति-परिहार ज्ञान से ही होता है यह भी ज्ञानोपयोग का ही अर्थ है, इसलिए ज्ञान को अपना हितकारी समझना चाहिए। सदा ज्ञानोपयोग में रहने को अभीक्ष्णज्ञानोपयोग कहते हैं।

9. नौवाँ कारण है 'साधु समाधि' रखना। मुनियों के तप तथा आत्मसिद्धि में विघ्न आए हुए देख उन्हें दूर करना साधुसमाधि है, अर्थात् तपस्वियों को संधारण में रखने का प्रयत्न करना (सावधान करना) साधु समाधि[3] है।

10. दसवाँ कारण 'वैयावृत्त्य' करना है। वैयावृत्त्य का अर्थ सेवा, शुश्रूषा करना है। व्यावृत्ति का अर्थ दूर करना होता है। साधुओं का दुःख-खेद दूर करना यह यहाँ तात्पर्यार्थ है। इसके प्रकार इस तरह हैं— तपस्वियों को दुःख के कारण उपस्थित हुए हों तो उन्हें दूर करना, उनकी सेवा करना, पैर दबाना, उनके स्थान को साफ स्वच्छ रखना इत्यादि। समाधि जो नौवाँ कारण लिखा है उसका मतलब साधुओं का चित्त सन्तुष्ट रखना है और इस वैयावृत्त्य का मतलब उनकी सेवा करना है। तप तथा मोक्षमार्ग के ध्वंसक कारण उपस्थित होने पर समाधि करने की आवश्यकता पड़ती है और वैयावृत्त्य सदा छोटी-छोटी बातों में भी सेवा करने से सिद्ध होता है। वैयावृत्त्य का तात्पर्य इतना ही है कि तपस्वियों के योग्य साधन इकट्ठा रखना जो कि सदा उपयोगी पड़ते हैं, इसीलिए उनको जो दान दिया जाता है वह वैयावृत्त्य कहलाता है, न कि साधुसमाधि।

---

1. चारित्रविकल्पेषु शीलव्रतेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः। अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या कायवाङ्मनकां वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः।—रा.वा. 6/24, वा. 3
2. संसारदुःखान्नित्यभीरुतासंवेगः—रा.वा. 6/24, वा. 5
3. यथा भाण्डारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्। तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनिगणस्य तपसः कतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं समाधिः।—रा.वा. 6/24, वा. 8

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

11. ग्यारहवाँ कारण है 'छह आवश्यक' कर्मों का कभी न छोड़ना। छह आवश्यक कर्मों के नाम हैं : (1) सामायिक, (2) स्तुति, (3) वन्दना, (4) प्रतिक्रमण, (5) प्रत्याख्यान, (6) कायोत्सर्ग। सामायिक का अर्थ ऐसा है सब पाप क्रिया छोड़कर चित्त को ज्ञान में स्थिर करना। चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का चिन्तवन करना स्तुति है। तीनों योग शुद्ध करके खड़े या बैठे होकर चारों दिशाओं में एक-एक बार शिर नवाना और तीन-तीन बार दोनों मुकुलित हाथों से आवर्त करना यह वंदना का अर्थ है। आवर्त का मतलब मुकुलित हाथों का दक्षिणायन चक्कर लगाना है। लगे हुए दोष दूर करने की प्रार्थना तथा पश्चात्ताप करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। आगामी दोष न लगने देने की प्रतिज्ञा या संकल्प कर लेने को प्रत्याख्यान कहते हैं। कुछ मर्यादित काल तक शरीर से ममत्व छोड़ देने को कायोत्सर्ग कहते हैं। जो कि पापों से अलिप्त रहना चाहते हैं उन्हें ये छः कर्म और तीनों सन्ध्या अवश्य करने चाहिए, इसीलिए उन्हें आवश्यक काम कहते हैं।

12. बारहवाँ कारण 'बहुश्रुतभक्ति' है। बहुश्रुत का अर्थ बहुज्ञानी होता है। स्व-पर समय विस्तार का ज्ञाता बहुश्रुत तो होते ही हैं, परन्तु वे परहित निरत भी होते हैं।

13. तेरहवाँ कारण आचार्य में अनुराग या भक्ति रखना है, इसे 'आचार्यभक्ति' कहते हैं। आचार्य भी बहुश्रुत तो होते ही हैं, परन्तु वे परहितनिरत भी होते हैं।

14. सर्वधर्मोपदेश के आदिविधाता सर्वज्ञ केवली जिन भगवान में भक्ति रखना यह चौदहवाँ 'अर्हद्भक्ति' कारण है। अर्हत् भगवान् साक्षात् ज्ञानी होते हैं, पूर्णवीतराग होते हैं, इसीलिए इन्हें सबसे अधिक पूर्ण प्रमाण माना जाता है, सर्वहितु गिना जाता है, निष्पक्षपात माना जाता है।

15. जिनोपदिष्ट प्रवचन—शास्त्र में प्रीति करना सो 'प्रवचनभक्ति' नाम का पन्द्रहवाँ कारण[1] है।

16. सोलहवाँ कारण 'प्रवचनवात्सल्य'[2] है। साधर्मियों के साथ प्रीति रखना सो प्रवचनवात्सल्य है। भक्ति और वात्सल्य में अन्तर इस बात का है कि भक्ति अपने से बडों में ही की जाती है और वात्सल्य छोटे-बड़े सभी के साथ हो सकता है। भक्ति आदरविशिष्ट अनुराग को कहते हैं और वात्सल्य केवल अनुराग होता है।

यह सोलह[3] प्रकार के कार्य तथा परिणाम तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव में कारण होते हैं। इनका 'षोडशकारण' नाम से व्यवहार प्रसिद्ध है। यद्यपि ये कारण बन्धास्रव के हैं तो भी निर्जरा-मोक्ष के कारण-ज्ञान-दर्शन-चारित्र की तरह पूजे और माने जाते हैं, क्योंकि, इस तीर्थंकर कर्म के उदय को प्राप्त हुआ जीव अनेक संसारी प्राणियों का उद्धार करता हुआ आप अवश्य मुक्त होता है। ऐसा अविनाभावी सम्बन्ध दूसरे किसी भी कर्म में नहीं है। यद्यपि आहारक शरीर का उदय छठे गुणस्थान में होता है, इसलिए वह संयमी जीव भी मोक्षगामी अवश्य है, तथापि यह नियम नहीं है कि वह तद्भव ही मोक्षगामी हो। दूसरी बात

---

1. अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।—रा.वा. 6/24, वा. 10
2. वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्।—रा.वा. 6/24, वा. 13
3. तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थंकरनामकर्म्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि (रा.वा. 6/24, वा. 13)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर कर्म के अतिशय की यह विशेषता भी है कि इस कर्म का स्वामी जीव धर्म का प्रधान नेता अथवा धर्म का उत्पादक होता है, इसीलिए इस बन्ध के कारणों की पूजा है। ये समस्त कारण एकत्रित हों तब तो तीर्थंकर कर्म बँधता ही है, परन्तु दर्शनविशुद्धि आदि एक-दो कारण रहने पर भी बन्ध होता है।

नीचगोत्र कर्म के आस्रव-हेतु—

असद्गुणानामाख्यानं सद्गुणाच्छादनं तथा।
स्वप्रशंसान्यनिन्दा च नीचैर्गोत्रस्य हेतवः॥ 53॥

अर्थ—गुण न रहते हुए भी अपने उन गुणों का वर्णन करना, दूसरों में जो गुण हों उनको न कहकर उन्हें दबाने की इच्छा रखना; अपनी प्रशंसा करना, दूसरों की निन्दा करना—ये कार्य नीचगोत्र कर्म के आस्रव में हेतु होते हैं।

उच्चगोत्र कर्म के आस्रव-हेतु—

नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकः पूर्वस्य च विपर्ययः।
उच्चैर्गोत्रस्य सर्वज्ञैः प्रोक्ता आस्रवहेतवः॥ 54॥

अर्थ—गुणों में अधिक ऐसे गुरुजनों के साथ नम्रता से रहने को नीचवृत्ति (नम्रता) कहते हैं। दर्प या अहंकार न करना सो अनुत्सेक है। ये दो कारण उच्चगोत्र कर्म के आस्रव होने में उपयोगी हैं। इसके साथ-साथ जितने कुछ नीचगोत्र के आस्रव के कारण ऊपर लिखे हैं उनसे उलटे परिणाम उच्चगोत्र कर्म के आस्रव में कारण होते हैं।

अन्तराय कर्म के आस्रव-हेतु—

तपस्वि-गुरु-चैत्यानां पूजालोप-प्रवर्तनम्।
अनाथ-दीन-कृपण-भिक्षादिप्रतिषेधनम्॥ 55॥
वध-बन्धनिरोधश्च नासिकाच्छेद-कर्तनम्।
प्रमादाद् देवता-दत्त-नैवेद्यग्रहणं तथा॥ 56॥
निरवद्योपकरण-परित्यागो वधोऽङ्गिनाम्।
दान-भोगोपभोगादि-प्रत्यूहकरणं तथा॥ 57॥
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥ 58॥

अर्थ—तपस्वी-गुरु-प्रतिमाओं की पूजा विध्वंस कर देना, अनाथ-दीन-कृपणों को भिक्षा देना बन्द कर देना, किसी को बाँध डालना, किसी को रोक रखना, किसी के नाक-कान आदि काट लेना तथा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

छेद देना, देव को नैवेद्य समर्पण[1] कर देने पर फिर से उसे लोभवश उठा लेना, निर्दोष-निष्पाप उपकरण-साधन छोड़ देना, प्राणियों का वध करना, दान-भोग-उपभोग-लाभ-वीर्य आदि में विघ्न डालना, ज्ञानाभ्यास का निषेध करना, धर्म में विघ्न डालना—ये सब कार्य अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

इसके साथ ही किसी के सत्कार में बाधा डालना, किसी का बढ़ता हुआ विभव देखकर आश्चर्य करना, स्त्रियों का झूँठा अपवाद करना, देवता को समर्पण किया या न किया हुआ द्रव्य आप ले लेना, दूसरे का बल क्षीण करना, किसी के व्रतचारित्र को बिगाड़ना, ये भी अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं। अन्तराय के पाँच भेद कहेंगे। वे भेद दानादि विषय पाँच होने से होते हैं। यद्यपि यहाँ दानान्तरायादि पाँचों के जुदे कारण नहीं लिखे हैं, परन्तु विचारने से ऊपर लिखे हुए कारणों में ही वे सर्व विभाग हो सकते हैं। जहाँ दान के सम्बन्ध में किसी क्रिया का निषेध हो जिससे कि दान देने का काम बन्द पड़ जाए वह क्रिया दानान्तराय का कारण होगी। इसी प्रकार सर्वविभाग हो सकते हैं।

पुण्य-पाप कर्म के आस्रव हेतु—

व्रतात्किलास्त्रवेत्पुण्यं पापं तु पुनरव्रतात्।
संक्षिप्यास्त्रवमित्येवं चिन्त्यतेऽतो व्रताव्रतम्॥ 59॥

अर्थ—व्रत से पुण्यकर्म, जो कि सुख का कारण है, आता है। अव्रत से पाप आता है, इस प्रकार सामान्य आस्रव का प्रकरण संक्षेप से ही दिखा दिया और अब व्रत तथा अव्रत का स्वरूप विस्तार से दिखाते हैं।

व्रत किन्हें कहते हैं?

हिंसाया अनृताच्चैव स्तेयादब्रह्मतस्तथा।
परिग्रहाच्च विरतिं कथयन्ति व्रतं जिनाः॥ 60॥

अर्थ—हिंसा से विरक्त होना, झूठ से विरक्त होना, चोरी करने से विरक्त होना, मैथुन सेवन से विरक्त होना, परिग्रह जंजाल से विरक्त होना—इसी को जिन भगवान् व्रत कहते हैं। हिंसादिक पापों का लक्षण आगे लिखेंगे। चारित्रमोह कर्म का उदय जीव की प्रवृत्ति उक्त पापों में कराता है, इसलिए उस कर्म का उदय बन्द हो तो व्रत प्राप्त हो सकते हैं। मोह कर्मोदय का बन्द होना यहाँ अन्तरंग कारण है, परन्तु बाहर में मर्यादा भी उक्त पापों की संकल्पपूर्वक करनी पड़ती है तभी व्रत[2] दृढ़ रह सकता है। पापाचरण से विरक्त होना यह व्रत का लक्षण है। पापाचरण के हिंसादि पाँच भेद हैं।

---

1. देवता को अर्पण कर दी गयी नैवेद्य आदि चीज को प्रमादवश होकर ग्रहण करने वाला अन्तराय कर्म को बाँधता है ऐसा इस ग्रन्थ में लिखा। परन्तु राजवार्तिक में अर्पित अनर्पित दोनों को ही लेनेवाला अन्तराय कर्म का भागी लिखा है। अर्पण न की हुई देव द्रव्य वह समझनी चाहिए कि जो देवदेवालय के उपयोग के लिए जमीन या धन सम्पत्ति इकट्ठी की जाती है।
2. यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्। अभिसंधिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति॥ (रत्न.क.श्रा., श्लो. 86)।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व्रत के भेद—

कात्स्न्र्येन विरतिः पुंसां हिंसादिभ्यो महाव्रतम्।
एकदेशेन विरतिर्विजानीयादणुव्रतम्॥ 61॥

अर्थ—हिंसादि पापों का सर्वथा त्याग हो जाना सो महाव्रत है। एकदेश त्याग को अणुव्रत कहते हैं।

व्रतरक्षा के उपाय—

व्रतानां स्थैर्यसिद्ध्यर्थं पञ्च पञ्च प्रति व्रतम्।
भावनाः सम्प्रतीयन्ते मुनीनां भावितात्मनाम्॥ 62॥

अर्थ—व्रत के विषय देखें तो पाँच हैं, इसलिए व्रत के भेद भी पाँच कर सकते हैं—अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, ब्रह्मव्रत, परिग्रहत्याग-व्रत। इनमें से प्रत्येक व्रत की रक्षा हो, दृढ़ता हो, इसलिए पाँच-पाँच भावना प्रत्येक व्रत के विषय में बताते हैं। ये भावनाएँ मुनिजनों के ही हो सकती हैं, क्योंकि वे पूर्ण व्रत धारण करते हैं। पूर्ण व्रतों की सँभाल तभी हो सकती है जबकि उनमें आए बारीक-बारीक दोषों की ओर भी ध्यान दिया जाए। दूसरे, मुनिजनों का आत्मा विषयों से पूर्ण विरक्त होकर शान्त हो चुकता है। वे ही ऐसे बारीक-बारीक दोष का ध्यान रखते हैं। गृहस्थ के लिए यह उपदेश मुख्य नहीं हैं।

अहिंसाव्रत की भावना—

वचोगुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिरेव च।
ग्रहनिक्षेपसमितिः पानान्नमवलोकितम्॥ 63॥
इत्येताः परिकीर्त्यन्ते, प्रथमे पञ्च भावनाः।

अर्थ—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, ग्रहणनिक्षेपणसमिति, सूर्य प्रकाश में देखकर अन्नजल ग्रहण करना—ये पाँच भावनाएँ अहिंसाव्रत की हैं। वचन न बोलना वचनगुप्ति है। मन न चलाना या मन की चंचलता से बचना मनोगुप्ति है। गमन करते समय जन्तुघात से बचने के लिए सावधानी रखना, भूमि देखते जाना सो ईर्यासमिति है। किसी चीज के धरने उठाने में जन्तुघात न होने की सावधानी रखना सो ग्रहण निक्षेपण-समिति है। अवलोकित अन्नपान का अर्थ है सूर्य प्रकाश में देखकर भोजन करना; क्योंकि

व्रतमभिसंधिकृतो नियमः। बुद्धिपूर्वकपरिणामोऽभिसंधिः। इदमेवेत्थमेव वा कर्तव्यमित्यन्यनिवृत्तिर्नियमः। (स एव) व्रतव्यपदेशभाग् भवति। (रा.वा. 7/1, वा. 3)। जो अनिष्ट है वह छूट ही सकता है। जो अनुपसेव्य हो वह भी छोड़ देना चाहिए। ये दोनों तो सर्वथा स्वयं त्याज्य हैं और जो योग्य तथा सम्भव विषय हों उनका त्याग परलोक हित के लिए करना चाहिए। असली त्याग वही है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

देखे बिना सूक्ष्म जीवों के घात होने की आशंका बनी रहती है। रात्रि में जन्तु दिख ही नहीं सकते, इसलिए रात्रि का भोजन सर्वथा वर्ज्य, यह अर्थ भी लिया[1] जाता है। 'आलोकित-पान-भोजन' का अर्थ मात्र सूर्य-प्रकाश में भोजन-पान करना नहीं है, क्योंकि सूर्यप्रकाश में अभक्ष्य भी खाया-पिया जा सकता है, अत: आलोकित-पान-भोजन का सही अर्थ है सूर्य के प्रकाश में पाँचों इन्द्रियों से देख शोधकर भोजन करना अर्थात् 1. घ्राण से सूँघना, अच्छी गन्धवाला भोजन-पान हो। 2. चक्षु से देखना, रंग रूप से देखने में अच्छा हो, 3. छूकर देखना-अतिउष्ण-शीत न हो। 4. स्वाद में अति तीखा-मीठा-वेस्वाद-अस्वाद न हो, 5. कर्णेन्द्रिय से, विकथा न सुनते हुए भोजन-पान करना अथवा भक्ष्य पदार्थों के नाम, अभक्ष्य पदार्थों के जैसे न कहना-सुनना। जैसे—नमकीन चावल को 'पुलाव', भोजन को 'खाना' नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसे अभक्ष्य पदार्थों के नाम सुनने से मन में ग्लानि, घृणा आदि उपजती हैं, जो हिंसात्मक हैं, अहिंसा व्रत का दूषण है।

वचनगुप्ति व मनोगुप्ति से अहिंसाव्रत की पुष्टि किस प्रकार होती है? इसका उत्तर—बोलने से भी प्राणघात तथा क्लेश होता है। इसी प्रकार मन की चंचलता से विषयासक्ति बढ़ती है और दूसरों के अहित का चिन्तवन भी मन की चंचलता में हो सकता है, इसलिए दोनों के रोकने से अहिंसाव्रत का पोषण अवश्य होगा।

अब यह शंका होना सम्भव है कि कायगुप्ति क्यों नहीं लिखी? इसका उत्तर—यह आस्रव का प्रकरण है, इसलिए यहाँ वचनगुप्ति तथा मनोगुप्ति का मतलब भी ऐसा नहीं लेना चाहिए कि जैसा वास्तव गुप्तियों में समझा जाता है। तब? अशुभ वचन का अशुभ से हटकर शुभ में मन-वचन काय को लगाना, अशुभ विचार का निरोध यही अर्थ लेना चाहिए। अहिंसा व्रत की पाँच भावना में जो गुप्ति एवं समिति हैं वे प्रवृत्ति रूप हैं। एवं संवर के कारणों में जो गुप्ति एवं समिति हैं वे पूर्णत: निरोध, अर्थात् निर्वृत्ति रूप हैं क्योंकि संवर रूप गुप्ति में सम्यक् शब्द लगा है जिसका अर्थ शुभ-अशुभ रूप दोनों है, मन-वचन काय को रोकना। नहीं तो संवर में उपयोगी जो गुप्ति हैं वे आस्रवोपयोगिनी मानी जाएँगी। इसी प्रकार कायगुप्ति भी लेनी हो तो अशुभनिर्वृत्ति मात्र ली जाती है। तो यहाँ कायगुप्ति का संग्रह क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि ईर्यासमिति तथा ग्रहणनिक्षेपण समिति का ही अर्थ अशुभ कायगुप्ति रूप हो सकता है। क्योंकि, अशुभ कायप्रवृत्ति का निरोध उक्त दोनों समितियों में ठीक हो जाता है, इसलिए दोनों समितियों का कहना क्या और अशुभकायगुप्ति का कहना क्या? एक ही अर्थ है।

---

1. अर्कालोकेन विना भुंजान: परिहेत्कथं हिंसा। अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनाम्॥ (पु.सि., 133)। ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यं? न भावनास्वतन्तर्भावात्। अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यंते॥ तत्रालोकितपानभोजनभावना कार्येति। (सर्वा.सि. वृ. 664)॥ यहाँ पर सर्वार्थसिद्धि में रात्रि भोजन त्याग को छट्ठा अणुव्रत कहकर ग्रहण कराने की शंका लिखी है और उसके उत्तर में लिखा है कि अलग ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि, अहिंसाव्रत की पाँच भावनाओं में से आलोकितपानभोजन नामक पाँचवीं भावना में समाविष्ट कर लेते हैं। इससे यह दिखता है कि किसी पक्षवालों ने इसे छठा अणुव्रत माना होगा। दर्शनसार में भी, 'छट्ठं च अणुव्वदं' ऐसा उल्लेख है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्यव्रत की भावना—

क्रोध-लोभ-परित्यागौ हास्यभीरुत्ववर्जने॥ 64॥
अनुवीचिवचश्चेति द्वितीये पञ्च भावनाः।

अर्थ—क्रोध को छोड़ना, लोभ को छोड़ना, हँसी-ठट्ठा करना छोड़ देना, कभी किसी को भय न न दिखाना, कुछ बोलना तो धर्ममर्यादा के अनुकूल बोलना अथवा विचारकर बोलना, ये पाँच भावना सत्यव्रत की हैं। इन पाँचों बातों के न छोड़ने से सत्यव्रत में मलिनता आती है। क्रोधादि पाँचों में से प्रत्येक कारण ऐसा है कि उसके वश असत्य बोलना होता है। पहले चार कारण तो स्पष्ट ही हैं। अनुवीचिभाषण भी न रखा जाए तो बहुप्रलाप में असत्य वचन निकलना सम्भव है।

अचौर्यव्रत की भावना—

शून्यागारेषु वसनं विमोचित-गृहेषु च॥ 65॥
उपरोधाविधानं च भैक्ष्यशुद्धिर्यथोदिता।
ससधर्माविसंवादः तृतीये पञ्च भावनाः॥ 66॥

अर्थ—पर्वतों की गुफा, वृक्षों के कोटर स्थान आदि शून्यागार कहलाते हैं। दूसरों की जगह हो और उन्होंने रहने से छोड़ दी हो उसे विमोचितावास कहते हैं। तपस्वियों को रहना हो तो शून्यागारों में तथा विमोचितावासों में रहें। जो किसी व्यक्ति की जगह में बिना पूछे रहें तो अचौर्य व्रत मलिन होता है। जहाँ आप रहें वहाँ भी यदि कोई दूसरा आवे तो मना न करें। नहीं तो उस भूमि पर स्वामित्व की भावना उत्पन्न होती है जो कि अचौर्यव्रत को मलिन करनेवाली है। भिक्षा लेने में जो शुद्धि रखनी चाहिए वह न रखी जाए तो दूषित भिक्षा ग्रहण करने वाला अचौर्यव्रत में मलिनता उत्पन्न करेगा। क्योंकि, जो दूषित भिक्षा ग्राह्य नहीं थी उसको ले लिया यह भी चोरी का दोष है। समान धर्म के धारक जैन साधु परस्पर में विसंवाद न करें, नहीं तो अचौर्यव्रत मलिन होता है। क्योंकि, विसंवाद से यह मेरा, तेरा ऐसे पक्ष ग्रहण होते हैं जिससे कि अग्राह्य का ग्रहण करना सम्भव हो जाता है, यह भी तो चोरी का एक प्रकार है। इसलिए शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि, सधर्माविसंवाद—ये पाँच भावना अचौर्यव्रत के रक्षार्थ रखनी ही चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत की भावना—

स्त्रीणां रागकथाश्रावोऽरमणीयाङ्गवीक्षणम्।
पूर्वरत्यस्मृतिश्चैव वृष्येष्टरस वर्जनम्॥ 67॥
शरीरसंस्क्रियात्यागश्चतुर्थे पञ्च भावनाः।

अर्थ—स्त्रियों की रागभरी कथा न सुनना, उनके रमणीय अंगों को न देखना, पूर्व के भोगों का स्मरण नहीं करना, पुष्ट तथा इष्ट रसों का भोजन नहीं करना, शरीर संस्कार न करना, ये पाँच ब्रह्मचर्य की भावना हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि केवल स्त्रियों के देखने, सुनने से या पुष्ट भोजन करने से ब्रह्मचर्य मलिन नहीं होता, परन्तु यहाँ मना किया है वह इस अभिप्राय से कि विकार-वासनापूर्वक देखने से ब्रह्मचर्य अवश्य मलिन होगा। जब मन में विकार हो तो पुष्ट[1] रस भी सहायक हो जाता है।

परिग्रहत्यागव्रत की भावना—

मनोज्ञा अमनोज्ञाश्च ये पञ्चेन्द्रियगोचराः ॥ 68 ॥
रागद्वेषोज्झनान्येषु पञ्चमे पञ्च भावना।

अर्थ—पाँचों ही इन्द्रियों के विषय पाँच हैं। कोई विषय इष्ट या रुचिकर होते हैं और कोई अनिष्ट या अरुचिकर होते हैं। रुचिकर विषयों में रुचि या आसक्ति नहीं करना, अरुचिकर लगें तो अरुचि नहीं करना—ये ही परिग्रहत्याग की पाँच भावना हैं।

हिंसादि पापों का स्वरूप-चिन्तवन—

इह व्यपायहेतुत्वममुत्रावद्यहेतुताम् ॥ 69 ॥
हिंसादिषु विपक्षेषु भावयेच्च समन्ततः।
स्वयं दुःखस्वरूपत्वाद् दुःखहेतुत्वतोऽपि च ॥ 70 ॥
हेतुत्वाद् दुःखहेतूनामिति तत्त्वपरायणः।
हिंसादीन्यथवा नित्यं दुःखमेवेति भावयेत् ॥ 71 ॥

अर्थ—हिंसादिक पाँचों पाप वर्तमान भव में साक्षात् अनर्थकारी हैं, भयजनक हैं, किसी प्रकार भी सुखहेतु नहीं हैं और परलोक में दुर्गति के कारण हैं। ऐसा हिंसादि पापों के विषय में चिंतवन करना चाहिए। देखो! इस भव में हिंसक मनुष्य का सभी लोगों से वैर बढ़ जाता है। हिंसा करनेवाले को कभी चैन नहीं मिलता। कभी-कभी तो अन्याययुक्त हिंसा करनेवाले फाँसी पर लटका दिये जाते हैं। कभी-कभी व्याघ्रादि का शिकार करनेवाले स्वयं मारे जाते हैं। झूठ बोलनेवाले का विश्वास उठ जाता है। भयंकर झूठ बोले तो राजा के द्वारा दंडनीय होता है। झूठ बोलने से दूसरे जिन लोगों का कुछ नुकसान होता है वे उसके वैरी बन जाते हैं। चोरी करने से जो दुःख प्राप्त होते हैं वे प्रसिद्ध ही हैं। कामी मनुष्य कार्य-अकार्य-विचारशून्य हो जाता है। उसे कोई पास में रहने नहीं देता। उसकी निन्दा का कुछ ठिकाना ही नहीं है। यदि परस्त्री गमन करे तो राजा द्वारा दंडनीय भी वह होता है। प्रमेह, गर्मी आदि रोग भोगकर अकाल ही में मर जाता है। धन-धान्यादि परिग्रहधारी मनुष्य की तो उस पक्षी की-सी हालत होती है जिसके पास कि कुछ मांस का टुकड़ा हो, उसे जैसे दूसरे पक्षी झपटते हैं वैसे ही, उसकी सम्पत्ति को लोग झपटते हैं। धन के सँभालने में उसे अति दुःखी होना पड़ता है। यह सब तो इसी भव की कथा है, परलोक में जो दुःख भोगने पड़ते हैं उन्हें परमात्मा ही जान सकता है।

---

1. पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए। वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं ॥ 137 ॥ गो. जी. ॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार ये पाप साक्षात् दुःखदायी हैं और परलोक में जो दुःख मिलेगा उसके भी कारण हैं। यदि जीव ऐसे पाप न करे तो क्यों दुर्गति के दुःख भोगे? दुर्गति का दुःख असातावेदनीय के उदय से होता है। उस असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारण पाँचों पाप हैं, इसलिए पापों को भी दुःख कह सकते हैं अथवा दुःख के कारणों के कारण इन्हें कहना चाहिए। जैसे धन को प्राण कहना उपचार है, उसी प्रकार पापों को दुःख कहना उपचार है और दुःख को कारण कहना भी उपचार है क्योंकि, दुःख का असली कारण तो असातावेदनीय कर्म है और पाप उस कर्म के भी कारण हैं। जब मनुष्य दूसरों को हिंसादि दुःख देना चाहे तब अपने ऊपर से विचार करे कि मुझे जब इन पापों से दुःख होता है तो दूसरों को भी दुःख क्यों न होता होगा? ऐसा विचार करने से तत्त्वपरायण मनुष्य पापों से विरक्त हो सकते हैं। दुःख की जड़ होने से ये ही दुःख हैं ऐसा भी पापों को मानना उचित है।

व्रती की कैसी भावना होनी चाहिए?—

सत्त्वेषु भावयेन्मैत्रीं मुदितां गुणशालिषु।
क्लिश्यमानेषु करुणामुपेक्षां वामदृष्टिषु॥ 72॥

अर्थ—प्राणी मात्र में मैत्री मानना चाहिए। गुणी मनुष्यों में प्रमोद या हर्ष रखना चाहिए। दुःखी रोगी जो मनुष्य हों उनमें करुणा रखनी चाहिए। जो विरुद्ध तथा क्रूर हों उनका भी बुरा न विचारना चाहिए और उपेक्षा रखना चाहिए अर्थात् उनसे आप दूर रहें। मैत्री का अर्थ है दूसरों[1] को दुःख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा रखना। मुख की प्रसन्नता से तथा और भी प्रकार से भीतर की प्रेम-भक्ति प्रकट कर दिखाना सो प्रमोद[2] है। प्रीति भी नहीं करना, द्वेष भी नहीं करना, इसका नाम उपेक्षा[3] है।

व्रतरक्षार्थ और भी भावना हैं—

संवेगसिद्धये लोकस्वभावं सुष्ठु भावयेत्।
वैराग्यार्थं शरीरस्य स्वभावं चापि चिन्तयेत्॥ 73॥

अर्थ—संसार एवं शरीर का स्वभाव विचारने से संवेग व वैराग्य की सिद्धि होती है। संसार से भय होने को संवेग कहते[4] कहते हैं। राग के वर्द्धक कारण दूर हो जाने से जो विषयों से उदासी हो जाती है उसे वैराग्य[5] कहते हैं। पापों से विरक्त होना व्रत है, पाप-पुण्य से विरक्त होना वैराग्य है।

जग अनादि है। मूलतत्त्व इसके सभी शाश्वत हैं, परन्तु परस्पर संयोगवश जीव पुद्गलों में नाना विकार उत्पन्न होते हैं। इसी का नाम संसार है। संसारी अशुद्ध जीव पुद्गल के मेल से जिन दुःखमई पर्यायों को धारण करते हैं, उनमें जन्मते-मरते हैं वे पर्याय चार हैं : नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देव। इन्हीं चारों को गति कहते हैं। इनमें जीवों को सतत क्लेश भोगने पड़ते हैं। यह जग का स्वभाव हुआ।

---

1. परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री।—रा.वा. 7/11, वा. 1
2. वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः।—रा.वा. 7/11, वा. 2
3. रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यं (उपेक्षा)।—रा.वा. 7/11, वा. 4
4. संसाराद्भीरुता संवेगाः।—रा.वा. 7/12, वा. 3
5. रागकारणाभावाद्विषयेभ्यो विरंजनं विरागः।—रा.वा. 7/12, वा. 4

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन गतियों में जीवों को पराधीन कर रखनेवाले जो शरीर होते हैं वे अपवित्र, नश्वर, जड़, रोगों से भरे होते हैं और जीव के शान्त एवं ज्ञानानन्द स्वभाव के नाशक होते हैं। इन शरीरों के टिकने की क्षणभर भी आशा नहीं रहती। जलबुद्बुद के समान देखते-देखते विघट जाते हैं। शरीर विघटते ही जीव की जो विषयभोगों में शाश्वत जैसी आशा थी वह नष्ट हो जाती है। जीव जिन सुखसामग्रियों को शाश्वतिक समझकर बड़े प्रेम से इकट्ठा करता था, उन्हें अचानक छोड़कर परलोक में जाना पड़ता है। शरीर नष्ट होते ही जीव की सुधबुध बिगड़ जाती है और शरीर के बिना जब अकेला वह रह जाता है तब कर्म की अशान्ति या प्रेरणा से दूसरे शरीर को धारण करने में लगता है, यही अनादि की दशा है। दूसरे शरीर की भी प्रथम शरीर की तरह अवस्था होती है। इसी प्रकार यह जीव जब तक कर्मबद्ध है तब तक दुःख भोगता है। जीव यदि इस असली, अपनी दुःखदाई हालत पर उक्त विचार करे तो संसार-शरीर से उद्विग्न होकर विरक्त हो जाए। रागद्वेष के रहने से जो परतन्त्रताजनक कर्मबन्ध होता है, वह वीतराग बनने पर न हो और पूर्वबद्ध कर्मों का क्रम से नाश हो जाए, जिससे कि जीव सुखी हो। अब पाँचों पापों के लक्षण दिखाते हैं—

1. हिंसा का लक्षण—

द्रव्यभावस्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणम्।
प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा संप्रकीर्तिता॥ 74॥

अर्थ—इन्द्रियों की प्रवृत्ति पाप में हो रही है या पुण्य में, इस बात का विचार न करना इसी का नाम प्रमाद[1] है। प्रमाद का अर्थ आलस भी होता है, परन्तु वह अर्थ यहाँ इष्ट नहीं है। अथवा दोनों अर्थों में कोई अन्तर नहीं है। लोग जितने आलस को आलस कहते हैं वह आलस यहाँ पर्याप्त नहीं है। प्रमाद का अर्थ आलस ही नहीं, बल्कि सावधानी न रखना यह अर्थ यहाँ इष्ट है। मद्यादिक पदार्थ मूर्च्छित करनेवाले होते हैं। उस मूर्च्छा को भी लोग प्रमाद कहते हैं, उसी प्रकार जो कर्म-पुद्गल के द्वारा हिताहित की सावधानी नहीं रहती वह मूर्च्छा या प्रमाद कहा जाता है। 'कुशलेषु अनादरः प्रमादः' शुभ कार्य करने में उत्साह नहीं होना प्रमाद है।

उस प्रमाद का स्वरूप ठीक पहचानने में आवे, इसलिए उसके भेद कर[2] दिखाते हैं। स्त्रीकथा, चोरकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा इन कथाओं में फँसने वाला जीव-आत्म सावधानी से पराङ्मुख हो जाता है, इसलिए ये चारों कथाएँ प्रमाद हैं। इन्हें विकथा भी कहते हैं। पाँच इन्द्रियों की प्रवृत्ति यदि विषयों में भटकती है तो उस अपेक्षा से उन पाँचों को भी प्रमाद ही कहना चाहिए। क्रोधादि चारों कषाय तो विषयों में फँसाने के मूल कारण हैं, इसलिए इन चारों को भी प्रमाद कहते हैं। इस प्रकार चार विकथा प्रमाद, पाँच इन्द्रिय प्रमाद और चार कषाय प्रमाद-ये मिलकर तेरह प्रमाद हुए। प्रणय और निद्रा ये दोनों भी प्रमाद कहलाते हैं। ये सब मिलकर प्रमाद के भेद पन्द्रह हो गये। जितनी कुछ प्रवृत्ति में असावधानी देखने में आती है वह इन पन्द्रह भेदों के भीतर गर्भित हो जाती है।

---

1. अनवगृहीतप्रचारविशेषःप्रमत्तः। इन्द्रियाणां प्रचारविशेषमनवधार्य प्रवर्त्तते यः स प्रमत्तः।—रा.वा. 7/13, वा. 1
2. पंचदशप्रमादपरिणतो वा।—रा.वा. 7/13, वा. 3

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह प्रमादपूर्वक जो अपने या दूसरों के प्राणों का घात करना है वही हिंसा कर्म है। इन्द्रिय-श्वासोच्छ्वासादि को द्रव्यप्राण कहते हैं। ये प्राण जीव व शरीर के प्रदेशों से बने हुए होते हैं, इसलिए द्रव्य रूप कहलाते हैं और ये जीव को शरीर में रखने के लिए सहायक हैं, इसलिए प्राण कहलाते हैं। चैतन्य सुखादिक जो जीव की स्वाभाविक अवस्था है उसे भावप्राण कहते हैं। उसे भाव इसलिए कहते हैं कि वह गुण, पर्याय है और प्राण इसलिए है कि वही असली जीव है।

द्रव्यप्राणों का घात होने पर चैतन्यसुखादि भावप्राणों का घात होता ही है और द्रव्यप्राणों का घात न होने पर भी भावप्राणों का घात होता है, परन्तु हिंसा को जो पाप कहा है वह इसलिए कि अन्त में उसके द्वारा चैतन्यसुखादि भावप्राणों का घात होता है जो कि किसी भी जीव को इष्ट नहीं हैं। भावप्राणों की ही रक्षा कैसे हो यह समझने के लिए हिंसा के अलावा चोरी आदि पापों को जुदा नहीं गिनाना चाहिए, उन्हें हिंसा में गर्भित करना चाहिए और ऐसा करने पर पाप पाँच नहीं रह सकते, किन्तु एक हिंसा पाप ही मानना पड़ेगा?

इस शंका का उत्तर—केवल हिंसा ही वास्तविक पाप है, चोरी आदि हिंसा से जुदी चीजें नहीं हैं। तो भी जो जुदा गिनाते हैं वह इसलिए कि कितने प्रकार हिंसा के हैं, यह बात समझ में आ जाए। यदि चोरी को भी पापों में न गिनाते तो शायद कोई यह समझ लेता कि किसी का वध हो तो हिंसा होगी, नहीं तो नहीं। चोरी से किसी का वध नहीं होता, इसलिए चोरी हिंसा नहीं है और हिंसा के सिवाय कोई पाप नहीं है, इसलिए चोरी पाप नहीं है। यह समझ दूर करने के लिए और साधारणजन भी पापों को समझ लें, इसलिए चोरी आदि अलग-अलग पाप गिनाये[1] हैं।

प्रमाद के बिना केवल प्राणघात हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती यह समझाने के लिए प्रमाद को कारण कहा है। जैसे एक वैद्य किसी रोगी की सदिच्छा से चीर-फाड़ करता है, परन्तु उसका विपरीत प्रयोग हो जाए तो रोगी का मरना सम्भव है, तो भी वैद्य हिंसा का[2] कर्ता नहीं हो सकता। यदि उसमें कुछ प्रमाद हुआ तो प्रमाद की मात्रानुसार वैद्य को भी हिंसा पाप का भागी कहना ही पड़ेगा। इस प्रकार प्रमाद की ही यहाँ मुख्यता है।

2. असत्य का लक्षण—

प्रमत्तयोगतो यत्स्यादसदर्थाभिभाषणम्।
समस्तमपि विज्ञेयमनृतं तत्समासतः॥ 75॥

अर्थ—सभी पापों का कारण प्रमाद है, इसलिए असत्य वचन में भी उसको कारण दिखाते हैं। प्रमादवश मिथ्या बोलना असत्य वचन है। असत्य शब्द में सत् शब्द है। उसके दो अर्थ होते हैं—एक हितसाधक और दूसरा विद्यमान या मौजूद। विद्यमान अर्थ लेकर चलें तो जो जैसा मौजूद है, वैसा ही उसे कहना सो सत्यवचन कहलाएगा। पहला अर्थ लेकर विचार करें तो हितसाधक वचन को सत्य वचन कहना होगा। फिर चाहे वह जैसा बोला गया है, वैसा उसका वाच्यार्थ हो या न हो।

---

1. आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसेतत्। अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥—पु.सि. श्लो. 42
2. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण्ण समिदस्स॥ प्र.सार., गा. 217

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्मशास्त्रों में जहाँ सत्यवचन का विचार आता है वहाँ हितसाधन[1] की ही मुख्यता देखी जाती है। जो वचन स्वपर-हितसाधक हो वही सत्य वचन माना जाता है।

इससे उलटा जो वचन अहितसाधक है उसे असत्य वचन कहते हैं। अहितसाधक को ही यहाँ असदर्थवचन या मिथ्या वचन कहा है। इसके सिवाय प्रमाद भी देखना चाहिए। जो वचन प्रमादवश बोला गया हो वही असत्य या अहितसाधक होगा। प्रमाद अहित की जड़ है क्योंकि, एकाध बार सुनने वाले की असत्य वचन द्वारा भले ही कोई हानि न हो, परन्तु प्रमाद द्वारा बोलनेवाले का तो सुखचैतन्य रूप भावप्राण नष्ट हो ही जाता है, इसलिए प्रमाद रखकर बोला गया अहितसाधक वचन असत्यवचन है और वह पाप है। हिंसा के समान[2] ही इसका सर्व सिद्धान्त है।

3. चौर्य का लक्षण—

प्रमत्तयोगतो यत्स्याददत्तार्थपरिग्रहः।
प्रत्येयं तत्खलु स्तेयं सर्वं संक्षेपयोगतः॥ 76॥

अर्थ—प्रमाद योगपूर्वक जो बिना दिये हुए का ग्रहण करना वह चोरी समझनी चाहिए, यह संक्षेपार्थ हुआ। इसका विस्तार हिंसा-झूठ की तरह समझना चाहिए। जहाँ देने-लेने का व्यवहार सम्भव हो वहीं पर दत्त-अदत्त का विचार हो सकता है। रास्ते पर से चलना—इसके लिए किसी की आज्ञा लेनी नहीं पड़ती, इसलिए उस रास्ते का साधु भी उपयोग करते हैं, परन्तु चोरी का दोष नहीं लगता। हाँ, जिस रास्ते पर से सर्वसाधारण को जाने की आज्ञा न हो उस पर से चलनेवाला चोरी का भागी अवश्य होगा। प्राचीन पद्धति ऐसी थी कि गृहस्थ को जल व माटी की छूट रहती थी, इसलिए जल[3] माटी लेनेवाला चोरी का दोषी नहीं गिना जाता था, परन्तु जिस जल व माटी की छूट न हो उसके ले लेने से अवश्य चोरी का दोष आएगा। कर्म, नोकर्मों का संग्रह जीव ही करता है और वह किसी का दिया हुआ नहीं होता, परन्तु वहाँ भी चोरी का दोष नहीं है, क्योंकि, जल या माटी की तरह उसका निषेध भी नहीं है। जल-माटी का एकाध बार निषेध भी हो सकता है, परन्तु कर्म नोकर्म लेने-देने के विषय ही नहीं है, इसलिए वह चोरी का विषय नहीं[4] है। तात्पर्य इतना ही लेना चाहिए कि दूसरे की चीज, जिसका कि वह उपभोग कर रहा हो या करनेवाला हो और वह दूसरे को देना भी न चाहता हो, तथा उसे ले लेने से स्वामी की हानि भी होना सम्भव हो वह चीज कभी न छूनी चाहिए, यह सरल व्याख्यान है।

---

1. सच्छब्दोऽत्र प्रशंसावाची असदप्रशस्तमित्यर्थः।—सर्वा.सि., वृ. 689
2. स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥ (सर्वा.सि. वृ. 687) यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं। पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥ पु.सि., श्लो. 47
3. 'जलमृतिका बिनु और नाहिं कछु गहै अदत्ता' यह दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है।
4. यद्येवं कर्मनोकर्मग्रहणमपि स्तेयं प्राप्नोति अन्येनादत्तत्वात् एवं भिक्षोर्ग्रामनगरादिषु भ्रमणकाले रथ्याद्वारादिप्रवेशाददत्तादानं प्राप्नोति? नैष दोषः, सामान्येन मुक्तत्वात्। तथाहि, अयं भिक्षुः पिहितद्वारादिषु न प्रविशति अमुक्तत्वात्। अथवा प्रमत्तयोगादिति वर्तते। न च रथ्यादिप्रविशतः प्रमत्तयोगोऽस्ति। तेनैतदुक्तं भवति-यत्र संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयम्। सर्वा.सि., वृ. 691

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

4. अब्रह्म का लक्षण—

मैथुनं मदनोद्रेकादब्रह्म परिकीर्तितम्।

अर्थ—काम वासना बढ़ने पर मैथुन करने लगना वह अब्रह्म पाप कहलाता है। यहाँ भी प्रमाद का सम्बन्ध समझना चाहिए, परन्तु कहा इसलिए नहीं है कि मदनोद्रेक उस प्रमाद के बदले में दिखा चुके हैं। मदन का उद्रेक भी एक प्रमाद ही है और वह सबसे बढ़कर[1] प्रमाद है।

ब्रह्म नाम आत्मा का है, और आत्मा का स्वरूप जिस क्रिया के करने में भूल जाता हो उसी क्रिया को अब्रह्म कहना चाहिए, परन्तु मैथुन-सेवन में प्रवर्तने वाला जीव जैसा कुछ आतुर होता है और आपे को भूलता[2] है वैसा दूसरे कामों में नहीं भूलता। इसीलिए काम-सेवन में अब्रह्म शब्द रूढ़ हो रहा है। काम की दशा विचित्र हो जाती है। काम अधिक व्यापे तो मरण तक[3] हो जाता है। कामी पुरुष नीच ऊँच का विचार नहीं करता, इसलिए कामसेवन से असली ब्रह्म नष्ट होता है और इसीलिए इस पाप को अब्रह्म[4] कहते हैं। जहाँ अठारह हजार शील के भेद किये गये हैं, वहाँ किसी भी विषय वासना का सम्बन्ध नहीं रहता तभी पूर्ण ब्रह्मचर्य होता है।

5. परिग्रह का लक्षण—

ममेदमिति संकल्परूपा मूर्च्छा परिग्रहः ॥ 77 ॥

अर्थ—किसी भी पदार्थ में यह संकल्प होना कि यह मेरा है, इसी को परिग्रह कहते हैं। यह एक प्रकार की मूर्च्छा है। शब्द शास्त्र में मूर्च्छा का अर्थ मोह का समुच्छ्राय है। इस अर्थ में तथा ममत्व अर्थ करने में अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि, ममत्व भी एक असावधानी है। आत्मा का पर-वस्तुओं में ममत्व करने से वह आत्मा को विसर जाता है, इसलिए आत्मा की यह मूर्च्छादशा ही समझनी चाहिए। दूसरे, मोह यह सामान्य अर्थ लेने से ममत्व रूप विशेष मोह का भी अर्थ लिया जा सकता है। हाँ, लोग मूर्च्छा शब्द का अर्थ मूर्च्छित होकर पड़ना ऐसा करते हैं, वह यहाँ नहीं है। अध्यात्मदृष्टि रखनेवाले लोकप्रचलित अर्थ के अनुसार ही बोलने के लिए बाधित नहीं हैं। वे इसको भी मूर्च्छा समझते हैं कि लोग बाह्याभ्यन्तर उपाधियों के भीतर फँसकर गूँगे बने रहते हैं, इसलिए उपाधियों के उपार्जन व रक्षण करने में लगने को ही मूर्च्छा कहना ठीक है और इसी का नाम परिग्रह[5] है।

1. नूनं हिं ते कविवरा विपरीतबोधा, ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्। यासां विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ?॥
2. जटा नेयं वेणी कृतक च कलापो न गरलं गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न धवलिमा। इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा, पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर मां किं प्रहरसि!
3. अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापश्च। उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः। (साहित्यदर्पण, तृतीय परि.)।
4. अहिंसादयो गुणा यस्मिन्परिपाल्यमाने वृहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। न ब्रह्म-अब्रह्म। किं तत्? मैथुनम्। तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति। यस्मान्मैथुनसेवनप्रवणः स्थास्नूंश्चरिष्णूश्च प्राणिनो हिनस्ति, मृषावादमचष्टे अदत्तमादत्ते अचेतनमितरं च परिग्रहं गृहणाति। (सर्वा.सि., वृ. 693) रक्ष्यमाने हि वृंहन्ति यत्र हिंसादयो गुणाः। उदाहरन्ति तदब्रह्म ब्रह्मविद्याविशारदाः॥ यशस्ति. आ. 7 कल्प 31
5. मूर्च्छा मोहसमुच्छ्रायोः इति जैनेन्द्रे। 2 मूर्च्छरियं मोहसामान्ये वर्तते। सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते इति विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते।—सर्वा.सि., वृ. 695

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में देखा जाए तो पाँचों ही पाप जीवों के परिणाम विशेष हैं, अतएव वे ही आत्मा को बाँधने में कारण होते हैं। यहाँ परिग्रह भी वास्तविक वही समझना चाहिए कि जो परिणामों[1] में ममता होती है। अब रही यह बात कि बाहरी धनधान्यादि को परिग्रह कहें या न कहें? इसका उत्तर यह है कि बाह्य परिग्रह ममता बढ़ाने का कारण है, इसलिए उसे भी परिग्रह कहते हैं। यह कहना उपचाराधीन[2] है।

यहाँ भी प्रमाद को कारण समझ लेना चाहिए। वह प्रमाद यहाँ ममत्व संकल्प ही है, इसीलिए बाह्य परिग्रह कम रहने पर भी ममतावान जीव परिग्रही कहलाता है और अधिक परिग्रह भी किसी दूसरे कारण वश यदि इकट्ठा हो जाए, परन्तु ममता न हो तो वह मनुष्य अल्पपरिग्रही कहा जाएगा। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि बाह्य परिग्रह भी ममता को बढ़ाता है, इसलिए उसका भी सम्बन्ध हेय ही है।

ये हिंसादि पाँचों पापों के लक्षण बताये। इनको त्याग देने पर भी आगामी भोगों की आकांक्षा बनी रहे अथवा मिथ्यात्व न छूटा हो अथवा मायाचार-कुटिलता न गयी हो तो व्रत कहना ठीक नहीं। देखो—

व्रती का लक्षण—

माया-निदान-मिथ्यात्व-शल्याभाव-विशेषतः।
अहिंसादिव्रतोपेतो व्रतीति व्यपदिश्यते॥ 78॥

अर्थ—अहिंसादि व्रत धारण करने पर भी माया, निदान, मिथ्यात्व इनका पूर्ण नाश कर दे तभी मनुष्य का 'व्रती' यह नाम सार्थक होता है। माया-मिथ्या-निदान को शल्य कहा है, शल्य नाम काँटे का है। ये तीनों काँटों की तरह आत्मा को दुखाते हैं। माया का अर्थ निकृति, वंचना, ठगई ऐसा होता है। मिथ्यात्व लिख चुके हैं। निदान—अप्राप्त विषयभोग सम्बन्धी वस्तुओं की चाहना है। ये शल्य ऐसे हैं कि व्रत का कुछ फल प्राप्त नहीं होने देते, इसीलिए व्रती को इन्हें दूर करने का उपदेश दिया गया है। ये शल्य दूर न हों तो व्रत नाममात्र के लिए होंगे, क्योंकि व्रतों से जो परिणाम निर्मल व निष्पाप होने चाहिए, वे शल्य हटाने से ही हो सकते हैं।

प्रश्न—माया कषाय और माया शल्य, निदान शल्य और निदान बन्ध तथा मिथ्या शल्य और मिथ्यात्व—इनमें क्या अन्तर हैं?

उत्तर—माया कषाय औदयिकभाव है तथा नौंवे गुणस्थान तक चलती है, यह कषाय रूप होने के कारण उदय भाव को प्राप्त होने से माया कषाय कहलाती है। उसके उदय से जीव उस माया रूप परिणत हो, यह आवश्यक नहीं है, लेकिन माया शल्य के भावों में दूसरों को संकल्पपूर्वक ठगने आदि की योजना निरन्तर परिणामों में चलती है, अतः इसे माया शल्य कहते हैं। निदान शल्य का स्वामी चौथे गुणस्थान तक एवं निदान बन्ध का स्वामी पाँचवें गुणस्थान तक होता है। क्योंकि निदान शल्य भावों में होता है। अभाव से सद्भाव प्राप्त करने के संकल्प को निदान शल्य कहते हैं। निदान बन्ध भव का होता है, इसमें

---

1. बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादि व्यापृतिर्मूर्च्छा। वातपित्तश्लेष्मविकारप्रसंग इति चेन्न विशेषितत्वात्।—रा.वा. 7/17, वा. 1-2
2. बाह्यस्याऽप्रसंग इति चेन्नाध्यात्मिक प्रधानत्वात् तस्मिन् संगृहीतेतत्कारणस्याप्यनुषंगेण प्रतीतेः। मूर्च्छाकारणत्वाद्बाह्यस्य मूर्छाव्यपदेशः —रा.वा. 7/17, वा. 3-4

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अगले भव में यही मुझे मिले ऐसा प्राप्त करने का संकल्प होता है। निदान शल्य में ऐसा भाव होता है कि मैं भी दूसरों जैसा त्याग, तपस्या करूँ तो ऐसे सुख भोगूँ। निदान बन्ध में अपने व्रत, पुण्य, तपस्या के फल की तुच्छ चाहना करना निदान बन्ध है, जो अगले भव के लिए किया जाता है। मिथ्या शल्य में मिथ्यादृष्टि लोगों की ख्याति, लाभ, पूजादि देखकर अपने परिणामों में भी उनके जैसी ही ख्याति, पूजा, लाभ, चमत्कार की भावना रखना मिथ्या शल्य है। यह शल्य भी चौथे गुणस्थान तक चलती है, लेकिन मिथ्यात्व भाव तो प्रथम गुणस्थान में ही चलता है। ये तीनों ही शल्य चौथे गुणस्थान तक ही चल सकती हैं। तीनों शल्य एक साथ हों यह नियम नहीं है। अतः व्रती निःशल्य होता है।

व्रतियों के दो भेद—

अनगारस्तथाऽगारी स द्विधा परिकथ्यते।
महाव्रतोऽनगारः स्यादगारी स्यादणुव्रतः॥ 79॥

अर्थ—व्रतियों का स्वरूप कह चुके हैं। वे व्रती अनगार तथा अगारी ऐसे दो प्रकार के हैं। महाव्रत धारियों को अनगार कहते हैं और अणुव्रतियों को अगारी कहते हैं।

अगार, घर का नाम है। अगारी शब्द का अर्थ है गृहस्थ। घर छोड़ देनेवाला ऐसा अनगार शब्द का अर्थ होता है। इस अर्थ के अनुसार जंगल में रहनेवाला गृहस्थ भी अनगार और देवालयादि स्थानों में आकर बसनेवाला साधु भी अगारी कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ अगार का अर्थ परिग्रह किया जाता है। जब शब्द उपलक्षणवाची मान लिया जाता है, तब उसके और भी अर्थ लेना युक्त हो जाता है। यहाँ अगार शब्द को परिग्रहों का उपलक्षणदर्शक मानते हैं, इसलिए सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करने पर ही अनगार नाम मिल सकता है। यही बात श्लोक के उत्तरार्ध में अगारी-अनगारी शब्दों का लक्षण करके बता दी है।

अथवा, जिसकी इच्छा घर से निवृत्त हो गयी हो, वही असली अनगार हो सकता है। वह इच्छा तभी निवृत्त हो सकती है जब प्रत्याख्यानावरण नाम चारित्रमोह कर्म का नाश हो जाए। बस, इस प्रकार जब घर की इच्छा निवृत्त होगी तब शेष परिग्रहों की इच्छा निवृत्त हो ही जाएगी, इसलिए परिग्रह के पूर्णत्यागी को ही अनगार कहना उचित है।

अणु शब्द का अल्प अर्थ है। अल्प व्रत जिसको हों वह अगारी कहलाता है। व्रत अल्प होने पर भी पाँचों व्रत होने चाहिए, किन्तु वे व्रत पूर्ण नहीं धारण हो सके हैं, इसलिए अणु कहे जाते हैं। एक दो व्रत धारण कर लेने से अणुव्रती नाम प्राप्त नहीं होता यह समझने की बात है।

सहायक व्रत : सात शील—

दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः समता तथा।
स प्रोषधोपवासश्च संख्या भोगोपभोगयोः॥ 80॥
अतिथेः संविभागश्च व्रतानीमानि गेहिनः।
अपराण्यपि सप्त स्युरित्यमी द्वादश व्रताः॥ 81॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिसंख्या, अतिथि संविभाग ये सात व्रत और भी ऐसे हैं जो गृहस्थ को धारण करने चाहिए। इस प्रकार गृहस्थ के पाँच व्रत पहले के और सात ये मिलकर बारह होते हैं।

1. दिग्विरति व्रत[1]—

दिग्विरति दिशाओं के त्याग को कहते हैं। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऐशान (उत्तर-पूर्व), नैऋत्य (पूर्व-दक्षिण), आग्नेय (दक्षिण-पश्चिम), वायव्य (पश्चिम-उत्तर), ऊर्ध्व, अधो ये दश दिशाएँ हैं। इन दिशाओं की सदा के लिए मर्यादा कर लेना कि मैं अमुक स्थानों[2] में आगे अमुक-अमुक दिशाओं में नहीं जाऊँगा, इसे दिग्विरतिव्रत कहते हैं। जैसे किसी ओर एक पर्वत हो तो उधर की सीमा उस पर्वत से कर लें। इसी प्रकार जहाँ नदी या समुद्र या जंगल हो वहाँ उन-उनसे सीमा बाँध लें। ऐसी प्रसिद्ध व चिरस्थायी चीजों से बाँधी हुई सीमा चिरकाल तक याद रहती है और टिकती है। इस दिग्विरतिव्रत का इतना बड़ा माहात्म्य है कि अणुव्रतधारी भी दिग्विरति के बाहर की अपेक्षा महाव्रती की योग्यता[3] को तथा फल को प्राप्त कर सकता है।

2. देशविरति व्रत[4]—

देशविरतिव्रत भी दिग्विरतिव्रत के समान ही होता है। अन्तर इतना है कि दिग्विरति में जो मर्यादा की जाती है वह सदा के लिए, और उस दिग्विरति के भीतर फिर कुछ-कुछ समय के लिए जो और भी कम मर्यादा करना वह देशव्रत है। देशव्रत जितने समय के लिए किया गया हो उतना समय समाप्त होने पर व्रती का गमनागमन फिर भी दिग्विरति की सीमा पर्यन्त हो सकता है। देशव्रत जन्मभर सहस्रों बार बल्कि प्रतिदिन किया जा सकता है।

3. अनर्थदण्डविरति व्रत—

जो बिना प्रयोजन पापकर्म[5] करना है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। उस अनर्थदंड से जुदा होना सो अनर्थदंडविरति नाम का व्रत है। अनर्थदंड के पाँच प्रकार किये गये हैं—1. अपध्यान[6], 2. पापोपदेश[7], 3. प्रमादचरित[1], 4. हिंसादान[2] और 5. दुःश्रुति[3]। ये पाँचों ही क्रिया पाप बढ़ाने वाली हैं।

---

1. दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि। इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै॥68॥ रत्नक. श्रा.।
2. मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः। प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि॥69॥ रत्नक. श्रा.।
3. अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरते दिग्व्रतानि धारयतां। पंच महाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते॥70॥ रत्नक. श्रा.। प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः। सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते॥71॥ रत्नक. श्रा.।
4. देशावकाशिकः स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य। प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य॥92॥ रत्नक. श्रा.। गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च। देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः॥93॥ रत्नक. श्रा.।
5. असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः—सर्वा.सि., वृ. 703
6. वधबंधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥78॥ रत्नक. श्रा.।
7. तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्। प्रसवः कथाप्रसंग स्मर्तव्यः पाप उपदेशः॥76॥ रत्नक. श्रा.।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अपध्यान—बिना प्रयोजन किसी की जय, किसी की पराजय, किसी का अंगच्छेद, किसी का धनहरण होने की इच्छा करते रहना। इसके सिवाय और भी बहुत से अपध्यान हैं। जैसे इसकी स्त्री मर जाए या पुत्र मर जाए ये सब अपध्यान ही हैं।

पापोपदेश—बिना प्रयोजन किसी को क्लेश उत्पन्न हो ऐसा बोलना, वध हो जाए ऐसा बोलना, वनस्पति आदि बढ़ाने, उपजाने का उपदेश देना। इससे अपना प्रयोजन यदि न हो तो ऐसा उपदेश अनर्थदंड है। अपने लाभार्थ अपने सेवकों से कराने के लिए ऐसा कहा जाए तो वह अनर्थदंड न होगा, केवल आरम्भादि के द्वारा लगने वाला दोष लगेगा जो कि गृहस्थ के लिए क्षम्य है।

प्रमादचरित—बिना प्रयोजन वनस्पति काटना, जमीन खोदना, पानी बहाना, और भी जो-जो हिंसाकर्म हैं वे सभी इस अनर्थदंड में गर्भित हैं। अर्थात् बहुत से लोगों की जो ठाले-बैठे कुछ करते रहने की आदत पड़ जाती है वह सब प्रमादचर्या अनर्थदंड है। जैसे कुछ काम न हो तो किसी एक कागज के टुकड़े को उठा लेना और फाड़ते बैठना, या दो मनुष्यों को परस्पर भिड़ा देना और उनका झगड़ा देख-देखकर खुश होना, या हाथ में एक तिनका उठा लेना उसे तोड़ते बैठना।

हिंसादान—विष, शस्त्र, चाबुक, लकड़ी इत्यादि वध, बन्धन, छेदन की सामग्री का दान करना या सहायता करना। कीड़े, खटमल, टिड्डी मारने के साधन तैयार करना और दूसरों को देना ये सब हिंसादान अनर्थदंड के ही प्रकार हैं।

दुःश्रुति—हिंसापोषक वचन सुनना, खोटी कथाएँ सुनना, आरम्भ-परिग्रहादिवर्धक उपाय सुनना, सीखना, रागद्वेष बढ़ाने की बातें सुनना, परस्पर में कलहकारी शिक्षा सुनना। ऐसी बातों से अनर्थ तो होता ही है और प्रयोजन थोड़ा भी सधता नहीं, इसलिए ये सर्व अनर्थदंड ही हैं।

ये पाँच अनर्थदंड पाप हैं। इन पापों को दिखाने से पहले दिग्विरति व देशविरति कह दिये गये हैं और इनके आगे भोगोपभोगादि व्रत कहेंगे। इन दूसरे व्रतों के बीच में अनर्थदंड इसलिए आचार्यों ने कहा है कि दिग्विरति आदि व्रतों का प्रमाण भी आवश्यकता से अधिक न रखना चाहिए; यह बात[4] शिष्यों को मालूम हो।

4. सामायिक—

सामायिक[5] उसे कहते हैं कि जो विषय विचारों से मन को हटाकर आत्मचिन्तवन में लगा दिया जाए। ऐसी अवस्था में सदा बने रहना तो मुनि से भी नहीं होता फिर गृहस्थी की तो क्या बात है ? इसलिए सामायिक क्रिया करनेवाला गृहस्थ कुछ काल की मर्यादा करके प्रारम्भ करता है, इसके प्रारम्भ में पहले

---

1. क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्। सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥80॥ रत्नक. श्रा.
2. परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृंगशृंखलादीनाम्। वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥77॥ रत्नक. श्रा.
3. आरम्भसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः। चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥79॥ रत्नक. श्रा.
4. मध्येऽनर्थदण्डग्रहणं पूर्वोत्तरातिरेकानर्थक्यज्ञापनार्थम्।—रा.वा. 7/21, वा. 22
5. सम=समता, अय=लाभ—इन दोनों से समाय शब्द बनता है। समाय शब्द का अर्थविशेष न रहने पर भी स्वार्थिक अण् प्रत्यय करके सामाय बना लिया जाता है। सामाय का अर्थ होता है कि एकत्व या समता का लाभ हो, अथवा समता प्राप्त हो जाने से आत्मज्ञानादिक का लाभ हो। यह प्रयोजन जिस क्रिया के करने से सध सकता हो उसे सामायिक कहते हैं। प्रयोजनार्थक ठक् इक् प्रत्यय व्याकरण में होता ही है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने केश सँभालकर बाँध लेना चाहिए, आस-पास से कपड़े सँभाल लेना चाहिए, पालथी बना लेना चाहिए, स्थान निश्चित कर लेना चाहिए, यह एकाग्र बैठने की पद्धति[1] है।

इस प्रकार किसी शान्त चैत्यालय में या गुफा में या निर्जन वन-प्रदेश में बैठकर चिन्तवन करें, कर्मों से रहित, स्वतन्त्र मुक्ति प्राप्त करने के कारणों का चिन्तवन[2] करें और निश्चय करें कि आत्मादि तत्त्वों का यही निश्चित स्वरूप है, ये ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र मुक्ति के अंग हैं। इस प्रकार चिन्तवन करते काल की अवधि पूर्ण करें। सामायिक साधनाभ्यास की अपेक्षा तो यह सभी श्रावकों को करना चाहिए, परन्तु तीसरी प्रतिमा से लेकर अवश्य करना ही चाहिए। उन व्रतियों को तीनों सन्ध्या करना चाहिए और बाकी श्रावक प्रातःकाल तथा सन्ध्याकाल में करते हैं।

सामायिक के साथ प्रतिक्रमणादि पाँच क्रिया जोड़ने से षडावश्यक-कर्म हो जाते हैं। प्रतिदिवस सामायिक या षडावश्यक क्रिया करते रहने से पाँच अणुव्रत शुद्ध बने रहते हैं और कभी भूलकर भी पाप में मन लग गया हो तो वह हट जाता है। शिक्षाव्रतों का प्रयोजन ही यह है कि पाँच अणुव्रतों को न बिगड़ने देने की शिक्षा मिलती रहे। सामायिकादि चार व्रतों को शिक्षाव्रत कहते हैं। दिग्व्रतादि तीन व्रतों को गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत का अर्थ मूल गुण या पाँचव्रतों की वृद्धि होने के कारण ऐसा होता है। दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत, भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत[3] हैं और सात में से बाकी के चार शिक्षाव्रत[4] हैं। सामायिक की महिमा ही ऐसी है कि सामायिक के समय तक महाव्रतपना[5] आ जाता है।

5. प्रोषधोपवास—

प्रोषधोपवास[6] पाँचवाँ शीलव्रत है। इसका अर्थ यह है कि पहले दिन बारह बजे के बाद से विषय, कषाय, व आहार को त्यागकर, तीसरे दिन बारह बजे के बाद आहार ग्रहण करें और पहले व तीसरे दिन भी जो आहार लें वह एक बार ही लें। इस प्रकार अड़तालीस घंटे धर्मध्यान के साथ व्यतीत करने चाहिए। कषाय व विषय यदि न छूट सके हों तो फिर आहार का त्याग करना केवल लंघन है।

किसी-किसी ग्रन्थ में सामयिक शब्द लिखा रहता है। उसका अर्थ यों किया जाता है कि सम=एकत्वार्थक उपसर्ग, अय=प्राप्तिवाचक धातु, इनके संयोग से समयशब्द बन जाता है। 'एकत्वेन गमनं समयः' ऐसा राजवार्तिक में लिखा ही है। इसलिए 'एकत्व' की प्राप्ति ऐसा समय का अर्थ होता है। इस एकत्व प्राप्ति का जो कारण हो उस क्रिया को सामयिक कहते हैं। यह सामयिक का शब्दार्थ हुआ। "समस्य=रागद्वेषविमुक्तस्य सतः, अयो=ज्ञानादीनां लाभः प्रथमसुखरूपः स समायः। समाय एव सामायः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्। रागद्वेषहेतुमध्यस्थतेत्यर्थः। अथवा समयः आप्तसेवोपदेशः। तत्र नियुक्तं कर्म सामायिकम्।" (सा.धर्मा., 5.28)।

1. जिस तरह बीच में आकुलता या अन्तराय न आए उस तरह सँभलकर बैठना चाहिए, यही इस पद्धति का मतलब है। इस पद्धति में मुष्टिबन्ध करने को लिखा है उसका अर्थ यहाँ ऐसा होना चाहिए कि हाथों को संकोच ले। ध्यान मुद्रा की तरफ विचारने से मालूम होता है वामहाथ पर सीधा रख लेना यही अर्थ ठीक है।
2. परं तदेव मुक्त्यंगमिति नित्यमतन्द्रितः। नक्तांदिनान्तेऽवश्यं तद्भावयेच्छक्तितोऽन्यदा॥ सा.धर्मा., 5.29
3. दिग्व्रतमनर्थदंडव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्। अनुवृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः॥ 67॥—रत्नक. श्रा.
4. देशावकाशिकं स्यात्सामायिकं प्रोषधोपवासो वा। वैयावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि॥ 91॥
5. बाह्य सब विषयों से आसक्ति हट जाती है इसलिए महाव्रत कहना अनुचित नहीं है। ऊपर की शांतता देखने से ठीक ही है।
6. कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते। उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥ (सुभा.र.सं.) स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम्। साभ्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा॥ (सा.ध. 5.34)॥ पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु। चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥106॥ (रत्नक. श्रा.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आहार के चार भेद हैं—अशन[1], स्वाद्य, खाद्य और पेय। कहीं-कहीं खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय—ये चार नाम मिलते हैं तथा कहीं पर अन्न, पान, खाद्य, लेह्य ये चार नाम भी दिख पड़ते हैं। ये चारों ही आहार उपवास करने वाले को छोड़ने चाहिए।

इसका फल उन्माद न बढ़ना, इन्द्रियदर्प न होना, आत्मभावना करने में सावधानी रखना है। यह व्रत, सामायिक व्रत स्वीकारने वाले के लिए आगे चलने पर स्वीकार करना पड़ता है। इसे प्रतिमाओं के अनुसार चतुर्थ प्रतिमा कहते हैं। उसको यह प्रोषधोपवास प्रति अष्टमी व चतुर्दशी को करना आवश्यक है और जो साधन अभ्यास के लिए करता है उसके लिए कोई नियम नहीं है।

आहार का जैसा त्याग करें वैसा ही अलंकार[2], सुगन्ध, पुष्प और सब प्रकार के आरम्भ का भी त्याग करना ही चाहिए। स्नान, अंजन, नस्य अर्थात् तमाखू, हुलास ऐसी चीजों को भी छोड़ना चाहिए, यह उपवास विधि है। उपवास करनेवाला श्रावक अपना सारा समय धर्मध्यान में तो बिताए ही, परन्तु जब एकाकी रहना न हो सके तब दूसरे श्रावकों को धर्मामृत का उपदेश दे तथा दूसरों से आप सुने। उपवास के समय को आलस्य से नहीं बिताना चाहिए।[3]

प्रोषधोपवास में जो उपवास शब्द है उसका अर्थ आहार-त्याग है। प्रोषध का अर्थ एक बार भोजन करना है। प्रोषधोपवास का जिस दिन आरम्भ होता है उस दिन भोजन किया जाता है और दूसरे दिन आहार का त्यागकर उपवास से रहना होता है और फिर तीसरे दिन भी एक बार भोजन किया जाता है, इसलिए इसे प्रोषधोपवास[4] कहते हैं। यह पूर्ण[5] उपवास का व्रत हुआ।

6. भोगोपभोगपरिमाण व्रत—

त्रसघात, प्रमाद, बहुघात, अनिष्ट, अनुपसेव्य—ये भोगोपभोग परिमाण के समय पाँच विषय छोड़े जाते हैं। (1) मधु[6], मांस ये त्रसघात के स्थान हैं, इसलिए इन्हें सर्वथा छोड़ना चाहिए। (2) मद्य के सेवन से कार्याकार्य विवेक नहीं रहता, इसलिए प्रमाद छूटने के लिए मद्य का त्याग करना चाहिए। (3) केतकी, अर्जुन पुष्प, कंदमूल इत्यादि चीजों के खाने से जीव बहुत से घाते जाते हैं, इसलिए इन्हें छोड़ना चाहिए। (4) जितने से काम चल सकता है उसके अतिरिक्त जितनी वस्तु हों वे सभी अनिष्ट कहलाती हैं, इसलिए

---

1. प्रथम व दूसरे बार जो नाम लिखे हैं, वे आशाधर के सागारधर्मामृत में हैं। पंचमाध्याय के 34वें श्लोक में तथा चतुर्थाध्याय के 24 वे श्लोक में यह जिक्र है।
2. पंचानां पापानामलंक्रियारंभगन्धपुष्पाणाम्। स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्॥107॥ रत्नक. श्रा.
3. धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पाययेद्वान्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रलुः॥108॥ रत्नक. श्रा.
4. चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधापवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति॥109॥ रत्नक. श्रा.
5. उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः। आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्त्यादि श्रेयसे तपः॥15॥ सा.ध. 5.35
   अर्थ—जो ऊपर लिखा उपवास कर सकते हैं वे वह करें, परन्तु जो उतना नहीं कर सकते उन्हें चाहिए कि वे जल लेकर बाकी सर्व आहार का त्याग करें। यह मध्यम उपवास है। इतनी भी शक्ति न हो तो आचाम्लादि भोजन करें। आचाम्ल का अर्थ कांजी से मिलाकर भात का खाना। ऐसा ही एक निर्विकृति नाम भोजन भी किया जा सकता है। दूध, दही, घृत इत्यादि रस छोड़कर नीरस भोजन का नाम निर्विकृति है। यह जघन्य उपवास है। उसकी शक्ति न हो तो एक बार भोजन करें। ऐसा क्यों करें? इसलिए कि शक्त्यनुसार करने से ही तप कहलाता है। 'शक्तितस्तपः' यह आर्ष वचन है।
6. तत्र मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रति निर्वृत्तचेतसा।
   मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेक-संमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादपरिहाराय।
   केतार्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि, शृंगवेरमूलकार्द्रादीनि अनन्तकायव्यपदेशार्हाणि। एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान्।
   यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोन्यदनिष्टत्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम्। रा.वा. 7/21, वा. 27

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उन अनिष्ट वस्तुओं को छोड़ना चाहिए। (5) जिनका सेवन उत्तम पुरुष बुरा समझें वे लोकनिंद्य पदार्थ छोड़ने चाहिए। पाँच प्रकार के विषय छोड़ने से सभी भोगोपभोग का परिमाण हो जाता है। एक बार भोगने योग्य विषय को भोग कहते हैं जैसे भोजन। बार-बार भोगने की चीजों की उपभोग कहते हैं। जैसे घर, वाहन, वस्त्रादि।

यह भोगोपभोगपरिमाणव्रत शक्ति हो तो यावज्जीवन ग्रहण करना चाहिए। यदि शक्ति न हो तो कुछ-कुछ समय के लिए ग्रहण किया जा सकता[1] है। किसी-किसी ग्रन्थ में भोगोपभोग शब्द मिलता है और कहीं-कहीं उपभोग-परिभोग शब्द मिलता है, परन्तु अर्थ 'एक बार व अनेक बार भोगयोग्य' यही करना चाहिए। कहीं पर भोगोपभोगपरिमाण यह शब्द व्रत के लिए आता है और कहीं भोगोपभोगपरिसंख्यान यह शब्द आता है।

7. अतिथिसंविभाग व्रत—

अतिथिसंविभाग व्रत उसे कहते हैं कि अतिथियों को उपयोगी पड़नेवाली चीजें उन्हें दी जाएँ। जिसके आने का तिथि-समय नियत न हो वह अतिथि[2] है। अतिथि, साधु-संन्यासियों को कहते हैं। उनके लिए उपयोगी वस्तुओं को देते रहना चाहिए। उनको देने योग्य चीजें चार हैं; 1. भिक्षा, 2. कमण्डलु-पिच्छी आदि उपकरण, 3. औषध, 4. वसतिका आदि स्थान। मुनियों को दूसरे प्रकार की चीजें लगती ही नहीं हैं, इसलिए दान की वस्तुओं के उक्त चार ही भेद किये गये[3] हैं।

सल्लेखना व्रत—

अपरं च व्रतं तेषामपश्चिममिहेष्यते।
अन्ते सल्लेखनादेव्याः प्रीत्या संसेवनं च यत्॥ 82॥

अर्थ—बारह व्रतों के अतिरिक्त एक और भी अनुपम व्रत है। वह कौन-सा? मरण के अन्त में सल्लेखनादेवी की प्रीतिपूर्वक सेवा करना यही व्रत है, यह भी गृहस्थों का मुख्य व्रत है।

---

1. न ह्यसत्यभिसंधिनियमे व्रतमिति, इष्टानामपि चित्रवस्त्रनिकृतवेषभरणादिनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यो यावज्जीवं। अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यं।—रा.वा. 7/21, वा. 27
2. ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुस्थितयर्थान्नाय यः स्वयं। यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः॥42॥ अ. 5 सागारध.।
3. अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्।—रा.वा. 7/21, वा. 28। वैयावृत्त्य शब्द का मुख्य शब्दार्थ तो यह होता है कि किसी के कष्ट को दूर करना परन्तु लक्षण से यह अर्थ सिद्ध होता है कि साधुओं को दान देकर तथा और भी अनेक प्रकार की सेवा करके उनके धर्म साधने में सहायता करना। अतिथिसंविभाग तथा वैयावृत्य का मुख्य अर्थ साधुओं को दान देना है। यह अर्थ दोनों का एक ही है। परन्तु श्रावकाचारों में से केवल सागारधर्मामृत में अतिथिसंविभाग शब्द लिखा गया है और बाकी बहुत से श्रावकाचारों में वैयावृत्य शब्द ही आता है।
समन्तभद्रस्वामी ने इस वैयावृत्य के ही भेदों में देवपूजा को भी बताया है। तत्त्वार्थसूत्र तथा तत्त्वार्थसार ग्रन्थों में और तत्त्वार्थसूत्र के टीका ग्रन्थों में देवपूजा का समावेश बारह व्रतों में से कहीं पर भी नहीं किया तो भी दान के भेदों में ले लेने से संग्रह हो सकता है। समन्तभद्रस्वामी ने अपने चतुर्विंशतिस्तोत्र में भी जिनपूजा का उल्लेख किया है। देखो—
'पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ। दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥5॥' स्वयंभू स्तोत्र इतना ही नहीं, यह भी लिखा है कि अध्यात्मवृत्ति साधु भी पूजा कर सकता है परन्तु उसके पास द्रव्य नहीं और वह आरम्भ नहीं कर सकता इसलिए वह भाव पूजा करे 'दाणं पूजा मुक्खो सावयधम्मो' ऐसे वचन भी मिलते हैं। इससे दान-पूजा श्रावक का ही मुख्य धर्म है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीर व कषायों को संसार-भोगों से विरक्त होकर कृष करें, घटावें—इसी का नाम सल्लेखना है। जब यह मालूम हो जाए कि मेरा मरण अब निकट आ गया है तब यह सल्लेखना व्रत धारण किया जाता है। शरीर, भोगों से विरक्त होना यह तो धर्म का अर्थ ही है, परन्तु इस धर्म को गृहस्थ विषय सम्बन्ध न छूट सकने के कारण पूरी तरह पाल नहीं सकता, इसीलिए जब मरण के सन्मुख वह अपने को समझ लेता है तब विषय व कषायों को छोड़ देना अपना मुख्य कर्तव्य मानता है और वह पूर्ण विषयविमुख होकर आहार को क्रम से त्याग देता है। आहार के छूटने से शरीर कृष हो जाता है। कषाय तो कृष पहले से ही होने लगती है। क्योंकि, कषाय कृष न हो तो आहारादि से ममत्व छूटना असम्भव है।

यहाँ आत्मघात के दोष की शंका होना सम्भव है, परन्तु वह शंका तब होनी चाहिए जब कि मरण का समय न आने पर ही भोजन का त्याग कर दिया जाए, किन्तु यह बात सल्लेखना में नहीं होती। मर जाना तो किसी को भी इष्ट नहीं होता। श्रावक तथा साधु भी ऐसा समझते हैं कि जीते रहेंगे तो कर्मों की निर्जरा बहुत-सी करेंगे। वह निर्जरा शीघ्र मरनेवाले के हाथ से कैसे हो सकती है? तो भी यदि मरण आ ही गया हो तो उसे टाल तो सकते नहीं; उलटा विषयासक्त बनकर परभव को क्यों बिगाड़ें? यह समझकर वे व्रती कषायों के त्याग के साथ ही आहार का भी त्याग कर देते हैं और शान्ति से प्राण छोड़ते हैं। शान से जीना एवं शान्ति से मरना प्रत्येक प्राणी चाहता है। इसी का नाम सल्लेखना है। इसमें आत्मवध कैसा?

सल्लेखनाव्रत सात शीलों के साथ में क्यों नहीं संगृहीत किया जाता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सात शीलों की तरह यह व्रत केवल श्रावकों के लिए ही नहीं है। जो गृहस्थ घर से विरक्त नहीं हुआ हो उसको विरक्त करने के लिए सात शील बताये गये हैं, इसलिए जो सात शील धारण करनेवाला है उसकी सल्लेखना बनी बनायी है। उसको जो विरक्ति प्राप्त हुई है उस विरक्तता को वह मरणान्त तक धारण करता ही है और ठीक मरण जानकर उस विरक्तता को और भी सँभाल लेता है। उस श्रावक को यदि सल्लेखना न कहें तो भी वह हानि नहीं उठाएगा, किन्तु जिसने मरणान्तपर्यन्त सात शील धारण नहीं किये उसके लिए सल्लेखना का उपदेश अधिक सार्थक है और यों तो मुनियों को भी सल्लेखना करने का उपदेश है, इसलिए केवल गृहस्थों के लिए जो शील बताये गये हैं उनमें सल्लेखना व्रत का समावेश कैसे हो सकता है?

अतिचार प्रकरण—

सम्यक्त्व-व्रत-शीलेषु तथा सल्लेखनाविधौ।
अतिचाराः प्रवक्ष्यन्ते पञ्च-पञ्च यथाक्रमम्॥ 83॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, पाँच व्रत, सात शील और सल्लेखना—इन चौदह बातों में जो मुख्य दोष लगना

1. "जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा, नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात्। लग्नाग्निमावस्रति वह्निमपोह्य गेही, निर्हाय वा व्रजति तन्त्र सुधीः किमास्ते॥205॥" आ.शा.। "व्रतशीलपुण्यसंचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पात्रमाभिवाञ्छति, तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुष्परिहरे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्?" रा.वा., 7/22, वा. 8

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्भव हैं वे दोष अब यथाक्रम से कहते हैं। एक-एक के मुख्य दोष पाँच-पाँच माने गये हैं। बाकी के दोष ऊपर से समझना चाहिए। इन दोषों को अतिचार[1] कहते हैं।

सम्यक्त्व के पाँच दोष[2]—

शंकनं काङ्क्षणं चैव तथा च विचिकित्सनम्।
प्रशंसा परदृष्टीनां संस्तवश्चेति पञ्च ते॥ 84॥

अर्थ—(1) अर्हत् के उपदेश में शंका करना कि यह ठीक है या नहीं, अर्हन्त ने सर्वतत्त्व प्रत्यक्ष देखकर कहे हैं अथवा युक्ति द्वारा कल्पित किये हैं—ऐसे विचारों को शंका दोष कहते हैं। इस लोक का, परलोक का, व्याधियों के विषय का, मरण का, असंयम का, अनाथपने का, आकस्मिक घटनाओं का भय होना भी शंका दोष में गर्भित होता है, ये सब प्रकार के शंका दोष होते हैं। इन्हीं को सात भय कहते हैं। यह सर्वप्रकार का शंका-दोष सम्यक्त्व में मलिनता उत्पन्न करता है। (2) इसलोक—परलोक के भोगों की लालसा रखना सो कांक्षा या आकांक्षा दोष है। मिथ्यादृष्टियों में उत्पन्न होने की या मिथ्यादृष्टियों के समागम-सहवास की इच्छा रखना भी आकांक्षा दोष है। (3) शरीरादि मलिन वस्तुओं को देखकर उनसे ग्लानि करना, उस शरीर के सम्बन्ध से पवित्र साधुओं को भी ग्लानि की दृष्टि से देखना, अर्हन्त के मोक्षमार्ग में तपस्यादि घोर कष्ट देखकर उन कष्टों को अनुचित समझकर निर्ग्रन्थ तपस्वियों को ग्लानि की दृष्टि से देखना—इत्यादि अनुचित ग्लानि को विचिकित्सा दोष कहते हैं। (4) मिथ्यादृष्टियों को देखकर मन में उनके सिद्धान्त, मत तथा विचारों को अच्छा समझना, उन गुणों पर मोहित होना यह अन्यदृष्टि-प्रशंसा नाम का दोष है। (5) मिथ्यादृष्टियों के विचारों की, उनके मत क्रियाओं की, मुख से प्रशंसा करना यह अन्यदृष्टिसंस्तवन नाम दोष है। इन दोषों को सम्यक्त्व के दोष इसलिए कहा है कि सम्यक्त्व गुण को इनसे दूषण लगता है। ये सम्यक्त्व के पाँच दोष हैं।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार—

बन्धो वधस्तथा छेदो गुरुभाराधिरोपणम्।
अन्नपाननिषेधश्च प्रत्येया इति पञ्च ते॥ 85॥

अर्थ—1. बाँध लेना, 2. चाबुक वगैरह से मारना या वध कर देना, 3. कान-नाक इत्यादि काटना

---

1. "देशस्य भंगादनुपालनाच्च पूज्या अतिचारमुदाहरंति" सा.धर्मा.। व्रत के कुछ अंश का भंग हो जाना या न पालना इसका नाम अतिचार है। 2. सम्यक्त्व के जहाँ गुण कहे गये हैं वे आठ हैं : (1) निःशंका, (2) निःकांक्षा, (3)निर्विचिकित्सा, (4) अमूढदृष्टि, (5) उपगूहन, (6) स्थितीकरण, (7) वात्सल्य, (8) प्रभावना। यदि इनसे उलटी तरफ देखा जाए तो दोष भी आठ हो सकते हैं, परन्तु यहाँ जो सम्यक्त्व के दोष लिखे वे पाँच ही क्यों लिखे? उत्तर—पहले तीन दोष तो प्रथम तीन गुणों से ठीक उलटे हैं ही। रहे अन्त के दो दोष सो उनमें शेष पाँचों गुण के प्रतिपक्षी पाँच दोष गर्भित किये हैं। वह कैसे? अर्थ समान होने से पाँचवें चौथे दोषों का व्यापक अर्थ मान लेने से अन्तर्भाव हो सकता है। अथवा उपलक्षण से शेष दोषों का ले लेना तो सहज ही है। आठों न गिनाने का प्रयोजन यह है कि जहाँ सभी विषयों के अतिचार पाँच-पाँच ही कहे जाएँगे वहाँ इसी के लिए संख्या भेद क्यों करें?

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

या छेदना, 4. सम्भव या न्याय से जितना ठहर चुका हो उतने से अधिक बोझ लादना यानी गुरुभारारोपण, और 5. भोजन-पानी समय पर न देना अर्थात् अन्नपाननिषेध—ये पाँच अहिंसाव्रत के अतिचार-दोष[1] हैं।

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार—

कूटलेखो रहोभ्याख्या न्यासापहरणं तथा।
मिथ्योपदेश-साकारमन्त्रभेदौ च पञ्च ते॥ 86॥

अर्थ—(1) जो बात जिसने नहीं कहीं हो, वह बात उसने कही ऐसा ठगने के लिए लिखना सो कूटलेख है। दूसरे का हस्ताक्षर लेख बनाकर ठगना—कूट लेख का यह भी अर्थ किया गया है। (2) स्त्री, पुरुषों की एकान्त में की गयी परस्पर की काम-चेष्टाओं को प्रकाशित करना रहोभ्याख्यान[2] कहलाता है। (3) धन-सम्पत्ति किसी ने आपके पास रखी हो और फिर जितनी रखी थी उससे कम का तकाजा करें तो वह माँगने वाला तो बेचारा भूल गया है, परन्तु आप जान-बूझकर भी यह कहना कि जितना तुम्हें याद हो उतना ले जाओ—इसको न्यासापहार कहते हैं। (4) मिथ्या मार्ग का उपदेश देना सो मिथ्योपदेश कहलाता है। (5) किसी ने जो छिपकर बातचीत की हो उसे उसकी किसी चेष्टा से समझकर प्रकाशित कर देना, सो साकारमन्त्र भेद कहलाता है। ये पाँच सत्याणुव्रत में आनेवाले अतिचार[3] हैं।

न्यासापहार से यह शंका होगी कि यह अतिचार सत्यव्रत का न होकर अचौर्यव्रत का होना चाहिए? इसका उत्तर—यहाँ वचन बोलने से दूसरे का अहित होता है, इसलिए यह सत्यव्रत का अतिचार है। कूटलेख यद्यपि वचन नहीं है तो भी वचन की आकृति है और लोग भी इसे शब्द या वचन ही कहते हैं, इसलिए यह कूटलेख भी सत्यव्रत का ही अतिचार है। रहोभ्याख्यान तथा साकारमन्त्र भेद इन दोनों को लोग दंडयोग्य असत्य नहीं ठहरा सकते हैं तो भी ऐसे वचनों से प्राण पीड़े ही जाते हैं, इसलिए ये भी अतिचार हैं। मिथ्योपदेश से भी व्यवहार की व्यक्त हानि नहीं कही जा सकती, परन्तु वास्तव में बहुत बड़ी हानि होती है, इसलिए यह अतिचार है।

---

1. पंडित आशाधर ने इस पर लिखा है कि गवाद्यैनैष्ठिको वृत्तिं त्यजेद्बंधादिना विना॥ भोग्यान्वा तानुपेयात्तं योजयेद्वा न निर्दयम्॥16॥ अ. 4। उत्तम नैष्ठिक श्रावक का यह काम है कि वह वधबन्धादि दोषरहित अहिंसाव्रत पालने की इच्छा से गाय आदि पशुओं को रखे ही नहीं। काम न चलता दिखते तो वह अवश्य रखेगा, परन्तु उतने ही रखने चाहिए जितने से भोगोपभोग का काम चल जाए, परन्तु यह मध्यम श्रावक की वृत्ति कही जाएगी। रखे तो चाहे जिस काम के लिए, परन्तु वधबन्धादि न होने देने की सँभाल करें और निर्दयता से उससे काम न लें। ऐसा करनेवाला वधबन्धादि दोष दूर कर सकता है, परन्तु कृत, कारित, अनुमति द्वारा पूर्ण रक्षा नहीं कर सकता, इसलिए मन मलिन रहेगा और पक्ष अधम ठहरेगा, परन्तु अतिचार तो भी दूर हो सकते हैं यह ध्यान रहे। अतिचारों को अवश्य टालना चाहिए, क्योंकि सातिचार व्रत कभी वास्तविक फल नहीं दे सकते। देखो—
व्रतानि पुण्या न भवंति जंतोर्न सातिचाराणि निषेवितानि। सस्यानि किं क्वापि फलंति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि॥
शंका—अतिचार यदि पापों में गर्भित हैं तो पाप के त्याग को जो व्रत कहते हैं उन व्रतों की संख्या नहीं हो सकेगी। यदि अतिचार हिंसादि पापों में गर्भित नहीं हैं तो क्यों छोड़ने चाहिए? उत्तर—विशुद्ध अहिंसादिव्रतों में अतिचार नहीं रहते इसलिए छोड़ने योग्य तो हैं ही और अलग-अलग ये पाप नहीं, किन्तु एकदेश मूलपापों में ही गर्भित होते हैं, इसलिए इनके त्याग से भी व्रतों की संख्या बढ़ती नहीं है।
2. हँसी ठट्ठा समझकर करें तो यह अतिचार होगा। यदि कामवासना के वश करें तो व्रतभंग का दोष आ सकता है।
3. मन्त्रभेदः परीवादः पैशुन्यं कूटलेखनम्। मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः॥ यशस्तिलक में सप्तमाश्वास के 28 वें कल्प में ये पाँच सत्यातिचार बताये हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार—

स्तेनाहृतस्य ग्रहणं तथा स्तेन प्रयोजनम्।
व्यवहारः प्रतिच्छन्दो मानोन्मानोनवृद्धता[1] ॥ 87 ॥
अतिक्रमे विरुद्धे च राज्ये सन्तीति पञ्च ते।

अर्थ[1]—(1) चोरी करके जो द्रव्य किसी ने लाकर बेचना चाहा तो उसे ले लेना यह स्तेनाहृतादान[2] कहलाता है। ऐसा करना भी दूसरों के लिए दुःखदायक है और इससे राजदंड का भय रहता है, इसलिए यह अतिचार है। (2) चोरी करनेवालों को चोरी में लगाना, लगाने का प्रयत्न करना, चोरी करने में कोई लग जाए तो प्रसन्न होना, इस सबको स्तेनप्रयोग[3] कहते हैं। (3) व्यापार में ठगी करना अथवा नकली चीजें असली कहकर बेचना—ऐसे कामों को व्यवहारप्रतिच्छन्द या प्रतिरूपव्यवहार[4] कहते हैं। (4) किलो-बाँट-तराजू आदि वजन की चीजों को मान कहते हैं। लीटर-गज-मीटर आदि चीजों को उन्मान कहते हैं। ये चीजें ठीक न रखना, किन्तु दूसरों से माल लेने के लिए अधिक रखना और दूसरों को अपना माल बेचने के लिए कम रखना—ऐसे कार्य को मानोन्मानहीनाधिकता या हीनाधिकमानोन्मान[5] कहते हैं। (5) राजाज्ञा का जिसमें उल्लंघन होता हो ऐसे प्रकार से बहुमूल्य चीजों को अल्पमूल्य में खरीदने की इच्छा रखना, प्रयत्न करना सो सब विरुद्धराज्यातिक्रम नाम का पाँचवाँ अतिचार है।

अचौर्याणुव्रत के ये पाँच अतिचार हैं। इनको लोग चोरी नहीं कहते, इसलिए तो व्रतभंग नहीं माना जाता और तो भी चोरी की तरह ये पाँचों प्रकार के फायदे जिसके द्रव्य से होते हैं उसे न बता कर होते हैं। यदि द्रव्य का स्वामी ये बातें समझ ले तो वह ठगी मान लेता है, इसलिए ये पाँचों कार्य चोरी के अंग माने गये हैं। अतिचार भी पाप के अवयवों को कहते हैं। पाप का पूर्ण सेवन हो वह अनाचार कहलाता है।

स्वदारसन्तोष-अणुव्रत के पाँच अतिचार—

अनंगक्रीडितं तीव्रोऽभिनिवेशो मनोभुवः ॥ 88 ॥
इत्वर्योर्गमनं चैव संगृहीतागृहीतयोः।
तथा परविवाहस्य करणं चेति पञ्च ते ॥ 89 ॥

अर्थ—(1) अनंगक्रीडा, (2) काम की तीव्रवासना, (3) परिगृहीत-इत्वरिकागमन, (4) अगृहीत-

1. 'व्यवहार प्रतिच्छन्दैः' ऐसा मूल मुद्रित पुस्तक में पाठ था, परन्तु हमने 'व्यवहार प्रतिच्छन्दो मानोन्मानोनवृद्धता' ऐसा ऊपर का पाठ ठीक समझा है। क्योंकि, प्रतिरूप का व्यवहार की जगह यह पाठ होना चाहिए।
2. चोरानीतमग्रहणं तदाहृतादानम्।—रा.वा. 7/27
3. मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनं स्तेनप्रयोगः। मुष्णन्तं स्वयमेव वा प्रयुङ्क्ते अन्येन प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यतः स्तेनप्रयोगः।—वही
4. कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपक व्यवहारः।—वही
5. कूटप्रस्थतुलादिभिः क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानः।—वही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्वरिका[1] गमन, (5) परविवाहकरण ये पाँच स्वदारसन्तोष के अथवा ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार हैं। योनि तथा जननेन्द्रिय का जो सम्भोग होता है वह उचित स्थान के सिवाय अन्यत्र भी करना तथा कुचेष्टा करना सो सब अनंगक्रीडा है। कामभोगों की निरन्तर इच्छा रखना, उत्कट वासना रखना, सो काम की तीव्र वासना या कामतीव्राभिनिवेश कहलाता है। व्यभिचारिणी स्त्री को इत्वरिका कहते हैं। जो किसी की व्याही स्त्री हो उसे परिगृहीता कहते हैं। परिगृहीत व्यभिचारिणी स्त्री के साथ सम्बन्ध[2] रखने को परिगृहीत-इत्वरिकागमन कहते हैं। किसी ने जिसे रखा भी न हो और जो किसी को व्याही भी न हो उसके साथ सम्बन्ध रखने को अगृहीत-इत्वरिकागमन कहते हैं। दूसरों के लड़के-लड़कियों का व्याह कराना सो परविवाहकरण है।

इसी प्रकार अनंगक्रीडा आदि जो चार अतिचार हैं वे भी तभी हो सकते हैं जब कि कामभोगों की लालसा अतिप्रबल हो जाती है, इसीलिए वे भी अतिचार-दोष हैं। गुरुपत्नी, साध्वी, तिर्यंचिनी इत्यादिकों में जो प्रवृत्ति होती है वह भी कामतीव्राभिनिवेश का ही एक प्रकार[3] है।

परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत के पाँच अतिचार—

हिरण्यस्वर्णयोः क्षेत्र-वास्तुनोर्धनधान्ययोः।
दासीदासस्य कुप्यस्य मानाधिक्यानि पञ्च ते[4]॥ 90॥

अर्थ—सोने, चाँदी आदि के सिक्कों को हिरण्य कहते हैं। स्वर्ण अर्थात् सोना। यहाँ उपलक्षण मानना चाहिए और उसका अर्थ 'सोना, चाँदी, जवाहरात' करना चाहिए। क्षेत्र अर्थात् खेत, वास्तु यानी

---

1. परपुरुषानेति गच्छतीतीत्वरी। ततः कुत्सायां कः। इत्वारिका। या गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता। या पुनरेकपुरुषर्भतृका सा परिगृहीता।—रा.वा. 7/28, वा. 2
2. मूल ग्रन्थ में जो गमन शब्द है उसका अर्थ हमने सम्बन्ध रखना किया है। गमन का अर्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में तथा श्रुतसागरी तत्त्वार्थटीका में ऐसा ही लिखा है, परन्तु पण्डित आशाधर के सागारधर्मामृत में गमन का अर्थ सम्भोग करना लिखा है। कोशों में भी गमन का अर्थ सम्भोग करना होता है, परन्तु सम्भोग करना अतिचार नहीं है वह अनाचार या व्रतभंग है—यह शंका होना यहाँ सम्भव है। पं. आशाधर ने इस शंका का उत्तर देने के लिए लोकदृष्टि से भंग व परमार्थ दृष्टि से अभंग बताकर अतिचारपना ठहराया है।
3. दीक्षितातिबालतैर्यग्यान्यादीनामनुपसंग्रह इति चेन्न, कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात्सिद्धेः। दीक्षितादिषु परिहर्तव्यासु वृत्तिः कामतीव्राभिनिवेशाद्भवति। उक्तोऽत्र दोषो राजभयलोकापवादादिः। (रा.वा. 7/28, वा. 5) अर्थात्, दीक्षितादिकों में प्रवृत्ति होना कामतीव्राभिनिवेश में गर्भित करना चाहिए। इससे यह सिद्ध हुआ कि इत्वरिकागमन और दीक्षितादिकों में प्रवृत्ति होना—ये दोनों जुदे-जुदे कर्म हैं और उक्त प्रवृत्ति तथा गमन शब्द के अर्थ सम्भोग करना भी सम्भव है। इनमें स्वकीयपना कथंचित् सम्भव है; क्योंकि, ये किसी की नियोगिनी नहीं होती। इसीलिए इनके साथ प्रवृत्ति या सम्भोग करने से अतिचार दोष लगता है। व्रतभंग या अनाचार का दोष तब लगता है जब कि पति जीवित रहते हुए उस पति की नियोगिनी स्त्री के साथ सम्भोग किया जाये। अतिचारों से भी व्रत मलिन होता है और मलिन व्रत भवसमुद्र का निस्तारक नहीं हो सकता।
4. हिरण्यं—रूप्यादिव्यवहारतन्त्रम्। सुवर्णं—प्रतीतम्। क्षेत्रं—सस्याधिकरणम्। वास्तु—अगारम्। धनं, गवादि, धान्यं—व्रीह्यादि। कुप्यं—क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि। तीव्रलोभाभिनिवेशादातिरेकाः प्रमाणातिक्रमाः। (रा.वा. 7/29, वा. 1) धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता। परिमितपरिग्रहस्यादिच्छापरिमाणनामापि॥61॥ रत्नक. श्रा.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

घर। धन का अर्थ गाय, भैंस इत्यादि पशु। धान्य अर्थात् गेहूँ, चना इत्यादि अनाज। दासीदास=सेवक। कपास, रेशम, चंदन, ऊन तथा किराने की चीजों को कुप्य कहते हैं। (1) हिरण्यसुवर्ण, (2) क्षेत्रवास्तु, (3) धनधान्य, (4) दासीदास, (5) कुप्य ये पाँच ही मुख्य परिग्रह के भेद हैं। इनका जितना-जितना परिमाण हो वह बढ़ाकर यदि अधिक परिमाण फिर से किया जाए तो पाँच अतिचार हो जाते हैं। यहाँ तक पाँच अणुव्रतों के अतिचार हुए। अब आगे सात शीलों के तथा सल्लेखनाव्रत के अतिचार लिखते हैं।

दिग्विरतव्रत के पाँच अतिचार—

तिर्यग्व्यतिक्रमस्तद्वदध-ऊर्ध्वव्यतिक्रमौ।
तथा स्मृत्यन्तराधानं क्षेत्रवृद्धिश्च पञ्च ते॥ 91॥

अर्थ—दसों दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा निश्चित करने का नाम दिग्विरतव्रत है। दस दिशाओं के तीन स्थूल भेद होते हैं—नीचाई, ऊँचाई और इधर-उधर तिरछापन। इन तीनों सीमाओं का उल्लंघन करने से तीन अतिचार हो जाते हैं। (1) नीचे की तरफ गमनागमन की जहाँ तक सीमा की गयी हो वहाँ से अधिक नीचे चले जाने सो अधोऽतिक्रम है। (2) ऊपर की सीमा उल्लंघन से ऊर्ध्वातिक्रम होता है। (3) पूर्वादि दिशाओं की सीमा उलंघने से तिर्यग्व्यतिक्रम[1] कहा जाता है।

ऊपर के तीनों व्यतिक्रम तब कहलाते हैं जबकि किसी एक-दो समय ऐसा भूल से हो जाए या तीव्र कषायवश हो जाए, परन्तु प्रमाण सदा के लिए पूर्ववत् कायम रखा जाए। (4) यदि सदा के लिए प्रमाण बढ़ा लिया जाए तो उसे क्षेत्रवृद्धि चौथा अतिचार कहते हैं। (5) इस विषय में पाँचवाँ एक अतिचार यह है कि सीमाओं का स्मरण ठीक-ठीक न रखना। दिग्विरतव्रत के ये पाँच अतिचार हुए। इन दोनों

धनधान्यादि परिग्रहों का प्रमाण करके छोड़े हुए अधिक विषयों से निस्पृह रहना सो परिग्रहपरिमाण अणुव्रत कहलाता है। इसी को इच्छा परिमाण भी कहते हैं। समन्तभद्र स्वामी ने अपने रत्नकरण्ड नाम उपासकाध्ययन में परिग्रहत्याग का अणुस्वरूप जिस प्रकार लिखा है व्रतों का अणुस्वरूप इस ग्रन्थ में उतना स्पष्ट नहीं दिया गया है। इसके अतिचार भी रत्नकरण्ड में यहाँ से दूसरी तरह ही लिखे हैं। अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि। परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच कथ्यन्ते॥62॥ अर्थ—

(1) आवश्यकता से अधिक वाहन रखना,

(2) अतिसंग्रह करना,

(3) सम्पत्ति देखकर विस्मय मानना,

(4) सम्पत्ति में लुब्धता रखना,

(5) अधिक बोझ लादना ये पाँच परिग्रहपरिमाण व्रत के अतिचार हैं। ऊपर के अतिचार और इन अतिचारों में अन्तर है। ऊपर तो परिग्रहों के प्रमाण की मर्यादा बढ़ा लेने को अतिचार कहा है और यहाँ परिग्रहों में आसक्ति रखने को अतिचार कहा है।

1. 'विलप्रवेशादेस्तिर्यगतीचारः' (रा.वा., 7/30, वा. 4) अर्थात् विलप्रवेशादि करने से तिर्यग्व्यतिक्रम होता है ऐसा राजवार्तिककार लिखते हैं, परन्तु इसका अर्थ कुछ लोग ऐसा करते हैं कि ऊपर नीचे तथा पूर्वादि दशाओं में सीधा न जाकर तिरछा चलना सो तिर्यग्व्यतिक्रम है परन्तु तिर्यग् शब्द का यह अर्थ लेना भूल है। जैसे तिर्यक् सामान्य का अर्थ तिरछा सामान्य ऐसा नहीं होता, किन्तु इधर-उधर ऐसा होता है वैसे ही यहाँ भी तिर्यक् शब्द का अर्थ इधर-उधर ऐसा लेना ठीक है। नहीं तो पूर्वादि दिशाओं के उल्लंघन को एक जुदा अतिचार कहना पड़ेगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के रहने पर भी उक्त व्रत का पूर्ण भंग नहीं हो पाता और प्रथम तीन दोषों का काल भी थोड़ा-सा रहता है, इसलिए इन्हें अनाचार न कहकर अतिचार ही कह सकते हैं।

स्मरण ठीक-ठीक न रखने पर भी व्रती मनुष्य अपने उक्त व्रत को छोड़ नहीं देता, किन्तु डगमगाता हुआ और से और स्मरण कर लेता है, इसीलिए स्मृत्यन्तराधान नाम के दोष को भी अतिचार ही कहते हैं। तिर्यग्व्यतिक्रम गुफादि टेड़ी-मेड़ी जगहों में घुसने से अधिक सम्भव है, परन्तु सीधा इधर-उधर चलने पर भी यदि चलते-चलते भूल जाएँ और मर्यादा से आगे चले जाएँ तो भी तिर्यग्व्यतिक्रम हो जाता है। दिग्व्रत में अतिचार प्रमाद, मोह और व्यासंग-संयोग से होते हैं। प्रमाद एवं मोह की प्रवृत्ति से सब परिचित हैं। व्यासंग-संयोग का अर्थ है—जैसे किसी के पाकिस्तान जाने का त्याग है चीन जाने का नहीं, लेकिन जिस वाहन से चीन जाना है वह पाकिस्तान होकर जाता है, अथवा देशव्रती युद्ध करता हुआ पाकिस्तान जाता है या यात्रा का प्रसंग आता है तब व्यासंग से अतिचार कहलाता है।

देशविरतव्रत के पाँच अतिचार—

अस्मिन्नानयनं देशे, शब्द रूपानुपातनम्।
प्रेष्यप्रयोजनं क्षेपः पुद्गलानां च पञ्च ते॥ 92॥

अर्थ—देशावकाशिक या देशविरतव्रत के चारों तरफ से गमन का क्षेत्र आकुंचित करके मर्यादित स्थान में बैठे हुए व्रती को यदि बाहर की चीजों से काम पड़े तो भी वह बाहर से उन चीजों को न मँगावे और न बाहर से दूसरा ही किसी प्रकार का सम्बन्ध रखे। तभी व्रत निर्मल रह सकता है, क्योंकि बाहर की चीजों से पूर्ण ममत्व छूटने के लिए ही दिग्विरत और देशविरत व्रत धारण किये जाते हैं।

देश मर्यादा कर चुकने पर स्वयं उस बाहरी देश में जाने से व्रतभंग होगा ऐसा समझकर यदि अपना प्रयोजन स्वयं बाहर न जाकर भी दूसरे किसी प्रकार से सिद्ध कर ले तो भी शील में दोष लगता ही है, क्योंकि, ऐसा करने से विषयों से पराङ्मुखता पूर्ण नहीं रह सकती है। जिन दूसरे प्रकारों से प्रयोजन साधनेवाले को दोष लगता है वे पाँच हैं : (1) किसी दूसरे मनुष्य को भेजकर चीज मँगा लेना, सो आनयन[1] है। (2) काम करनेवाले सेवक के सामने कुछ कहना तो नहीं, परन्तु खाँस, मठार देना सो शब्दानुपात[2] है। (3) अपना शरीर या हाथ, पाँव, मुख आदि दिखा देना सो रूपानुपात है।[3] (4) सेवक आदि को वस्तु देने आदि के लिए भेजना सो प्रेष्यप्रयोग है।[4] (5) सेवकों को समझाने की इच्छा से माटी का डेला, पत्थर का टुकड़ा फेकना सो पुद्गलक्षेप है।[5] ऐसे ये पाँच अतिचार देशविरतव्रत के

1. अन्यमानयेत्य ज्ञापनमानयनं।—रा.वा. 7/31
2. अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः।—रा.वा. 7/31
3. स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपातः।—रा.वा. 7/31
4. एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः।—रा.वा. 7/31
5. लोष्ठादनिपातः पुद्गलक्षेपः। स्वयमनाक्रामन्नन्येनाक्रमयतीत्यतिक्रमः। यदि स्वयमतिक्रमेत व्रतलोप एवास्य स्यात्।—रा.वा. 7/31

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इन क्रियाओं के करने पर भी स्वयं मर्यादा का अतिक्रम नहीं होता तो भी दूसरों से अतिक्रम कराना भी अतिक्रम ही है। अर्थात् यहाँ कारितपने के सम्बन्ध से अतिचार दोष आता है। ये पाँचों अतिचार स्थूल से सूक्ष्म की ओर लगाये जाते हैं, जैसे—देशव्रत में किसी ने दूसरे ग्राम न जाने का व्रत लिया, लेकिन उस दूसरे ग्राम से किसी वस्तु को लाने का प्रसंग आ गया, तब उस ग्राम से आनेवाले व्यक्ति को या इस गाँव से, उस गाँव जानेवाले के साथ सन्देश भेजकर वस्तु मँगवाना आनयन है। प्रेष्यप्रयोग में, यहाँ से ही किसी व्यक्ति द्वारा त्यागे हुए स्थान पर वस्तु भेजना है। अपनी गृह-गली की मर्यादा करने के बाद शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप करके काम करवाना इस प्रकार ये तीन अतिचार हैं।

अनर्थदंड विरतव्रत के पाँच अतिचार—

असमीक्ष्याधिकरणं[1] भोगानर्थक्यमेव च।
तथा कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्याणि च पञ्च ते॥ 93॥

अर्थ—(1) आवश्यकता की तरफ ध्यान नहीं देना, किन्तु योंही कुछ कार्य करते जाना और वह भी खूब करना सो असमीक्ष्याधिकरण[2] है। जैसे, किसी की बुराई का विचार करना, परपीड़ाकारी निष्प्रयोजन कुछ भी बोलना, चलते-चलते, छोटे-छोटे वनस्पति तोड़ते जाना, बैठे-बैठे तोड़ते रहना इत्यादि। (2) भोगोपभोगों की जितनी सामग्री चाहिए उससे अधिक सामग्री इकट्ठी करना सो भोगोपभोगानर्थक्य[3] कहलाता है। (3) रागवश होकर हँसी के साथ भण्ड वचन बोलना सो कंदर्प[4] कहलाता है। (4) मुख से तो हँसी करते हुए भण्ड वचन बोलना और शरीर से कुचेष्टा करके दिखाना सो कौत्कुच्य[5] है। (5) ढीठ होकर खूब बोलना और कुछ भी बोलना सो मौखर्य[6] है। ये पाँच अनर्थदंड त्याग व्रत के अतिचार हैं।

यदि कुछ भी प्रयोजन सिद्ध करना न हो और पापारम्भ का बढ़ाने वाला हो तो उस कार्य को अनर्थदंड ही कहेंगे, परन्तु रागद्वेष की पुष्टि और मन का कुछ सन्तोष ऊपर की पाँचों बातों से होना सम्भव है और इस पर भी ये पाँचों कार्य अधिक हानि नहीं करते, इसलिए इन्हें अतिचारों में कहा है। देखो, जिस प्रकार पापोपदेश की प्रवृत्ति करने से जीव पाप का भागी बनता है अथवा हिंसा के साधनों की सहायता करने से हिंसापाप का भागी हो सकता है, उतना कंदर्पादि वचन बोलने से अथवा असमीक्ष्यकारी बनने से तीव्र पापभागी नहीं होता।

शंका—भोगोपभोगानर्थक्य जो अनर्थदंड त्याग का अतिचार लिखा है वह अनर्थदंड त्याग का नहीं हो सकता, किन्तु भोगोपभोग परिमाण का अतिचार हो सकता है अथवा प्रयोजन मन्द समझकर अनर्थदंड

---

1. 'असमीक्ष्य' शब्द का 'अधिकरण' शब्द के साथ साधारण कोई समास नहीं बन सकता और एक पद बनाना अवश्य है। इसलिए 'सुप्सुपा' या 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस विशेष वचन से समास का निर्वाह होगा ऐसा राजवार्तिककार ने लिखा है।
2. असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमधिकरणम्। तत् त्रेधा कायवाङ्मनोविषयभेदात्।—रा.वा. 7/32
3. यावतार्थेनोपभोगपरिभोगौ सोऽर्थः। ततोऽन्यस्याधिकयमानर्थक्यम्।—रा.वा. 7/32
4. रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः।—रा.वा. 7/32
5. रागस्य समावेशाद्धास्यवचनमशिष्टवचनमित्येतदुभयं परत्र दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यम्।—रा.वा. 7/32
6. अशालीनतया यत्किंचनानर्थकं बहुप्रलापनं मौखर्यम्।—रा.वा. 7/32

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

त्याग का भी अतिचार कह सकते हैं और भोगों की गृद्धता के कारण भोगोपभोग का भी अतिचार कह सकते हैं, परन्तु ऐसी विवक्षा हो तो दो बार कहना पड़ेगा। दो बार कहने से पुनरुक्ति दोष प्राप्त होगा? और एक बार कहें तो कहाँ पर कहें?

उत्तर[1]—पुनरुक्ति दोष यों नहीं है कि अतिचार एक-एक व्रत के अनेकों हो सकते हैं तो भी सभी अतिचार नहीं कहे जा सकते, इसीलिए प्रत्येक व्रत के मुख्य-मुख्य पाँच-पाँच अतिचार लिखे गये हैं। शेष सब ऊपर से समझ लेने चाहिए। भोगानर्थक्य अतिचार मुख्यता से तो अनर्थदंडत्याग का है और अमुख्यता से भोगोपभोगपरिमाण का भी हो सकता है। इसीलिए इसे एक अनर्थदंडव्रत के अतिचारों में लिख दिया है और भोगोपभोगपरिमाण के मुख्य अतिचार दूसरे पाँच हैं जो कि आगे लिखेंगे।

सामायिकव्रत के पाँच अतिचार—

त्रीणि दुष्प्रणिधानानि वाङ् मनःकायकर्मणाम्।
अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पञ्च ते॥ 94॥

अर्थ—वचन, मन व काय को ठीक सावधान न रखना ये तीन अतिचार हुए, 1. वचन दुष्प्रणिधान, 2. मनोदुष्प्रणिधान, 3. कायदुष्प्रणिधान। 4. सामायिक के करने में आदर न रखना सो अनादर कहलाता है। 5. सामायिक कब करना है इस बात का स्मरण नहीं रखना सो स्मरणानुपस्थान कहलाता है। ये पाँच सामायिक के अतिचार हैं।

मन, वचन तथा शरीर को सावधान रखना सामायिक का अंग तो नहीं होता, परन्तु वीतराग अवस्था तथा सकल पापों का अभाव और अप्रमादीपना प्राप्त होने के लिए सामायिक व्रत स्वीकार किया जाता है उतना फल उक्त असावधानी रखने पर प्राप्त नहीं हो सकता है, इसीलिए ये तीनों दोष अतिचारों में गर्भित किये गये हैं। अनादर होने से भी यही बात होती है, इसलिए वह भी अतिचारों में माना गया है। सामायिक की विधि पूर्ण नहीं हो पाती यह हानि तो पाँचों ही अतिचारों से होना सम्भव है। सामायिक में यदि अतिचार हो सकते हैं तो इसी प्रकार के हो सकते हैं। यदि मनुष्य निरन्तर अथवा प्रतिदिन अपने नियत समय पर ध्यान करना चाहे तो वह कुछ दिन बाद प्रायः उस ध्यान के करने में प्रेम युक्त नहीं रह पाता है और न उत्साही ही रह पाता है और इसीलिए सम्भव है कि कभी वह अपने नियत समय पर ध्यान को भूल भी जाए, अथवा मन, वचन तथा शरीर को ठीक-ठीक न लगाए, परन्तु व्रत में ये बातें होने से फलप्राप्ति यथावत् नहीं होगी यह समझकर आचार्य इसमें मन्दोद्यमी न होने देने के लिए ऊपर के पाँच अतिचार-दोष दिखाते हैं।

मन[2] स्थिर न रखना, किन्तु आत्मतत्त्वादि का शुभ चिन्तवन जो करना चाहिए वह न करके मन

---

1. "उपभोगपरिभोगव्रतऽन्तर्भावात् पौनरुक्त्यप्रसंग इति चेन्न, तदर्थानवधारणात्। इच्छावशादुपभोगपरिभोगपरिमाणावग्रहः सावद्यप्रत्याख्यानं चेति तदुक्तम्। इह पुनः कल्प्यस्यैव आधिक्यमित्यतिक्रम इत्युच्यते। नन्वेवमपि तद्व्रतातीचारान्तर्भावादिं वचनमनर्थकम्। सचित्ताद्यतिक्रमवचनात्।" यह जो राजवार्तिक (7/32) में लिखा है उसका भी प्रायः ऊपर जैसा ही अभिप्राय है।
2. दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वादिदुष्प्रणिधानम्।—रा.वा. 7/33

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को विषयों में लगाते रहना सो मनोदुष्प्रणिधान है। पाठ ठीक-ठीक न बोलना-जल्दी पूरा करना, अशुद्ध बोलना, कुछ पाठ छोड़ देना सो वचन दुष्प्रणिधान है। शरीर को स्थिर-निश्चल न करना, आसनच्युत होना, इधर-उधर सरकना सो सब कायदुष्प्रणिधान है।

मन का दुष्प्रणिधान और स्मरणानुपस्थान ये दोनों अतिचार एक से जान पड़ेंगे, परन्तु सूक्ष्मभेद अवश्य है। यह कि, प्रकरण के विषय में से कभी हट जाना और कभी उसमें लग जाना—ऐसी व्यग्रता को स्मरणानुपस्थान[1] कहते हैं और मनोदुष्प्रणिधान यह है कि प्रकृत विषय छोड़ देना, दूसरा कुछ भी चिन्तवन नहीं करना। यदि करने लगे तो उस प्रकृत विषय का ही करेगा, परन्तु प्रकृत विषय के सम्बन्ध से क्रोधादि कषाय उत्पन्न हो जाएँगे, यह दोनों का अन्तर है।

प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार—

संस्तरोत्सर्जनादानमसंदृष्टाप्रमार्जितम्।
अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पञ्च ते॥ 95॥

अर्थ—(1) न देखकर तथा न झाड़पोंछ कर, बिछौना काम में लाना सो एक अतिचार है। इसका नाम अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितसंस्तरोपक्रम[2] है। (2) अर्हन्त-आचार्य की पूजा-सामग्री, गन्ध, धूप, मालादि को उठाते समय न देखना तथा झाड़-पोंछ कर प्रयोग न करना यह दूसरा एक अतिचार है। इसका नाम अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है।(3) अपने भोगोपभोग की सामग्री जो वस्त्रपात्रादि अथवा कपड़े-लत्ते आदि हों उन्हें भी उठाते समय देखभाल न करने से और झाड़-पोंछ न करने से अतिचार है। (4) सामायिकादि आवश्यक कार्यों में अनुत्साही हो जाना सो अनादर नाम अतिचार है। (5) धर्मकार्यों में चित्त स्थिर न रखना, मन को व्यग्र कर देना सो स्मृत्यनुपस्थान नाम अतिचार है। सब पाँच अतिचार हैं। ये प्रोषधोपवास करनेवाले को लगते हैं।

क्षुधा से पीड़ित होने पर उत्साह घटना सम्भव है। उत्साह जब घटेगा तो साथ ही किसी चीज के धरने-उठाने में सावधानी कैसे रह सकती है? सावधान न रहने के ही ये लक्षण हैं कि बिना देखभाल किये ही इधर-उधर रख देना तथा अपने उपयोग की किसी चीज को या धर्मोपकरण की किसी वस्तु को धरते उठाते सावधानी या जीव-बाधा बचाने की तरफ लक्ष्य न रखना। देखकर तथा झाड़ पोंछकर चीज उठाने धरने से सावधानी रहती है, जीव दया पलती है, मलमूत्र के क्षेपने में भी उक्त असावधानी व्रती के हाथ से होना सम्भव है।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार—

सचित्तस्तेन सम्बन्धः तेन संमिश्रितस्तथा।
दुष्पक्वोऽभिषवश्चैवमाहाराः पञ्च पञ्च ते॥ 96॥

अर्थ—भोगोपभोगपरिमाण नाम व्रत का श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने ऐसा अर्थ किया है कि इन्द्रिय

---

1. अनैकाग्र्यस्मृत्यनुपस्थानं। मनोदुष्प्रणिधानं तदिति चेन्न, तत्रान्याचिन्तनात्। तत्र हि अन्यत् किंचिदचिन्तयंश्चिन्तयतो वा विषये क्रोधाद्यावेश औदासीन्येन वाऽस्थानं मनसः।—रा.वा. 7/32, वा. 4-5
2. ये सब नाम अर्थ के अनुसार रखे गये हैं और नामों का अर्थ वही है जो कि लक्षणों में लिखा गया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विषयों का परिमाण या मर्यादा करना सो भोगोपभोगपरिमाण व्रत[1] है। आवश्यक चीजों में से भी कम करते रहना यह भी इसी व्रत[2] का स्वरूप है।

भोगोपभोग[3] ये दो बातें हैं—भोग व उपभोग। जो चीज भोगकर छोड़ने योग्य हो जाए वह भोग कहलाता है। बार-बार जो चीज भोगी जा सकती हो वह उपभोग है। भोग, जैसे भोजन। उपभोग, जैसे कपड़े।

जबकि भोगोपभोग परिमाण व्रत में एक बार तथा अनेक बार भोगने योग्य—दोनों ही प्रकार की चीजें मर्यादित की जाती हैं तो दोनों ही प्रकार की मर्यादाओं के त्याग में जो मलिनता प्राप्त हो सकती है उसे अतिचार कहना चाहिए, इसलिए श्रीसमन्तभद्र स्वामी इस व्रत[4] के अतिचार यों गिनाते हैं कि 1. विषयों की अपेक्षा होना, 2. विषयों का बार-बार स्मरण करना, 3. विषयों में अत्यन्त लोलुपी बने रहना, 4. विषय संग्रह की तृष्णा अधिक रखना, 5. विषयों का बार-बार अनुभव-चिन्तवन करना ये पाँच अतिचार उक्त व्रत के हैं।

यह बात दूसरे ग्रन्थकार की हुई, परन्तु श्रीतत्त्वार्थसूत्र के कर्ता तथा तदनुसार लिखने वाले श्री अमृतचन्द्रसूरि अपने तत्त्वार्थसार में जो अतिचार लिख रहे हैं वे भोग की मुख्यता से अथवा भोजन की अपेक्षा से हैं। इसका कारण यह है कि भोजन की चीजें कम तथा मर्यादित हो जाने से उक्त व्रत में विशुद्धि अधिक प्राप्त हो सकती है। दूसरा कारण यह भी है कि उपभोग की मर्यादा प्रथम ही समाप्त-सी हो जाती है, परन्तु भोग का सम्बन्ध ग्यारहवीं प्रतिमा तक रहता है। तो फिर जो ग्यारहवीं प्रतिमावाला श्रावक हो वह उपभोग के त्याग में गड़बड़ करें तो क्या करें, इसलिए खाने की चीजों में जो गड़बड़ होना सम्भव है। श्रावक पाँचवीं प्रतिमा के समय सचित्त वस्तुओं के भक्षण का त्याग कर देता है और गरिष्ठ तथा स्वादिष्ट भोजन की तो सदा ही वह उपेक्षा करता है, इसलिए सचित्त, गरिष्ठ व स्वादिष्ट भोजन के खाने से अतिचार दोष लगना सम्भव है। देखो—

(1) सचित्त[5] वस्तु का खाना, (2) सचित्त[6] से सम्बन्ध रखने वाले भोजन का खाना, (3) सचित्त से मिला[7] हुआ भोजन करना, (4) अभिषव भोजन करना, (5) दुष्पक्व भोजन करना—ये पाँच भोगोपभोग परिमाण के अतिचार हैं।

चित्त नाम ज्ञान का है। सचित्त का अर्थ ज्ञानवान् चेतन प्राणी होता है। अर्थात् जो वस्तुएँ देखने में तो पुद्गल जड़ रूप ही दिखती हों, परन्तु जीव का सम्बन्ध उनमें अवश्य हो उन्हें सचित्त वस्तु कहते

---

1. अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्। अर्थवतामप्यवधो रागरतीनां तनूकृतये ॥82॥ रत्नक. श्रा.
2. आवश्यक चीजों में से जो घटाना है वह यमरूप भी हो सकता है और नियम रूप भी हो सकता है। यमनियम का लक्षण- 'नियमो यमश्च विहितौ द्वेधाभोगोपभोगसंहारात्। नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते' ॥87॥ रत्नक. श्रा.
3. भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पांचेन्द्रियो विषयः ॥83॥ रत्नक. श्रा.
4. विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ। भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥90॥ रत्नक. श्रा.
5. चित्तं विज्ञानम्। तेन सह वर्तत इति सचित्तः।—रा.वा. 7/35, वा. 1
6. तदुपश्लिष्टः सम्बन्धः। संबध्यते इति सम्बन्धः।—रा.वा. 7/35, वा. 2
7. तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः।—रा.वा. 7/35, वा. 3

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। पानी व यावत् वनस्पतियों के लिए यह शब्द काम में आता है। यद्यपि त्रस जीव का शरीर भी सचित्त कहलाता है, परन्तु उसके घात का त्याग प्रथम श्रेणी का श्रावक कर ही चुकता है, इसलिए उस त्रस सचित्त का अर्थ लेना यहाँ आवश्यक नहीं है। हाँ, पानी व वनस्पति का भोजन में ग्रहण सम्भव है और वह यदि सचित्त हो तो वह भी त्याज्य है, हेय है। यही अभिप्राय दिखाने के लिए सचित्त को अतिचारों में गर्भित किया है। यहाँ सचित्त का अर्थ योनिभूतता से है क्योंकि सचित्त योनि से जीवोत्पत्ति होती है अतः सचित्त त्यागी उन वस्तुओं की मर्यादा अचित्त करके प्रयोग में लाता है। क्योंकि आचार्यों ने सचित्त को अचित्त करने की विधियों का वर्णन किया है।

सचित्त से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ को खाने से अतिचार दोष लगेगा, परन्तु सचित्त से मिले हुए भोजन के करने से और केवल सचित्त भोजन करने से तो अतिचार न लगकर व्रतभंग होना चाहिए? यह शंका होना सम्भव है, परन्तु अज्ञानवश[1] या कदाचित् ऐसा होने से व्रतभंग नहीं होता। जैसे कि एक साबुत कच्चा फल है और उसे पका समझकर खा लिया हो तो व्रतभंग नहीं होगा।

अभिषव[2] का अर्थ द्रवपदार्थ और गरिष्ठ पदार्थ होता है। सौवीरादिक जो कि बहुत दिनों से रखी हुई पतली औषधि आदि पतली चीजें हों उनको द्रव शब्द से लेते हैं; रबड़ी, मावा, वीर्यवर्धक औषधि या लड्डू इत्यादि चीजों को गरिष्ठ कहते हैं। ऐसी चीजों के सेवन से अभिषवाहार नाम दोष लगता है।

ठीक न पके हुए को दुष्पक्व[3] कहते हैं। जैसे, चावल ऊपर से पक गये हों पर भीतर का कन कच्चा रहा हो तो वह दुष्पक्व कहलाएगा। इसी प्रकार एक कच्ची वनस्पति को राँधकर पकाना हो और उसे थोड़ा-सा रँधने पर ही यदि उतार लिया जाए तो उसे दुष्पक्व कहेंगे। ऐसी चीजों के खाने से सचित्तभक्षण का और प्रमाद बढ़ने का दोष लगता है। ऐसा भोजन करने से वातादि रोगों का प्रकोप भी कभी-कभी हो जाता है जिससे कि अकालमरण और धर्मविघात हो जाता है।

स्वामी समन्तभद्र ने कंदमूलादिक चीजों का त्याग भी भोगोपभोग परिमाण के अन्तर्गत[4] रखा है। क्योंकि, जो श्रावक भोगोपभोग की मर्यादा कर रहा है उसे चाहिए कि जितना जन्तुविघात कम होकर उदर निर्वाह हो सकता हो करें।

स्वामी समन्तभद्र ने मद्य, मांस व मधु का त्याग अष्ट मूल गुणों[5] में भी कराया है और भोगोपभोगपरिमाण व्रत के समय[6] भी कराया है। अष्टमूलगुण पंचमगुणस्थान के प्रारम्भ से भी पहले हो जाते हैं और भोगोपभोगपरिमाण का होना पंचम गुणस्थान के प्रारम्भ हो जाने पर सम्भव है, इसलिए मद्य, मांस व मधु का त्याग कब करना चाहिए?

---

1. कथं पुनरस्य सचित्तादिषु वृत्तिः? प्रमादसंमोहाभ्याम्। क्षुत्पिपासातुरत्वात्त्वरमाणस्य सचित्तादिषु अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति। —रा.वा. 7/35, वा. 4
2. द्रवो वृष्यं वाभिषवः। द्रवः सौवीरादिकः।—रा.वा. 7/35, वा. 5
3. असम्यक् पक्वो दुष्पक्वः।—रा.वा. 7/35, वा. 6
4. अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं केतकमित्येवमवहेयम्॥ 85॥ (रत्नक. श्रा.) सुक्कं तत्तं पक्कं अम्मिललवणेन मिस्सियं दव्वम्। जं जंतेण य छिण्णं तं फासुयं भणियम्॥—का. अनु.
5. मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकं। अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥ 66॥—रत्नक. श्रा.
6. त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये। मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः॥ 84॥—रत्नक. श्रा.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इसका उत्तर यों हो सकता है—मद्यादिकों का त्याग तो मूलगुणों के समय में ही हो जाना चाहिए, परन्तु रात्रि में बना हुआ भोजन दिन में खानेवाले को जो मांसभक्षण का सूक्ष्म दोष प्राप्त होता है, आसव[1] औषधियों के खाने से जो मद्यपान का सूक्ष्म दोष प्राप्त होता है, और लेपनादि औषधियों में मधु को काम में लाने से जो मधुभक्षण का सूक्ष्मदोष प्राप्त होता है वह दोष भोगोपभोगपरिमाण व्रतवाले मनुष्य को अवश्य टालना चाहिए। इस अभिप्राय को दिखाने के लिए भोगोपभोगपरिमाण में मद्यादि-त्याग का वर्णन है। फलितार्थ यह हुआ कि मूलगुणों में स्थूल त्याग होता है और भोगोपभोग-परिमाण में सातिचार सूक्ष्म का भी त्याग हो जाता है।

राजवार्तिक[2] में भी मद्यमांसादि का त्याग भोगोपभोगपरिमाण के अन्तर्गत बताया है।

पेट में जाने पर जो भोजन शीघ्र न पच सकता हो उसे कुछ लोग दुष्पक्व कहते हैं, परन्तु यह अर्थ दुष्पक्व शब्द का नहीं है, किन्तु अभिषवनाम का जो अतिचार लिखा है उसका[3] यह अर्थ होता है। यदि दुष्पक्व शब्द का ऊपर वाला अर्थ मानना इष्ट होता तो शब्द दुष्पक्व नहीं बन सकता था, किन्तु दुष्पच[4] शब्द हो जाता। दुष्पच शब्द का ही वैसा अर्थ होता है।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार—

काल-व्यतिक्रमोऽन्यस्य व्यपदेशोऽथ मत्सरः।
सचित्ते स्थापनं तेन पिधानं चेति पञ्च ते॥ 97॥

अर्थ—अतिथि का अर्थ साधु या तपस्वी होता है। साधुओं को भोजन देना सो अतिथिसंविभाग कहलाता है। यह भी गृहस्थियों का सात शीलों में अन्तिम एक शीलव्रत है। भोजन शुद्ध देना और समय पर देना, भक्तिपूर्वक देना, यही इस व्रत की शुद्धि है। शुद्ध, भक्तिपूर्वक तथा यथासमय न देना यह इस व्रत की मलिनता है। इस मलिनता को पाँच तरह का गिनाया है—1. कालव्यतिक्रम[5], 2. अन्यव्यपदेश[6], 3. मत्सरता, 4. सचित्तनिक्षेप, 5. सचित्तपिधान।

(1) साधुओं का नौ-दश-ग्यारह बजे तक दिन में आहार के लिए भ्रमण होता है तब भोजन के

---

1. 'द्रवः सौवीरादिकोऽभिषवः' अर्थात् अभिषव नाम अतिचार का अर्थ राजवार्तिक पृ. 425 में सौवीरादि द्रव वस्तुओं को अभिषव बताया है। सौवीरादिक आसव के भेद हैं और आसव का अर्थ मद्य है, परन्तु सौवीरादिक वे आसव होते हैं कि जिनको औषधियों में गिना जाता है। उनके सेवन को मूल ग्रन्थकार अतिचार कहते हैं, और समन्तभद्र स्वामी भोगोपभोगपरिमाण में ही इनका संग्रह कराकर पाँच अतिचार दूसरे ही गिनाते हैं—यह बात कही जा चुकी है। यह बात भोगोपभोग परिमाण सम्बन्धी मद्यत्याग की हुई। मद्य के समान नवनीत, नीम का फूल, केवडा की वाल इत्यादि चीजें भी त्रसघातादि दोष छोड़ने के लिए छोड़नी चाहिए। समन्तभद्र स्वामी का यह उपदेश है।
2. भोगसंख्यानं पंचविधं त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्।—रा.वा. 7/21, वा. 27
3. द्रवो वृष्यं वाऽभिषवः। रा. वा. 7/35, वा. 5
4. ननु दुष्पच इति प्राप्नोतीति तन्न, कि कारणम्? कृच्छ्रार्थविवक्षाभावात्॥—रा.वा. 7/35, वा. 6
5. अनगाराणामयोग्यकाले भोजनं कालातिक्रमः।—रा.वा. 7/36, वा. 5
6. अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः। अन्यत्र दातारः सन्ति दीयमानोप्ययमन्यस्येति वा अर्पणं परव्यपदेशः।—रा.वा. 7/36, वा. 3

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए उन्हें आमन्त्रित कर दूसरे कामों में लग जाना और बहुत समय बिताकर भोजन देना यह कालातिक्रम दोष है। कालव्यतिक्रम का भी यही अर्थ है। (2) दूसरे कामों की व्यग्रता रहने से साधुओं को भोजन देने में स्वयं न लगना, किन्तु किसी दूसरे के हाथ से दिला देना या देने को कह देना सो परव्यपदेश दोष है। (3) कोई दूसरा गृहस्थ साधुओं को भोजन दे या देता हो तो उसके साथ ईर्ष्या करना अथवा अनादर के साथ भोजन देना सो मत्सर दोष कहलाता है। (4) सचित्तनिक्षेप या सचित्तपिधान उस दोष का नाम है जो किसी सचित्त चीज पर भोजन की सामग्री रख दी जाए। साधुओं के सचित्त वस्तुओं के खाने का तथा सब प्रकार के उपभोग का सम्पूर्णतया त्याग होता है क्योंकि, साधु सर्वथा हिंसात्यागी होते हैं, और सचित्त वस्तुओं में एकेन्द्रियादि-जीवों का सम्बन्ध रहता है जिसका कि उपभोग करने से विध्वंस हो जाता है, इसलिए किसी सचित्त पत्ते पर रखा हुआ भोजन देना भी दोष है, और यह दोष दातार को लगता है, क्योंकि, देनेवाले का प्रकरण है। (5) भोजन को सचित्त[1] पत्ते से ढककर रखना और वह भोजन साधु को देना सो सचित्तपिधान नाम का दोष है।

श्री समन्तभद्र स्वामी कालातिक्रम दोष को न लिखकर अस्मरण दोष लिखते हैं।[2] अस्मरण अर्थात् भूल जाना। भावार्थ एक ही है। किसी दूसरे काम में लग जाने से योग्य काल का विलम्ब हो जाना सम्भव है। स्मरण न रहने से भी काल का विलम्ब ही होगा। अन्यव्यपदेश दोष के स्थान में अनादर दोष लिखते हैं। मत्सरता का लक्षण राजवार्तिक में अनादर किया गया है[3], परन्तु मत्सरता दोष एक जुदा ही समन्तभद्र स्वामी ने माना है, इसलिए यह समझना चाहिए कि अनादर होने पर पर-व्यपदेश कार्य है और अनादर कारण है। तत्त्वार्थसूत्र तथा इस तत्त्वार्थसार में परव्यपदेश ही गिनाया गया है, और समन्तभद्र स्वामी ने कारण की मुख्यता से अनादर को गिनाया है, अथवा किसी अपेक्षा से भी मानिए, कालातिक्रम तथा परव्यपदेश के स्थान में अनादर व अस्मरण ये दो नाम समन्तभद्र स्वामी ने दिए हैं।

सल्लेखनाव्रत के पाँच अतिचार—

पञ्चत्वजीविताशंसे तथा मित्रानुरंजनम्।
सुखानुबन्धनं चैव निदानं चेति पञ्च ते॥ 98॥

अर्थ—(1) प्राण निकलने में विलम्ब समझकर शीघ्र मरने की इच्छा करना सो मरणाशंसा नाम सल्लेखना का अतिचार है। (2) शीघ्र मरण होता हुआ जानकर, कुछ और भी अधिक जीने की आकांक्षा करना सो जीविताशंसा नाम अतिचार है। (3) मरते हुए भी अपने मित्रों के साथ का अनुराग न छूटना सो मित्रानुराग नाम अतिचार है। बाल्यावस्था में जो मित्रों के साथ क्रीड़ा की थी, धूल में लोटते थे वह सब याद आने से मित्रानुराग उत्पन्न होता है। (4) खाने के, पीने के, सोने के, क्रीडा करने के निमित्त

1. सचित्त अर्थात् सजीव हरे पत्ते, फूल इत्यादि, क्योंकि पत्तों के आश्रय सूक्ष्म त्रस जीव चिपके रहते हैं।
2. हरितपिधाननिधाने ह्यनादराऽस्मरणमत्सरत्वानि। वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमा पंच कथ्यन्ते॥121॥ रत्नक. श्रा.
3. प्रयच्छतोप्यादराभावो मात्सर्यम्।—रा.वा., 7/36, वा. 4

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

से जो सुख का अनुभव गृहस्थाश्रम में किया था, उसका बार-बार चिन्तवन करना और उस सुख को चाहना सो सुखानुबन्ध नाम अतिचार है। (5) निदान नाम पाँचवाँ अतिचार है। विषयसुखों की अभिलाषा उत्पन्न होने पर जो विषयभोगों में मन का आसक्त हो जाना सो निदान है।

सल्लेखना के विषय में लिख चुके हैं कि यह महाव्रती, अव्रती, अणुव्रती सभी के हो सकती है जो पहले से महाव्रती या अणुव्रती हैं उनको सल्लेखना में निदानादि अतिचार प्रायः सम्भव ही नहीं होता है, क्योंकि निदान यह एक शल्य है और शल्य सहित जीव व्रती नहीं हो सकता है, इसलिए जो निदान शल्य उत्पन्न होगा वह व्रतों को ही मलिन कर देगा। शल्य का त्याग व्रतमात्र के लिए उपयोगी है, इसलिए यदि इसे अतिचार कहना था तो सभी व्रतों का अतिचार बताते, परन्तु ऐसा लिखा नहीं है, इसलिए निदान को एक सल्लेखना का अतिचार बताना यह मतलब जताता है कि सल्लेखना के समय तो अवश्य ही निदान का त्याग कर देना चाहिए, नहीं तो जीवनभर का प्रयत्न निष्फल हो जाएगा।

इसके सिवाय जो अव्रती है वह यदि मरण समय में सल्लेखना धारण करे तो उस की सल्लेखना में अहिंसादि पूर्वकथित सभी व्रत संगृहीत हो जाते हैं। क्योंकि, सभी व्रतों के अभेदरूप से सल्लेखना व्रत का स्वरूप प्रकट होता है, इसलिए जब कि व्रतों की शुद्धि निदान छोड़ने से होती है तो सल्लेखना की शुद्धि भी निदान के छोड़ने पर ही होगी। यह बतलाने के लिए भी निदान को सल्लेखना का अतिचार कहा है। शेष रहे जो चार अतिचार वे भी निदान के तुल्य विषयासक्ति के द्योतक हैं, इसलिए दोष हैं।

सम्यक्त्व, पाँच अणुव्रत, सात शील और सल्लेखना के पाँच-पाँच अतिचार लिख चुके। अधिक जो अतिचार हो सकते हों उनका विचार ऊपर से करना चाहिए।

विषयभोगों की इच्छापूर्वक त्याग मर्यादा का नाम व्रत है। यह व्रत लक्षण पाँचों अणुव्रतों में जिस प्रकार सम्भव है उसी प्रकार शील तथा सल्लेखना में सम्भव है, इसलिए शील तथा सल्लेखना भी व्रत से कोई जुदा चीज नहीं हैं। तो भी शील तथा सल्लेखना को जुदा गिनाना किसी प्रयोजन के लिए है, सल्लेखना का प्रयोजन सल्लेखना वर्णन के समय बता चुके हैं। शीलों का प्रयोजन व्रतरक्षा है। व्रतों की रक्षा के उपाय अथवा प्रकार दिग्विरति आदि सात शील हैं, इसलिए 'व्रतों की रक्षा' या 'रक्षा के उपाय' यह शीलों का लक्षण[1] है।

सातवाँ शील अतिथिसंविभाग है।[2] पहले लिख चुके हैं कि दान को ही अतिथिसंविभाग कहते हैं, इसलिए दान का स्वरूप लिखते हैं—

दान का स्वरूप एवं विशेषता—

परात्मनोरनुग्राही धर्मवृद्धिकरत्वतः।
स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दानं नाम गृहिव्रतम्॥ 99॥
विधिद्रव्य विशेषाभ्यां दातृपात्र-विशेषतः।
ज्ञेयो दानविशेषस्तु पुण्यास्रव-विशेषकृत्॥ 100॥

---

1. अभिसंधिपूर्वको नियमो व्रतमिति कृत्वा दिग्विरत्यादीन्यपि व्रतानि भवन्ति। किन्तु 'व्रतपरिरक्षणं शील' इत्यस्य विशेषस्य द्योतनार्थं शीलग्रहणम्।—रा.वा., 7/24, वा. 1

2. उक्तं शीलव्रतविधानेऽतिथिसंविभाग इति तस्य दानस्य लक्षणमनिज्ञातं तदुच्यतामित्यत आह।—रा.वा. 7/38 उत्थानिका

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—अपना और दूसरों का जिससे हित हो सके, जिससे धर्म की वृद्धि हो सके, ऐसा दान गृहस्थियों का एक मुख्यव्रत है। उसी को अतिथिसंविभाग भी कहते हैं। इसका लक्षण यों है कि जो अपने धन[1] का परित्याग स्वपर-हित के लिए हो, धर्मवृद्धि का कारण हो वह दान है। विधि, द्रव्य और दाता, पात्र की विशेषता से दान का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है और इसी कारण उस दान से जो पुण्य का संचय होता है वह भी नाना तरह का होता है।

श्री जिनसेनस्वामी दान को चार[2] प्रकार का बताते हैं; (1) दयादान[3], (2) पात्रदान[4], (3)समदान[5], (4) अन्वयदान। अनुग्रह योग्य दीन प्राणियों पर कृपाकर जो उनका भय दूर करना सो दयादान है, करुणादान भी इसे कहते हैं। तपोधन साधुओं को जो भक्तिपूर्वक भोजन तथा कमण्डलु, पुस्तक आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं। गृहस्थ श्रावक को जो धनधान्यादि देना, भोजन कराना सो सब समदान कहलाता है। गृहस्थों के आपस में व्रत-मन्त्र समान होते हैं, इसलिए वे परस्पर समान कहलाते हैं। समानों को जो दान हो वही समदान कहलाता है। भावार्थ—विवाहादि के समय भोजन करना, कन्यादान करना—ऐसे दान समानदान कहलाते हैं। ये दान परस्पर उन्हीं में हो सकते हैं कि जिनके रीतिरिवाज, व्रतसंस्कार तथा मन्त्रविधान समान हों। जिन जातियों में परस्पर के रीतिरिवाज तथा व्रत-मन्त्र समान नहीं माने जाते उनमें पंक्ति-भोजन व कन्यादान से समानदान नहीं हो सकते हैं। हाँ, किसी सम्यग्दृष्टि व्रती या अव्रती गृहस्थ को धर्मबुद्धि से जो भोजन कराता है वह पात्रदान का एक भेद है, न कि समानदान। पात्रों के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन भेद ग्रन्थों में किये हैं। उनको जो केवल धर्म की वृद्धि के लिए भक्तिपूर्वक दान दिया जाता है वह पात्रदान है और जो लोकप्रवृत्ति के अनुसार परस्पर में देना है वह समदान या समानदान है। यह समदान व पात्रदान में परस्पर भेद है।

अपने[6] वंश को स्थिर रखने के लिए जो धन तथा धर्म के साथ अपने समस्त कुटुम्ब को पुत्र के अधीन करना सो अन्वयदान है। अन्यवदान को सकलदान भी कहते हैं। इस प्रकार जो दान के चार भेद जिनसेन स्वामी ने लिखे है उनके अन्तर्गत सभी दान आ जाते हैं।

श्री समन्तभद्र स्वामी जो दान के चार प्रकार बताते हैं वे पात्रदान के विषयों की अपेक्षा हैं। (1) आहार[7], (2) औषध, (3) उपकरण, (4) आवास—ये चार देने योग्य विषय हैं अर्थात्, भक्तिपूर्वक जो पात्रों को दान दिया जाता है वह इन्हीं चार चीजों का दिया जाता है। जो कन्यादान आदि हैं वे लोकरीति के अनुसार मानकर दिये जाते हैं अतएव वे समानदान हैं। जो उन कन्यादि दानों को पात्र दान समझते हैं वह समझ मिथ्या है और पात्रदान की अपेक्षा से वे कुदान हैं, इसीलिए पात्रदानों में इनका निषेध है।

---

1. 'स्वशब्दो धनपर्यायवचनः' अर्थात् धन शब्द के अनेक अर्थ होते हैं परन्तु 'धन' अर्थ यहाँ पर लेना इष्ट है, ऐसा राजवार्तिककार लिखते हैं कि अभयदानादि योगियों में भी सम्भव हैं परन्तु यहाँ गृहस्थ का प्रकरण है, इसलिए धन का दान होना लिखा है। वसति आदिक धन के बिना नहीं बनती, इसलिए धन-त्याग का अर्थ वसतिदानादि भी होगा।
2. चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दयापात्रसमन्वये॥ महापु. पर्व 38, श्लो. 35
3. सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा। त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः॥36॥
4. महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरस्सरम्। प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते॥37॥
5. समानायात्मनान्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः। निरस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम्॥38॥ समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते। समानप्रतिपत्यैव प्रवृत्या श्रद्धयान्विता॥39॥ महापु. पर्व॥38॥
6. आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थे सूनवे यद्शेषतः। समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनं॥74॥ सैषा सकलदत्तिः स्यात्। महापु. पर्व॥38॥
7. आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन। वैयावृत्ति ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः॥117॥ रत्नक. श्रा.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आहार व औषध का अर्थ प्रसिद्ध है। पीछी, कमण्डलु, पुस्तक, पेन, कागज, चश्मा आदि उपकरण दान है। शास्त्रदान में कौण्डेश ग्वाला प्रसिद्ध है, पथापरे (पलासना-शास्त्र बाँधने का वस्त्र, चौकी पर बिछाने का वस्त्र) इत्यादि धर्म साधन की जो सामग्री हो उसका नाम यहाँ उपकरण है। साधु व त्यागी श्रावकों के लिए धर्मशाला बनवाना आदि आवास नाम का दान है। आवास दान में शूकर तिर्यंच ने प्रसिद्धि पाई थी।

समन्तभद्र[1] स्वामी जिनेन्द्रदेव की पूजा को भी दान में ही गर्भित करते हैं। देवाधिदेव के चरणों में जो पूजा की जाती है उससे सर्व दु:खों का नाश और मनोवांछित इष्ट फल की प्राप्ति होती है। एक पुष्प मात्र से पूजा की तैयारी करने वाले मेंढक ने राजगृह में यह जगत् भर को दिखा दिया कि जिन पूजा से स्वर्गादि सम्पत्ति तक के फल मिल सकते हैं।

कहीं-कहीं पर आहार, औषध, अभय और ज्ञानदान ये भी दान के चार भेद कहे हैं। केवलियों को दानान्तरायादि का सर्वथा नाश हो जाने से क्षायिक दानादि प्रकट होते हैं, उसका मुख्य कार्य यही है कि संसार के शरणागत जीवों को अभय प्रदान करें, इसलिए अभयदान की पूर्णता केवलज्ञानियों के द्वारा ही हो सकती है। इसी प्रकार ज्ञानदान भी दिव्यवाणी द्वारा तत्त्वोपदेश देने से भव्यों को प्राप्त होता है, इसलिए उसकी योग्यता भगवान को प्राप्त होती है। शेष जो दो दान रहे, वे गृहस्थ के ही मुख्य कर्म हैं।

दान देने के प्रकार को विधि कहते हैं। देने योग्य वस्तु को द्रव्य कहते हैं। देने वाले का नाम दाता और लेने वाले का नाम पात्र है। साधु को देखते ही भोजन के लिए भक्तिपूर्वक नम्रता से आह्वानन करना सो प्रतिग्रह कहलाता है। आने पर उच्चासन देना, पाद प्रक्षालन करना, पूजा करना, प्रणाम करना, मनोयोग-वचनयोग व काययोग को शुद्ध रखना तथा आहार एवं आहार विधि को शुद्ध रखना ये नौ विधानों को विधि[2] कहते हैं। जिस भोजन में तप, स्वाध्याय के साधन के जितनी अनुकूलता हो उतनी ही द्रव्य की विशेषता[3] माननी चाहिए। दूसरे दातारों के साथ ईर्ष्या न होना, दान देने में क्लेश न रखना, यदि दूसरा कोई दान देना चाहे या दे रहा हो तो उसके साथ प्रेम का व्यवहार करना, पुण्य कर्म को करणीय समझना, दृष्ट फलों की चाह न रखना, निदान न करना ये गुण दाता में जैसे हीनाधिक हों वही दाता की विशेषता है।[4] सम्यग्दर्शनादि मोक्ष कारणों की जैसी हीनाधिकता दान लेनेवाले में हो वही पात्र की विशेषता है।[5] इन चार बातों के तारतम्य से दान द्वारा प्राप्त होनेवाले पुण्य फल में अन्तर पड़ता है।[6]

आस्रव का उपसंहार—

हिंसानृतचुराब्रह्मसंगसन्यासलक्षणम्।
व्रतं पुण्यास्रवोत्थानं भावेनेति प्रपंचितम्॥ 101॥
हिंसानृतचुराब्रह्मसंगासन्यासलक्षणम्।
चिन्त्यं पापास्रवोत्थानं भावेन स्वयमव्रम्॥ 102॥

---

1. देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदु:खनिर्हरणं। कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥119॥ अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्। भेक: प्रमोदमत्त: कुसुमेनैकेन राजगृहे॥120॥—रत्नक. श्रा.। 'दाणं पूजामुक्खो सावयधम्मो' इत्यादि वचनों से भी देवपूजा व वैयावृत्य-यह गृहस्थ का मुख्य धर्म सिद्ध होता है।
2. पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं पणवणं च। मणवचणकायसुद्धिमेसणसुद्धि च विधिमाहु:।
3. तप:स्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेष:।—रा.वा., 7/39, वा. 3
4. प्रतिग्रहीतरि अनसूया, त्यागेऽविषादो, दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोग:, कुशलाभिसंधिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्वमनिदानत्व मित्येवमादिर्दातृविशेषोऽवसेय:। 5. मोक्षकारणगुणसंयोग: पात्रविशेष:। 6. क्षित्यादिविशेषाद्बीजफलविशेषवत्।—रा.वा., 7/39, वा. 4-5

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह के त्याग को व्रत कहते हैं। ये व्रत पुण्यास्रव के कारण रूप भाव समझने चाहिए, इसलिए इन व्रतों को भावास्रव कहते हैं। जो कर्मास्रव के कारण रूप परिणाम होते हैं, उन्हीं को भावास्रव कहते हैं। हिंसादि पापों के त्यागने से जो व्रत रूप परिणाम होते हैं वे पुण्यास्रव के कारण हैं, इसलिए उन्हें भावपुण्यास्रव कहना चाहिए।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह के साथ जो आसक्ति है वह पापास्रव का कारण है, इसलिए उसे छोड़ना चाहिए। परिणामों में जो विषयों से, हिंसादि पापों से उदासी प्राप्त नहीं होती उसे अव्रत कहते हैं और उसकी प्राप्ति स्वयमेव होती है। आत्मज्ञान न होने से विषयों से जो मोह हो रहा है वह अनादि का है। यह मोह या अव्रत की अवस्था एक प्रकार का परिणाम या भाव है, इसलिए उसे पापकर्म का भावास्रव कहते हैं अथवा हिंसादि पापों के भावों को छोड़ना सो व्रत है, वह पुण्यास्रव का कारण है और ग्राह्य है, किन्तु जो हिंसादि पापों में भावपूर्वक प्रवृत्ति है वह हेय है, क्योंकि वह पापास्रव का कारण है।

पुण्य-पाप का परस्पर भेद—

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्य-पापयोः।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे॥ 103॥

अर्थ—पुण्य व पाप के निमित्त भी जुदे-जुदे माने गये हैं और कार्य भी जुदे-जुदे होते हैं, इसलिए पुण्य व पाप को परस्पर जुदा मानना चाहिए। देखो! पुण्योत्पत्ति के कारण शुभ परिणाम माने गये और अशुभ परिणाम पाप-संग्रह होने के कारण माने गये हैं अर्थात् शुभ परिणामों से पुण्य और अशुभ परिणामों से पाप संचित होता है। ये पाप व पुण्य के कारण भिन्न-भिन्न हुए। पुण्य का फल सुखप्राप्ति और पाप का दुःख है। यह पुण्य-पाप के कार्यों में भेद रहा, इसलिए पुण्य व पाप को जुदा-जुदा माना जाता है, परन्तु यह सब व्यवहार की बात है। निश्चय में तो—

संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः।
न नाम निश्चये नास्ति विशेषः पुण्य-पापयोः॥ 104॥

अर्थ—आत्मा का बन्धन दोनों से ही होता है, इसलिए निश्चय या परमार्थ से देखा जाए तो पुण्य और पाप दोनों ही समान हैं—कुछ भी विशेषता या भेद नहीं है।

संसार के कारण कर्म हैं; क्योंकि, कर्म के सम्बन्ध से आत्मा परतन्त्र होता है और उस कर्म का उदय प्राप्त होने पर पर औदारिक आदि शरीर तथा इन्द्रियों के बन्धन में पड़ता है तथा ज्ञानादि गुणों का घात करता है। इसी का नाम संसार है। इसका निदान कारण कर्म ही है। वह कर्म चाहे पुण्य हो और चाहे पाप, परन्तु बन्ध के कारण सभी हैं, इसलिए निश्चयनय से पुण्य व पाप कर्म में कोई भेद नहीं है।

व्यवहार के अवलम्बी उन जीवों को कहते हैं कि जो पाप कर्म से, पुण्यकर्म को कुछ अच्छा समझते हैं, क्योंकि पाप कर्म का उदय रहने पर जीव अशान्ति या दुःख में फँसे रहते हैं जिससे कि धर्म को धारण करने की तरफ सन्मुख होना कठिन पड़ जाता है। नरक-निगोदादि की गतियाँ तीव्र पाप कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं, जहाँ कि धर्म का लाभ असम्भव और अति कठिन हो जाता है। किन्तु पुण्य के उदय में इस जीव को अरिहंतादि परमेष्ठियों का समागम मिलने लगता है। ऐसे अवसर पर उनके प्रति भक्ति-पूजा तथा उनके स्वरूप को समझने का मार्ग खुलता है, तब आत्मोन्मुख होने की प्रेरणा मिलती

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है, जिनवचन श्रवण-चिन्तन-मनन द्वाराअपने निज स्वरूप को जानने-समझने, अनुभवने तथा स्थिरता प्राप्त करने का पुरुषार्थ किया जा सकता है। यह समस्त योग्यता सैनी पंचेन्द्रिय जीव को प्राप्त है। क्षयोपशमादिक जो सम्यक्त्व प्राप्ति की पाँच लब्धियाँ हैं उनका भी यही अर्थ है कि पापकर्मों का यथायोग्य क्षयोपशम हो और पुण्यकर्मों का उदय हो, इसीलिए जो आत्मसुख के वांछक होते हैं वे पापकर्मों को तो चाहते ही नहीं और पुण्यकर्म को करते हुए भी उसे बंध का कारण जानते हैं; आसक्त नहीं होते हैं। यह तो हुई ज्ञानियों की बात, परन्तु अज्ञानी जीव तो पाप से पुण्य को सदा ही अच्छा समझते हैं, क्योंकि, पाप कर्म इष्ट विषयों की प्राप्ति के बाधक होते हैं और पुण्य कर्म साधक होते हैं। संसारी जीव इष्ट विषयों के ही वांछक होते हैं, इसलिए अपने अभीष्ट के साधक पुण्य कर्म को चाहते हैं।

अव्रतसम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में अन्तर इतना ही रहता है कि मिथ्यादृष्टि पुण्य से संसार-सुख की अतितीव्र आसक्ति रखता है और सम्यग्दृष्टि विवशता वश प्रवृत्त होता है। जब तक चारित्रावरण का उदय रहता है तब तक विषयों में और विषयों के कारणों में प्रवृत्ति अवश्य होती है। ग्रन्थकार का भी यह कहना है कि 'व्यवहारावलम्बी जीव पुण्य और पाप में भेद मानते हैं और निश्चयावलम्बी जीव दोनों को एक-सा समझते हैं।' सम्यग्दृष्टि भी व्यवहारावलम्बी तो होते ही हैं और अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोह का उदय भी उनके रहता ही है इसलिए वे पाप से बचकर पुण्य कार्यों में अधिक प्रवृत्त होते हैं किन्तु आसक्त नहीं होते हैं।

असली निश्चयावलम्बी वे कहे जाते हैं जो कि शुक्लध्यान की श्रेणी पर आरूढ़ हो चुके हों या श्रेणी के सन्मुख हो चुके हों। अव्रती सम्यग्दृष्टि तो उस ध्यान की श्रेणी से बहुत ही नीचे रहता है, इसलिए उसे व्यवहारावलम्बी ही कहना चाहिए।

आस्रव तत्त्व को जानने का फल—

इतीहास्रवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः सहि निर्वाणभागभवेत्॥ 105॥

अर्थ—इस तरह शेष छह तत्त्वों के साथ जो आस्रव तत्त्व की श्रद्धा करता है, उसे जानता है तथा उपेक्षा करता है, वह निश्चय से निर्वाण को प्राप्त होता है।

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य रचित 'तत्त्वार्थसार' में आस्रव तत्त्व का कथन करनेवाला 'धर्मश्रुतज्ञान' हिन्दी टीका में चतुर्थ अधिकार पूर्ण हुआ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँचवाँ अधिकार

बन्धतत्त्व प्रकरण

मंगलाचरण और विषय-प्रतिज्ञा

अनन्त-केवलज्योतिः प्रकाशित-जगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना बन्धतत्त्वं प्ररूप्यते॥ 1॥

अर्थ—केवलज्ञानरूप अपरिमित प्रकाश द्वारा तीनों जगत को प्रकाशित करनेवाले जिनेन्द्र भगवान को मस्तक नवाकर प्रणाम करते हैं और अब बन्धतत्त्व का वर्णन करेंगे, अर्थात् अब यह दिखाएँगे कि आत्मा का कर्म के साथ बन्धन किस प्रकार होता है और वह कर्मबन्धन क्या चीज है?

जीव का वास्तविक स्वरूप चैतन्य व अमूर्त है और जिन कर्मों से बन्ध होना मानते हैं वे कर्म जड़ व मूर्तिक हैं। मूर्तिक कहने से यह मतलब समझना चाहिए कि दिखने या अन्य बाह्य इन्द्रियों द्वारा छूने चखने, सूंघने, देखने व सुनने योग्य हो, उसे जैनमत में पुद्गल कहा है। उसका वर्णन विस्तार से अजीव तत्त्व में कर चुके हैं। उसकी साधारण पहचान यही है कि जो बाहर से हमारे देखने, जानने में आता है वही सब पुद्गल तत्त्व है। उसके कुछ सूक्ष्म परमाणु पिंड ऐसे भी स्वयं बनते रहते हैं कि जिनका आत्मा के साथ राग-द्वेष मिलने पर बन्धन हो जाया करता है। बस! उसी पुद्गलपिंड को कार्माण वर्गणा कहते हैं। ऐसी जो कार्माण वर्गणा होती हैं उनमें पुद्गल के परमाणु गिने जाएँ तो अनन्तों ही होते हैं, तो भी वह इतना सूक्ष्मपिंड होता है कि कभी हम लोगों के देखने में नहीं आ सकता, इसीलिए उसे सूक्ष्म कहते हैं। कुछ तरतमता लिए हुए वैसे ही सूक्ष्म और भी बहुत से प्रकार के पुद्गलपिंड होते हैं, परन्तु सभी वे कर्मयोग्य नहीं होते हैं। परमाणुओं की संख्या और उन-उन परमाणुओं की परस्पर की बन्ध-विचित्रता किसी एक प्रकार की नियत है। वही परमाणु संख्या और वही बन्ध-विचित्रता जिनमें हो जाती है वे ही पुद्गलपिंड कर्म होने के योग्य हो सकते हैं। वैसे कर्मयोग्य पिंड जगत में इतर पुद्गलों की तरह तथा वायु आदि की तरह सर्वत्र भरे रहते हैं और नये उपजते रहते हैं, पुराने नष्ट भी होते हैं। उन सभी पिंडों का जीवों के साथ बन्धन होता ही हो यह नियम नहीं है। जिन पिंडों के साथ जीव के रागद्वेष का सम्बन्ध प्राप्त होता है वे पिंड उस जीव में बँध जाते हैं। शेष यों ही बने रहते हैं और टूटते-बिखरते भी रहते हैं। इस प्रकार कर्मपिंडों से जीव सदा बँधता रहता है और जिस कर्म के बन्धन की अवस्था शिथिल होती जाती है वे कर्म आत्मा से सम्बन्ध छोड़कर जुदे भी होते रहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म की अनादिता—कर्म बन्धन की यह दशा जीव के साथ कब से प्राप्त हुई? इसका उत्तर यह है कि जीवों की यह दशा अनादि काल से बनी हुई है। जो जीव तपोबल से मुक्त हो जाता है अर्थात् कर्मबन्धन से छूटकर शुद्ध हो जाता है उसके साथ फिर कर्मबन्धन प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि शुद्ध आत्मा का स्वरूप आकाश की तरह अमूर्त है। अमूर्त आत्मा को मूर्त पुद्गल पिंड नहीं बाँध सकता है। जिस प्रकार मुक्त हुए आत्मा का फिर कर्मबन्धन होना युक्ति से बाधित है उसी प्रकार संसारी या जो बद्ध जीव हैं वे भी यदि कभी प्रथम अवस्था में शुद्ध होते तो इनका बन्धन होना असम्भव हो जाता, परन्तु बन्धन की दशा शरीर की परतन्त्रता देखने से स्वीकार करनी पड़ती है। शरीर की परतन्त्रता में जीव तब तक नहीं रह सकता था जब तक कि किसी बन्धन से पराधीन न होता। बस, वह बन्धन अनादिकाल का सिद्ध होता है अर्थात्, जीव की दशा अनादिकाल से बन्धनयुक्त ही चली आ रही है। पूर्व-पूर्व बन्धन के कारण उस बन्धन के सहारे से दूसरे नये-नये बन्धन भी होते चले जाते हैं। जीव वास्तव में अमूर्त होकर भी उस मूर्त कर्म के बन्धन से मूर्त शरीरान्तर्गत माना गया है। इसीलिए उसका बन्धन उत्तरोत्तर काल में होता रहता है। ऐसा मानने से युक्ति की कोई बाधा नहीं आती है।

कुछ लोग कर्मों को जीव का गुण-स्वभाव मानते हैं, परन्तु गुण हो तो अपने आश्रयभूत जीवद्रव्यों में से नष्ट कैसे हो सकेगा? मुक्ति के समय कर्मों का नाश हो जाना तो सभी मानते हैं। गुण का नाश द्रव्यों में से होने लगा तो गुणगुणी का एक अजहत्-शाश्वत सम्बन्ध जो न्यायसंगत माना जाता है वह न रह सकेगा और गुणों का क्रम से नाश हुआ तो अन्त में द्रव्य का भी नाश हो जाना मानना पड़ेगा, क्योंकि न्याय से यह बात सिद्ध है कि गुणों के समुदाय के सिवाय किसी भी द्रव्य में दूसरी कोई चीज नहीं है।

इसलिए कर्म को जीव का गुण मानना ठीक नहीं है।

बन्ध के हेतु क्या हैं?—

बन्धस्य हेतवः पञ्च स्युर्मिथ्यात्वमसंयमः।
प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदिताः॥ 2॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने मिथ्यादर्शन, असंयम, प्रमाद, कषाय व योग ये पाँच बन्ध के कारण कहे हैं।

पहले भी आस्रव के प्रकरण में योग को बन्ध का कारण बताया है और साथ ही कषाय को भी कारण कहा है। इस प्रकार बन्ध के हेतु, योग व कषाय ये दो हैं। योगों को कर्म के प्रदेश संग्रह कराने में कारण माना जाता है और कषायों को कर्मत्वशक्ति प्रगट कराने में कारण माना जाता है। ग्रन्थान्तरों में भी बन्ध के कारण ये दो ही बताये[1] गये हैं तो फिर ऊपर जो पाँच कारण लिखे हैं उनका क्या सम्बन्ध है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—कारण, योग व कषाय ये दो ही हैं और शेष जो कारण हैं वे कषाय

1. 'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कषायदो होंति।'—द्र.सं., गा. 33

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के ही भेद हैं। असंयम, प्रमाद व कषाय ये तीन तो कषाय के भेद मानना स्पष्ट ही है, क्योंकि, साम्परायिक आस्रव में जो पच्चीस क्रियाओं का वर्णन है उसमें मिथ्यात्ववर्द्धिनी क्रिया एवं मिथ्यादर्शन क्रिया का समावेश किया गया है; एवं मिथ्यात्व के विपरीताभिनिवेश एवं अनन्तानुबन्धी के विपरीताभिनिवेश अलग-अलग हैं, अतः जो मिथ्यात्व को आस्रव और बन्ध के क्षेत्र में अकिंचित्कर मानते हैं उनकी बहुत बड़ी भूल है। कषाय चारित्र मोहनीय का नाम या कार्य है और मिथ्यात्व दर्शनमोह का कार्य है, परन्तु मिथ्यादर्शन व कषाय के कारण का सामान्य नाम मोहनीय है और मोह मात्र को भी सामान्य दृष्टि से मिथ्यात्व कहते हैं, इसीलिए दोनों को मोहकर्म कहा जाता है। मोह का कार्य जीव के ज्ञान को विपरीत करना है।[1] वह विपरीतता मिथ्यात्व से भी होती है और कषायों से भी होती है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मिथ्यात्व के ठीक साथ रहने वाला जो अनन्तानुबन्धी कषाय है वह सहचर सम्बन्ध से मिथ्यात्व कहा जा सकता है।

असंयम व प्रमाद ये दोनों कषाय के ही कार्य हैं। जब ऐसा तीव्रकषाय होता है जो कि इन्द्रियों से विमुख नहीं होने देता तब संयम का घात होता है और उस कषाय की प्रवृत्ति को असंयम या अविरति कहते हैं। असंयमजनक कषाय दो हैं देशसंयम घातक व सर्वसंयम घातक। सर्वथा जो संयम को घातता है उसका नाम अप्रत्याख्यानावरण है। जो सूक्ष्मसंयम को घातता है और स्थूलसंयम को होने देता है उसका नाम प्रत्याख्यानावरण है। पहले भेद को पूर्ण अविरति कहते हैं और दूसरे को देशविरति कहते हैं; यह अविरति और इसके कारण कर्म दोनों कषाय ही हैं, इसलिए अविरति का संग्रह कषाय में होता है। अविरति या असंयम न रहने पर भी संज्वलन कषाय के उदय से जो मल उत्पन्न होता है या व्यक्त सूक्ष्म कषाय उत्पन्न होता है उसे प्रमाद कहते हैं। इसका कार्य यह है कि शिष्यों में प्रेम, धर्म व धर्म के आयतनों में प्रेम उत्पन्न हो। यह दशा छठे गुणस्थानवर्ती साधु की होती है। यह प्रमाद भी कषाय का ही एक सूक्ष्म उत्तरभेद है।

मिथ्यात्व से लेकर प्रमाद तक के कषाय उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं, परन्तु सभी कषाय हैं।[2] इनके आगे जो चौथा कारण कहा है वह मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद नाम के तीनों कषायों से अतिसूक्ष्म है। वह कषाय सातवें गुणस्थान से दसवें तक रहता है। वह भी संज्वलन कषाय का ही कार्य है, परन्तु प्रमाद से अधिक सूक्ष्म है। प्रमाद तक के कषाय तो व्यक्त रह सकते हैं और यह अव्यक्त-सा ही रहता है। इसलिए जहाँ प्रमाद घटकर केवल कषाय रहता है वहाँ से गुणस्थानों की अप्रमत्त संज्ञा रखी जाती है। इस प्रकार विचार करने से मिथ्यात्वादि चारों, मोह के ही भेद सिद्ध हो जाते हैं, इसलिए बन्ध के कारण पाँच कहने में और दो कहने में कोई अर्थभेद नहीं है। जहाँ कषायों की तरतमता दिखाना इष्ट है, वहाँ पाँच बन्ध कारण लिखे गये हैं, और जहाँ सामान्य बन्ध का वर्णन है वहाँ दो कारण ही लिखे गये हैं।

---

1. 'मोहनीयस्य का प्रकृति? मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता।'—द्र.सं., गा. 33
2. आत्मा को परतन्त्र बनाकर जो कारण कषते या घात करते हैं उन कारणों का नाम कषाय है। ऐसा अर्थ मानने से मिथ्यात्व सबसे प्रबल कषाय सिद्ध होता है; क्योंकि, मिथ्यात्व के तुल्य दूसरा कोई भी कर्म जीव को विपर्यासित नहीं कर सकता। बन्धन मिथ्यात्वकर्म का सबसे तीव्र है। यदि मिथ्यात्व का तीव्र बन्ध हो तो सत्तर कोटा कोटी पर्यन्त नहीं हटता है। शेष किसी भी कर्म की इतनी मर्यादा नहीं है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शंका—आस्रव के प्रकरण में जबकि योग को दिखा चुके हैं तो फिर यहाँ उसे क्यों लिखा?

उत्तर—आस्रव का अर्थ है कि कर्मपिंडों का संग्रह होना और बन्ध का अर्थ आत्मा को परतन्त्र तथा मलिन करने की योग्यता प्रकट होना, इसीलिए आस्रव के प्रकरण में केवल योग द्वारा होता है, परन्तु जबकि बन्ध का प्रकरण है तब कर्मों में आत्मा को मलिन तथा परतन्त्र करने की योग्यता तो प्रकट होती ही है, किन्तु संचय हुए बिना वह कार्य या परिणमन हो किसमें? वह कार्य कर्मपिंड का संचय हुए बिना नहीं होगा, इसलिए बन्ध के समय भी कर्मसंचय के कारण योगों के दिखाने की आवश्यकता प्राप्त हुई। भावार्थ—आस्रव के समय जो योगों को कारण लिखा है और यहाँ बन्ध के समय भी उन्हें जो कारण लिखा है, उन दोनों का अर्थ एक ही हैं। दोनों जगह लिखने पर भी योगों का कार्य भिन्न-भिन्न नहीं होता, परन्तु प्रदेशबन्ध तथा स्थित्यनुभागरूपशक्ति प्रादुर्भावरूप बन्ध की मुख्यता रखने से आस्रव व बन्ध के दो प्रकरण हो गये और उन्हीं प्रकरणों की मुख्यता से दो जगह एक कारण का नामोच्चारण करना पड़ा है। दो प्रकरण जुदे-जुदे करने का एक मुख्य हेतु यह भी है कि आस्रव व्यापक है और बन्ध व्याप्य है। इस प्रकरण में जो कषाय संयुक्त को बन्ध होता है वह दसवें गुणस्थान से आगे नहीं होता और योग के द्वारा ईर्यापथ कर्म तेरहवें गुणस्थान तक आते रहते हैं, परन्तु उनमें कषाय न रहने से स्थिति व अनुभाग उत्पन्न नहीं हो पाते हैं। वे जैसे आते हैं वैसे निकल भी जाते हैं। यदि ये दो प्रकरण बन्ध कारणों के न करते तो योग का एकाकी यह कार्य किस प्रकार ध्यान में आता? यह इस ग्रन्थकर्ता की इच्छा का तात्पर्य हुआ, परन्तु कुछ आचार्यों ने आस्रव का लक्षण ही बन्ध का कारण मात्र ऐसा किया है, इसीलिए वे आस्रव के ही भेदों में उक्त पाँचों कारणों को गिनाते हैं। वे आस्रव में केवल योग को ही गिनाते हों ऐसा नहीं है।[1]

शंका—कषाय को सामान्य एक न कहकर चार भेद कहने का प्रयोजन क्या है? और प्रथम मिथ्यात्व, अन्त में योग तथा बीच में अविरति आदि तीन कारण ऐसा क्रम रखने का प्रयोजन क्यों है?

उत्तर—कर्मों के उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं। उनमें से कुछ तीव्र पापरूप हैं, कुछ मध्यम पापरूप हैं, कुछ जघन्य पापरूप हैं और कुछ अपापरूप भी हैं। मिथ्यात्व से लेकर सयोगकेवली तक तेरह गुणस्थान हैं। उनमें से जो नीचे के गुणस्थान हैं वे अल्प विशुद्ध हैं और ऊपर-ऊपर के अधिक विशुद्ध हैं। बन्ध के कारण जो मिथ्यात्वादि पाँच हैं वे भी उत्तरोत्तर घटते जाते हैं, इसलिए उत्तरोत्तर के गुणस्थानों में बन्ध थोड़ी प्रकृतियों का होता है एवं, अधिक पाप प्रकृतियों का बन्ध रुकता भी जाता है; जबकि नीचे-नीचे प्रकृतियाँ बहुत-सी बँधती हैं एवं निकृष्ट बँधती हैं। यही कार्य-कारण सम्बन्ध दिखाने के लिए बन्ध-कारणों के पाँच भेद किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जिस जीव का मिथ्यात्व गुणस्थान हो रहा है उसको मिथ्यात्वादि पाँचों ही बन्ध के कारण रहते हैं, परन्तु दूसरे गुणस्थान से लेकर मिथ्यात्व कारण नहीं रहता, असंयमादि केवल चार कारण रह जाते हैं। मिथ्यात्व की मुख्यता से बँधने वाली सोलह कर्मप्रकृति का बन्धन होना भी रुक जाता है। भावार्थ—वे सोलह प्रकृति तीव्र पाप रूप हैं और उनका बन्ध प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान

1. मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओथविण्णेया। पण पण पणदह तिय चउ कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥ द्र.सं., गा. 30

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में ही होता है। वे प्रकृति ये हैं—(1) मिथ्यादर्शन, (2) नपुंसकवेद, (3) नरकायु, (4) नरकगति, (5) नरकगत्यानुपूर्व्य, (6) एकेन्द्रियजाति, (7) द्वीन्द्रियजाति, (8) त्रीन्द्रियजाति, (9) चतुरिन्द्रिय जाति, (10) हुंडक संस्थान, (11) असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, (12) आतप, (13) स्थावर, (14) सूक्ष्म, (15) अपर्याप्त, (16) साधारण शरीर।

दूसरे गुणस्थान से लेकर चार बन्ध कारण रहे, परन्तु उन चारों में प्रथम असंयम कारण है। उसके तीन भेद हैं—(1) अनन्तानुबन्धी कषायकृत असंयम, (2) अप्रत्याख्यानावरण कषायजनित असंयम, (3) प्रत्याख्यानावरण कषायनिमित्तक असंयम। इन असंयमों का जैसा-जैसा नाश होगा वैसा-वैसा कर्मबन्धन का भी संवर होगा। अनन्तानुबन्धी कषाय, दूसरे गुणस्थान तक उदय में रहता है, इसलिए दूसरे गुणस्थान तक अनन्तानुबन्धी-जन्य प्रकृतियों का बन्ध होगा और तीसरे से संवर होगा।

अनन्तानुबन्धी-जनित प्रकृति पच्चीस हैं—(1) निद्रानिद्रा, (2) प्रचलाप्रचला, (3) स्त्यानगृद्धि, (4) अनन्तानुबन्धी क्रोध, (5) अनन्तानुबन्धी मान, (6) अनन्तानुबन्धी माया, (7) अनन्तानुबन्धी लोभ, (8) स्त्रीवेद, (9) तिर्यगायु, (10) तिर्यग्गति, (11) तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, (12) स्वाति संस्थान, (13) कुब्जक संस्थान, (14) न्यग्रोधपरिमंडल, (15) वामन संस्थान, (16) वज्रनाराच संहनन, (17) नाराच संहनन, (18) अर्धनाराच संहनन, (19) कीलित संहनन, (20) उद्योत, (21) अप्रशस्तविहायोगति, (22) दुर्भग, (23) दुःस्वर, (24) अनादेय, (25) नीचगोत्र।

अप्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय चौथे असंयत सम्यग्दृष्टि नाम गुणस्थान पर्यन्त रहता है और इसके उदय से दश प्रकृतियों का बन्ध मुख्य होता है। वे दश प्रकृति हैं—(1) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, (2) अप्रत्याख्यानावरण मान, (3) अप्रत्याख्यानावरण माया, (4) अप्रत्याख्यानावरण लोभ, (5) मनुष्यायु, (6) मनुष्यगति, (7) मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, (8) औदारिक शरीर, (9) अंगोपांग, (10) वज्रर्षभ नाराच संहनन। ये दश प्रकृतियाँ चौथे गुणस्थान तक बँधती हैं। पाँचवें से इनका निरोध हो जाता है।[1]

प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय पाँचवें गुणस्थान तक रहता है और इसीलिए इसके निमित्त से बँधनेवाली चार प्रकृति पाँचवें गुणस्थान तक ही बँधती हैं, छठे से उनका संवरण हो जाता है। वे चार प्रकृति हैं—(1) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, (2) मान, (3) माया और (4) लोभ। इस प्रकार इस पाँचवें गुणस्थानपर्यन्त थोड़ी बहुत अविरति[2] बनी रहती है, इसलिए बन्ध के कारण चार माने जाते हैं, छट्ठे गुणस्थान में अवरिति का अभाव हो जाने से बन्ध के कारण तीन रह जाते हैं; प्रमाद, कषाय, योग।

प्रमाद के निमित्त से छह प्रकृतियों का बन्ध होता है; (1) असातावेदनीय, (2) अरति, (3) शोक, (4) अस्थिर, (5) अशुभ, (6) अयशःकीर्ति। छठे से ऊपर प्रमाद नहीं रहता, इसलिए इन छह प्रकृतियों का आना भी सातवें से रुक जाता है।

---

1. चौथे गुणस्थान तथा तीसरे गुणस्थान में बन्ध के कारण समान है तो तीसरे में किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता और आगे-पीछे के गुणस्थानों में होता है इसलिए तीसरे, चौथे गुणस्थानों की बन्धयोग्य प्रकृति संख्या एक सी नहीं रह सकती है। नरक व तिर्यंच ये दो आयु तो दूसरे गुणस्थान से बन्ध से सर्वथा रुक ही जाती हैं, परन्तु मनुष्य व देवायु बँधती हैं और तीसरे में नहीं बँधती इसलिए तीसरे की बन्ध संख्या दो कम रहती है और चौथे की अधिक।
2. 'संयतासंयतस्याविरतिर्विरतिमिश्रा, प्रमादकषाययोगाश्च' इस सर्वार्थसिद्धि वृ. 732 के वाक्य से यह अर्थ सिद्ध होता है कि अविरति के कई तरतम भेद हैं और वे क्रम से घटते हैं। पाँचवें में आधी विरति आधी अविरति तथा शेष तीन कारण रहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शंका—देवायु कर्म का आस्रव सातवें तक होता है। यदि छठे तक होता तो प्रमाद उसका कारण हो सकता था, परन्तु सातवें में प्रमाद रहता नहीं। यदि प्रमाद से आगे सातवें में रहनेवाला कषाय उसका कारण होता तो कषाय का सद्भाव दसवें गुणस्थान तक रहता है, इसलिए देवायु का आस्रव भी दसवें तक होना चाहिए था; परन्तु दसवें तक इसका बन्ध होता नहीं है, इसलिए देवायु का कारण क्या मानना चाहिए?

उत्तर—देवायु का कारण है तो प्रमाद ही, परन्तु प्रमाद का अभाव होने पर भी जो प्रमाद का संस्कार रहता है वह भी उसका[1] कारण है। संस्कार यदि रहे तो सातवें तक रह सकता है। छठे में जबकि प्रमाद का अभाव होता है तो सातवें से आगे उसका संस्कार भी नहीं रह सकता है, इसीलिए देवायु का आस्रव प्रमादजन्य होने पर भी सातवें तक होता है और सातवें से आगे नहीं होता। संस्कार भी कहीं-कहीं पर अपना काम दिखाता है। देखो, चौदहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में योगों तक का निरोध हो जाने से रत्नत्रय की पूर्णता में कुछ कमी नहीं रहती तो भी मोक्ष-प्राप्ति होने का बाधक कारण योग संस्कार बना रहने से मोक्ष-प्राप्ति में थोड़ा-सा विलम्ब हो जाता है, परन्तु निर्मूल संस्कार का टिकाव अधिक देर तक नहीं रह सकता है, इसलिए योगों का संस्कार, पाँच ह्रस्व अक्षर उच्चारने में श्रुत केवली को जितना समय लगता है उतने समय में नष्ट हो जाता है, वह नष्ट हुआ कि आत्मा मुक्त हो जाता है। यही बात प्रमाद संस्कार की है। प्रमाद का निर्मूल संस्कार भी सातवें से आगे नहीं टिकता। यह सातवें गुणस्थान तक की बात हुई।

आठवें से संज्वलन कषाय व योग दो ही कारण रह जाते हैं। उनमें से संज्वलन कषाय भी दसवें के अन्त में नष्ट हो जाता है। उस कषाय के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन भेद हैं। ये तीनों भेद भी क्रम से आठवें, नौवें व दसवें तक रहते हैं और इनके निमित्त से होनेवाले कर्म भी वहीं तक रहते हैं।

तीव्र कषाय आठवें तक रहती है। उस आठवें के भी प्रारम्भ में कुछ समय तक जो कषाय होती है वह दो प्रकृतियों को बाँध सकती है, निद्रा व प्रचला को, इसके ऊपर इन दोनों का संवरण हो जाता है। इसके ऊपर का कुछ ऐसी कषाय होती है कि पहले से नरम होती है तो भी तीस प्रकृतियों को बाँधता है। वे तीस प्रकृति हैं—(1) देवगति, (2) पंचेन्द्रिय जाति, (3) वैक्रियिक शरीर, (4) आहारक शरीर, (5) तैजस शरीर, (6) कार्मण शरीर, (7) समचतुरस्र संस्थान, (8) वैक्रियिकशरीरांगोपांग, (9) आहारशरीरांगोपांग, (10) वर्ण[2], (11) गन्ध, (12) रस, (13) स्पर्श, (14) देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, (15) अगुरुलघु, (16) उपघात, (17) परघात, (18) उच्छ्वास, (19) प्रशस्त विहायोगति, (20) त्रस, (21) बादर, (22) पर्याप्त, (23) प्रत्येक शरीर, (24) स्थिर, (25) शुभ, (26) सुभग, (27) सुस्वर, (28) आदेय, (29) निर्माण, (30) तीर्थंकर। ये तीस प्रकृति आठवें गुणस्थान के उपान्त्य समय तक के कषाय द्वारा बँधती रहती हैं और अन्तिम समय में इन तीसों का बन्ध होना रुक जाता है। अन्त समय

1. देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्त्वप्रत्यासन्नः। तदूर्ध्वं तस्य संवरः।—रा.वा., वा. 28
2. वर्ण, गन्ध, रस, व स्पर्श इन चार प्रकृतियों के उत्तर भेद बीस हैं। यहाँ अभेद दृष्टि से चार संख्या में ये गर्भित किये हैं, परन्तु एक-सौ अडतालीस का जोड़ यदि बन्धनिरोध देखने के लिए दिया जायें तो आठवें की छत्तीस प्रकृति संख्या की जगह 52 बावन संख्या रखनी पड़ेगी।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में होनेवाली कषाय इतना हीनशक्ति होती है कि ऊपर की तीस प्रकृतियों को नहीं बाँधता, परन्तु चार दूसरी प्रकृतियों को तब भी बाँधता रहता है। चार प्रकृति हैं—(1) हास्य, (2) रति, (3) भय, (4) जुगुप्सा ये हैं। इन चारों का संवर नौवें के प्रारम्भ से हो जाता है। इस प्रकार आठवें के अन्त तक के कषाय द्वारा बँधनेवाली जो सर्व 36 प्रकृति हैं उनका नौवें से लेकर आगे संवर है। ये छत्तीस प्रकृति जिन कषायों द्वारा बँधती हैं वे कषाय आपस में तो हीनाधिक होते हैं, परन्तु सामान्यता से सभी तीव्र ही कषाय कहलाते हैं।

नौवें के जो कषाय होते हैं वे मध्यम कहलाते हैं, परन्तु उनमें भी पाँच तरमता के भेद होते हैं। क्रम से पहले भेद तक पुरुष वेद, दूसरे तक संज्वलन क्रोध, तीसरे तक संज्वलन मान, चौथे तक संज्वलन माया, पाँचवें तक संज्वलन लोभ, बन्ध को प्राप्त हो सकते हैं और अपने-अपने भागों से ऊपर उस प्रत्येक प्रकृति का निरोध हो जाता है। सामान्यता से कहें तो उक्त पाँच प्रकृतियों का दसवें के प्रारम्भ से लेकर संवर हो जाता है।

दसवें गुणस्थान में जो कषाय रहता है वह जघन्य होता है। वह कषाय सोलह प्रकृतियों के बन्ध का कारण है। ये सोलह प्रकृति हैं—ज्ञानावरण की पाँच—(1) मतिज्ञानावरण, (2) श्रुतज्ञानावरण, (3) अवधिज्ञानावरण, (4) मन:पर्यय ज्ञानावरण, (5) केवलज्ञानावरण; दर्शनावरण की चार—(6) चक्षुदर्शनावरण, (7) अचक्षुदर्शनावरण, (8) अवधिदर्शनावरण, (9) केवलदर्शनावरण, तथा (10) यश:कीर्ति; (11) उच्चगोत्र; अन्तराय की पाँच—(12) दानान्तराय, (13) लाभान्तराय, (14) भोगान्तराय, (15) उपभोगान्तराय और (16) वीर्यांतराय। दसवें से ऊपर इन सोलहों प्रकृतियों का संवरण हो जाता है।

इसीलिए ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान से लेकर आगे जो कुछ प्रकृतियों का आस्रव होता है उसका कारण केवल योग ही होता है। वह प्रकृति एक सातावेदनीय है। योग तेरहवें तक रहता है, इसलिए वहीं तक सातावेदनीय का नवीन बन्ध हो सकता है चौदहवें के प्रारम्भ से योग नष्ट हो जाने से सातावेदनीय का बन्ध भी रुक जाता है।

यहाँ से आगे कोई भी प्रकृति बँधने के योग्य नहीं रहती हैं। सर्व प्रकृतियों की संख्या 148 है। उन 148 का चौदहवें में सर्वथा निरोध हो जाता है जैसा कि गुणस्थान क्रम से ऊपर दिखा चुके हैं। उसका जोड़-प्रथम गुणस्थान से आगे 16 प्रकृति, दूसरे से आगे 25 प्रकृति, चौथे से आगे 10 प्रकृति, पाँचवें से आगे 4 प्रकृति, छठे से आगे 6 प्रकृति, सातवें से आगे 1 प्रकृति, आठवें से आगे 36 प्रकृति, नौवें से आगे 5 प्रकृति, दसवें से आगे 16 प्रकृति, ग्यारहवें से आगे 1 प्रकृति इस प्रकार बन्ध निरुद्ध होने से, ये सब प्रकृतियाँ 16+25+10+4+6+1+36+5+16+1=120, एक सौ बीस हो जाती हैं। कुल प्रकृतियाँ 148 हैं, परन्तु स्पर्शादि चार यहाँ पर नौवें में जो गिनाई हैं उनके उत्तर भेद 20 होते हैं जो कि चार की संक्षिप्त संख्या[1] रखने से गर्भित हो जाते हैं। इस प्रकार 20 की जगह 4 संख्या रखने से 16 की कमी हो जाती है एवं दर्शनमोह की सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व ये दो प्रकृति बन्ध के समय जुदी नहीं मानी[2]

---

1. वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बन्धुदये ॥34॥
2. पंच वण दोण्णि छव्वीसमवि य चउरोकमेण सत्तट्ठी। दोण्णि य पंचयभणिया एदाओ बन्धपयडीओ ॥35॥ गो. कर्म.। इसमें लिखते हैं कि मोहकर्म की 28 प्रकृतियों की जगह बन्ध के समय 26 ही मानी जाती हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जातीं, किन्तु एक मिथ्यात्व में गर्भित हो जाती हैं, इसलिए दो की संख्या यह भी कम करनी पड़ती है। इस प्रकार 18 की संख्या 148 में कम की गयी है तो भी सर्व प्रकृतियाँ 120 के भीतर ही आ जाती हैं। यह बन्ध कारणों का व बन्ध्यमान प्रकृतियों का विवरण गुणस्थान क्रम से हुआ।

शंका—मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय व योग ये पाँचों जो बन्ध के कारण लिखे हैं वे क्या चीज हैं?

उत्तर—ऊपर जिस बन्ध का वर्णन हो चुका है उसी के ये पाँचों परिणाम हैं। उन कर्मों का जब विपाक समय आता है तब वे कर्म आत्मा में नाना विकार उत्पन्न करते हैं। पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से मिथ्यात्वादि विकार उत्पन्न होते हैं और उन विकारों के होने से आत्मा पुनः नवीन कर्मों से बद्ध हो जाता है। जब कोई पूर्वबद्ध कर्म उदय में आता है तब फल देकर नष्ट हो जाता है और साथ ही दूसरे नवीन बँध जाते हैं। इस प्रकार जीवकर्म की शृंखला बराबर चलती रहती है। कर्म के विपाकवश जीव में जो मिथ्यात्वादि विकार होते हैं, उन्हें भावकर्म कहते हैं। इनमें से प्रत्येक भावकर्म के मूल कारण पूर्वबद्ध द्रव्य कर्म होते हैं।

मिथ्यात्व—

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च।
आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत्॥ 3॥

अर्थ—विपरीत रुचि का नाम मिथ्यात्व है। अतत्त्वश्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। आत्मज्ञान न होने का नाम मिथ्यात्व है। ऐसे अनेक तरह मिथ्यात्व का लक्षण किया जाता है, परन्तु सबका तात्पर्य यह है कि आत्मा के सम्यक्त्व गुण का जो कर्मवश विपरीत परिणमन होता रहता है वह मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व एक ऐसा गुण है कि जब तक उसका स्वयं अनुभव न हो तब तक उसका वर्णन नहीं हो सकता है। तो भी उसके रहने से उल्लास, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य तथा शुद्ध आत्मज्ञान-इत्यादि गुण प्रगट होते हैं। हम उस सम्यक्त्व का साक्षात् वर्णन नहीं कर सकते हैं किन्तु इसके प्रशमादि सहभावी गुणों के चिह्न दिखाकर उसका वर्णन करते हैं। उन गुणों का प्रादुर्भाव मिथ्यात्व के रहते हुए हो नहीं पाता, इसलिए अतत्त्व श्रद्धानादि दोषों को हम मिथ्यात्व कहने लगते हैं। जिस प्रकार तत्त्वश्रद्धानादिक जो गुण हैं वे वास्तविक सम्यक्त्व नहीं हैं, किन्तु सम्यक्त्व के सहभावी दूसरे गुण हैं, उसी प्रकार अतत्त्वश्रद्धानादिक भी स्वयं मिथ्यात्व नहीं, किन्तु मिथ्यात्व के सहभावी दूसरे गुण हैं। जब तक किसी गुण का सीधा अनुभव नहीं हो सकता हो तब तक उसके सहवास से उत्पन्न हुए चिह्नों द्वारा ही उसका अनुभव करना पड़ता है। यही दशा सम्यक्त्व व मिथ्यात्व की है। सम्यक्त्व के रहते हुए एक ऐसा अपूर्व आत्मसम्बन्धी श्रद्धान उत्पन्न होता है कि जिसका अनुभव मिथ्यात्व की दशा में कभी नहीं हो सकता; इसीलिए सम्यक्त्वनामा एक कारण शक्ति का हम अनुमान द्वारा निश्चय करते हैं। उसी सम्यक्त्व गुण का दर्शन मोहकर्म के उदय से विपरीत परिणाम हो जाता है जिसे कि हम मिथ्यात्व कहते हैं और जिससे कि जीव बहिर्मुख बन जाता है—जीव को आत्मा का श्रद्धान नहीं हो पाता, बस इसी का नाम मिथ्यात्व है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि आत्मा को न जानने देना ज्ञानावरण का कार्य है और आत्मा में थिर न होने देना चारित्र-मोह कर्म का कार्य है तथापि उसके साथ मिथ्यात्व की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञानावरण का काम यह है कि किसी विषय को पूर्ण और कभी-कभी ज्ञात न होने दे, इसलिए आत्मा के श्रद्धान होने को ज्ञानावरण ही केवल रोकता है तो उसके अपूर्णांश का कभी-कभी तो ज्ञान होना चाहिए था, परन्तु आत्मा का ज्ञान थोड़ा-सा भी नहीं होता और कभी भी नहीं होता। इसका कारण क्या है? इसका कारण वही मिथ्यादर्शन कर्म है कि ज्ञानावरण के क्षयोपशम को कभी भी और थोड़ा-सा भी कार्यकर होने नहीं देता। इसी प्रकार आत्मा में श्रद्धान न होने देने का कारण भी वही मिथ्यादर्शन है, इसलिए जीव को बहिर्मुख बनाए रखनेवाले विकार को मिथ्यात्व और अन्तर्मुख बनाने के कारणभूत गुण के सम्यक्त्व[1] कहते हैं।

यदि बहिर्मुखता के कारण को मिथ्यात्व कहते हैं तो उसी बहिर्मुखता के तो ये कार्य हैं—अतत्त्वश्रद्धानादि प्रकार प्रगट हों। जब तक बहिर्मुखता बनी हुई है तब तक अतत्त्वश्रद्धान भी होगा, कुदेवादिकों में श्रद्धान भी होगा, तत्त्वों से अरुचि भी होगी, आत्मज्ञान से वंचित भी रहना पड़ेगा, इसीलिए इन दोषों में किसी एकेक दोष को मुख्य मानकर अलग-अलग आचार्य, अलग-अलग तरह से मिथ्यात्व का स्वरूप दिखाते हैं और इन दोषों के हटने से जो एकेक प्रकार का स्वाभाविक श्रद्धान प्रगट होता है उसे सम्यक्त्व बताते हैं।

जब बहिर्मुखता ही मिथ्यात्व की सूचक है तो अतत्त्व के श्रद्धान करने को भी मिथ्यात्व कह सकते हैं और अज्ञानरूप अन्धता के प्रभाव से तत्त्व में श्रद्धान न हो सकने को भी मिथ्यात्व कह सकते हैं। जिस समय कोई समनस्क प्राणी तत्त्वपरिचय करना चाहें, परन्तु अतत्त्व को तत्त्व समझ बैठे तो उस समय 'अतत्त्वश्रद्धान' यह मिथ्यात्व का लक्षण बताया जाता है, परन्तु जब तक तत्त्वों के जानने की इच्छा ही प्रगट नहीं हुई तो तब तक तत्त्व श्रद्धान के अभाव को मिथ्यात्व कहना पड़ता है। इस तत्त्वश्रद्धानाभाव रूप मिथ्यात्व को अगृहीतमिथ्यात्व कह सकते हैं और अतत्त्व की तत्त्व रूप पोषकवृत्ति ही गृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीतमिथ्यात्व अनादि काल से भी जीवों में बना रहता है और गृहीतमिथ्यात्व मिथ्याश्रद्धान करने पर प्राप्त होता है। इसीलिए गृहीतमिथ्यात्व अनादि न होकर सादि ही होता है। इस प्रकार मिथ्यादर्शन के मूल भेद दो हो जाते हैं।[2]

अगृहीत को नैसर्गिक भी कहते हैं। अगृहीत मिथ्यात्व रूप अज्ञानभाव मात्र स्वरूप अज्ञानरूप एक ही प्रकार का होता है। इसलिए उसके उत्तर भेद नहीं किये जाते हैं, परन्तु गृहीत के बहुत से प्रकार हो सकते हैं, इसलिए उसके मूलभेद जितने हो सकते हैं बताये गये हैं। वे भेद चार हैं—1. क्रियावाद, 2. अक्रियावाद, 3. अज्ञान, 4. वैनयिक।

---

1. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥4॥ रत्नक. श्रा.। 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्'। तत्त्वा सू.—अ. 1, सू. 2। 'मिच्छंतं वेदंतो जीवो विपरीयदंसणो होदि। ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो' इति गो. जी. गा. 17
2. परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं, क्रियाऽक्रियावद्याज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात्। चतुरशीतिः क्रियावादाः कौक्कलकाण्ठे विद्धिप्रभृतिमतविकल्पात्। अशीतिशतमक्रियावादानां मरीचिकुमारोलूककपिलादिदर्शनभेदात्। आज्ञानिकवादाः सप्तषष्टिसंख्या—साकल्यवास्कल्यप्रभृतिदृष्टि भेदात् वैनयिकानां द्वात्रिंशद्वशिष्ठपाराशरादिमार्गभेदात्। वादरायणवसुजैमिनिप्रभृतीनां श्रुतिविहितक्रियानुष्ठायिनां कथमाज्ञानिकत्वमित्युच्यते, प्राणिवधधर्मसाधनाभिप्रायात्। न हि प्राणिवधः पापहेतुधर्मसाधनत्वमापत्तुमर्हति॥ रा.वा. 8/1, वा. 8-10

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियाकांड को धर्म मानना और वह विपरीत मान्यता क्रियावाद-मिथ्यात्व का अर्थ है। क्रियाकांड की मुख्यता न रखकर ज्ञानमात्र से मुक्ति मानना इत्यादि विचार को अक्रियावाद कहा जाता है। ज्ञानशून्य कायक्लेशादि तप को मुक्ति का कारण मानना सो अज्ञानमिथ्यात्व है। देव-कुदेव, गुरु-कुगुरु एवं धर्म-कुधर्म का निर्णय किये बिना उनकी भक्ति और विनय से मुक्ति मानना, सभी धर्मों को तथा देवों को मुक्ति का कारण मानना सो सब वैनयिक मिथ्यात्व है।

क्रियावादियों के चौरासी भेद हैं। उनमें से कांठेविद्धि, कौशिक, हरिमश्रु, माण्डलीक, रोमश, हारित, मुंड, अश्वलायन इत्यादि जो प्राचीन मत हैं वे सब इन्हीं चौरासी भेदों में गर्भित होते हैं। अक्रियावादों के एक सौ अस्सी भेद हैं। मारीचिकुमार, उलूक, माठर, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, मौद्गलायन इत्यादि इनके नाम हैं।

अज्ञानवाद के सड़सठ भेद माने गये हैं। साकल्य, वल्कल, कुंथुवि, सात्यमुग्नि, चारायण, कण्व, मध्यदिन, मोद, पैप्पलाद, वादरायण, वसु, जैमिनि इत्यादि उन मतों के नाम हैं।

वैनयिकों के बत्तीस भेद हैं। वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास-इलापुत्र, औपमन्यु, इन्द्रदत्त, अपस्थूल इत्यादि उनके नाम हैं। ये सब चारों प्रकार के गृहीतमिथ्यादृष्टियों के तीन सौ त्रेसठ भेद होते हैं। भावार्थ यह है कि जो एकान्त मतों के प्रदर्शक दर्शनकार तथा पुराणकर्ता हुए हैं वे सभी गृहीतमिथ्यादृष्टि हैं।

इसी मिथ्यात्व के दूसरी तरह पाँच भेद हैं—1. ऐकान्तिक मिथ्यात्व, 2. सांशयिक मिथ्यात्व, 3. विपरीत मिथ्यात्व, 4. आज्ञानिक मिथ्यात्व और 5. वैनयिक मिथ्यात्व। ये पाँच भेद मूलग्रन्थकर्ता ने किये हैं।

ऐकान्तिक मिथ्यात्व का लक्षण—

यत्राभिसन्निवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः।
इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते॥ 4॥

अर्थ—द्रव्यगुणादि तत्त्वों में या धर्म और धर्मी में परस्पर सर्वथा भेद मानना, धर्म का या धर्मी का स्वरूप किसी एक प्रकार का मानकर हठ करना, यह इसी प्रकार है, यही है—अर्थात् यह धर्म नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, यह धर्म ही है अथवा धर्मी ही है—ऐसा जो सर्वथा किसी के स्वरूप के विषय में एकान्त आग्रह रखना सो ऐकान्तिक मिथ्यात्व है।

उदाहरण—शब्द अमूर्तिक ही है, आकाश का गुण ही है, अथवा स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का ज्ञान जबकि इन्द्रिय से सम्बन्ध होने पर होता है तो चक्षु के विषय का, मन के विषय का ज्ञान भी विषय सम्बन्ध हुए बिना नहीं होना चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि जब प्रत्यक्षबाधित होते देखी तो अलौकिक चक्षु की कल्पना कर ली, परन्तु वस्तुस्थिति असम्बद्ध विषयों को जान लेने में भी अनुकूल है ऐसी अनैकान्तिकता स्वीकार नहीं की। यद्यपि चन्द्रमादि अति भिन्न और अन्तरित् वस्तुओं के युगपत् दिख पड़ने से ऊपर की कल्पना बाधित होती है और शब्द बहिरिन्द्रियग्राह्य होने से तथा आघात-प्रतिघात का कारण होने से अमूर्त आकाश का गुण बन नहीं सकता है फिर भी, उन ऐकान्तिक कल्पनाओं को न छोड़ना सो सब ऐकान्तिक मिथ्यात्व है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध जब कि भिन्न वस्तुओं का होता है तो गुणगुणी का सम्बन्ध भी गुणगुणी को परस्पर में भिन्न सिद्ध करेगा और वह सम्बन्ध भी गुणगुणी से एक भिन्न ही पदार्थ है ऐसी सर्वथा भेद की कल्पना करना आदि सब ऐकान्तिक मिथ्यात्व के उदाहरण हैं। वस्तुओं के सर्व स्वभाव एकान्त रूप या किसी एक-एक प्रकार के ही नहीं हैं तो भी सर्वत्र एकान्त मानना यही एकान्त मिथ्यात्व का अर्थ है।

सांशयिक मिथ्यात्व का लक्षण—

किं वा भवेन्न वा जैनो धर्मोऽहिंसादिलक्षणः।
इति यत्र मतिद्वैधं भवेत्सांशयिकं हि तत्॥ 5॥

अर्थ—जैन धर्म अहिंसामय है अथवा किसी-किसी विषय में हिंसामय भी है, इत्यादि संशय युक्त मन की द्विविधा ही सांशयिक मिथ्यात्व है।

जो पदार्थ निश्चय रूप से मालूम न पड़ा हो उसके विषय में संशय होना संशय मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि, बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियों को भी संशय उत्पन्न होता है। जब तक छद्मस्थ अवस्था है तब तक संशय रहना असम्भव नहीं है। श्रुतज्ञान के सूक्ष्म तत्त्वों में साधुओं तक को संशय हो जाता है। तभी तो आहारक शरीर बनाकर केवलियों के दर्शन करके मुनि अपने संशय दूर करते हैं। आहारक शरीर बनाने का यह भी एक प्रयोजन माना गया है, इसीलिए संशय होना कोई अनुचित नहीं है, परन्तु आगम व युक्ति का प्रमाण मिलते हुए भी तत्त्व व धर्म के मार्ग में संशय रखना निश्चय से संशय मिथ्यात्व है। ऐसे संशय होने के कारण कई होते हैं। एक कारण यह होता है कि चिरकाल से मिथ्या तत्त्वोपदेश मिलता रहा हो। दूसरा कारण बुद्धि व भद्र परिणामों की कमी। तीसरा कारण गुरुकुल में रहकर सिद्धान्त का अध्ययन न करना। चौथा कारण धर्म के नियमों को कष्ट समझना। पाँचवाँ कारण निरंकुशता में आनन्द मानना। छठा कारण सर्व विषयों को खंडित करने का अभिमान तथा विनोद रखना। इस तरह कारणवश मनुष्य सच्चे तत्त्वोपदेश में तथा धर्म में भी संशय उत्पन्न करने लगता है। यह संशय मिथ्यात्व तभी कहलाता है जबकि सदा ही संशय रखने की आदत पड़ जाती है और युक्ति तथा आगम के प्रमाण मिलते हुए भी उन प्रमाणों की तरफ ध्यान नहीं पहुँचाना चाहता। जबकि किसी निश्चय के लिए संशय उपस्थित किया जाता हो और विचारोत्तरकाल में ठहरे हुए सिद्धान्त को स्वीकार करता हो तो वह संशय है, परन्तु मिथ्यात्व नहीं है। जैन धर्म व जैन व्रत सत्य है या नहीं यह बात तत्त्वों की परीक्षा करने से मालूम हो सकती है। जैन तत्त्वों में पूर्वापर विरोध सिद्ध नहीं होता, इसीलिए जैन धर्म की सत्यता में शंका रखना मिथ्यात्व है।

आगम को स्वतः प्रमाण जब तक न माना जाए तब तक धर्म का स्वरूप निश्चित नहीं हो सकता। आगम तभी स्वतः प्रमाण मानने योग्य हो सकता है जबकि उसे सर्वज्ञ के उपदेश के अनुकूल माना जाए। जो देशकाल की तथा मनुष्यों की इच्छा की अनुकूलता देखकर बनाया गया हो वह एक तो वास्तविक सुखसाधक नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्यों की इच्छाएँ स्वभाव से स्वार्थपरक होती हैं स्वार्थपरक इच्छाओं का जब जोर बढ़ता है तब चोरी आदि अन्याय भी इच्छानुकूल हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि वह

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कथन त्रिकालाबाधित और सब का हितकर नहीं हो सकता है; क्योंकि इच्छाएँ नाना और एक दूसरे के विरुद्ध हो सकती हैं। इसलिए सबका अभीष्ट हित कैसे साधा जा सकता है? ऐसे शास्त्रों की मान्यता होना कठिन है। अत: शास्त्र को सर्वज्ञ के उपदेशानुकूल होना चाहिए।

सर्वज्ञ का उपदेश वास्तविक तथा सभी जीवों के लिए हितसाधक होता है, क्योंकि सर्वज्ञ को चराचर सभी ज्ञात होते हैं, इसलिए उसका उपदेश विरोध-बाधा से रहित होता है और उसी के उपदेश को स्वत:प्रमाणता प्राप्त हो सकती है। शास्त्र को स्वत:प्रमाण माने बिना जो धर्म का निश्चय करना चाहते हैं, उनके लिए यह कहना चाहिए कि वे अपनी बुद्धि को प्रमाण मानते हैं, परन्तु हम कह चुके हैं कि अल्पज्ञों की बुद्धि सर्व स्वरूप का निश्चय नहीं कर सकती है, इसीलिए जो विषय उनके समझने में न आया हो वह सूक्ष्मतत्त्व स्वबुद्धि प्रमाणवादियों को ज्ञात नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्ण धर्म के स्वरूप में विशृंखला उत्पन्न हो जाती है और धीरे-धीरे वास्तविक धर्म इसी प्रकार छिप भी जाता है। यह दोष स्वबुद्धि प्रमाणवादियों के अनुसार संसार में फैलता है। यदि आगम को स्वत:प्रमाण माना जाए तो यह दोष उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि किसी आगम प्रमाणवादी के जानने में कोई धर्म का स्वरूप या उपदेश न आया हो तो भी वह उसे प्रमाण मानता है जिससे कि सत्यधर्म की शृंखला विस्खलित नहीं हो पाती, इसीलिए यह कहा गया है कि जैन धर्म के स्वरूप में शंका रखना मिथ्यात्व दोष है, जिससे कि स्वपर का अहित होना सम्भव है और आत्मज्ञान से जो विमुखता हो रही है उसका पोषण होता है।[1]

विपरीतमिथ्यात्व का लक्षण—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्॥ 6॥

अर्थ—ग्रन्थ नाम परिग्रह का है। सग्रन्थ अर्थात् सपरिग्रह होने पर भी निर्ग्रन्थ या निष्परिग्रह मान लिया जाए तो ऐसी श्रद्धा को विपरीतमिथ्यात्व कहते हैं। इसी प्रकार भोजनरूप परवस्तु में प्रवृत्ति करते हुए को भी केवलज्ञानी मानना विपरीतमिथ्यात्व का एक उदाहरण है।

निर्ग्रन्थ हो तो वस्त्रादि परिग्रह रखने के लिए उत्सुक किस प्रकार होगा? यह परस्पर विरोध है। जो वस्त्रादि परिग्रह रखता हो वह परिग्रह से विरक्त नहीं हो सकता है और जो परिग्रह को परकीय जानकर उससे विरक्त हो वह वस्त्रादि परिग्रह ग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस प्रकार ये परस्पर विरोधी बातें होकर भी एक जीव में रहते हुए मानना यही बुद्धि का विपर्यास है। ऐसा बुद्धि-विपर्यास आत्मज्ञान से बहिर्मुख होने का लक्षण है, इसलिए इस विपर्यास रूप बहिर्मुखता का विपरीत मिथ्यात्व यह नाम उचित है।

केवलज्ञान तब होता है जब चारों घातिकर्म नष्ट हो जाते हैं। घातिकर्मों का कार्य यह है कि जीव को परवस्तुओं में मोहित करे, पराधीन करे, परवस्तुओं के बिना निर्वाह नहीं होगा ऐसी भावना उत्पन्न करे, इसलिए जीव जब तक घातिकर्मों के उदयवश रहता है तब तक क्षुधादि दोषों से व्याकुल रहता है और इष्ट संयोग मिलाता रहता है, परन्तु जो मोहादि घातिकर्मों का नाश करके निर्मोह तथा केवलज्ञानी

1. सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथवादिनो जिना:। आ.प.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हो चुके हैं उनको हम जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त का अर्थ यह है कि जो परवस्तु संग्रह करानेवाली सर्व क्रियाओं से छूट चुके हैं और रत्नत्रय को मुक्त जीवों की तरह पूर्ण कर चुके हैं, फिर भी अघातिकर्म तथा पूर्वोपार्जित शरीर से जुदे नहीं हो पाये हैं, इसलिए मुक्त होकर भी जीवित हैं—अर्थात् शरीर, आयु, श्वासोच्छ्वास एवं इन्द्रिय प्राणों के रहने से जीवित कहे जाते हैं, परन्तु पुद्गल को बुद्धिपूर्वक अपनाने से पूरे पराङ्मुख हो चुके हैं। ऐसे केवली होकर भी कवलाहार को लें यह परस्पर असम्बद्ध या विरुद्ध कार्य है, ऐसा श्रद्धान अनात्मज्ञान को सूचित करता है जिसे कि हम विपर्ययमिथ्यात्व इस अन्वर्थ नाम से सम्बोधते हैं।

आज्ञानिक मिथ्यात्व का लक्षण—

हिताहितविवेकस्य यत्रात्यन्तमदर्शनम्।
यथा पशुवधो धर्मः तदाज्ञानिकमुच्यते॥ 7॥

अर्थ—जिस मत में हित और अहित का ही विवेचन नहीं है। संसारी प्राणियों के हित के लिए उपदेश न देकर अहित में प्रवृत्ति कराने का उपदेश है वह आज्ञानिक मिथ्यात्व है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण यज्ञ में पशुओं का होम करना और फिर उसको धर्म बतलाना है। जो वध किसी भी काल में किसी के लिए वास्तविक हितकारी नहीं हो सकता उसको करने का लोगों को उपदेश देना और यह आशा करना कि इसके करने से तुम्हें धर्म होगा, धर्म की प्राप्ति से स्वर्गादि के सुख मिलेंगे यह बड़ा भारी अज्ञान है। यह सब कोई जानता है कि संसार में अपनी-अपनी जान सबको प्यारी है और छोटे-बड़े सभी जीव अपने प्राणों की रक्षा की भरसक कोशिश करते हैं। तब किसी स्वार्थवश पशुओं को मारने की आज्ञा देना और उससे धर्मप्राप्ति का लोभ देना किसी भी हालत में कोई भी विवेकी न्याय या सच्चा ज्ञान नहीं कह सकता।

इसीलिए जिन शास्त्रों में या जिन मतों के प्रवर्तकों में उपर्युक्त अज्ञान विद्यमान है, उन्हें आचार्य ने आज्ञानिकमिथ्यात्वी बतलाया है और यह कहा है कि उन्हें किसी के भी हित-अहित का ज्ञान नहीं है। यदि हित-अहित का ज्ञान होता तो क्या वे यह नहीं समझ सकते कि जिस क्रिया से दूसरों को दुःख पहुँचता है और ऐसा-वैसा भी दुःख नहीं, सबसे बड़ा दुःख जो कि मौत का है, वह प्राप्त होता है उस क्रिया से विपरीत स्वभाववाले सुख की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

वैनयिक मिथ्यात्व का लक्षण—

सर्वेषामपि देवानां समयानां तथैव च।
यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत्॥ 8॥

अर्थ—संसार में जितने भी देव पूजे जाते हैं और जितने भी शास्त्र या दर्शन प्रचलित हैं वे सब सुखदायी हैं, उनमें कोई भेद नहीं है, सबसे मुक्ति या आत्मा के हित की प्राप्ति हो सकती है—ऐसा

1. एयन्त बुद्धदरसी विवरीयो बह्म तावसो विणओ। इंदोवि य संसइयो मक्कडियो चेव अण्णाणी। गो.जी., गा. 16। एयंतं विपरीतं विणयं संसइदमण्णाणं॥गो.जी., गा. 17॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जो मानना है वह विनय मिथ्यात्व है और इस सिद्धान्त के माननेवाले लोग वैनयिक मिथ्यात्वी हैं। वैनयिक मिथ्यादृष्टियों के वशिष्ट, पाराशर आदि बत्तीस भेद ऊपर दिखला आये हैं।

मिथ्यात्व[1] के पाँच भेदों की आवश्यकता—

(1) एकान्त मिथ्यात्व उनके लिए कहा गया है कि जो स्याद्वाद दर्शन के विरुद्ध किसी न किसी एकान्त पक्षों को मानते हैं। जैन दर्शन का शेषदर्शनों के साथ एकान्तदृष्टि से ही निषेध किया गया है नहीं तो बहुत से एकान्तवादियों के सिद्धान्त भी जैनदर्शन के अनुकूल हो जाते हैं। जैनदर्शन के सिवाय जितने दर्शन हैं वे सभी एकान्तवादी हैं, इसलिए वे सब एकान्त मिथ्यादृष्टि ही माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, बौद्धदर्शन एकान्तमिथ्यात्वी है; क्योंकि वह वस्तु मात्र को पूर्वापर सम्बन्ध रहित क्षणस्थायी मानता है, परन्तु क्षणिकता के साथ नित्यता स्वरूप माने बिना काम नहीं चल सकता है। यदि निरन्वय वस्तुएँ हों तो बीज की आवश्यकता अंकुरोत्पत्ति में क्यों होनी चाहिए? इस प्रकार सभी एकान्तवाद दूषित हो जाते हैं।

(2) विपरीत मिथ्यादृष्टि वे होते हैं जो कि धर्मक्रियाओं को विपरीत कहते हैं। सबसे बड़ा इसका उदाहरण यज्ञ सम्बन्धी[1] पशुवध है। संकल्प करके किसी निरपराध को मारना सभी निष्पक्ष मनुष्यों की दृष्टि में पाप है। ऐसे सर्वसम्मत पाप को जो धर्म समझता है वह सबसे बड़ा विपरीतज्ञानी है। उसके अनात्मज्ञान को अथवा मिथ्यात्व को विपरीत मिथ्यात्व कहा जाता है। यों तो एकान्त मिथ्यात्व भी स्याद्वाद की अपेक्षा विपरीत होने से विपरीत मिथ्यात्व कहा जाता है, परन्तु वह विपरीतता कुछ ज्ञानियों की ही समझ में आ सकती है, सर्वसामान्य की दृष्टि में सुगमतया नहीं आ पाती। पर, हिंसा वध को धर्म बनानेवाला सभी की दृष्टि में विपरीत भासने लगता है, इसलिए वधादि प्रसिद्ध विपरीत धर्माचरणों को विपरीत मिथ्यात्व में गर्भित करना उचित है।

(3) सत्यधर्म के पास तक पहुँच कर भी उसमें शंकित बने रहना, जिससे कि दृढ़ता के साथ धर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सके, संशय मिथ्यात्व है। यह बात भी तभी तक होगी जब तक कि वास्तविक आत्मज्ञान प्रकट न हुआ हो। जो आत्मज्ञानी हो चुका है वह आत्मा के बन्धमोचनादि के स्वरूप में भ्रान्त क्यों होगा? इसीलिए यह भ्रान्तता मिथ्यात्व है। सर्वथा सत्य जैन धर्म में आ पहुँचने पर भी यह भ्रान्तता बनी रहती है; यह बात दिखाने के लिए यह भ्रान्तता मिथ्यात्व का भेद संग्रह किया है, इसीलिए इसका उदाहरण श्वेताम्बर धर्म को माना है और भी ऐसे संशय मिथ्यात्व के उदाहरण हो सकते हैं।

(4) वस्तु को सामान्य-विशेष स्वरूप पदार्थ नहीं जानना-अपने मन की प्रेरणा से जो चाहे मानना यह आज्ञानिक मिथ्यात्व है। इसके उदाहरण मस्करी आदि संन्यासियों के भेद हैं। आत्मा के अमूर्तित्व आदि सामान्य धर्मों में तथा उपयोग आदि रूप विशेष धर्मों में जब अज्ञान रहता है तब ही मनोनीत कल्पनाएँ उत्पन्न होती है, इसीलिए वास्तविक ज्ञान के अभाव से उसको मिथ्यात्व में दिखलाया है।

(5) गुणग्रहण की अपेक्षा से अनेक धर्मों में प्रवृत्ति होना सो वैनयिक मिथ्यात्व है, अर्थात् वैनयिक की प्रवृत्ति में अज्ञान मुख्य कारण नहीं है, किन्तु विनय स्वभाव का अतिरेक मुख्य कारण है, इसीलिए

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक में तथा इस ग्रन्थ में आज्ञानिक मिथ्यात्व का दृष्टान्त दिया है और यहाँ जो विपरीत मिथ्यात्व को कहा है वह गोम्मटसार जीवकांड की 16वीं गाथा के अनुसार है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यह पाँचवाँ भेद अज्ञान से जुदा दिखाना पड़ा है। इसका लक्षण ऊपर के चारों से भिन्न है और ऐसे मिथ्यादृष्टियों की संख्या भी बहुत है, इसलिए इसे एक जुदा मिथ्यात्व वैनयिक अनात्मज्ञानों की गिनती में आता है। अनात्मज्ञान का ही नाम मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व का सामान्य लक्षण भी वैनयिक में रहता है। वैनयिक का उदाहरण तापसी लोग हैं।

इस प्रकार मिथ्यात्व के उक्त पाँचों भेद जुदे-जुदे और आवश्यक ठहरते हैं। लोगों के मिथ्याज्ञान और प्रवृत्तियों के प्रकार स्थूलता से ये पाँचों ही बन सकते हैं अधिक नहीं। अधिक भेद करना चाहें तो उन्हीं के वे उत्तर भेद होंगे, इसीलिए मध्यम विस्तार को अच्छा समझकर ये पाँच भेद किये गये हैं। मिथ्याज्ञान को ही मिथ्यात्व कहते हैं, इसलिए मिथ्याज्ञान के कहीं-कहीं पर तीन प्रकार भी दिखाये गये हैं। (1) कुछ लोग हित को समझते ही नहीं है और उस असल हित को चाहते भी नहीं हैं। (2) कुछ लोग हित समझकर भी उसमें संशय करते हुए दिन बिताते हैं। (3) कुछ लोग अहित को हित समझ लेते हैं। इस तीन प्रकार के अज्ञान[1] से जगत् दुःखी हो रहा है।

अविरति का स्वरूप—

षड्जीव-काय-पञ्चाक्ष-मनोविषय-भेदतः।
कथितो द्वादशविधः सर्वविद्भिरसंयमः॥ 9॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच भेद एकेन्द्रिय जीवों में होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय-संज्ञी असंज्ञी इन सब को त्रस कहते हैं। इस प्रकार पाँच एकेन्द्रिय व एक त्रस मिलाने से जीवों के भेद छह हो जाते हैं। ये जीव जिन शरीरों में रहते हैं वे जीवित शरीर भी छह प्रकार के होंगे। शरीरों को काय कहते हैं, इसलिए छह जीवकाय भी ये ही कहलाते हैं। इन छह जीवकायों की विराधना करने से न रुकना सो प्राणाऽविरति है इसी को हिंसा कहते हैं। हिंसा के छह भेद विषय की अपेक्षा किये गये हैं।

पाँच बाह्य इन्द्रिय और एक अन्तरंग इन्द्रिय मन ये छह इन्द्रिय हुए। इन इन्द्रियों की जो विषयों में निरर्गल प्रवृत्ति होती है उसे छह प्रकार की इन्द्रियाऽविरति कहते हैं। इन्द्रियों को मनचाहे पाप विषयों में न जाने देने से इन्द्रिय की विरति कहलाती है और छहों प्रकार के प्राणियों का वध सर्वथा रुक जाने से हिंसा विरति कहलाती है। ये सब विरति या व्रत या संयम के बारह भेद हुए। इन्हीं बारहों को पुण्यास्रव के प्रकरण में पाँच अहिंसादि व्रतों के नाम से पाँच प्रकार से भी कहा है, अर्थात् पापों के विषय बारह हैं। प्राण व इन्द्रियों के विषयों को पाप कहते हैं और जब हम समुच्चय से लोक के पाप देखते हैं तो हिंसादि पाँच पाप हैं, परन्तु अविरति चाहे किसी प्रकार से भी हो, स्वच्छन्द विषयभोगों में मग्न होने का ही नाम है।

---

1. हितमेव न वेत्ति कश्चन भजतेऽन्यः खलु तत्र संशयम्। विपरीतरुचिः परो जगत् त्रिभिरज्ञानतमोभिराहतम्॥ च.प्र.च., आ.वी.।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्व रहने पर तो अविरति रहती ही है, परन्तु मिथ्यात्व के छूट जाने पर भी अविरति रह सकती है। मिथ्यात्व न रहने पर जीव सम्यक्त्वी हो जाता है परन्तु अविरति फिर भी चारित्रमोह का उदय हो तो विषयवासना हटने पर हटती है। सो भी अविरति का पूर्ण अभाव हो जाए और महाव्रत प्रकट हो जाए, यह किसी विरले को ही होता है। नहीं तो, बहुत हुआ तो एकदेश विरति होती है जिसे कि अणुव्रत कहते हैं। यह बारह प्रकार की अविरति जो भगवान ने पाप का कारण कही है वह जब तक छूटती नहीं तब तक अविरतिजन्य कर्मबन्ध होता ही रहता है। असंयम भी इसी का नाम है।

प्रमाद का स्वरूप—

शुद्ध्यष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे।
योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः॥ 10॥

अर्थ—आठ शुद्धि और दश धर्मों में उत्साह न रखना—उसे सर्वज्ञदेव ने प्रमाद कहा है, अर्थात् विरति या संयम हो जाने पर भी जो उसके सँभालने में आलसी रहना, असावधानी करना, अनुत्साह रखना प्रमाद है।[1] मिथ्यात्व व अविरति के रहते हुए तो प्रमाद रहता ही है, परन्तु विरति हो जाने पर भी प्रमाद जल्दी जाता नहीं है, इसीलिए अविरति के बाद में यह बन्ध का कारण कहा गया है और अविरति से जुदा है।[2]

भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्याशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, आसनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, वाक्यशुद्धि, ये आठ शुद्धियाँ हैं। इनका अर्थ शब्दों से मालूम होता है। शुद्धि का वर्णन आगे संवर के प्रकरण में भी आएगा। इन शुद्धियों के रखने से संयम निर्मल होता है। दश धर्मों में अनुत्साह रखने को प्रमाद कहा है, परन्तु यह उपलक्षण है। संवर, निर्जरा के जो कारण हैं वे सभी धर्मों की तरह सँभालकर पालनीय हैं, इसीलिए समिति, गुप्ति, परीषहजय इत्यादि संवर के कारणों में जो अनुत्साह होता है वह सभी प्रमाद है।

शुद्धि व धर्मादि संवर के कारणों में रहनेवाले अनुत्साह को प्रमाद कहने से यह बात सिद्ध होती है कि विरति हो जाने पर भी प्रमाद रह सकता है। छठे गुणस्थान में अविरति नष्ट हो चुकी, परन्तु प्रमाद विद्यमान है जिससे कि विरति बनी रहने पर भी भोजन-गमन-शयन-संघ परिरक्षण-गुरुविनयादि कामों में कभी-कभी असावधानी[3] हो जाती है और उसके दूर करने के लिए प्रतिक्रमणादि प्रायश्चित्त कर्म कहे हैं।

---

1. 'प्रमादोऽनवधानता' इति अमर कोषः, प्रमादः कुशलेष्वनादरः। सर्वा.सि., वृ. 730
2. अविरतेः प्रमादस्य चाविशेष इति चेन्न, विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्। रा.वा., 8/1, वा. 32
3. आज्ञाव्यापादनक्रिया अनाकांक्षक्रिया इत्यनयोः प्रमादस्यान्तर्भावः (सर्वा.सि., वृ. 618) अर्थात् प्रमाद का स्वरूप यों समझना चाहिए कि आस्रव प्रकरण में जो आज्ञाव्यापादन क्रिया तथा अनाकांक्षा क्रिया बताई है वही प्रमाद है। आज्ञाव्यापादनादि क्रियाएँ असावधानी रखने से ही होती हैं, इसीलिए यह सिद्ध होता है कि विरति हो जाने पर बन्ध का कारण प्रमाद विद्यमान रह सकता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कषाय का विवरण—

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिता।
ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशतिः॥ 11॥

अर्थ—तारतम्य के भेद से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन ऐसे कषाय के भेद चार हैं और स्वरूप भी कषाय के चार ही हैं—क्रोध, मान, माया व लोभ। इसलिए कषायों के चार स्वरूपों को तारतम्य के चार भेदों से गुणा करने पर कषाय सोलह हो जाते हैं, 1. अनन्तानुबन्धी क्रोध, 2. अनन्तानुबन्धी मान, 3. अनन्तानुबन्धी माया, 4. अनन्तानुबन्धी लोभ, 5. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, 6. अप्रत्याख्यानावरण मान, 7. अप्रत्याख्यानावरण माया, 8. अप्रत्याख्यानावरण लोभ, 9. प्रत्याख्यानावरण क्रोध, 10. प्रत्याख्यानावरण मान, 11. प्रत्याख्यानावरण माया, 12. प्रत्याख्यानावरण लोभ, 13. संज्वलन क्रोध, 14. संज्वलन मान, 15. संज्वलन माया, 16. संज्वलन लोभ। आत्मा के शुद्ध चैतन्य भाव का घात या कषन जिस विपरीत भाव से हो वह कषाय है। यह कषाय का लक्षण क्रोध करने में भी विद्यमान है, मान में भी है, मायाचार के समय भी है, लोभ में भी है।

नौ नोकषाय भी जुदे माने जाते हैं—1. हास्य, 2. रति, 3. अरति, 4. शोक, 5. भय, 6. जुगुप्सा, 7. स्त्रीवेद भाव, 8. पुरुषवेद भाव, 9. नपुंसकवेद परिणाम। कषाय व नोकषायों को जुदा गिनने से सर्वकषाय पच्चीस हो जाते हैं। नोकषाय भी है तो कषाय ही, परन्तु थोड़ा-सा यह अन्तर है कि कषाय होने पर जीव जिस प्रकार दुःखी या अशान्त बन जाता है, वैसा हास्यादि नोकषाय रहते नहीं होता, इसीलिए हास्यादि करने पर भी वह अपने को सुखी समझता है कषाय का वेद कारण हैं एवं वेद मार्गणा का वेद कार्य है। दूसरी बात यह है कि कषाय जैसे दूसरे का अहित करा सकते हैं वैसा अहित हास्यादि नोकषायों के रहने से नहीं होता। अरति तथा भय के होने पर यदि अरति व भय के कारणों को हटाने का प्रयत्न किया जाए तो उस समय क्रोधादि कषाय प्रकट हो जाते हैं। यह छोटा-सा भेद कोई प्रधान कारण इस बात में नहीं हो सकता है कि नोकषायों को कषायों में समाविष्ट न करने दें, इसीलिए कषाय सर्व पच्चीस हैं और सभी में आत्महिंसा करने का सामर्थ्य रहता है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद इन तीन या एक दो बन्ध कारणों के रहते हुए तो कषाय रहता ही है, परन्तु ये तीनों कारण न रहें तो भी इस कषाय कारण का अभाव सर्वत्र नहीं हो पाता है, इसलिए इस कारण को तीनों के बाद में लिखा है। उत्तरोत्तर कारण पूर्व कारणों के रहते हुए तो रहते ही हैं, परन्तु न रहते हुए भी रहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय मिथ्यात्व के रहते हुए रहता है। अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषाय, अविरति रहते हुए व मिथ्यात्व न रहते हुए भी रहता है। संज्वलन कषाय, मिथ्यादर्शन, अविरति के नष्ट हो जाने पर रह सकता है, किन्तु विषय सद्भाव[1] रहता है। अर्थात् मिथ्यात्वादि जहाँ हों वहाँ कषाय अवश्य होगा, परन्तु कषाय[2] के रहते मिथ्यात्वादि रहते भी हैं और नहीं भी रहते

1. मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वं समुदाये च वेदितव्यम्। तत्र मिथ्यादृष्टेः पंचापि समुदिता बन्धहेतवः। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः। संयतासंयतस्याविरतिमिश्राः प्रमादकषाययोगाश्च। प्रमतसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः। अप्रमत्तादीनां चतुर्णां कषाययोगौ। शान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेक एव योगः अयोगकेवली अबन्धहेतुः। रा.वा., 8/1, वा. 31

2. नहि सर्वाणि मिथ्यादर्शनादीनि एकस्मिन्नात्मनि युगपत्संभवन्ति। नापि हिंसादयः सर्वे परिणामाः। वही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। एक समयगत एक जीव के परिणामों को देखें तब तो मिथ्यात्वादि किसी एक के सिवाय दूसरा परिणाम रह ही नहीं सकता है, परन्तु ऊपर की विषय व्याप्ति कारणसद्भाव रहने से या योग्यता रहने से मानी जाती है। मिथ्यात्व, अविरति व प्रमाद के साथ कषाय का अविनाभावी सर्वदेशीय सम्बन्ध नहीं रहता, इसीलिए अविरति आदि कारणों से कषाय को जुदा कारण मानना पड़ता है। प्रमाद छठे गुणस्थान तक रहता है, परन्तु कषाय[1] दसवें तक रहता है, और कषाय[2] कारण है, अविरति कार्य है इसमें भी परस्पर भेद मानना पड़ता है। बन्ध का यह चौथा कारण हुआ।

योग का वर्णन—

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम्।
पञ्च द्वौ च वपुर्योगा योगा पञ्चदशोदिताः॥ 12॥

अर्थ—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग ये पन्द्रह योग हैं। इनका विशेष वर्णन जीवतत्त्व के वर्णन में हो चुका है। योग मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवलीपर्यन्त रहते हैं। योगों का भी मिथ्यात्वादि बन्ध कारणों के साथ अनिश्चित सम्बन्ध है, इसीलिए मिथ्यादृष्टि, प्रमादी व कषाययुक्त जीव के साथ भी योग रहता है और मिथ्यात्वादि कारण नष्ट हो जाने पर भी बना रहता है। इस प्रकार बन्ध के कारणों का वर्णन हुआ।

बन्ध का स्वरूप—

यज्जीवः सकषायत्वात् कर्मणो योग्यपुद्लान्।
आदत्ते सर्वतो योगात् स बन्धः कथितो जिनैः॥ 13॥

अर्थ—सकषाय बनने पर जीव कर्मयोग्य पुद्गलों को सब तरफ से ग्रहण करता है, यही बन्ध है। कोई भी सकषायी जीवप्रदेश, किसी समय भी बन्ध होने से बाकी नहीं रहता है। सदा सर्व प्रदेशों में बन्ध होता ही रहता है। कर्मपिंडों को ग्रहण करने का हेतु योग है और कर्मरूप परिणमाने का हेतु कषाय है। दूसरे शब्दों में, पूर्वबद्ध कर्म के उदय से जीव में कषाय प्रकट होता है। उसी कषाय से जीव में आगामी कर्म बँधते जाते हैं, इसलिए जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि का है तभी तो नवीन कर्म बँधते रहते हैं।

कर्म, आत्मा का गुण नहीं है—

न कर्मात्मगुणोऽमूर्तेः तस्य बन्धाप्रसिद्धितः।
अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्तेः कर्तुमर्हति॥ 14॥

अर्थ—कर्म आत्मा का गुण नहीं है। यदि गुण हो तो अमूर्त आत्मा का उससे बन्धन होगा ऐसा

---

1. कषायाविरत्योरभेद इति चेन्न कार्यकारण-भेदोपपत्तेः। कारणभूता हि कषायाः कार्यात्मिकाया हिंसाद्याविरतेरर्थान्तरभूताः। रा.वा., 8/1, वा. 33

2. कषायः कषणान्मतः। इति।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध नहीं हो सकेगा। गुणी में गुण सदा तादात्म्य सम्बन्ध से रहते हैं, इसलिए उनका बन्धन कहना अयुक्त होता है। बन्धन उसी का किसी चीज में माना जा सकता है जो स्वयं जुदी-जुदी चीजें हों। इसी प्रकार यदि वह गुण हो तो आत्मा को सुखी व दुःखी नहीं कर सकेगा। जो वस्तु का गुण होता है वह अपने आश्रयभूत द्रव्य को कभी विकारी नहीं बनाता। विकारी वही बना सकता है जो विजातीय हो। जो गुण होता है वह सजातीय होता है और इसलिए कभी अपने आश्रयी द्रव्य में विकार भाव पैदा नहीं करता, परन्तु कर्म जीव के सर्वज्ञत्वादि जो अनन्त गुण हैं उनका तिरोभाव कर उसे विकृत बना देता है, शरीर में बँधकर स्वभावविरुद्ध हो ठहर जाता है।

जैसे कि अमूर्त आकाश दिशा आदि अमूर्त पदार्थों का न तो अनुग्राहक ही होता है और न प्रतिघात ही करता है कि अमुक-अमुक दिशा अमुक-अमुक आकाश के प्रदेश तक मानी जाए, लोगों की जैसी कल्पना होती है उसी प्रकार वे कर लेते हैं, आकाश उसमें कुछ भी व्यवधान या बाधा नहीं देता। क्योंकि, अमूर्त का अमूर्त से कुछ बनता बिगड़ता नहीं, इसी प्रकार अमूर्त आत्मा का गुण यदि कर्म होता तो उससे भी उसका कुछ विकार भाव न होता, पर देखा तो जाता है, इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि कर्म आत्मा का गुण नहीं है।

कर्म की मूर्तिमत्ता सिद्धि—

औदारिकादि-कार्याणां कारणं कर्म मूर्तिमत्।
न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भः क्वापि दृश्यते॥ 15॥

अर्थ—इसके सिवाय यदि कर्म आत्मा का गुण है यह किसी प्रकार मान भी लिया जाए तो आत्मा अमूर्त होने से उसका गुण भी अमूर्त ही होगा और जब कर्म अमूर्त सिद्ध होगा तो उससे औदारिक आदि मूर्त शरीरों की जो उत्पत्ति देखी जाती है वह भी सिद्ध न हो सकेगी, क्योंकि अमूर्त पदार्थ से मूर्त पदार्थ की उत्पत्ति होना न्याय से बाधित है। कभी किसी ने कहीं न देखी और न सुनी है।

न च बन्धाप्रसिद्धिः स्यान् मूर्तैः कर्मभिरात्मनः।
अमूर्तेरित्यनेकान्तात् तस्य मूर्तित्वसिद्धितः॥ 16॥

अर्थ—अच्छा! यदि कर्म मूर्तिक है तो अमूर्त आत्मा के साथ उनका बन्ध किस तरह हो सकता है, क्योंकि अभी ऊपर भी अमूर्त का मूर्त से सम्बन्ध नहीं होता यह सिद्ध कर आए हैं। यह हुआ प्रश्न।

अब इसका इस श्लोक में उत्तर देते हैं। इस दोष को हटाने के लिए आत्मा को अनादि से कर्मबद्ध मानते हैं। अनादि स्वभाव मानने में तर्क नहीं हो सकता है। जैसे कि शुद्ध[1] हुए सोने को यदि कोई चाहे कि मिट्टी, धूल में मिलाकर अशुद्ध कर दे तो नहीं कर सकता है, परन्तु खान में से जब निकलता है तब मल से लिप्त या व्याप्त रहता ही है। वह उसकी अशुद्धता अनिमित्तक है, अनादिकालीन है। क्यों हुई? इस प्रश्न की वहाँ आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार जीव व कर्मों का बन्ध अनादि से है और उस

1. शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ति ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्। साद्यनादी तयोव्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः॥100॥ अशुद्धेः पुनरभव्यत्वलक्षणाया व्यक्तिरनादिस्तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसंततेरनादित्वात्। (अ.सह.) इस उदाहरण से जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अतर्कणीय सिद्ध होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध के सहारे से दूसरे उत्तरोत्तर बन्ध होते रहते हैं, इसलिए संसारवर्ती जीव जैन सिद्धान्त में वर्तमान दशा की अपेक्षा से कथंचित् मूर्तिक माना जाता है। यदि केवल मूर्तिक हो तो मुक्त ही क्यों हो! परन्तु मुक्त होना युक्ति साध्य है। चैतन्यादि गुणों का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं होता, इसलिए वह शुद्ध स्वरूप जो मुक्त होने पर प्रकट होता है वह अमूर्तिक ही होना चाहिए। इस प्रकार शुद्ध स्वभाव या निजस्वरूप की अपेक्षा से उसे अमूर्तिक मानते हैं। इसलिए केवल मूर्तिक भी नहीं है और केवल अमूर्तिक भी नहीं है यह बात सिद्ध हुई। मूर्तिक कर्म का जब कि बन्ध होता है तो उस आत्मा को भी पूर्वबद्ध कर्म के सम्बन्ध से मूर्तिक कह सकते हैं, इसलिए ऊपर का प्रश्न नहीं रहता। कर्मों से आत्मा का बन्ध इस प्रकार सिद्ध हुआ।

मूर्तिकता का हेतु—

अनादि नित्यसम्बन्धात् सह कर्मभिरात्मनः।
अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते॥ 17॥

अर्थ—अनादि काल से जीव के साथ कर्मों का बन्ध नित्य ही हो रहा है। बन्ध का स्वरूप यह है कि दोनों पूर्वावस्थाएँ छूटकर तीसरी अवस्था प्राप्त हो जाए या उस समय दोनों की एकता प्राप्त हो जाए ऐसा ही बन्ध आत्मा तथा कर्मों का हो रहा है, इसलिए अमूर्त आत्मा में भी मूर्तिकता भासित होती है।

अमूर्तिक से मूर्तिक बनने की युक्ति—

बन्धं प्रति भवत्यैक्यमन्योन्यानुप्रवेशतः।
युगपद्द्रावितस्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः॥ 18॥

अर्थ—कर्म व आत्मा के प्रदेश परस्पर में प्रविष्ट हो जाते हैं, इसलिए बन्ध की अवस्था में जीव की स्थिति मूर्तिक माननी पड़ती है। जब कि मूर्तिक कर्मों से एकता हो चुकी है तो आत्मा को भी मूर्तिक क्यों न मानना चाहिए?

दृष्टान्त—एक साथ सुवर्ण तथा चाँदी को यदि गलाया जाए तो दोनों मिलकर एकमय हो जाते हैं। क्या उस हालत में चाँदी व सुवर्ण को कोई जुदा-जुदा बता सकता है? नहीं, जो चाँदी का स्वरूप है वही सुवर्ण का है और जो सुवर्ण का स्वरूप है वही चाँदी का है। चाँदी सफेद है इसलिए उस मिश्रित सुवर्ण को भी सफेद कहना पड़ता है और सुवर्ण पीला होता है, इसलिए उस सुवर्ण मिश्रित चाँदी को भी पीला कहा जाता है। हाँ, यदि वे दोनों जुदे करा दिये जाएँ तो चाँदी पीली नहीं रह सकती और सुवर्ण सफेद नहीं रह सकता है। इसी प्रकार कर्म के बन्धन से जीव मूर्तिक व कर्म चेतन बन जाते हैं, परन्तु जुदा करने पर कर्म जड़ व जीव अमूर्तिक ही रहेगा। जुदा होने पर अपने-अपने मूल स्वभाव को पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि स्वभावों का सम्बन्ध तादात्म्य और शाश्वत होता है। खैर! शुद्ध होने पर चाहे जीव कैसा ही हो, बन्ध के समय मूर्तिकता जबकि सिद्ध हो चुकी तो कर्मों के साथ बन्धन होने में कोई बाधा नहीं रही। आत्मा को मूर्तिक ठहराना इतना ही हमारा प्रयोजन है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संसारी जीव को मूर्तिक ठहराने का अनुमान—

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्।
नह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी॥ 19॥

अर्थ—आत्मा को मूर्तिक ही मानना चाहिए, इसका समर्थन करनेवाला यह एक हेतु भी है कि आत्मा मूर्तिक है तभी तो मद्य का परिणाम उस पर होते दिखता है। कहीं अमूर्तिक आकाश को भी मदिरा मद पैदा कर सकती है? नहीं, परन्तु आत्मा को तो अपने मद से वह मोहित करती है, इसलिए मानना चाहिए कि मूर्तिक मद्य से मोहित हो जाने वाला आत्मा भी मूर्तिक है। भावार्थ—आत्मा का असली स्वभाव तो अमूर्तिक ही मानना पड़ता है जो कि युक्ति से सिद्ध है, परन्तु बन्धन की विचित्र शक्ति होने से संसारदशा में उसे मूर्तिक भी मानना पड़ता है।

अमूर्त आत्मा का बन्ध मूर्त कर्मों द्वारा नहीं हो सकता और बन्धन है ही इसलिए अनादि बन्धन को अतर्कनीय ठहराकर आत्मा को बन्ध पर्याय में मूर्त बताया जाता है जिससे बन्धन न हो सकने की शंका न रहे। इसके बदले में यदि कर्म भी अमूर्तिक माने जाएँ और उसी आत्मा के गुण माने जाएँ तो क्या बाधा है? ऐसा मानने से मूर्त ठहराने की क्लिष्ट कल्पना करनी न पड़ेगी। नैयायिकों ने अदृष्ट को आत्मा का गुण माना ही है। इस प्रश्न का उत्तर—

गुणस्य गुणिनश्चैव न च बन्धः प्रसज्यते।
निर्मुक्तस्य गुणत्यागे वस्तुत्वानुपपत्तितः॥ 20॥

अर्थ—आत्मा को गुणी द्रव्य और कर्मों को उसका गुण माना जाए तो दोनों का बन्धन होना सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि गुणी व गुण का तादात्म्य सम्बन्ध रहने पर भी वह बन्धन नहीं कहा जाता है। बन्धन जुदी-जुदी दो चीजों का ही होता है। यदि यह गुण-गुणी का बन्ध ही माना जाए तो यह तो विचारिए कि कर्मबन्धन मुक्ति होने के समय टूट जाता है। यदि ये कर्म गुण थे तो यों कहना चाहिए कि मुक्ति के समय आत्मा के गुण का नाश हो जाता है। जहाँ गुण का नाश हो जाएगा वहाँ गुणी भी नष्ट हो जाएगा; क्योंकि गुणों के बिना द्रव्य की सत्ता कोई चीज नहीं हो सकती अथवा यों कहिए कि द्रव्यों में जो गुण रहते हैं वे द्रव्यों के लक्षण होते हैं। गुणों से ही द्रव्य जानने में आता है। जुदा द्रव्य का कोई स्वरूप नहीं सिद्ध होता, इसलिए किसी गुण का नाश, मानो उस द्रव्य के लक्षण का नाश है। जब लक्षण का ही नाश हो चुका तो लक्ष्य पदार्थ किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? बस, गुण के नाश के साथ-साथ द्रव्य का भी नाश हो जाएगा। परन्तु सत्[1] का विनाश कभी हो नहीं सकता है, इसलिए कर्म को गुण नहीं मानना चाहिए। कर्म को अमूर्तिक आत्मगुण माना जाए तो दुःख का उसके द्वारा होना तथा शरीर बन्धन प्राप्त होना असम्भव[2] हो जाएगा यह बात पहले और भी इसी प्रकरण में कही जा चुकी है। दूसरा एक दोष यह भी आता है कि कर्म यदि गुण हैं तो गुण का कभी नाश नहीं होता, इसलिए आत्मा कभी कर्म से मुक्त ही नहीं हो सकेगी।

---

1. भावस्य णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो। पं. का. 15, तथा नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। इति गीता।
2. पौद्गलिकं कर्मेत्येतदसिद्धमात्मगुणत्वात्तस्येतितन्नामूर्तेरनुग्रहोपघाताभावात्। —रा.वा. 8/2 वा. 6

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों का विशेष स्वरूप—

प्रकृतिस्थितिबन्धौ द्वौ बन्धश्चानुभवाभिधः।
तथा प्रदेशबन्धश्च ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः॥ 21॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभवबन्ध और प्रदेशबन्ध ये बन्ध के चार प्रकार होते हैं। प्रकृति का अर्थ स्वभाव[1] है। वह कर्मरूप पर्याय जब तक बना रहता है तब तक की काल मर्यादा को स्थिति[2] कहते हैं। रस विशेष जो उत्पन्न होता है जिसको कि आत्मा अनुभव करता है उसका नाम अनुभवबन्ध[3] या अनुभागबन्ध है। परमाणु पुंजों[4] की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

भावार्थ—घट को परिणमाने की उपादान शक्ति या योग्यता जिस प्रकार घट के अवयवों में मानी जाती है तभी घट पर्याय का प्रादुर्भाव होता है। अथवा, जीव में शरीरादि पूर्ण करने की पर्याप्ति नामक शक्ति जब मानते हैं तभी उन पर्याप्तियों से प्राण कार्य उत्पन्न होते हैं। यदि पर्याप्ति न हों तो प्राण उत्पन्न नहीं हो सकते। प्राण कार्य होते हैं और पर्याप्ति कारण। अथवा, पुद्गलों में जब कि स्पर्श गुण होता है तो उसके शीतोष्णादि उत्तरभेद कार्यदशा के समय अनुभव में आते हैं। मूल में यदि कोई स्पर्शगुण न हो तो शीतोष्णादि पर्याय किसके उत्पन्न हों? इसलिए यों कहना पड़ता है कि शीतादिक विशेष धर्म हैं और स्पर्श, यह एक सामान्य गुण या धर्म है। इसी प्रकार सामान्य विशेषता और कार्यकारणता सर्वत्र भरी हुई है, किसी गुण या द्रव्य का स्वभाव इससे शून्य नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति और अनुभाग की बात है। प्रकृति, यह कर्मों का सामान्य स्वभाव या धर्म है और अनुभाग उसकी विशेषता का नाम है। विशेषता सामान्य को छोड़कर नहीं रहती, इसीलिए प्रकृति को छोड़कर अनुभाग नहीं रहता। अनुभाग का अर्थ, कर्म का रस विशेष है तो प्रकृति का अर्थ कर्म का सामान्य स्वभाव।

प्रकृति रूप स्वभाव पुद्गल की एक विभावपर्याय है, परन्तु उस प्रकृति को प्रकट करने की शक्ति पुद्गल मात्र में रहती है। केवल कार्माण वर्गणा तैयार होने पर बँधने की विचित्रता से वह प्रकट हो जाती है। ज्ञानावरणादि बन्ध हो जाने पर भी वह प्रकृति रहती है। यह प्रकृति उतने प्रकार की होती है जितने प्रकार की बोलने में आ सकती है। ज्ञानावरणादि मूल आठ भेद, एक सौ अडतालीस उत्तर भेद तथा मति, स्मृति इत्यादि अथवा अवग्रह, ईहा इत्यादि अथवा तिर्यग्गति के सिंह, घोड़ा, बैल एवं कर्मभूमि तिर्यंच भोगभूमि तिर्यंच इत्यादि जो उत्तरोत्तर भेद कहे जाते हैं वे सब मतिज्ञानावरण की तथा तिर्यंचगति कर्म की उत्तर भेद रूप प्रकृतियाँ हैं। इस उदाहरण को देखकर उत्तरोत्तर प्रकृति भेदों को समझ लेना चाहिए। ये सभी प्रकृतियाँ ही हैं।

इन प्रकृतियों में रहनेवाला अनुभाग पर्याय वह है जो भोगने में आता है। उसका अनुभाग जो भोगने

---

1. प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरं। यथा निम्बस्य का प्रकृतिः? तिक्ततास्वभावः। तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः? अर्थानवरामः। रा.वा. 8/3, वा. 4
2. तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः।—रा.वा., 8/3 वा. 5
3. तद्रसविशेषोऽनुभवः। यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषस्तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। रा.वा., 8/3, वा.6
4. इयत्तावधारणं प्रदेशः। रा.वा., 8/3 वा. 7

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में आता है वह कहा नहीं जा सकता है तो भी वैसी विशेषता रहती अवश्य है। देखिए, खांड का रस कहने में तो 'मीठा' इतना ही कहा जा सकता है। उस रस में जो विशेषता रहती है वह पूरी कहने में नहीं आती तो भी खाने से उसका अनुभव अवश्य होता है। एक खांड खाने में कुछ कम स्वादिष्ट होती है और दूसरी कुछ अधिक। स्वाद की वह हीनाधिकता कहने में नहीं आ सकती है तो भी वह हीनाधिकता की विशेषता रहती अवश्य है। बस, इसी प्रकार प्रकृतिरूप ज्ञानावरणादिकों के एक-दो पिंड में जो फल देनेवाली तरतमरूप परस्पर की विशेषता होती है वह अनुभाग है, और उसे भी शब्द से कह नहीं सकते हैं पर वह है अवश्य। ठीक ही है, जो एक से दूसरे में फल देने की विशेषता है उसे शब्द से ठीक ठीक कैसे कहा जा सकता है। इस प्रकार विचार करने से मालूम पड़ता है कि प्रकृति व अनुभाग में सामान्य विशेषता का ही अन्तर है, इसलिए रस विशेष को आचार्यों ने अनुभाग कहा है। यदि अनुभाग व प्रकृतियों के नाम देखें तो एक-से ही लगेंगे; जैसे ज्ञानावरण की प्रकृति क्या है? ज्ञान का अवरोध। इसी प्रकार ज्ञानावरण में अनुभाग क्या है? वह किसी ज्ञानविशेष का अवरोध। इन उदाहरणों के देखने से मालूम होगा कि प्रकृति व अनुभाग में केवल सामान्य विशेष का अन्तर है, किन्तु स्वभाव या सामर्थ्य एक ही है। शंका—जबकि प्रकृति व अनुभाग में अधिक अन्तर न होकर केवल सामान्य विशेष का ही अन्तर है तो दो भेदों में जुदा दो दिखाने की क्या आवश्यकता थी? केवल प्रकृति मानने से काम चल सकता था, क्योंकि जहाँ किसी विषय में सामान्य विशेषता का केवल अन्तर होता है वहाँ उस विषय के दो नाम कभी नहीं रखे जाते हैं। सामान्य विशेषता प्रत्येक विषय में रहती ही है, इसलिए उसका ज्ञान न कहने पर भी हो ही जाया करता है।

उत्तर—यद्यपि दो भेद किये बिना भी दोनों का कुछ ज्ञान हो जाता है, परन्तु कर्मों का वर्णन, कर्मों के नाम रखे बिना नहीं हो सकता है और अनुभव का स्वरूप नामों के अर्थानुसार न होकर कुछ विचित्र ही होता है, इसलिए दोनों को जुदा-जुदा कहने की आवश्यकता पड़ी। कर्मों का वर्णन न करें तो उपदेश का मार्ग कैसे प्रवृत्त हो? और वर्णन, नाम रखे बिना कैसे हो सकता है? इसलिए कर्मों के प्रकृति रूप नाम रखे गये हैं और 'प्रकृति' यह कर्म वर्णन का एक जुदा विभाग करना पड़ा है। कर्मों का वर्णन करना ही बन्धप्रकरण दिखाने का प्रयोजन नहीं है। तो? कर्म का बन्धन होने से जीव को जो अशुद्धता का फल भोगना पड़ता है वह विचित्र है। नामों के शब्दार्थ ज्ञान से भी वह अतिसूक्ष्म है। कहने में नहीं आता है। प्रकृति का एक ही नाम जिन असंख्यातों तरतम अनुभागों में लग सकता है वे ही अनुभाग भोगने में असंख्यातों तरह के होते हैं। फलोद्गम एक-एक अनुभाग के अनुसार ही होते हैं न कि प्रकृति के अनुसार। यदि प्रकृति के अनुसार फलोद्गम होते तो प्रकृति के असंख्यातों ही भेद हैं, न कि अनन्त, इसलिए संसार की सर्व विचित्रता असंख्यात ही प्रकार की होती, न कि अनन्त प्रकार की, परन्तु संसार की विचित्रता अनन्तों तरह है, इसलिए वह असंख्यात प्रकार की प्रकृति से जन्य नहीं हो सकती है। कारण ही जहाँ अनन्त प्रकार के न होंगे वहाँ कार्य अनन्त प्रकार के कैसे हो सकते हैं? इसलिए प्रकृति के अतिरिक्त 'अनुभाग' इस नाम का जुदा वर्णन करने योग्य बन्धतत्त्वाधिकार का अन्तराधिकार रखना पड़ा। प्रकृति के जुदा कहने का प्रयोजन कह ही चुके हैं। इस प्रकार 'प्रकृति' व 'अनुभाग' ये दो यहाँ बन्धतत्त्व के विभाग आवश्यक हुए।

अब रहे स्थितिबन्ध व प्रदेशबन्ध। सो प्रकृति व अनुभाग जैसे कोई बन्धन प्राप्त पुद्गलपिंड नहीं हैं, किन्तु उन पुद्गलपिंडों के सामर्थ्य विशेष हैं, तो भी वे सामर्थ्य ही कर्मों को इतर पुद्गल पर्यायों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

से जुदी तरह का दिखाने वाले हैं, इसलिए उन दो भागों को जुदा करके वर्णन किया जाता है। उसी प्रकार 'स्थिति' यह एक बन्धतत्त्व का तीसरा विभाग अवश्य है, परन्तु कर्मपिंड से कोई जुदी चीज नहीं है। आत्मा के साथ जैसी कषाय की तीव्रता वा मन्दता से कर्मबन्ध होता है, वैसा ही वह तीव्रता या मन्दता से आत्मा में बद्ध होता है और वैसा ही वह बन्धन की मर्यादा को कायम रख सकता है। एक कर्मपिंड जो मन्द कषाय के द्वारा बँधा है वह अधिक चिपट नहीं सकता है। वह शिथिल ही रह जाएगा, इसीलिए आत्मा में अधिक न टिककर जल्दी ही छूटेगा एवं जो कर्मपिंड किसी ऐसे तीव्र कषाय से बँधा हो जो कि अधिक चिपटा हो वह जल्दी जुदा नहीं होगा। इसी टिकाव का नाम स्थिति है। जब किसी में बन्धन होता है तो कर्म का अधिक टिकाव अवश्य निश्चित हो जाता है। उस मर्यादित टिकाव के भीतर स्वयमेव उस बन्ध का विघटन कभी नहीं हो सकता है। इसी का नाम स्थिति है। यदि किसी प्रबल घातक कारण से मर्यादा के भीतर उसका उद्रेक हो जाता है तो उसे स्थिति से पहले उद्रेक हुआ कहते हैं। जैन शास्त्रों में उदीरणा भी उसी को कहा है। कर्मों के टिकाव का हीनाधिक परिणमन किस-किस प्रकार का होता है, उसका प्रयत्न से उच्छेद बीच में ही करना हो तो कैसे किया जा सकता है, इत्यादि प्रयोजन स्थिति स्वरूप दिखाने पर सिद्ध होते हैं; इसलिए यह 'स्थिति' का एक तीसरा विभाग बन्धतत्त्व विवेचन में जुदा रखना पड़ा है।

चौथा विभाग इस बन्ध तत्त्व में 'प्रदेशबन्ध' नाम का है। यही विभाग वास्तव में बन्ध के पदार्थ को दिखाता है। इस विभाग में 'प्रदेशों की संख्या कितनी-कितनी बँधती है, उसकी आकृति कैसी होती है, आत्मा के कितने प्रदेशों में वे पुद्गल बँधते हैं' इत्यादि बातों का खुलासा किया जाता है। यह प्रदेशबन्ध बाकी तीन भावरूप बन्धों का आश्रय है, इसलिए यह चौथा 'प्रदेशबन्ध' नाम का विभाग बन्धतत्त्व के प्रकरण में अवश्य कहने योग्य है।

प्रकृतिबन्ध के भेद—

ज्ञान-दर्शनयो रोधौ वेद्यं मोहायुषी तथा।
नाम-गोत्रान्तरायौ च मूलप्रकृतयः स्मृताः॥ 22॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय ये मूल प्रकृतिबन्ध के आठ भेद हैं। ज्ञानावरण कर्म ज्ञानगुण को घातता है या प्रकट होने से रोकता है। दर्शनावरण देखने की शक्ति को व्यक्त नहीं होने देता है। वेदनीय सुख तथा दुःख का अनुभव कराता है। मोहनीय कर्म आत्मपरिणति से हटकर बाह्य विषयों में झुकाव कराता है। आयुःकर्म औदारिक, वैक्रियिक शरीरों में जीव को रोकने का काम करता है। नामकर्म शरीर व शरीर के अवयवों को बनाता है, उनमें उचित अनुचितपने को भी उत्पन्न करता है। गोत्रकर्म जीव को शरीर के सम्बन्ध से नीच व ऊँच ठहराता है। अन्तराय जीव के इष्ट प्रयोजनों में तथा जीव की शक्ति में विघ्न डालता है—अपना उदय होने पर शक्ति को प्रकट नहीं होने देता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन आठों कर्मों के जो कार्य कहे वे सुगमता से समझने में आ जाएँ, इसलिए उन्हीं के कार्यों से मिलते हुए लोक में जिन चीजों के कार्य हो सकते हैं, उदाहरणार्थ[1] वे चीजें बताते हैं। ज्ञानावरण का उदाहरण परदा है। किसी वस्तु के ऊपर परदा पड़ जाने से वह वस्तु दिखती नहीं है। दर्शनावरण का उदाहरण द्वारपाल है। द्वारपाल के रोक देने से स्वामी का दर्शन नहीं हो सकता है। वेदनीय का उदाहरण शहद लपेटी तलवार है। उसके चाटने से ही सुखानुभव होता है और जीभ कट जाने से दु:खानुभव भी होता है। मोहनीय का उदाहरण मद्य है। मद्य के पीने से मनुष्य अन्तरंग के विचार से शून्य होकर बाह्य विषयों में मोहित हो जाता है। आयु:कर्म का उदाहरण बेड़ी है। बेड़ी पड़ जाने से जीव जहाँ का तहाँ रुका रहता है। नाम कर्म का उदाहरण चित्रकार है। चित्रकार चित्र बनाता है, उसे अच्छे-बुरे, बेढंगे बनाता है। गोत्र कर्म का उदाहरण कुम्भकार है; जो छोटे-बड़े अनेक प्रकार के घड़े बना देता है। अन्तराय का उदाहरण भण्डारी है। स्वामी की आज्ञा रहते हुए भी भण्डारी से किसी चीज के मिलने में अन्तराय पड़ता है।

उक्त आठ कर्मों में से चार घाति व चार अघाति माने जाते हैं। आत्मगुणों को सीधे घातने वाले जो हों वे घाति कहे जाते हैं। वे घाति चार कर्म हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय। शेष रहे चार कर्म अघाति हैं, क्योंकि वे किसी आत्मीय गुण को घातते नहीं हैं। वेदनीय सुख-दु:ख का अनुभव कराता है, इसलिए घाति-सा मालूम होगा, क्योंकि सुख-दु:ख के साधनभूत विषयों में फँसना पड़ता है जिससे कि शान्ति या निराकुलता रूप असली सुख गुण का घात हो जाता है। वेदनीय के द्वारा अव्याबाध गुण का घात होना माना जाता है, परन्तु यह घातनेवाले वेदनीय से नहीं होता, मोहनीय का बल प्राप्त होने पर वेदनीय से होता है, इसलिए वेदनीय असली उस गुण का घातक नहीं है, परन्तु मोहनीय की सहायता से अवश्य उसके कार्य में घाति के कार्य की-सी शंका हो जाती है। यही कारण है कि आठ प्रकृति गिनाने में वेदनीय को घाती कर्मों के बीच[2] में रख दिया है और शेष घाति व अघाति कर्मों को जुदे दो वर्गों में रखा है। यदि ऐसा है तो अन्तराय को सबके पीछे, अघातियों के भी अन्त में क्यों रखा है? इसका उत्तर यह है कि अन्तराय कर्म जीव के जिस गुण को घातता है वह गुण है तो जीव का ही; परन्तु वैसा ही वीर्यगुण निर्जीव-द्रव्यों में भी रहता है, इसलिए वह गुण एक साधारण गुण है। ज्ञानादि गुणों की तरह जीव[3] का ही केवल असाधारण नहीं है यह बात दिखाने के लिए जीव की अशुद्धि करने वाले यावत् कर्मों के पीछे से इस अन्तराय को स्थान दिया गया है और यह रहते हुए भी जीव शक्ति को सर्वथा घात नहीं सकता है।

इसके सिवाय तीसरा और भी एक कारण है कि नामादि अघाति कर्मों की सहायता बिना वह कुछ कर नहीं सकता है। इससे नामादिक के पीछे लिखना ही न्याययुक्त है।

शंका—अघाति कर्मों के विषय में यह शंका होना सहज है कि अघाति कर्म जबकि जीव के गुणों को घातते ही नहीं हैं तो उन्हें कर्म क्यों कहना चाहिए? कर्म का साधारण लक्षण यही है कि वह जीव

---

1. पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं। जह एदेसिं भावा तहविह कम्मा मुणेयव्वा॥21॥ गो. क.।
2. घादिवं वेयणीयं मोहस्य बलेण घाददे जीवं। इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पडिदं तु॥19॥ गो.क.।
3. घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो। णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि॥17॥ गो.क.।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को परतन्त्र करे। जो परतन्त्रता होती है वह किसी गुण की ही हो सकती है, इसलिए या तो सर्वकर्म घाति ही होने चाहिए और या जो घाति नहीं हैं वे कर्म भी न होने चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि आठों ही कर्मों के घातने योग्य जीव के आठ गुण कहीं-कहीं पर लिखे गये हैं। जबकि आठों ही कर्म गुणों के घातने वाले हों तो चार को अघाति कहकर शेष चार को भी क्यों घाति कहना चाहिए?

उत्तर—जो घाति कर्म हैं वे वास्तविक और सविकल्प तथा अनुजीवी गुणों को घातते है और अघाति कर्म निर्विकल्प तथा प्रतिजीवी गुणों को घातते हैं। प्रतिजीवी गुण एक ऐसी बात होती है कि उन्हें गुण न कहकर स्वभाव कहें तो भी चलता है। प्रतिजीवी गुण अपनी वास्तविक सत्ता नहीं रखते, किन्तु दूसरे प्रतिपक्षी गुणवाले पदार्थ की अपेक्षा से एक किसी वस्तु को उस प्रतिपक्षी से उल्टी मनाना यही प्रतिजीवी गुण या स्वभाव का अर्थ है, इसीलिए उन गुणों को यदि वास्तविक न माना जाए तो कुछ अनुचित नहीं है। जैसे कि सूक्ष्मत्व स्वभाव जो किसी वस्तु में पाया जाता है वह एक-दूसरे स्थूलत्व गुणवाले पदार्थ से भिन्नता की अपेक्षा से। इसी प्रकार सर्व प्रतिजीवी गुणों की कल्पनाएँ की जाती हैं, उन्हें गुण न कहके[1] स्वभाव मात्र कहें तो भी कुछ हानि नहीं है। अघाति कर्म जिन गुणों को घातते हैं वे भी ऐसे ही प्रतिजीवी गुण हैं, इसलिए उन्हें गुणघाती न मानकर स्वभाव के विरोधी मानें तो भी ठीक होगा और उन कर्मों को अघाति कहना भी सम्भव हो जाएगा। देखिए, अघाति चारों कर्मों से जो चार गुण घाते जाते वे ये हैं, 1. वेदनीयकर्म से घाता जानेवाला गुण अव्याबाध, 2. आयुःकर्म का प्रतिपक्षी अवगाहन गुण, 3. नामकर्म का सूक्ष्मत्व गुण। 4. गोत्रकर्म का अगुरुलघु गुण। इन चारों में से एक भी ऐसा गुण नहीं है जो कि घाति कर्मों द्वारा घाते जानेवाले ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुणों की तरह साक्षात् सत्तावान् अनुजीवी गुण हो।

अघातियों का अघातिपना—

परस्पर में एक दूसरी चीजें मिलने पर जो संघटन होता है उससे चीजों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। ये चीजें स्वस्थ अवस्था में रह नहीं पाती हैं। बस इसी को बाधा या व्याबाधा कहते हैं। ऐसे क्षोभ के निमित्त मिलने पर जो आत्मा में व्याबाधा उत्पन्न होती है उसका अन्तरंग कारण वेदनीय कर्म माना जाता है। सर्व प्रकार की मोहजन्य विषयाकांक्षाओं के अनुभव कराने में आत्मा को लगाने वाला वेदनीय कर्म है। वेदनीय, वेद्य या वेदन शब्दों का तात्पर्यार्थ भी यही होता है, और इसीलिए वह मोह के उदय बिना अपना फल नहीं दिखा सकता है। उस वेदनीय के नष्ट हो जाने से जो आत्मा में क्षोभ मचाने वाली व्याबाधा थी वह नहीं रहती। उसी समय कहा जाता है कि अव्याबाधा अवस्था या गुण प्रकट हुआ। यहाँ देखने की बात यह है कि क्या तो पहले वेदनीय की उदयावस्था में नहीं था और क्या अब वह प्रकट हो गया? कुछ नहीं, जो विकार हो जाने के कारण बाधा-संवेदन होता था, वह नहीं रहा। इसे वास्तव में कोई गुण नहीं कह सकते हैं। केवल विरुद्ध अवस्था के संवेदन का अभाव हो गया है, इतनी अपेक्षा लेकर यदि चाहें तो उसे प्रतिजीवी गुण कह सकते हैं, नहीं तो कुछ नहीं है और वह भी असली कार्य मोहनीय का है और मोहनीय घातिकर्म है। जो अशुद्ध अवस्था हुई वह तो मोह का ही कार्य है; वेदनीय केवल उस अवस्था में सुखी-दुःखी बनाने की तरफ जीव को उन्मुख करता है, इसीलिए उस कार्य को

1. 'गुणाः स्वभावा भवन्ति स्वभावा गुणा भवन्ति न भवन्ति च।' आ.प.।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में मोह का ही कहना चाहिए। यदि मोह का वह कार्य न होकर केवल वेदनीय का ही होता तो इसे भी घाति अवश्य कहना पड़ता और फिर मोह को जुदा मानने की आवश्यकता भी न रहती। जो लोग केवल वेदनीय को भी कार्यकारी मानते हैं उन्हें इसका उत्तर देना चाहिए कि वेदनीय घाति क्यों नहीं है? इसीलिए तो आचार्यों ने उसे घाति नहीं माना क्योंकि मोह न रहने पर वह कुछ कार्यकारी नहीं होता। देखिए, ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर आगे मोह नहीं रहता, इसलिए वेदनीय कुछ भी कार्य वहाँ नहीं कर पाता है। यदि वह वहाँ कुछ कार्य करे तो यों कहना चाहिए कि तेरहवें गुणस्थान में भी दु:ख-अशान्ति छूट नहीं पाती। जबकि ऐसा है तो तेरहवें गुणस्थान को जीवनमुक्ति कहना भी ठीक नहीं बनेगा। 'जीवन्' का अर्थ अघाति कर्मोदय है, और मुक्ति का अर्थ कर्मकृत दु:खों से पूरा[1] छूट जाना है।

ऊपर के कथन से यह सिद्ध हुआ कि वेदनीय किसी गुण का घातक न होने से अघाति है। आयु कर्म को देखिए, आयु[2] कर्म का कार्य शरीर या भव में जीव को रोक रखना है। इसी को यों कह सकते हैं कि वह अवगाहन-गुण को घातता है। इससे यह फलितार्थ सिद्ध हुआ कि शरीर में रुकने का नाम अवगाहनघात है। अब यहाँ यह देखिए कि, अवगाहन क्या है और उसका घात क्यों हुआ है?

क्षेत्र की लम्बाई, चौड़ाई व ऊँचाई के परिमाण को अवगाहन कहते हैं अथवा उस परिणाम[3] में समाकर रहना सो अवगाहन है। जीव की शुद्ध अवस्था का और अशुद्ध अवस्था का अवगाहन तो एक-सा ही होता है, परन्तु प्रदेश संख्या की तरफ देखें तो जीव के प्रदेश उतने हैं जो कि लोकाकाश भर में पसर सकें और एक-दूसरे से जुदे भी न हों। केवलीसमुद्घात में ऐसा माना भी गया है कि आत्मा के प्रदेश उतने हैं जो कि लोकाकाश भर में पसर सकें और एक-दूसरे से जुदे भी न हों। केवली समुद्घात में ऐसा माना भी गया है कि आत्मा के प्रदेश परस्पर लोकाकाश भर में क्षणभर के लिए व्याप जाते हैं। इतर समयों में सदा शरीर परिमाण होकर रहते हैं और मुक्त होने पर भी अन्तिम शरीर से कुछ कम के बराबर ही विस्तृत रहते हैं। जब अवगाहन शब्द का यही अर्थ है तो इसमें घात किसी का भी नहीं हुआ। जब तक कर्मबन्धन है तब तक प्रदेशों के विस्तार में हीनाधिकता होती रही और कर्म न रहने पर प्रदेशविस्तार कायम होकर टिका रहा, इसीलिए जो अवगाहन के परिवर्तन होते रहने का कार्य आयु:कर्म करता है वह वास्तविक कोई घात नहीं है, जैसा कि ज्ञानावरणादि के उदय से ज्ञानादि गुणों का घात होता रहता है। हाँ, अवगाहन गुण का उसे घाति बताने का मतलब यह समझना चाहिए कि वह कर्म उस अवगाहन का फेरफार करता रहता है। प्रथम तो अवगाहन कोई अनुजीवी सत्तात्मक गुण ही नहीं है और फिर अवगाहन के फेरफार से उसका घात हुआ मानना ही भूल है। 'घात' यह शब्द जो आचार्यों ने कहा है उसका अर्थ भी वास्तविक 'घात' ऐसा नहीं है, इसलिए इस आयु:कर्म को अघाति मानना असंगत नहीं है।

तीसरा अघातिकर्म नामकर्म है। यह सूक्ष्मत्व गुण को घातता है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अमूर्तिक होने से सूक्ष्म माना जाता है। सूक्ष्म का अर्थ परमाणु की तरह होना, सूक्ष्मता न रहने का अर्थ

---

1. इसका अधिक खुलासा अन्त में लिखेंगे।
2. आऊबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि आउणाम पुव्वं तु भवमस्सिय णीचुच्च इदिगोदं णामपुव्वं तु॥ गो. क.।
3. करणार्थ में प्रत्यय करने से परिणाम शब्द का पहला अर्थ होगा और भावप्रत्यय करने में यह दूसरा अर्थ होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

घटपटादि स्थूल पदार्थों की तरह होना, आत्मा में स्थूलता व सूक्ष्मता नहीं मानी जाती है। तो? रूपादिगुणों का अत्यन्ताभाव होने से सूक्ष्मता है और कर्मसंयोग व शरीरसंयोग के हो जाने से उपचरित स्थूलता मानी जाती है। पुद्गल के परमाणुओं में रूपादि गुण तो रहते हैं, परन्तु इन्द्रियगोचर नहीं होते, इसलिए सूक्ष्मता मानी जाती है। बड़े पुद्गल स्कन्धों में रूपादिगुण इन्द्रियग्राह्य रहते हैं, इसलिए वह पुद्गल स्थूल माने जाते हैं इस कथन से यह मालूम हो जाएगा कि पुद्गल की स्थूलता तथा सूक्ष्मता दूसरी तरह की है और आत्मा की सूक्ष्मता, स्थूलता दूसरी तरह की है। आत्मा की सूक्ष्मता तो वास्तविक हो सकती है; क्योंकि, स्थूलता के कारण रूपादियोग उसमें नहीं रहते, परन्तु स्थूलता शरीर के सम्बन्ध से औपचारिक ही हो सकती है। क्योंकि, रूपादिगुणों की सत्ता हो तो वह कभी इन्द्रियग्राह्य होने पर स्थूल रूप धारण कर सकेगी, किन्तु जहाँ रूपादि का अत्यन्ताभाव होगा वहाँ वास्तविक स्थूलता आ ही कहाँ से सकती है? इस प्रकार जबकि आत्मा में वास्तविक स्थूलता नहीं होती है तो सूक्ष्मता का वास्तविक विघात हुआ कैसे माना जा सकता है? इसीलिए सूक्ष्मता का घातक नामकर्म को मानना औपचारिक है। इस उपचार का निमित्त शरीर सम्बन्ध होने से जिस प्रकार आत्मा को मूर्तिक मानना औपचारिक है वैसे ही स्थूल मानना भी औपचारिक है। उस उपचार की कल्पना का प्रयोजन क्या है? नामकर्म के सम्बन्ध से जीव की अवस्था बदलती है क्या? यह बात दिखाना इस उपचार का प्रयोजन है। इस नामकर्म के उदय से शरीर का सम्बन्ध होना मुख्य कार्य है, परन्तु आत्मा में स्थूलता प्राप्त होना औपचारिक ही है। इस बात में एक दूसरा भी प्रमाण है। वह यह कि, कर्म के बन्धन से आत्मा में मूर्तिकता होना मानना सर्वथा व वास्तविक जैसे नहीं है वैसे ही स्थूलता भी सर्वथा वास्तविक नहीं हो सकती है। जब वास्तविक स्थूलता नहीं हुई तो सूक्ष्मता का घात भी नामकर्म द्वारा वास्तविक हुआ नहीं मानना चाहिए।

अब रहा अघाति गोत्रकर्म। यह अगुरुलघु गुण को घातता है। यह घातना भी औपचारिक है। गोत्रकर्म का वास्तविक कार्य जीव को ऊँचा-नीचा ठहराना है। इसी को दूसरे शब्दों में कहें तो यों कह सकते हैं कि अगुरुलघुगुण का वह घात करता है। अगुरुलघु गुण वह है जो कि सर्व जीवाजीव द्रव्य मात्र का साधारण गुण है। उसका कार्य यह है कि अपने-अपने द्रव्य के अन्तर्गत जितने गुण हों उनको सीमा के अनुसार छह प्रकार से घटाता बढ़ाता रहे। उस गुण का कभी घात नहीं हो सकता है। वह गुण जिस प्रकार शुद्ध अवस्था में रहता है उसी प्रकार अशुद्ध अवस्था में भी रहता है और अपना काम करता है। परनिमित्तक व स्वनिमित्तक पर्यायों में से स्वनिमित्तक पर्याय होना तथा कराना उसी का कार्य है। वे स्वनिमित्तक पर्याय अशुद्ध अवस्था के समय में भी वस्तुओं में होते ही हैं। यदि अगुरुलघु गुण का गोत्रकर्म घात करता होता तो अशुद्ध संसारी जीव में स्वनिमित्तक पर्याय होना ही बन्द हो जाती। साथ ही, अगुरुलघु गुण का एक यह भी कार्य है कि वस्तु या गुण को सर्वथा नष्ट न होने दे। यदि उस गुण का घात हो गया तो जीव का सर्वनाश होने से भी कौन रोक सकता है? परन्तु वस्तुमात्र में स्वनिमित्तक पर्याय होने से रुक जाना भी असम्भव है और किसी वस्तु का सर्वनाश होना भी असम्भव है, इसलिए मानना पड़ता है कि इस गोत्रकर्म का वह घात नहीं कर सकता है। तो? सन्तानक्रम से प्राप्त हुए ऊँच-नीच आचरण को गोत्र कहते हैं। यह ऊँच-नीचता वास्तविक जीव का स्वभाव नहीं है। जीव सर्व चैतन्यादि समशक्ति के धारण करनेवाले हैं। उनमें नीच-ऊँचता का मानने का कोई हेतु ही नहीं है, परन्तु शरीर के होने से

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीरयुक्त जीव में यह नीच-ऊँचता आरोपित हो जाती है। इसका आरोपण कारण गोत्रकर्म है और सहकारी कारण नामकर्मजनित शरीर है। शरीर है तो शरीर के सम्बन्ध से जीव में दोष प्रकट होंगे। उनके कारण कर्म होने ही चाहिए, क्योंकि कर्म के बिना जीव की विकृत अवस्था होना सम्भव नहीं है, इसीलिए जितने प्रकार के विकार हों उतने ही प्रकार कर्म में मानने पड़ते हैं। यदि ऐसा न होता तो कर्म के शेष भेद करना भी व्यर्थ हो जाता, परन्तु कारण भेद के बिना कार्यों का भेद होना न्यायबाधित है, इसलिए ऊँच-नीचपने का कारण एक जुदा कर्म मानना ही पड़ता है।

ऊँच-नीच को गुरुलघु भी कह सकते हैं, इसलिए जिस शुद्ध आत्मस्वरूप में गुरुता तथा लघुता वास्तविक नहीं थी उसमें शरीर के सम्बन्ध से प्राप्त हो गयी—यह अगुरुलघु गुण नहीं समझना चाहिए। क्योंकि, उसका घात होना सम्भव नहीं है। यह अगुरुलघु केवल गुरुलघुत्व की या नीच-ऊँचपने की कल्पना के अभाव का नाम है। जीव में यह गुरुलघुत्व की कल्पना होने का कारण नहीं था, परन्तु बन्धन के वश यह कल्पना हो जाती है। बस, यही अगुरुलघु प्रतिजीवी आपेक्षिक स्वभाव के घात कर देने का अर्थ समझना चाहिए। अब विचारिए कि गोत्रकर्म ने किसका घात किया? किसी भी सत्तात्मक गुण का घात नहीं किया। गोत्र कर्म ने यदि कुछ किया तो इतना ही कि, जिस आरोप का जीव में नाम भी नहीं था उस जीव में शरीर के सम्बन्ध से वह आरोप प्राप्त करा दिया, इसलिए वास्तव में यह कर्म किसी का घातक नहीं रहा। तो भी इस कर्म की आवश्यकता रही, इसीलिए इसे अघाति कर्म कहते हैं। यदि यह कर्म न माना जाए तो ब्राह्मण की एवं ब्रह्म की सन्तान को ब्राह्मण कहना तथा विशू या वैश्य की सन्तान को वैश्य कहना कैसे संघटित होगा? क्योंकि, ये शब्द अपत्य के अर्थ में रहते हैं। अपत्य नाम सन्तान का है। सन्तान[1] परम्परा से हो सकती है। इसलिए यह गोत्रकर्म जो ऊँच-नीचता ठहराता है वह ऊँच-नीचपना रहता जीव के शरीर में ही है, परन्तु सन्तान के सम्बन्ध से। यह गोत्रकर्म जीव विपाकीकर्म[2] माना गया है। जीवविपाकी उसे कहते हैं कि जिस कर्म का फल जीव पर ही प्राप्त है।

हम यह भी बता चुके हैं कि अघाति कर्मों द्वारा जिन स्वभावों का घात होना लिखा है वे ज्ञानादि गुणों की तरह सविकल्पक नहीं हैं, किन्तु निर्विकल्पक हैं। सविकल्पक तथा निर्विकल्पक गुणों में क्या अन्तर होता है वह देखिए। जिन गुणों का इन्द्रियों द्वारा या स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता हो उन्हें सविकल्पक गुण कहते हैं, शेष सर्व निर्विकल्पक। पुद्गल के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है, इसलिए पुद्गल के ये चार गुण सविकल्पक कहलाते हैं, शेष सब निर्विकल्पक।

जीव के ज्ञान, दर्शन स्वानुभवगोचर होते हैं, इसलिए सविकल्पक हैं। ज्ञान-दर्शन का अर्थ जानना देखना है, परन्तु देखना जानना जहाँ रहता है वहाँ उन्हीं ज्ञानदर्शन-गुणों के वर्तन रूप से हो सकता है, उसी प्रकार उस जानने का वर्तन या चरण भी ज्ञानदर्शन के साथ ही अनुभवगोचर होता है। क्योंकि, जानना, देखना व प्रवर्तना ये तीनों स्वभाव एक ही वस्तु के, एक ही काल में रहनेवाले, एक ही विषयगत धर्म हैं, इसलिए चारित्रगुण भी प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं रहता है। ये तीन घातिकर्मों के द्वारा घाते जाते हैं।

---

1. संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा। उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥17॥ गो. क.।
2. वेद णियगोदघादीणेकावण्णं तु णामपयडीणं। सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीववाईओ॥41॥ तित्थयरं उस्सासं बादरपज्उत्त सुस्सुरादेज्जं। जस तसविहायसुभगदु चउगई पणजाई सगवीसं॥50॥ गो. क.।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अब रहा वीर्य जो कि अन्तराय[1] के द्वारा घाता जाता है। वह वीर्यगुण भी सविकल्पक है, क्योंकि; चारित्र की तरह वह भी ज्ञान-दर्शन से जुदा होकर नहीं रहता और न ज्ञानादि धारण के सिवाय उसका दूसरा उपयोग ही है, इसीलिए जैसे चारित्र सविकल्पक है वैसे वीर्य भी सविकल्पक होना चाहिए। ज्ञान का धारना वीर्य और वर्तना चारित्र-ये दोनों समान विषय के धर्म हैं। जो जाननेवाला होगा वह अपनी ज्ञानशक्ति व दर्शनशक्ति को जिस प्रकार जानेगा उसी प्रकार उस ज्ञान की या अपनी वर्तना शक्ति को भी जानेगा और धारणाशक्ति को भी अवश्य जानेगा बस, इसीलिए हम चारों को स्वानुभवगोचर कहते हैं और स्वानुभवगोचर का ही नाम सविकल्पक है। ये चारों शक्तियाँ सविकल्पक हैं, इसीलिए इनके घातक कर्मों को असली घातिकर्म कहते हैं।

इस प्रकार जब आत्मा के चार ही गुण सविकल्पक हैं, सत्ताधारी हैं, वास्तविक हैं तो आठों कर्म घाति किस प्रकार माने जा सकते हैं? इसलिए आठों गुणों के घातक, आठों कर्मों को मानना एक अपेक्षावश है। वास्तव में चार घाति और चार अघाति ही हैं। अब शंका यह रही कि तीन कर्म तीन गुणों को घातते हैं और मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्र इन दो गुणों को घातता है। तो मोहनीयकर्म के सम्यक्त्व मोहनीय व चारित्र मोहनीय ये दो भेद किये गये हैं, इसलिए मोहनीय को केवल चारित्र का घातक बताना ठीक नहीं है। जब कि मोहनीय दो गुणों का घातक रहा तो चारघाति कर्मों से चार गुणों का घात होना क्यों बताया गया है? उन्हें पाँच गुणों का घात कहना चाहिए? दूसरी शंका यह है कि शुद्ध जीवों के कर्मनष्ट होने पर प्रकट होनेवाले जो आठ[3] गुण कहे हैं उनमें चारित्र को न कहकर सम्यक्त्व को ही कहा है। सो क्यों? वहाँ चारित्र[4] क्यों छोड़ा गया? कहीं-कहीं पर चारित्र व सम्यक्त्व में से एक को भी न कहकर सुख[5] गुण का ही उल्लेख किया है। सो क्यों? मोहनीय के विषय में एक चौथी शंका यह हो सकती है कि मोहनीय जबकि सम्यक्त्व व चारित्र इन दो गुणों का घातक है तो मूल प्रकृतियों में उसके दो भेद मानकर कर्म नौ कहने चाहिए थे, परन्तु कहे आठ ही हैं। सो भी क्यों? इस प्रकार मोहनीय के विषय में अनेक शंकाएँ हो सकती हैं।

उत्तर—प्रथम देखना चाहिए कि मोहनीय कर्म का क्या स्वरूप है और वह एक जुदा क्यों माना गया है?

मोहनीय[4] का कार्य यह है कि वह जीव का निज स्वरूप प्रगट न होने दे—सांसारिक दशा को बढ़ावे। संसारिक दशा का अर्थ यह है कि जीव में आकुलता बढ़े, अशान्ति बढ़े, क्षोभ बढ़े। जबकि विजातीय द्रव्य का मिश्रण होगा तो एकाकी जीव की शुद्धदशा जैसी शान्ति या निराकुलता कैसे रह सकती

---

1. कथं तेषां (दानादीनां) सिद्धेषु वृत्तिः? परमानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः। केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत्। सर्वा.सि., वृ. 261
2. आवणमोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो। आउगनामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति॥7॥ गो. क.।
3. सम्मत्तणाण दंसण विरियं सुहमं तहेव अवगहणं। अगुरुलहुमव्वावाहं अट्ठ गुणा होंति सिद्धाणं॥
4. अब्भरहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो हि दंसणं होदि। सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे॥16॥ गो. कर्म.। परमानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः—सर्वा.सि. पृ. 111, अ. 2
5. अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यतामनन्तसौख्यत्वमनन्तदर्शनम्। बिभर्ति योऽनन्तचतुष्टयं विभुः स नोऽस्तु शान्तिर्भवदुःखशान्तये॥ च.प्र.च., आ.वी.।
6. कम्मकयमोहबड्ढियसंसारम्हिय अणादिजुत्तम्हि॥11॥ गो. क.। नेवं-यतो विशेषाऽस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः। मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात्॥ मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्। इष्टानिष्टार्थसंयोगात्स्वयंरज्वद्द्विषद्यथा॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है ? इस अशान्ति में तीन विभागों की कल्पना करनी पड़ती है; एक तो, अशान्ति रूप वेदन, दूसरा उस वेदन की तरफ लगानेवाला या झुकानेवाला कारण, तीसरा उस वेदन का विषय। जो अशान्ति का वेदन है वह तो ज्ञानरूप होने से ज्ञानगुण में गर्भित होगा और उसका कारण ज्ञानावरण का क्षयोपशम होगा। दूसरा प्रकार जो अशान्ति का होगा वह वेदनीय कर्म का कार्य होगा। तीसरा, अशान्ति का प्रकार जो अशान्तिवेदन का विषय है उसे भी अशान्ति ही कहना चाहिए और वह मोहनीय का कार्य समझा जाएगा। इन तीनों अर्थों का संग्रह एक अशान्तिक शब्द में हो सकता है। इन तीनों में से मोहनीय का कार्यरूप जो अर्थ है वह वाच्यरूप अर्थ है और ज्ञान कर अपेक्षा से ज्ञेयरूप अर्थ है। जो ज्ञान उत्पन्न हो उसमें अशान्ति, यह विशेषण होगा, इसीलिए विशेषण निकाल दिया जाए तो ज्ञान ही शुद्ध ज्ञान रह सकता है और जो विशेषण जुदा किया गया है उसे चाहे शान्ति कहिए या अशान्ति, परन्तु रागद्वेष का ही वह स्वरूप मानना पड़ेगा। रागद्वेष रूप कार्य मोहनीय का है और उसके अनुभव में आत्मा को लगाना सो वेदनीय का कार्य है एवं उसे ज्ञान कहे बिना भी रहा नहीं जा सकता हैं, परन्तु ज्ञान का प्रकाश ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम की आवश्यकता रखता है तभी तो हमने कहा है कि अशान्ति यह तीनों कर्मों का कार्य है, परन्तु जो उस विषय को उत्पन्न करे, मुख्य उसी कर्म को कहना चाहिए और वही आत्मा को असली बाँधनेवाला है। इससे यहाँ तात्पर्य यह लेना कि अशान्ति, मोह, आत्मज्ञानपराङ्मुखता तथा विषयाशक्ति ये सर्व कार्य मोह के ही हैं।

मोह के इन कार्यों को हम दो प्रकार से विभक्त करते हैं : आत्मा से विमुखता और विषयों में प्रवृत्ति। ये दोनों ही बातें वास्तव में तो कोई जुदी-जुदी नहीं हैं; क्योंकि, इनमें एक आत्मसम्बन्धी विकार या अशान्ति का ही निषेध व विधिमुख होकर दिखाया है। आत्मस्वरूप को भूलकर उससे हटना यह निषेधमुखी दोष है और फिर विषयों में रमना यह विधिमुखी दोष है। इन दोनों को एक शब्द से कहना हो तो आत्ममल, आत्मक्षोभ या आत्म-अशान्ति इत्यादि किसी भी शब्द से कह सकते हैं। बस, इसी दोष के पहले भेद को हम मिथ्यादर्शन-शब्द से कहेंगे और दूसरे को कषाय-शब्द से। पहला भेद अधिक बलवान माना जाता है और दूसरा कुछ कम। कारण यह है कि प्रथम यदि आत्मा को भूलकर जीव उससे विमुख हो तो पीछे विषयासक्ति उत्पन्न होगी। यद्यपि इन दोनों कार्यों में विलम्ब नहीं लगता है तो भी कार्यकारण सबन्ध माना जाता है।

कारण के नाश से कार्य भी नष्ट हो जाता है; इसलिए विषयाशक्ति घटाने से पहले ही आत्मश्रद्धान उत्पन्न करने का आचार्य उपदेश देते हैं। आत्मश्रद्धान और सम्यक्त्व[1] में कोई अन्तर नहीं है, इसीलिए आत्मश्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं। इसमें यदि अन्तर है तो विषयविषयीपने का है। आत्मश्रद्धान विषयी है और आत्मशुद्धि विषय है। अशुद्धता का श्रद्धान तो सभी को होता है, परन्तु उसकी अशुद्धता मात्र जबतक दिख पड़ती है तब तक वह मिथ्यादर्शन कहलाता है और शुद्धता का जब श्रद्धान होने लगता है तब वही सम्यक्त्व कहलाने लगता है। इसका कहना सुनाना सुगम नहीं है और आत्मशुद्धिरूप सम्यक्त्व एक निर्विकल्प भाव है, इसीलिए इसे साधारण ज्ञान और यावद्वचनों के अगम्य माना है। हाँ, उसी के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं तो सुगम भी पड़ता है और कुछ दोष भी नहीं आता।

शंका—यद्यपि मिथ्यात्व व कषाय एक ही बात है, इसलिए मिथ्यात्व के नाश होने पर कषाय का

1. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।—तत्त्वा. सू., अ. 1, सू. 2

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अभाव भी होना ही चाहिए, जिसे चारित्र-प्राप्ति कहते हैं, परन्तु ऐसा होता नहीं है। सम्यक्त्व प्राप्त होने पर भी चौथे गुणस्थान में चारित्र प्राप्त नहीं होता, इसीलिए चौथे गुणस्थान को अव्रतरूप कहते हैं। थोड़े से व्रत हो जाने पर पाँचवाँ गुणस्थान होता है। पूर्ण व्रत होने पर व्रतीसंज्ञा होते हुए भी यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार विचारने से मालूम होगा कि सम्यक्त्व क्षायिकरूप की पूर्णता प्राप्त होने पर भी चारित्र की प्राप्ति व पूर्णता में विलम्ब लगता है, इसलिए सम्यक्त्व व चारित्र में और मिथ्यात्व व कषायों में एकता का कार्यकारणपना मानना कैसे ठीक हो सकता है?

उत्तर—मिथ्यात्व न रहने पर जो कषाय रहते हैं वे मिथ्यात्व के साथ रहने वाले अतितीव्र अनन्तानुबन्धी कषायों के समान नहीं होते किन्तु अतिमन्द हो जाते हैं, इसीलिए वे कषाय भी चाहे बन्ध करते रहें परन्तु दीर्घ संसार के कारणभूत बन्ध को नहीं होने देते हैं इसीलिए ज्ञानचेतना भी सम्यग्दर्शन होते ही शुरू हो जाती है जो बन्ध नाश का कारण है। इससे पहले मिथ्यात्व रहते समय जो चेतना होती है वह कर्म चेतना व कर्मफलचेतना होती है जो पूर्णबन्ध का कारण मानी जाती है। सारांश यह कि कषाय तो सम्यक्त्वी में भी शेष रहते हैं, परन्तु मिथ्यात्व के नाश होने से अतिमन्द हो जाते हैं और कुछ अंशों में अबन्ध व निर्जरा के सहायक बन जाते हैं, इसलिए मिथ्यात्व व कषाय का कुछ अविनाभाव जरूर है।

अब रही यह बात कि मिथ्यात्वनाश के साथ ही कषायों का पूर्ण नाश क्यों नहीं होता? सो इसका उत्तर यह है कि कषाय व मिथ्यात्व सर्वथा एक चीज तो हैं ही नहीं। सामान्य स्वभाव दोनों का एक है, परन्तु विशेष अपेक्षा से कुछ भेद भी है; नहीं तो दो नाम ही जुदे-जुदे क्यों होते; और दोनों के जनक कर्म भी जुदे-जुदे क्यों होते? देखिए, "विशेषसामान्य की अपेक्षा से भेदाभेद दोनों ही यहाँ मानने चाहिए।" यह भाव दिखाने के लिए ही तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता ने सम्यक्त्वमोहनीय व चारित्रमोहनीय ये दो भेद कर दिये हैं। जब कि उत्तर में दो भेद हैं ही तो उनके नाश का ठीक अविनाभाव कैसे हो सकता है? हाँ, परन्तु मूल कारण न रहने पर चारित्रमोहनीय का टिकाव फिर भी अधिक नहीं रहता है। साथ नहीं तो भी कुछ ही काल में चारित्रमोहनीय भी नष्ट हो ही जाता है।

अथवा, यों कहना चाहिए कि चारित्रमोहनीय मिथ्यात्व के अभाव में रहता तो है, परन्तु जब तक चारित्रमोहनीय रहता है तबतक सम्यक्त्व की भी पूर्ति नहीं हो पाती है—क्षायिक सम्यक्त्व भी केवलसम्यक्त्व नाम नहीं पाता है जो कि रत्नत्रय की पूर्णता का एक चिह्न है। भावार्थ, कुछ संस्कारवश हो या चारित्रमोह के ही सम्बन्ध से हो, चारित्रमोहनीय के तथा घाति कर्मों के समय तक सम्यक्त्व पूर्ण नहीं होता।

भावार्थ—सम्यक्त्व की उत्पत्ति से संसार की जड़ तो टूट जाती है, परन्तु इतर कर्मों का तत्क्षण ही सर्वनाश होने का नियम नहीं है। कर्म अपनी-अपनी योग्यतानुसार बँधते व उदय में आते हैं। देखो, मिथ्यात्व का साथी चारित्रमोहनीय भी चालीस कोटा-कोटी सागरपर्यन्त की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। मिथ्यात्व सत्तर कोटा-कोटी सागरपर्यन्त की स्थिति बाँध लेता है। इससे भी यह पता लगता है कि मिथ्यात्व ही सब कर्मों से अधिक बलवान् है और दीर्घ तथा असली संसार की स्थापना करता है, इसीलिए वह नष्ट हुआ कि संसार का किनारा समझना चाहिए। साथ ही यह न भूलना चाहिए कि मोह दोनों ही हैं—एक अमर्यादित है तो दूसरा समर्यादित। हाँ, कारण दोनों ही संसार के हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संसार का संक्षेप से स्वरूप कहें तो दुःखमय[1] है। चाहे फिर दुःख के कारण दूसरे कर्म भी हों, परन्तु मुख्य कारण मोहनीय कर्म है। अब यदि सारे दुःख का कारण मोहनीय कर्ममात्र है तो मोह के नाश को सुख कहना चाहिए। बस, जो ग्रन्थकार मोह के नाश से सुख गुण की प्राप्ति मानते हैं वह मानना मोह के संयुक्त कार्य की अपेक्षा से ठीक है। वह मानना अभेद या व्यापक दृष्टि से है, इसीलिए जो सुख को अनन्तचतुष्टय में गर्भित करते हैं वे चारित्र तथा सम्यक्त्व को फिर जुदा नहीं गिनाते है, क्योंकि, सम्यक्त्व व चारित्र के ही समुदित स्वरूप को सुख कहा जाता है। बाह्य विषयों से उपेक्षा सो चारित्र है और अन्तरंग परिणति का होना सो सम्यक्त्व है। दोनों का पर्यवसान सुखगुण में या स्वरूपलाभ में ही होता है। यद्यपि चारित्र तथा सम्यक्त्व का भी सुख अर्थ हो सकता है, परन्तु शास्त्रकारों ने व्यवहार दृष्टि से इसका उल्लेख अनन्तचतुष्टय में किया है। वे उस-उस गुण की मुख्यता मानते हैं और शेष को गौण समझकर न कहने पर भी संगृहीत हो जाना समझते हैं, क्योंकि एक सुख गुण के ही उक्त दोनों विशेषाकार हैं। इस कथन से मोहनीय कर्म से कौन से गुण का घात होता है यह शंका भी दूर हो सकती है और वेदनीय की अघातकता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, वेदनीय किसी को घातता नहीं है, केवल घात हुए स्वरूप का अनुभव कराने में जीव को लगाता है।

अब अन्तराय के विषय में कुछ कहते हैं। अन्तराय का कार्य जीव की शक्ति को घातना है। जीव का जो शुद्ध स्वरूप है वही उनकी शक्ति कहना चाहिए। अथवा, उसका उपयोग कर लेने में समर्थ होना सो शक्ति है। जीव का ज्ञान के सिवाय कोई समझ लेने योग्य जुदा स्वरूप या गुण ही नहीं है तो उसी की प्रवृत्ति से शक्ति का उपयोग होना मानना चाहिए। बस, ज्ञान की प्रवृत्ति में जो आत्मा की शक्ति खर्च होती है वही वीर्य या शक्ति कहलाती है। उसी के घातने वाले कर्म को अन्तराय कहते हैं। वीर्य शक्ति का घातक अन्तराय को मानना मुख्यता की अपेक्षा से है। मुख्यता यह है कि ज्ञानगुण की प्रवृत्ति में बाधा लानेवाला वीर्यान्तराय ही है; क्योंकि वह ज्ञान की साधक वीर्यशक्ति को नाशता है और ज्ञान में बाधा हो जाना साधारण मनुष्य की दृष्टि में भी आ जाता है। अतः वीर्यगुण सभी कार्यकारिणी शक्तियों में मुख्य माना गया है और उसी का घातना अन्तराय का कार्य बताया गया है। वास्तव में देखें तो देने, लेने, भोगने, उपभोगने में जो शक्ति काम देती है उन्हें दानशक्ति, लाभशक्ति, भोगशक्ति व उपभोगशक्ति कहते हैं और उन्हें घातनेवाला भी अन्तराय कर्म होना ही है। इस अपेक्षा से अन्तराय का जो अर्थ ऊपर किया है वह उस अन्तराय के एक भेद का अर्थ रह जाता है, इसीलिए अन्तराय का सामान्य अर्थ शक्ति मात्र का घातक, ऐसा होगा और उस घातक कर्म के उत्तर भेद वीर्यान्तराय, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय ये पाँच होंगे। इन्हें आगे स्पष्ट करेंगे।

हमने वीर्यान्तराय का अर्थ जो ऐसा कहा है कि ज्ञान की सहायक वीर्यशक्ति को वह घातता है सो मुख्यकार्य की दृष्टि से कहा है। वास्तव में उसका कार्य यह है कि किसी भी काम में जो वीर्य की आवश्यकता है उसे वह घातता रहता है।

---

1. स्वसुखं न सुखं नृणां किंत्वाभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः। सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात्।।4।। तत्त्वज्ञानतरंगिणी अ. 17,2 शरीर में जो वीर्य नाम धातु है वह वीर्यनाम आत्म सामर्थ्य का सहायक रहता है इसलिए उसे वीर्यनाम प्राप्त हुआ है। वास्तव में देखें तो वीर्य का अर्थ सामर्थ्य है। इसीलिए उस शक्ति के घातक कर्म को वीर्यान्तराय कहते हैं और शक्ति को वीर्य कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दान, लाभ, भोग, उपभोग, ये चार सामर्थ्य भी वीर्य की तरह हैं जो वास्तव में वीर्य से जुदे नहीं हैं, परन्तु शरीरसहित जीव में जुदे दो दिख पड़ते हैं, इसीलिए उस वीर्य के घातक कर्म को भी पाँच तरह मानते हैं। दानादि शक्तियाँ यदि वास्तव में जुदी-जुदी नहीं हैं तो भेद क्यों होते हैं? इसका उत्तर—

शरीर सहित जीव 1. देने का और 2. लेने का व्यवहार करता है, 3. भोगने का, 4. उपभोगने में भी शक्ति लगाता है, और 5. धरने उठाने, बोलने चलने, विचार करने आदि कर्मों के समय भी उसे शक्ति लगानी पड़ती है। ये पाँच भेद यावत् व्यवहारों के हो सकते हैं। इन भेदों में गर्भित न हो ऐसा एक भी व्यवहार नहीं है। ये पाँच प्रकार, शरीर न रहने पर शुद्ध जीवों में नहीं मिल सकते हैं, इसीलिए इन भेदों को वास्तविक नहीं मानते, किन्तु शरीर रहने से ये उत्पन्न हो जाते हैं या संसारियों के ये व्यवहार कल्पित किये हुए हैं। यदि वास्तव में होते तो शुद्ध जीवों में इन पाँचों के कार्य संसारियों के कार्यों की तरह जुदे-जुदे होते हुए माने जाते, परन्तु ऐसा न मानकर शुद्ध जीवों में एक वीर्यगुण ही माना गया है[1] इसलिए हम यह बात ठहराते हैं कि जिसको बल कहते हैं और जिसका कार्य सर्वकार्यों में सहायता पहुँचाना है वह एक ही गुण है। शरीर की उपाधि से उस बल के पाँच तरह के उपयोग होते हैं और उन पाँच तरह के उपयोगों में तरतमता सिद्ध करने वाला उनका घातक अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है। उन पाँचों ही भेदों का नाश हो जाने पर जो गुण प्रकट होता है उसे वीर्य के नाम से ही कहते हैं और वह एक ही है। वह वास्तव में एक न होता तो घातक कर्म को भी मूल एक भेद में गर्भित क्यों करते? मूल व उत्तर प्रकृतिभेद लिखने का तो मतलब ही यह है कि जो वास्तव में तथा सामान्यता ये भिन्न जाति के स्वभाव हों उनके अनुसार मूल प्रकृति भेद हैं और उस एक दो स्वभाव के फिर जो उत्तर भेद हो सकते हैं उनके अनुसार उत्तर प्रकृति भेद ठहराये गये हैं।

अब ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो घातिकर्म रहे और मोहनीय एवं अन्तराय इन दो घातियों का विचार हो चुका। ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दो कर्म ज्ञान-दर्शन को घातते हैं। ज्ञान तो जीव का ऐसा प्रसिद्ध गुण और लक्षण है कि जीव की उतनी ही सत्ता कही जाए तो भी अतिशयोक्ति न होगी। ज्ञान है इसलिए जीव एक निराला तत्त्व माना जाता है। अब दर्शन क्या है—यह विचार करते हैं।

दर्शन भी ज्ञान के समान चैतन्य का एक सूक्ष्म परिणाम है। पदार्थ मात्र के दो स्वभाव माने जाते हैं : सामान्य व विशेष। सामान्य वह है जो कि किसी दूसरे से मिलता-जुलता स्वभाव हो, विशेष वह है जो दूसरे से मिलता न हो। इन दोनों स्वभावों की सीमा सबसे व्यापक भी है और सबसे छोटी भी है और मध्य के भेदों को तो कुछ गिना ही नहीं सकते हैं। जैन शास्त्रों में जो संग्रह व व्यवहार नय का क्षेत्र या विषय है वही सामान्य तथा विशेष है। नय ज्ञानरूप होने से ग्राहक या विषयी हैं और ये सामान्यविशेष ग्राह्य या विषय हैं। इन्हीं सामान्यविशेष का हम दूसरी तरह यों भी वर्णन कर सकते हैं कि जो किसी एक लक्षण या आकृति का न हो वह सामान्य है और जो एक-एक लक्षण को एक-एक आकृति को, धारण करता हो विशेष है। इत्थंलक्षण विशेष तथा अनित्थंलक्षण सामान्य यह भी सामान्य विशेष का ही अर्थ है। सामान्य बड़ी से बड़ी महासत्ता है और उसके ठीक समीपवर्ती द्रव्य, गुण, पर्याय

1. यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि सिद्धेष्वपि तत्प्रसंगः, नैष दोषः, शरीरनाम तीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्। तेषां तदभावे तदप्रसंगः। कथं तर्हि तेषां सिद्धेषु वृत्ति? परमानन्तवीर्यव्याबाधसुखरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः।—सर्वा.सि., वृ. 261

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ये विशेष हैं। इससे छोटे सामान्यविशेषों के उदाहरण जीवादि व संसारी, मुक्त इत्यादि उत्तरोत्तर अनेकों हो सकते हैं। सामान्य सदा व्यापक रहते हैं और विशेष व्याप्य। क्योंकि, सामान्य एक अवयवी की तरह होता है और विशेष उसके अवयवों की तरह।

हमने यह सामान्यविशेष का स्वरूप बताया वही दर्शन-ज्ञान का विषय है। दर्शन उस चैतन्य परिणाम को कहते हैं जो कि सामान्यमात्र का प्रतिभास होता है और वह भी महासामान्य का। महासामान्य या महासत्ता ये दोनों एक अर्थ के शब्द हैं। ज्ञान में भी सामान्य का प्रतिभास होता है। साथ ही कुछ और भी विशेषता रखता है। दर्शन का विषय केवल सामान्य होने से आकार की कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए दर्शन को निराकार कहते हैं। ज्ञान के आकार का अर्थ 'लम्बाई चौड़ाई व ऊँचाई' ऐसा नहीं होता, किन्तु विषय जिस तरह का हो उसी तरह का अनुभव हो जाना यह अर्थ है, क्योंकि, ज्ञान वास्तव में अमूर्त आत्मा का गुण होने से स्वयं अमूर्त है। फिर वह एक तो स्वयं अमूर्त हो और फिर भी द्रव्य न होकर गुण हो वह अपना जुदा आकार नहीं रख सकता है। गुणों के आकार, अपने-अपने आधारभूत द्रव्यों के जो आकार होते हैं, वे ही हो सकते हैं। ज्ञान गुण का आधार आत्मद्रव्य है, इसलिए उसी का आकार ज्ञान का आकार है। आत्मा सदा किसी भी आकार के पदार्थ को जानता रहे, परन्तु आकार में शरीराकार ही रहता है। बस, इसलिए ज्ञान में भी वास्तविक विषयाकार न होकर आत्मा का आकार रहेगा। ज्ञान ज्ञेय का सामर्थ्य, दूर-दूर और भिन्नाकार होने पर भी ऐसा मानना पड़ता है कि ज्ञान-ज्ञेय का ग्रहण करे और ज्ञेय गृहीत होता रहे। ऐसा उसमें होने में नियमित कारण ज्ञानावरणादि कर्मबन्धनों की शिथिलता या क्षयोपशम, बाह्य विषयों का सद्भाव संस्कार व इच्छा का झुकाव मानना पड़ता है। विषयाकार ज्ञान का होना यह जानने में कारण जो कुछ लोगों ने माना है वह असम्बद्ध है।

इस प्रकार ज्ञान को विशेषाकारग्राही होने से साकार या अज्ञान नाश का कारण अथवा विषयप्रतिबोधक मानते हैं, परन्तु दर्शन केवल सामान्यग्राही होने से निराकार या विषय का अप्रतिबोधक है। ये एक ही चेतनागुण के दो पर्याय हैं, परन्तु ज्ञान की तरतम वृद्धि के समान दर्शन, ज्ञान की तरतम अवस्थारूप केवल भेद नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, 'एक विषय का बोधक है और दूसरा नहीं है' ऐसा जो विशाल अन्तर पड़ा हुआ है वह दर्शन को 'ज्ञान' ऐसा कहने नहीं देता।

शंका—जबकि दर्शन सामान्य का ग्राहक है तो कुछ भी विषय का बोधक हो चुका, इसलिए उसे अबोधक क्यों कहते हैं? सामान्य ग्राहक दर्शन को माना आवश्यक जाता है, परन्तु केवल सामान्य का स्वरूप ही जबकि ठहराया नहीं जा सकता कि सामान्य का अमुक स्वरूप है, तो उसका ग्राहक दर्शन को मानना ठीक नहीं है। जो सत्ता को महासामान्य मानकर उसी सत्ता के ग्राहक दर्शन को मानते हैं वह भूल है, क्योंकि, सामान्यदृष्टि से सत्ता या सत् का ग्रहण करना संग्रहनय का काम है जो कि एक ज्ञान विशेष है। दूसरी बात यह भी विचार करने की है कि उस सत्ता या सामान्य के ग्राहक संग्रहनय को भी माना जाता है, परन्तु दर्शन निराकार है और संग्रहनय-ज्ञान साकार है, सो क्यों? ज्ञान बिना विशेषता के कभी होता ही नहीं है। पदार्थ तथा गुणस्वभाव भी विशेषता के बिना नहीं रहते, इसलिए जबकि सत्ता का प्रतिभास दर्शन में होगा तो साथ ही सत्तान्तर्गत विशेषताओं का ग्रहण भी होना ही चाहिए जैसा कि संग्रह ज्ञान में होता है। जब कि विशेषताओं का ग्रहण दर्शन में हुआ तो दर्शन तथा ज्ञान में कुछ अन्तर ही नहीं रहा, इसलिए दर्शन को सत्ता का ग्राहक नहीं मानना चाहिए। यदि ऐसा है तो दर्शन को 'सत्तालोचन' इत्यादि नामों से क्यों सम्बोधते हैं? सत्तालोचन शब्द का अर्थ सत्ताप्रतिबोध होता है। (न्यायदीपिका)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—सत्तालोचन शब्द का अर्थ यदि सत्ता प्रतिबोध माना जाए तो प्रतिरोध साकार होगा और साकार ज्ञान ही हो सकता है अथवा, प्रतिबोध, ज्ञान, आलोचन इत्यादि शब्द ज्ञान के ही वाचक हैं। ज्ञान का तथा साकार बनने का अर्थ यह है कि वह किसी वस्तु को जानता है। जबकि दर्शन भी एक महासामान्यरूप सत्ता को जानता है तो वह भी साकार व ज्ञान क्यों न होगा? ऐसा विवेचन करने पर ज्ञान व दर्शन में भेद सिद्ध होगा तो ज्ञान के इतर उत्तरभेदों की तरह होगा जो कि निरुपयोगी है। यदि ऐसा ही अन्तर्गत भेद हो तो मूल प्रकृतियों में ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो घातक कर्म जुदे-जुदे मानने की कोई आवश्यकता नहीं थी, इसलिए मूल भेदों में दो भेद रखने से यही बात जान पड़ती है कि ज्ञान, दर्शन यह दोनों भेद किसी विशेष प्रयोजन के लिए माने गये हैं और लक्षण-स्वरूप दोनों के भिन्न हैं अर्थात् ज्ञान साकार व वस्तुग्राही है तो दर्शन वस्तु का अग्राही और निराकार है। दर्शन ऐसा होकर भी ज्ञान के साथ में रखा जाता है, चेतनागुण का पर्याय माना जाता है और मूल घातक कर्म में उसके घातनेवाली एक स्वतन्त्र प्रकृति भी मानी गयी है, इसलिए उसका स्वरूप चेतना से सम्बन्ध रखनेवाला अवश्य है और वह क्या है? इस का उत्तर—

किसी पदार्थ को जानने की योग्यता प्राप्त होने पर जो आत्मा की उस पदार्थ की तरफ उन्मुखता, प्रवृत्ति अथवा इतर विषयों से हटकर उस विवक्षित पदार्थ की तरफ उत्सुकता प्रकट होती है वही दर्शन है। वह उत्सुकता होती चेतना में ही है, परन्तु तबतक पदार्थ का थोड़ा-सा अंश भी जानने में नहीं आता है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य भोजन करने में लग रहा है और उसका मन या बुद्धि भी उसमें आसक्त है। अकस्मात् उसकी इच्छा हुई कि बाहर कोई पुकार तो नहीं रहा है यह मैं समझ लूँ । अथवा किसी की आवाज कान में पड़ने से उसका उपयोग उस भोजन की तरफ से हटकर शब्द की तरफ लग जाता है।

पूर्व विषय से हटना और उत्तर विषय की तरफ उत्सुक होना, यह विषय ज्ञान का पर्याय नहीं हो सकता है। इसी चेतना पर्याय को दर्शन कहते हैं। इसके ठीक उत्तर समय में जो कुछ ग्रहण हो जाता है वह ज्ञान है। प्रथम समय में ग्रहण हो जाए तो वह चाहे कैसा ही सामान्य हो, परन्तु ग्रहण का आकार अवश्य बदलेगा। यदि आकार बदला तो वह प्राप्त हुआ आकार चेतना को साकार बना देगा। चेतना का साकार होना सो ज्ञान है, न कि दर्शन। जबकि प्रथम समय में दर्शन होना माना जाता है तो वह दर्शन किसी का भी ग्राहक नहीं हो सकता है ऐसा मानना ही पड़ेगा। दूसरे, यह भी विचार करना चाहिए कि प्रत्येक कारण जो कार्य को पैदा करते हैं सो प्रथम ही समय में नहीं कर देते। प्रथम समय में तो कार्य का पूर्वरूप होता है और फिर कार्य उत्पन्न होता है। पूर्वरूप को कारण दशा में गर्भित किया जाता है। यदि कार्य प्रथम ही समय मे होने लगे तो कार्य-कारण का भेद कहना ही सम्भव न होगा। इसी प्रकार दर्शन व ज्ञान में भी पूर्वापरपने का भेद है। अर्थात् ज्ञान चेतना का कार्य है और दर्शन ज्ञान की पूर्वदशा है। ज्ञान जानने रूप कार्य है तो दर्शन रूप पूर्वदशा में यह जानने की क्रिया प्रकट हुई नहीं कही जा सकती है। पूर्वोत्तर दशाओं का कारण-कार्य मानना हो तो दर्शन को भी कारण कहा जा सकता है। तब फिर कारण के समय कार्य की अवस्था व्यक्त हुई मानना ठीक नहीं है और कार्य की अवस्था का यदि अर्थ विचारा जाए तो जानना ही है, इसलिए दर्शन के समय जानना किस प्रकार माना जा सकता है? जब कि दर्शन में जानना ही है? जब कि दर्शन में जानना असम्भव है तो 'सत्तालोचन' जो दर्शन का स्वरूप बताया जाता है उसका अर्थ 'विषय की तरफ उन्मुख होना' ही करना चाहिए। उन्मुख होना यह निश्चयात्मक नहीं है, इसलिए ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु अभावरूप भी नहीं कहा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जा सकता है, क्योंकि किसी की तरफ उन्मुखता पैदा होना, इसमें उन्मुखता न होने की अवस्था से तो कुछ विशेषता अवश्य है और विशेषता जो होती है वह किसी एक प्रकार की ही नहीं होती, किन्तु सर्व उन्मुखताओं की अवस्था एक तरह की रहती है उसे निष्कारण हुई भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, सामने का पदार्थ उसका निमित्त मौजूद है। सामने के पदार्थ नाना तरह के होते हैं, परन्तु उन्मुखता सर्वदा एकसी ही होती है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि उस उन्मुखता का कारण तो सामने का पदार्थ ही है। उस पदार्थ की कोई भी विशेषता उसका कारण नहीं है, किन्तु सर्व पदार्थगत जो कोई महासाधारण धर्म है वह उसका कारण हो सकता है। यदि किसी प्रकार की पदार्थ सम्बन्धी विशेषता उसका कारण होती तो उस दर्शन में नाना प्रकार उत्पन्न होते, परन्तु दर्शन में तो सदा समानता रहती है। अतः उसका जनक, सर्वपदार्थगत महासामान्य जो एक धर्म है वही हो सकता है। बस, यही कारण है कि दर्शन का स्वरूप सत्तालोचन कहा जाता है। वास्तव में आलोचन तो वहाँ हो ही नहीं सकता है, परन्तु उन्मुखता के लिए अवलम्बन सत्ता धर्म है, इसलिए सत्ता को आलोचक और दर्शन को आलोचन कहा गया है।

वास्तव में यदि दर्शन में किसी का आलोचन होता तो दर्शन का ज्ञान की तरह प्रतिपादन भी होना सम्भव हो जाता। जैसे कि घट में ज्ञान को 'घटोऽयं' या 'यह घट है' ऐसी आकृति बनाकर दिखा सकते हैं। वैसे दर्शन किसी भी पदार्थ का हुआ हो, परन्तु उसे दिखा नहीं सकते हैं। कुछ लोग दर्शन को भी 'कुछ है' ऐसे शब्दों से कहा करते हैं, परन्तु अनध्यवसाय ज्ञान को इन्हीं शब्दों से उल्लिखित करना पड़ता है। अब कहिए, दर्शन में व अनध्यवसाय ज्ञान में क्या अन्तर रहा?

अन्तर है, वह यह कि अनध्यवसाय के 'कुछ है' इस शब्द का मतलब जानी हुई वस्तुओं में से अनिश्चित वस्तु और दर्शन का 'कुछ है' इस शब्द का अर्थ 'सर्वथा न जानी हुई कुछ वस्तु' ऐसा होता है। भावार्थ, अनध्यवसाय में जानी हुई-अनुभव की हुई बहुत-सी वस्तुओं में से कोई है ऐसा भास होता है और दर्शन के समय यद्यपि किसी का भास नहीं होता तो भी उन्मुखता का अवलम्बन कुछ होना ही चाहिए यह अनुमान का वाक्य वहाँ उत्पन्न होता है। यद्यपि शब्दाकृति दोनों की समान है, परन्तु विवक्षा भिन्न-भिन्न है अथवा वास्तव में बोलने वाले का अभिप्राय जुदा-जुदा है।

यहाँ तक के विचार से यह बात सिद्ध हुई दर्शन को निराकार कहा, इसलिए वह किसी विषय का ग्राहक नहीं है परन्तु उसका अवलम्बन महासत्ता धर्म है, इसलिए उसे सत्तालोचनरूप कहते हैं। दर्शन का स्वरूप उन्मुखता है, इसलिए दर्शन मिथ्या नहीं हो सकता है।

ऐसा अविनाभाव सम्यक्त्व व चारित्र में नहीं है। सम्यक्त्व हो जाने पर भी विरति या संयम बहुतों को जल्दी उत्पन्न नहीं होता है। यही कारण है कि एकबार सम्यक्त्व हो जाने पर भी चिरकाल तक कुछ प्राणी संसार में परिभ्रमण करते हैं।

इसलिए सम्यक्त्व व चारित्र के घातक मोहकर्म की तरह ज्ञानावरण-दर्शनावरण को एक मूल प्रकृति में नहीं रखा। दूसरा कारण यह भी है कि हम जिसको ज्ञान कहते हैं उसके सिवाय दर्शन को दूसरे दर्शनकारों ने भी जुदी और विलक्षण अवस्था मानी है। उसे वे निर्विकल्पक ज्ञान-शब्द से कहते हैं, परन्तु ज्ञान से पूर्वक्षण में वह एक निर्विकल्पक या निराकार चैतन्य परिणाम होता अवश्य है ऐसा मानते हैं। उसको ज्ञान कहना चाहे ठीक न हो, परन्तु चेतना के निराकार व साकार ऐसे दो प्रकार के पर्याय मानने की पद्धति प्राचीन दर्शनकारों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में थी यह बात सिद्ध हो जाती है। जबकि इन दोनों प्रकारों को समुच्चय से दिखाने की इच्छा हो तो उपयोग शब्द से वैसे भी कहते हैं, परन्तु इसके प्रसिद्ध दो भेदों के घातक कर्मों को मूल दो भेदों में मान लेना कुछ अनुचित नहीं है, क्योंकि, इनके आवरणों के मूल भेद मानने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि दोनों का बन्ध समान समयों तक होगा और उनके उदय तथा क्षयोपशम से होने वाले कार्य भी दोनों ही समान समय तक रहेंगे। जो मूल भेद में नहीं हैं उनके कार्यों में परस्पर सहभाव का कोई नियम नहीं रहता है, इसीलिए मोहनीयकर्म के दोनों भेदों का नाश भिन्न समय में होता है और उदय का भी सहभाव रहना निश्चित नहीं है, परन्तु ज्ञान दर्शन के आवरणों का उदय तथा क्षयोपशम भी सहभावी रहता है और क्षय भी सहभावी होता है, इसलिए इन दोनों की घातक दो मूल प्रकृति मानना आवश्यक है।

यहाँ तक आठ कर्मों की प्रकृति व आवश्यकताएँ दिखा चुके। अब इस बात का विचार करते हैं बन्ध आत्मा को किस-किस रूप में वास्तविक बाँधता है और आठ कर्मों से हीनाधिक कर्म भी हो सकते हैं या नहीं?

कर्मों से वास्तविक बन्ध दो बातों का होता है : एक तो आत्मप्रदेशों का और दूसरा ज्ञान गुण का। प्रदेशबन्ध तो आठों कर्मों का एकसा ही होता है। यदि भेद है तो अनुभागबन्ध में। हम यहाँ दो कार्यों में जो बन्ध का प्रयोजन बता रहे हैं उसका भी मतलब यह है कि अनुभाग आठों कर्मों के जुदे-जुदे हैं, परन्तु असली घात को दो ही अनुभाग करते हैं, एक मोह, दूसरा ज्ञानावरण। मोह आत्मद्रव्य की अवस्था को स्वाभाविक न रखकर अस्वस्थ या मलिन करता है, एक तो यह कार्य हुआ। फिर ज्ञान या चेतनागुण को विकृत करनेवाला ज्ञानावरण कर्म है, दूसरा यह कार्य हुआ। दर्शनावरण ज्ञान की ही उन्मुखता को रोकता है, इसलिए ज्ञानावरण का ही सहायक है। अन्तराय है वह ज्ञानावरण के कार्य का भी सहायक है और मोहनीय के कार्य का भी सहायक है। जबकि मोह के प्रभाव से आत्मा मलिन होता है तब वह सभी कार्य करने में असमर्थ होता है, इसलिए आत्मप्रदेशों से होने वाला कार्य जो हलना चलना,खाना, पीना इत्यादि है वह पूर्ण शक्तियुक्त नहीं रह सकता है और ज्ञानगुण भी अपना पूर्णकार्य दिखा नहीं सकता है। बाकी तो कर्मों के कार्य रहे वे इन्हीं दो कार्यों के सहायक हैं। वीर्यान्तराय तो ज्ञान की और प्रदेशों की शक्ति को कम करता है, इसलिए उसे जुदा मानने की आवश्यकता नहीं ही है और दर्शनावरण को जुदा न गिनने का हेतु पहले ही कह चुके हैं। यद्यपि दर्शनावरण व अन्तराय के भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं, परन्तु मुख्य कार्य देखें तो ज्ञान व मोह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिए चार घातियों के दो कार्य रहे।

अब रहे अघाति कर्म सो अघातियों के कार्य तो जुदे-जुदे अवश्य होते हैं अथवा, यों कहिए कि अघातियों के पिंड तो जुदे-जुदे अवश्य होते हैं, परन्तु वे सब मोह के उदय में ही अपने कार्य दिखा सकते हैं अर्थात् मोह के द्वारा जब आत्मा मलिन होता है तब नीच-ऊँचपने का व्यवहार करता है, इसलिए गोत्रकर्म की आवश्यकता को उत्पन्न कर लेता है। गोत्रकर्म जो नीच-ऊँचता को सिद्ध करता है वह आत्मा को प्रत्यक्ष कराए बिना कैसे कर सकता है? इसलिए सूक्ष्म आत्मा को स्थूल बना देनेवाला अर्थात् शरीर सम्बन्ध करा देनेवाला नामकर्म आवश्यक जान पड़ जाता है। नामकर्म से जो शरीर होता है उसे आत्मा से सदा जोड़ रखनेवाला आयुकर्म है। यदि आयुकर्म न माना जाए तो प्राप्त हुए शरीर से आत्मा बाहर चाहे जब हो तो उसे कौन रोकेगा? मोहकर्म या सभी जो कर्म हैं वे तो सीधे आत्मा को ही बाँधते हैं

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

और आप स्वयं वहाँ बँधते हैं, इसलिए उन कर्मपिंडों में आत्मा को रोक रखने के लिए किसी आयु सरीखे कर्म की जुदी आवश्यकता नहीं पड़ती है, परन्तु नामकर्म के द्वारा जो शरीर प्राप्त होते हैं वे आत्मा को कर्म की तरह जकड़ नहीं सकते हैं। यदि कर्म नि:शेष नष्ट हो जाएँ तो अपने आप शरीर से आत्मा जुदा हो जाएगा। कर्मों की तरह शरीर की निर्जरा का प्रयत्न नहीं करना पड़ता है इसीलिए शरीर व कर्मों में यह अन्तर है कि शरीर आत्मा के ऊपर का अवलेप है और कर्म आत्ममय तिल में तेल के समान हैं। इसीलिए शरीर में आत्मा को रोके रखने की सामर्थ्य से युक्त एक जुदा कर्म मानना पड़ता है जिसे कि आयु कहते हैं। यह आयुकर्म नामकर्म के शरीरादि कार्यों की अपेक्षा रखकर चरितार्थ होता है। इस प्रकार ये तीन अघाति कर्म मोहकर्म से उत्पन्न हुई मलिनता ने संगृहीत किये ऐसा मानना पड़ता है अर्थात् ये तीनों कर्म मोह के कार्य के अनुगामी हैं अथवा, मोह के कार्य को ही ये पुष्ट करते हैं। वेदनीय जो चौथा है वह तो मोह के अनुभव कराने का केवल कार्य करता है, इसीलिए वह स्पष्ट ही मोह के अधीन है और मोह सभी का स्वामी है।

इस प्रकार अघाति कर्मों को जुदे कार्यकारी न समझें तो भी काम चलता है, परन्तु शंका यह होगी कि मोहकर्म का दसवें गुणस्थान में नाश हो जाने पर अघाति कर्म कार्यकारी नहीं रहेंगे और अतएव उनके शरीरादि कार्य ही नष्ट हो जाने चाहिए, परन्तु शरीर तो चौदहवें गुणस्थाान के अन्त तक रहता है सो क्यों?

उत्तर—अघाति कर्मों का बन्ध होना ही तभी तक का है जब तक कि मोह का बन्ध होता रहता है। मोह की सर्वथा बन्ध व्युच्छित्ति दसवें गुणस्थान से आगे के लिए हो जाती है और अघाति कर्म भी तभी से रुक जाते[1] हैं, घाति भी तभी से रुक जाते हैं। एक वेदनीय ही है जिसके सातावेद[2] का बन्ध फिर भी माना है परन्तु वह आते ही चला जाता है। शरीर में विपरिणाम कुछ भी करता नहीं है। उसका बन्ध होना, न होना बराबर है। भावार्थ, वह बँधता तो क्या है, यों कहना चाहिए कि योग की चंचलता उस साता को लाती है पर वह न टिककर यों ही चला जाता है। अग्नि नष्ट हो जाए तो भी धुँआ-सा उठते हुए कुछ समय तक दिखता ही है पर वह सचमुच धुँआ नहीं है। इसी प्रकार कोई भी कार्य नि:शेष होने पर भी कुछ समय तक उसकी वासना रहा ही करती है। यही बात यहाँ साता के बन्धन में है। पर टिकनेवाला वह बन्ध नहीं है, उसे बन्ध कहना एक उपचार मात्र है। वह संसार का कारण भी कुछ नहीं है। इसलिए उसे उपचरित बन्ध कह सकते हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि मोह के आश्रित सर्व बन्ध होना है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक जो शरीर रहता है वह बन्ध का कार्य नहीं है, किन्तु उदय का है। जो बन्ध मोहकर्म के सहवास से हो चुका है उसका निर्मूलनाश तो प्रयत्नों से और धीरे-धीरे ही होगा न! वह प्रयत्न शुक्लध्यान की पूर्णता है जो कि चौहदवें के अन्त में ही प्राप्त हो सकती है, इसलिए तभी नामकर्म के कार्य का पूर्ण अभाव भी हो पाता है। इस प्रकार मोहकर्म के बन्ध को समस्त कर्मों का स्वामी मानना युक्ति व आगम के सर्वथा अनुकूल है।

---

1. नामकर्म के उत्तर भेदों का प्रथम गुणस्थान से लेकर क्रम-क्रम से कुछ-कुछ का बन्ध व्युच्छेद होते हुए दसवें तक सर्वनाश हो जाता है। दसवें के अन्त में यशस्कीर्ति की व्युच्छिति होना बताया है। आयु में—नरकायु का प्रथम गुणस्थान में, तिर्यंच आयु का दूसरे में, मनुष्यायु का चौथे में, देवायु का सातवें में बन्ध व्युच्छेद हो जाता है। गोत्र में से नीच गोत्र का दूसरे गुणस्थान में, उच्चगोत्र का दसवें के अन्त में बन्ध व्युच्छेद होता है। असाता वेदनीय का छठे गुणस्थान के अन्त में, साता का तेरहवें के अन्त में बन्ध व्युच्छेद होता है।
2. उवसंतखीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्ठिदी सादं। णायव्वो पयडीणं वंधस्संतो अणंतो य॥102॥ (गो. क.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अब यह बात और देखने की है कि मोह व ज्ञानावरण के बीच में क्या अन्तर है? ज्ञान आत्मा का गुण है। मोहकर्म जबकि आत्मा को घातता है तो फिर उसके असली लक्षण को मलिन करने में क्यों न प्रेरक होगा? इसलिए ज्ञानावरण भी चाहे अपना कार्य एक जुदा ही करता है, परन्तु मोह के आश्रित होकर ही करता है। जब तक मोह का बन्ध होता रहता है तभी तक ज्ञानावरण का भी बन्ध होता है। दसवें के अन्त में मोहकर्म के बन्ध का व्युच्छेद होता है और ज्ञानावरण का बन्ध भी तभी तक होता है। अब हम वास्तव में बन्ध का विचार करें तो एक मोहकर्म तो प्रधान ठहरता है और दूसरे सर्व अप्रधान ही ठहरते हैं, इसलिए संसार के कर्मकृत मोह द्वारा बढ़ाने वाला माना[1] जाता है और मोह के नाश से विद्यमान सर्व कर्मों का भी कुछ आगे तक नाश हो ही जाता है। अब अभेद नय से देखें तो बन्ध एक है और बन्ध के अभावरूप मुक्ति भी एक ही है, इसीलिए भेदविवक्षा से चाहे मोक्ष का स्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र इन तीन गुणरूप होगा, परन्तु अभेद विवक्षा से रत्नत्रय का स्वरूप एक शुद्ध आत्मा ही है। उसका बन्ध होना एक प्रकार की अशुद्धता है। भेदविवक्षा से बन्ध के प्रधान भेद आठ हैं। जीव के गुण तो अनन्त होते हैं, परन्तु कर्म उन सभी गुणों को घातते नहीं हैं। जीव की शुद्ध अवस्था जैसी कुछ युक्ति व आगम से ठहराई गयी है। उससे संसार में आठ प्रकार का विकार दिख पड़ता है, इसलिए मूल कर्मप्रकृतियाँ न आठ से अधिक माननी चाहिए और न कम।

कर्मों के उत्तर भेद—

अन्याः पञ्च नव द्वे च तथाष्टाविंशतिः क्रमात्।
चतस्त्राश्च त्रिसंयुक्ता नवतिर्द्वे च पञ्च च॥ 23॥

अर्थ—आठों मूल प्रकृतियों के उत्तर भेद इस प्रकार हैं—ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के तिरानवै, गोत्र के दो और अन्तराय के पाँच भेद हैं।

ज्ञानावरण के पाँच भेद—

मतिः श्रुतावधी चैव, मनःपर्यय-केवले।
एषामावृतयो ज्ञानरोधप्रकृतयः स्मृताः॥ 24॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान के प्रकार हैं। उनका आवरण करनेवाली प्रकृतियाँ भी पाँच हैं। प्रत्येक ज्ञान के नाम के आगे आवरण-शब्द जोड़ देने से ज्ञानावरणों के नाम हो जाते हैं। अर्थ के अनुसार ये सभी नाम हैं। आवरण को रोध भी कह सकते हैं, आवृति भी कह सकते हैं।

प्रत्यक्ष, परोक्ष ऐसे भी ज्ञान के साधारण दो भेद किये जाते हैं, परन्तु ये भेद ज्ञानावरण की तीव्रता व मन्दता के हिसाब से किए जाते हैं। ज्ञानों में यह कोई जातिभेद नहीं है अथवा ये भेद ज्ञान की जाति भिन्न-भिन्न मानने से माने जाएँ तो कुछ हानि नहीं है। प्रत्यक्ष व परोक्ष के ही मतिज्ञानादिक उत्तरभेद

1. "ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ।" "कर्म्मकयमोहबड्ढिय" ऐसा गोम्मटसार का वचन है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं; इसलिए मति-श्रुतावरण को परोक्षावरण और अवधि, मन:पर्यय, केवलज्ञानावरण को प्रत्यक्षावरण कह सकते हैं।

परोक्ष मति-श्रुतज्ञान हैं। इनके उत्तरभेद न्यायग्रन्थों में अनुभव, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान व आगम ऐसे भी किए हैं। इनका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। इन सबों के आवरण भी जुदे-जुदे होने ही चाहिए, परन्तु मति-श्रुतावरण के मान लेने से इन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। अनुभवावरण, स्मरणावरण आदि आवरण परस्पर में भिन्न अवश्य हैं, परन्तु मत्यावरण व्यापक होने से उसके अन्तर्गत आ जाते हैं। यही बात सभी आवरणों में समझनी चाहिए। प्रत्येक ज्ञान के उत्तरभेद अपरिमित होते हैं, इसलिए आवरणों के भी उत्तरभेद उतने तक हो सकते हैं।

सभी सत्-पदार्थों को और उनके गुणों पर्यायों को पूर्ण जान लेने की शक्ति का नाम केवलज्ञान है। अथवा यों कहिए कि जान लेने की शक्ति में यदि कोई आवरण न हुआ तो जो सत् पदार्थ है उसे वह शक्ति अवश्य जानेगी, क्योंकि जान लेना ही उस शक्ति का स्वभाव है। उस अखंड असहाय शक्ति केवलज्ञान को मलिन करनेवाले कर्म आ लगने से वह शक्ति दब जाती है। इसी का नाम केवलज्ञानावरण है।

यह केवलज्ञानावरण जीव में प्रयत्न बिना ही प्रकट रहनेवाले पूर्ण ज्ञान को घातता है; जैसे कि प्रत्याख्यानावरण सकल संयम को घातता है, परन्तु कोई प्रयत्न करके उपयोग किसी तरह लगावे तो फिर भी उपयोगमात्र प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है जिसे कि मन:पर्यय व अवधि कहते हैं। जैसे कि प्रत्याख्यानावरण का उदय रहते हुए भी देशविरत होते हैं। जो उपयोग लगाने पर भी सीधा असहाय प्रत्यक्ष ज्ञान न होने दे उसे मन:पर्ययज्ञानावरण व अवधिज्ञानावरण कहते हैं। मन के चिन्तवन का वास्तविक स्वरूप अमूर्तिक होने पर भी उपचार मात्र से मूर्तिक माना जाता है। यही विषय मन:पर्यय ज्ञान का होता है। अवधिज्ञान का विषय मूर्तिक पदार्थ होता है, इसलिए अवधिज्ञान से मन:पर्ययज्ञान अधिक सूक्ष्म विषय वाला है। अधिक महिमा होने के कारण ही केवलज्ञान से दूसरा दर्जा इसका माना गया है। इसका आवरण भी ऐसे ही स्वभाव को घातता है।

इस प्रकार मन:पर्यय एवं अवधि के स्वभाव में बहुत बड़ा अन्तर है, इसीलिए परमनोगत चिन्तवन को जान लेने की महत्त्वपूर्ण शक्ति का घातक एक कर्म, और उपस्थित पदार्थों को सीधा साक्षात् जानने की जानने की शक्ति का घातक दूसरा कर्म, ये दो कर्म हुए। इन्हीं को मन:पर्ययज्ञानावरण व अवधिज्ञानावरण कहते हैं। अपने-अपने आवरणों का नाश होने पर भी ये ज्ञान चाहे जिस पदार्थ को नहीं जान सकते हैं, किन्तु जहाँ तक उपयोग लगाया जा सकता है, वहाँ तक जान सकते हैं। मन:पर्यय का उपयोग अढाई द्वीप पर्यन्त के मनुष्यों में लग सकता है। अवधिज्ञान का विषय किसी का मन नहीं हैं, किन्तु सीधा पदार्थ विषय होता है, इसलिए उसकी सीमा कुछ द्वीप, समुद्र व कुछ आगे, पीछे काल में मर्यादित है। जो उपयोगमय ज्ञान होते हैं वे अपने प्रसार की सीमा कुछ न कुछ अवश्य रखते हैं। केवलज्ञान के सिवाय सभी ज्ञान उपयोगमय हैं, इसलिए निरवधि व युगपत् सब कुछ जानने की योग्यता केवलज्ञान में ही है। केवलज्ञानावरण इसी बात को रोकता है अर्थात् उपयोग लगाने पर जानने की शक्ति केवलज्ञानावरण से रुकती नहीं है, केवल निरवधिपने का वह घातक है और विषय में अवधि के हो जाने पर भी उपयोग

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लगाने पर जो साक्षात् जानने की शक्ति थी उसे मन:पर्ययज्ञानावरण व अवधिज्ञानावरण ये दो कर्म रोक देते हैं, इसीलिए संसारी जीवों में मतिश्रुतज्ञान रहते हुए भी साक्षात् ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता है।

यह ऊपर के तीन आवरणों का स्वरूप हुआ। अब मतिश्रुतावरणों को विचारिए। उपस्थित विषय का प्रथम ज्ञान सो मतिज्ञान है और मतिज्ञान से जाने हुए विषय के सम्बन्ध से अर्थान्तर का निश्चय करना सो श्रुतज्ञान का ही काम है और मतिज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्म विषयों का ज्ञान है, इसीलिए उतरते हुए ज्ञानों के भेदों में से मतिज्ञान से इसका भेद ऊपर ऊपर है। यद्यपि इनके घातक दोनों कर्मों का क्षयोपशम सर्वत्र माना गया है, परन्तु श्रुतज्ञान का उत्कुष्ट सामर्थ्य मतिज्ञान के सामर्थ्य से बहुत ऊँचा है। मतिज्ञान चाहे जब होता है, परन्तु श्रुतज्ञान अधिक उपयोग लगाने पर ही होता है। इसीलिए मति व श्रुत ये ज्ञान के दो विशाल विभाग माने गये और आवरण भेदों में विभक्त माने गये हैं।

दर्शनावरण के उत्तर नौ भेद—

चतुर्णां चक्षुरादीनां, दर्शनानां निरोधतः।
दर्शनावरणाभिख्यं प्रकृतीनां चतुष्टयम्॥ 25॥
निद्रानिद्रा तथा निद्रा, प्रचलाप्रचला तथा।
प्रचला स्त्यानगृद्धिश्च, दृग्रोधस्य नव स्मृताः॥ 26॥

अर्थ—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ये चार दर्शन हैं। इन दर्शनों के घातक या रोकनेवाले कर्मों के भी इसीलिए चार भेद होते हैं। निद्रा पाँच प्रकार की मानी जाती है। वह भी दर्शनावरणरूप मानी जाती है, इसलिए दर्शनावरण के भेद नौ हैं। 1. चक्षुदर्शनावरण, 2. अचक्षुदर्शनावरण, 3. अवधिदर्शनावरण, 4. केवलदर्शनावरण, 5. निद्रानिद्रा, 6. निद्रा, 7. प्रचलाप्रचला, 8. प्रचला, 9 स्त्यानगृद्धि ये उनके नाम हैं।

चक्षुदर्शनादि के आगे जैसे आवरण लगाने पर दर्शनावरण के भेद नाम होते हैं वैसे निद्राओं के आगे आवरण-शब्द लगाने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि, निद्रा स्वयं आवरण अर्थ को सूचित करती है, इसीलिए यदि निद्राओं के आगे आवरण शब्द लगा भी दिया जाए तो ऐसा अर्थ होगा कि ये निद्रारूप आवरण हैं। चक्षुदर्शनावरणादिकों का अर्थ ऐसा होता है कि ये चक्षुदर्शनादिकों के आवरण हैं, इसीलिए चक्षुदर्शनादिकों के आगे आवरण शब्द जोड़े बिना काम नहीं चल सकता है।

अब इनमें से प्रत्येक का स्वरूप बताते हैं : चक्षु इन्द्रिय द्वारा होनेवाले ज्ञान के पहले जो चक्षु की, विषय के प्रति उन्मुखता होती है वह चक्षुदर्शन है। उसे जो आवरण कर्म रोकता है वह चक्षुदर्शनावरण है। चाक्षुषदर्शनावरण भी इसे कह सकते हैं। चक्षु के सिवाय जो चार बाह्य इन्द्रियों और एक मन इस सब के द्वारा जो ज्ञान होता है वह प्रथम ही दर्शन हो जाने पर होता है। उसी दर्शन को अचक्षुदर्शन कहते हैं। उस दर्शन को घातने वाला जो कर्म है वह अचक्षुदर्शनावरण है। यदि स्पर्शनदर्शनावरण आदि इनके उत्तर भेद किए जाएँ तो हो सकते हैं, परन्तु अभेद विवक्षा रखकर आचार्यों ने उन सबों को एक भेद में ही गर्भित किया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शेषेन्द्रियों के आवरण को एक संख्या में रखने का एक दूसरा भी हेतु होना चाहिए। वह यह है कि, चक्षुसम्बन्धी दर्शन का काम अधिक पड़ता है और शेष इन्द्रियों के दर्शन का कम, इसलिए चक्षुदर्शन को आवृत करनेवाला कर्म भी अधिक लगता है। उतना अचक्षुदर्शन का आवरण करनेवाला कर्म नहीं लगता है। अतः एक मूल प्रकृति बन्ध के अनुसार दर्शनावरण में प्रदेशों का बँटवारा हो जाने पर उत्तर भेदों में चक्षु वा अचक्षु का समान विभाग होता है। उसमें से चक्षुदर्शनावरण का तो फिर अधिक विभाग नहीं माना गया है, परन्तु अचक्षुदर्शनावरण में से स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों के पाँच विभाग मानने पड़ते हैं। जो दर्शनावरण स्पर्शनेन्द्रियजन्य दर्शन को रोक सकता है तो उत्तर भेद करने की आवश्यकता ही न रहती, परन्तु उत्तर भेदों का मानना तथा कार्यकारण न्याय इस बात को मानता है कि प्रत्येक अचक्षुदर्शनावरण के कार्य भी जुदे ही होने चाहिए और वे अचक्षुदर्शनावरण भी जुदे-जुदे ही हैं।

यद्यपि चक्षुदर्शनावरण में भी विषयों के भेद से उत्तरभेद होंगे, परन्तु वैसे भेद तो स्पर्शनेन्द्रिय अचक्षुदर्शनावरणादिकों में भी हो ही सकते हैं, इसलिए यह मानना पड़ता है। दर्शनावरण के साधारण उत्तरभेदों में चक्षु इन्द्रिय के लिए एक विभाग और शेष इन्द्रियों के लिए उतना ही एक विभाग होता है। अतएव शेष इन्द्रियों के आवरण कर्म का चक्षु-आवरण की अपेक्षा भाग कम है।

यद्यपि मन का कार्य अधिक रहता है, परन्तु वह केवल सैनी पंचेन्द्रियों में काम आता है और चक्षुइन्द्रिय का उपयोग चौइन्द्रिय से लेकर सैनीपर्यन्त काम में आता है, इसलिए उसका रोधक कर्म ही अधिक रहना चाहिए। जहाँ जो इन्द्रिय नहीं है वहाँ तो कर्मों का उदय एक-सा ही काम देगा, वह चाहे अल्प हो चाहे अधिक, परन्तु इन्द्रिय न होने से एकसा काम होगा, किन्तु जहाँ क्षयोपशमजन्य ज्ञान का प्रकाश और उपयोग अधिक है कर्म का भी उपयोग वहीं पर अधिक होगा।

वेदनीय के उत्तर दो भेद—

द्विधा वेद्यमसद्वेद्यं, सद्वेद्यं च प्रकीर्तितम्।

अर्थ—वेदनीय कर्म के दो भेद कहे हैं, एक असातावेदनीय, दूसरा सातावेदनीय। सातावेदनीय का फल सुख का अनुभव है और असातावेदनीय का फल दुःखानुभव करना है।

संसारी जीवों में इसका बन्ध भी निरन्तर ही होता है। इसके बन्ध के कारण आस्रव-प्रकरण में कह चुके हैं। सब कर्मों का साथ में इसका जबतक बन्ध होता है तबतक के बन्ध की अपेक्षा लेकर वे कारण बताये गये हैं। वे कारण संसारी जीवों में सदा बदलते रहते है, इसलिए बन्ध भी कभी साता का और कभी असाता का होता रहता है। कषायों का नाश हो जाने पर जब केवल योगप्रवृत्ति रह जाती है उस समय केवल साता वेदनीय कर्म का ही बन्ध होता है। योगप्रवृत्ति प्रकृति व प्रदेशबन्ध के लिए कारण मानी गयी है। आठों कर्मों की प्रकृतियों का और प्रदेशों का जो बन्ध होता है उसका कारण भी योग ही है, परन्तु केवल योग के द्वारा आठों कर्मों का प्रकृति-प्रदेशबन्ध नहीं होता। केवलयोग के समय केवलसातावेदनीय का बन्ध होता है, इसलिए यों कहना चाहिए कि आठों कर्मों के प्रकृति-प्रदेश का कारण जो योग होता है वह कषाय सहित होने पर होता है।

इसके सिवाय यहाँ यह शंका भी हो सकती है कि स्थिति व अनुभाग की उत्पत्ति का कारण कषाय

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है। दसवें गुणस्थान के ऊपर कषाय नष्ट हो जाता है, इसलिए नवीन बँधनेवाले सातावेदनीय में स्थिति व अनुभाग हो तो कैसे हो?

उत्तर—नवीन विशेषता उत्पन्न हो तो कारण की आवश्यकता होती है। जिस समय सातावेदनीय बन्धरूप होता है उसी समय उदयरूप होकर उसकी निर्जरा हो जाती है, इसलिए तो स्थिति रखनेवाले कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती और अनुभाग के लिए यों आवश्यकता नहीं पड़ती कि जो प्रकृतिप्रदेश आते समय उस पिंड में स्वभाव होता है वही बन्ध के समय बना रहता है। साता रूप जो स्वभाव है वह साथ में ही आता है। इतररूप परिणाम जिनमें हो सके ऐसे प्रदेश आते ही नहीं हैं तो फिर कारण की आवश्यकता क्यों पड़े?

मोहनीय के उत्तर अट्ठाईस भेद—

त्रयः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वभेदतः॥ 27॥
क्रोधो मानस्तथा माया-लोभो[5]ऽनन्तानुबन्धिनः।
तथा त एव चाप्रत्याख्यानावरण-संज्ञिकाः॥ 28॥
प्रत्याख्यान-रुधश्चैव तथा संज्वलनाभिधाः।
हास्यं रत्यरती शोको भयं सह जुगुप्सया॥ 29॥
नारी-पुं-षण्ढ-वेदाश्च, मोहप्रकृतयः स्मृताः।

अर्थ—मोहकर्म के उत्तर भेद दो बताये गये हैं। पहले का नाम दर्शनमोह और दूसरे का चारित्रमोह। दर्शनमोह का अर्थ है जो सम्यग्दर्शन को मोहित करे, अर्थात् सम्यग्दर्शन की विपरीत अवस्था कर दे। चारित्रमोह चारित्र गुण की विपरीत अवस्था कर देता है। दर्शन मोह के तीन भेद हैं—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय। इसके उदय रहते जो सम्यग्दर्शनगुण को बाधा पहुँचाते हुए भी नष्ट न कर सके उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहा है। इसके उदय रहते जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय में सम्यग्दर्शन की अवस्था पूरी-पूरी विपरीत हो जाती है। उस अवस्था को मिथ्यात्व अथवा मिथ्यादर्शन कहते हैं। सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय के उदय का फल यह है कि जीव का सम्यदर्शन गुण कायम तो नहीं रह पाता है, परन्तु मिथ्यात्व-सा पूरा मलिन भी नहीं हो जाता है। वह अवस्था मिथ्यात्व की-सी होती है। यह अवस्था मिथ्यात्व से भी जुदी जाति की होती है और सम्यदर्शन से भी निराली होती है। तीसरे गुणस्थान का स्वरूप गुणस्थानों के वर्णन के समय कह चुके हैं। वह इसी अवस्था का नाम है। ये तीनों दर्शनमोह के भेद हुए।

चारित्रमोह के सामान्य उत्तर भेद तो दो हैं और विशेष उत्तर भेद पच्चीस हैं। कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय ये दो भेदों के नाम हैं। कषाय वेदनीय के क्रोधादि सोलह भेद हैं और नोकषाय वेदनीय के नौ। इस प्रकार मिलने से विशेष उत्तर भेद पच्चीस होते हैं। कषाय वेदनीय के सोलह भेद इस प्रकार हैं-कषायों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य और जघन्य ये चार दर्जे होते हैं। उत्कृष्ट कषाय को अनन्तानुबन्धी कहते हैं और अनुष्कृष्ट को अप्रत्याख्यानावरण तथा अजघन्य को प्रत्याख्यानावरण और जघन्य को

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संज्वलन। अनन्त प्रमाण संसार की अमर्यादित अवस्था अति तीव्र कषाय के रहने से हो सकती है, इसलिए उत्कृष्ट कषाय को अनन्त का अर्थात् अमर्यादित संसार बन्धन करने वाला समझकर अनन्ताबुन्धी नाम रखा गया है। यह कषाय सम्यग्दर्शन से तथा सम्यग्मिथ्यात्व से पहले तक उदय में आता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवों में मिथ्यादर्शन का और इस अनन्ताबुन्धी कषाय का उदय निरन्तर बना रहता है। इन दोनों ही कर्मों का उदय जब हटता है तभी प्रथम सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। दूसरे कषाय को अप्रत्याख्यानावरणीय इसलिए कहते हैं कि वह एक अशंरूप भी प्रत्याख्यान अर्थात् विषयत्याग नहीं होने देता। तीसरा कषाय अधूरा-सा विषय-त्याग होने में आड़े नहीं आता, परन्तु पूरा त्याग होने में अवश्य आत्मा के परिणामों को रोकता है, इसलिए इसे प्रत्याख्यानावरणीय कहते हैं। विषय से आत्मपरिणाम पूरा हट जाने पर भी उस परिणाम में कुछ मालिन्य बनाये रखनेवाला चौथा संज्वलन कषाय है। विषय से उपेक्षा हो जाने को चारित्र कहते हैं, पूर्ण उपेक्षा के समय जो चारित्र होता है उस चारित्र को रखते हुए उसके साथ वह कषाय जाज्वल्यमान बना रहता है, इसीलिए संज्वलन नाम सार्थक है। छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज से आगे दसवें गुणस्थान तक के योगियों में यह कषाय उत्तरोत्तर कृष होता हुआ टिकता है। इस प्रकार चारों कषायों के ये जुदे-जुदे फल हैं। इन फलों की प्राप्ति जिन कर्मों के उदय से होती है उन कर्मों के भी कार्यकारण सम्बन्ध से ये ही चारों नाम हैं। और भी बहुत से कर्मों के नाम उनके फलों के नाम पर रखे गये हैं। यह बात शरीरादि नाम कर्मों के देखने से माननी पड़ती है। उक्त चार भेद जो कषायों में हुए हैं वे शक्ति तरतमादि अवस्था के रहने से हुए हैं। प्रत्येक कषाय में जाति-भेद चार-चार हैं—1. क्रोध, 2. मान, 3. माया, 4. लोभ। चारों के ये चार-चार जाति मानी जावें तो चार कषाय के सोलह भेद हो जाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं : अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण-क्रोध, मान, माया, लोभ। संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया, संज्वलन लोभ। कषायवेदनीय चारित्रमोह के ये सोलह भेद हुए।

नोकषाय वेदनीय चारित्रमोह के नौ भेद हैं—1. हास्यवेदनीय, 2. रतिवेदनीय, 3. अरतिवेदनीय, 4. शोकवेदनीय, 5. भयवेदनीय, 6. जुगुप्सावेदनीय, 7. स्त्रीवेदनीय, 8. पुरुषवेदनीय और 9. नपंसुक वेदनीय। इन नामों पर से जो अर्थ प्रतीत होते हैं वे इनके फल हैं।

पहले जो सोलह कषाय कहे हैं उनका असर आत्मपरिणाम पर इतना उत्कृट होता है कि साफ-साफ परिणामों की मलिनता दिखने लगती है। दूसरे, जो नोकषाय के नौ भेद कहे हैं उनका भी आत्मा पर असर तो होता है, परन्तु आत्मपरिणामों में कषायों की बराबर मलिनता दिख नहीं पड़ती, इसीलिए सोलह भेदों को कषायवेदनीय कहा और नौ भेदों को नोकषायवेदनीय कहते हैं। हास्यादिक कषाय, कषायों से कुछ कम असर करते हैं, परन्तु कषायों से मिलते जुलते अवश्य हैं—यही अर्थ दो भेद करने का समझना चाहिए। नहीं तो दोनों भेदों का 'चारित्रमोह' ऐसा ही नाम है। यदि और भी व्यापक नाम देखना हो तो मोह नाम एक ही है जिससे कि दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इन दोनों का अर्थज्ञान हो सकता है। इससे भी व्यापक नाम देखना हो तो कर्म अथवा प्रकृति है। इस नाम से आठों ही कर्मों का बोध होता है। किसी एक स्वभाव के विशेष-विशेष रहने से भेद हो जाता है और वह विशेषता न मानी जाए तब अभेद से ही व्यवहार होता है। यह सब अपेक्षा की बात है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार मोहकर्म के 3 + 16 + 9 मिलने पर कुलभेद 28 होते हैं। इनके नाम थोड़े-थोड़े अन्तर से और भी हैं। जैसे, सम्यदर्शन का नाम सम्यक्त्व; अप्रत्याख्यानावरण तथा अप्रत्याख्यानारोधी अथवा अप्रत्याख्यानावरणीय; नोकषाय अथवा नोकषायवेदनीय, कषाय अथवा कषायवेदनीय। दूसरे कर्मों में भी यह बात दिख पड़ती है कि एक-एक कर्म के कई-कई नाम हैं।

आयु कर्म के चार भेद—

श्वाभ्र-तिर्यग्-नृ-देवायुर्भेदादायुश्चतुर्विधम्॥ 30॥

अर्थ—नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार उत्तर भेद आयु कर्म के हैं।

नाम कर्म के उत्तर तिरानबे भेद—

चतस्त्रो गतयः पञ्च जातयः काय-पञ्चकम्।
अंगोपांग-त्रयं चैव निर्माण-प्रकृतिस्तथा॥ 31॥
पञ्चधा बन्धनं चैव संघातोऽपि च पञ्चधा।
समादिचतुरस्रं तु न्यग्रोधं स्वाति-कुब्जकम्॥ 32॥
वामनं हुण्डसंज्ञं च संस्थानमपि षड्विधम्।
स्याद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचमेव च॥ 33॥
नाराचमर्धनाराचं कीलकं च ततः परम्।
तथा संहननं षष्ठमसम्प्राप्ता-सृपाटिका॥ 34॥
अष्टधा स्पर्शनामापि कर्कशं मृदु लघ्वपि।
गुरुः स्निग्धं तथा रूक्षं शीतमुष्णं तथैव च॥ 35॥
मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायः पञ्चधा रसः।
वर्णाः शुक्लादयः पञ्च द्वौ गन्धौ सुरभी-तरौ॥ 36॥
श्वभ्रादि गतिभेदात् स्या-दानुपूर्वी-चतुष्टयम्।
उपघातः परघातः-तथाऽगुरुलघु-र्भवेत् ॥ 37॥
उच्छ्वास आतपोद्योतौ शस्ता-शस्ते नभो-गती।
प्रत्येकं त्रस-पर्याप्त-बादराणि शुभं स्थिरम्॥ 38॥
सुस्वरं सुभगादेयं यशः कीर्तिः सहेतरैः।
तथा तीर्थकरत्वं च नाम प्रकृतयः स्मृताः॥ 39॥

अर्थ—गति चार हैं : 1. नरकगति, 2. तिर्यंचगति, 3. मनुष्यगति, 4. देवगति। जाति पाँच हैं : 5. एकेन्द्रिय जाति, 6. द्वीन्द्रिय जाति, 7. त्रीन्द्रिय जाति, 8. चतुरिन्द्रिय जाति, 9. पंचेन्द्रिय जाति। शरीर पाँच हैं : 10. औदारिक शरीर। 11. वैक्रियिक शरीर, 12. आहारक शरीर, 13. तैजस शरीर, 14. कार्मण शरीर। अंगोपांग तीन हैं : 15. औदारिक शरीरांगोपांग, 16. वैक्रियिक शरीरांगोपांग, 17. आहारक शरीरांगोपांग।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

18. एक निर्माण कर्म है। इसके भी प्रमाणनिर्माण और स्थाननिर्माण ये दो भेद होते हैं। परन्तु उन भेदों के वश दो प्रकृति मानी जाती हैं, इसलिए इसकी एक संख्या ही लेनी चाहिए। पाँच बन्धन हैं : 19. औदारिक शरीरबन्धन, 20. वैक्रियिक शरीरबन्धन, 21. आहारक शरीरबन्धन, 22. तैजस शरीरबन्धन, 23. कार्मण शरीरबन्धन। पाँच संघात हैं : 24. औदारिक शरीर संघात, 25. वैक्रियिक शरीर संघात, 26. आहारक शरीर संघात, 27. तैजस शरीर संघात, 28. कार्मण शरीर संघात। संस्थान छह प्रकार के होते हैं : 29. समचतुरस्र, 30. न्यग्रोध, 31. स्वाति, 32. कुब्जक, 33. वामन, 34. हुण्डक। संहनन के छह भेद होते है : 35. वज्रर्षभनाराच, 36. वज्रनाराच, 37. नाराच, 38. अर्धनाराच, 39. कीलक, 40. असंप्राप्तसृपाटिका। स्पर्शन आठ प्रकार का है : 41. कर्कश, 42. मृदु, 43. लघु, 44. गुरु, 45. स्निग्ध, 46. रूक्ष, 47. शीत, 48. उष्ण। रस के पाँच भेद हैं : 49. मधुर, 50. आम्ल, 51. कटु, 52. तिक्त, 53. कषाय। वर्ण के पाँच भेद हैं : 54. शुक्ल, 55. रक्त, 56. नील, 57. पीत, 58. कृष्ण। गन्ध दो हैं : 59. सुगन्ध, 60. दुर्गन्ध। आनुपूर्व्य चार हैं; 61. नरकगत्यानुपूर्व्य, 62. तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, 63. मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, 64. देवगत्यानुपूर्व्य। 65. एक उपघात। 66. एक परघात। 67. एक अगुरुलघु। 68. एक उच्छ्वास। 69. एक आतप। 70. एक उद्योत। विहायोगति अथवा आकाशगति दो हैं : 71. प्रशस्त विहायोगति, 72. अप्रशस्त विहायोगति, 73. प्रत्येक शरीर, 74. त्रस, 75. पर्याप्त, 76. बादर, 77. शुभ, 78. स्थिर, 79. सुस्वर, 80. सुभग, 81. आदेय, 82. यश:कीर्ति, 83. साधारण शरीर, 84. स्थावर, 85. अपर्याप्त, 86. सूक्ष्म, 87. अशुभ, 88. अस्थिर, 89. दु:स्वर, 90. दुर्भग, 91. अनादेय, 92. अयश:कीर्ति, और 93. तीर्थकरत्व, नाम कर्म के ये तिरानबे उत्तर भेद हैं। इनके फल नामों पर से जाने जा सकते हैं। उदाहरणार्थ-जिस कर्म के उदय का फल भवान्तर में जाना हो वह गति-कर्म है। उन गतियों में जो सदृशता होती है उसके कारण कर्म को जाति कहते हैं। जिस कर्म के उदय का फल यह हो कि आत्मा के साथ शरीर उत्पन्न हो वह कर्म शरीर-कर्म है। अंगोपांग की रचना होने में जो कर्म सहायक होता है वह अंगोपांग कर्म है। तैजस और कार्मण शरीर में अंगोपांग नहीं होते। तीन ही शरीर में अंगोपांग की रचना होती है, इसीलिए अंगोपांग कर्म के तीन ही भेद माने जाते हैं।

गोत्रकर्म के उत्तर दो भेद—

गोत्रकर्म द्विधा ज्ञेयमुच्च-नीच-विभेदतः।

अर्थ—गोत्रकर्म दो प्रकार का है, एक ऊँच गोत्र और दूसरा नीच गोत्र। इन कर्मों के फल के अनुसार जीव ऊँचकुली, नीचकुली माना जाता है। सन्तान परम्परा से चले आने वाले जीवाचरण का नाम गोत्र है।

अन्तराय कर्म के उत्तर पाँच भेद—

स्याद् दान-लाभ-वीर्याणां परिभोगोपभोगयोः ॥ 40 ॥
अन्तरायस्य वैचित्र्यादन्तरायोऽपि पञ्चधा।

अर्थ—अन्तराय का अर्थ यहाँ पर विघ्न करनेवाला है। विघ्न पाँच बातों में पड़ सकते हैं-देने में,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लेने में, भोग में, उपभोग में, सामर्थ्य में। इन बातों में विघ्न डालनेवाला अन्तराय कर्म भी इसीलिए पाँच प्रकार है : 1. दानान्तराय, 2. लाभान्तराय, 3. वीर्यान्तराय, 4. भोगान्तराय, 5. उपभोगान्तराय। एक बार ही जो वस्तु भोगने में आ सके वह भोग हैं; जैसे-भोजन। अनेक बार भोगने में जो वस्तु आ सकती है वह उपभोग है; जैसे कपड़े। भोग को परिभोग भी कहते हैं। इन पाँचों कर्मों का कार्य दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य में विघ्न डालना है। केवलज्ञान होने से पहली अवस्था में इन पाँचों का सद्भाव रहता है। मतिज्ञानावरणादिकों के क्षयोपशम के अनुसार जैसे मतिज्ञानादि प्रकट होते रहते हैं वैसे ही दानान्तरायादिकों का क्षयोपशम जब जैसा तीव्र, मन्द, मध्यम होता है तब वैसा ही दानादि परिणाम प्रकट होता है। वीर्यान्तराय के क्षयोपशमानुसार जीव की शक्ति हीनाधिक प्रमाण में प्रकट रहती है। ये इन कर्मों के क्षयोपशमों से होनेवाले जीव-स्वभाव हैं। शक्ति के बिना ज्ञानादि गुण भी प्रकट हों तो टिक नहीं सकते हैं; इसलिए वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से प्रकट होनेवाला सामर्थ्य अथवा बल ज्ञान के प्रकट होने में भी उपयोगी होता है। अतएव ज्ञान का साक्षात् घातक तो ज्ञानावरण ही है, परन्तु परम्परया घातक अन्तराय भी माना गया है।

शंका—मोह के उदय से जिस प्रकार जीव का श्रद्धा, चारित्र गुण विपरीत हो जाता है उसी प्रकार आवरण के तथा अन्तराय के उदयों से जीव के वीर्य तथा ज्ञानगुण विपरीत नहीं होते, किन्तु नष्ट होते हैं। जो विपरीत होता है वह नष्ट हुआ नहीं कहा जा सकता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शन (श्रद्धा), चारित्र गुण पूरे विपरीत हो जाने पर भी नष्ट नहीं होते हैं, परन्तु आवरण के तथा अन्तराय के उदय से ज्ञान व वीर्यगुण नष्ट हुए माने जाते हैं सो कैसे हो सकता है? क्योंकि, जो सत् है उसका नाश होना सम्भव नहीं है?

उत्तर—कोई भी आवरण अथवा अन्तराय अपने विषय को नष्ट अवश्य करता है, परन्तु निःशेष नष्ट नहीं करता, इसीलिए जैसा कि मोहकर्म का मिथ्यादृष्टि जीव में पूरा उदय हो जाता है वैसा आवरण तथा अन्तराय का पूरा उदय कभी किसी जीव में नहीं हो पाता है। जीव का छोटे से छोटा ज्ञान और थोड़े से थोड़ा बल सदा ही प्रकाशमान बना रहता है। फिर जैसा जहाँ उदय या क्षयोपशम होता है वैसा वहाँ ज्ञान तथा बल अप्रकट एवं प्रकट होता रहता है। यदि आवरण का तथा अन्तराय का पूरा उदय भी कहीं पर हुआ करता तो जीव के ज्ञान और बलगुण निःशेष नष्ट हो जाने से जीव का ही नाश हो जाना मानना पड़ता, परन्तु जीव का नाश होना असम्भव है। इससे यह तात्पर्य सिद्ध हुआ कि ज्ञान और बल की सत्ता में यह सामर्थ्य है कि अपने घातक कर्म सदा विद्यमान रहते हुए भी उनका पूर्ण उदय न होने दे। अतएव उतने आवरण का और अन्तराय का उदयाभावी ही क्षय होता रहता है। वह कभी उदय में नहीं आ सकता। निरुपयोगी होकर भी वह बँधता अवश्य है।

इस कथन से इस बात का समर्थन तो अवश्य हो जाता है कि जीव के ज्ञान व बल गुण नष्ट नहीं होते जिससे कि सत् का अभाव होना मानना पड़े। तो भी जितने अंश नष्ट होते हैं उनके विषय में तो यह आशंका बनी ही रही कि सत् का विनाश होता है। इसी प्रकार जब क्षयोपशम द्वारा उन गुणों के अंश प्रकट होने लगेंगे तब असत् के उत्पाद का भी दोष आ जाएगा?

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इसका उत्तर यह है कि—जो अविभाग प्रतिच्छेदों का हीनाधिक होना है वह पर्याय का स्वरूप है। पर्याय अर्थात् विशेषता। गुणों में ही यह बात सम्भवती है कि सत् का विनाश न हो और असत् का उत्पाद न हो। अविभागी प्रतिच्छेदों में भी शाश्वतिकता मान ली जाए तो उत्पाद-व्यय स्वरूप कैसे बनेगा? इसलिए पर्यायों का होना तो मानना ही पड़ता है। अविभाग प्रतिच्छेदों की हीनाधिकता होने से तथा परिवर्तन होने से ही पर्याय का होना सम्भवेगा। अगुरुलघुगुण इस कार्य में सहायक होता है। उस गुण का यही कर्तव्य है कि प्रत्येक गुण के अविभाग प्रतिच्छेदों को खूब घटावे-बढ़ावे, परन्तु गुण की सत्ता को नष्ट न होने दे और मर्यादा से अधिक बढ़ने भी न दे। वस्तुओं में दृष्ट स्वभावों को स्वीकार न करना अन्याय है। रूपरसादि गुणों में वृद्धि-ह्रास होता हुआ अनुभवगोचर होता है, इसलिए अविभागप्रतिच्छेदों का हीनाधिक होना मानना ही चाहिए। जबकि ये दोनों नियम में कार्यकारण सम्बन्ध दिखने से सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होना असम्भव भी मानना ही चाहिए। वैसे ये दोनों नियम परस्पर विरोधी से जान पड़ते हैं, परन्तु मानने अवश्य पड़ते हैं तो इनका विरोध मिटानेवाला एक गुण अवश्य ऐसा मानना पड़ता है जो कि अविभागप्रतिच्छेदों की हीनाधिकता भी करता रहे और निःशेष नष्ट होने से तथा अधिक का उत्पाद होने से रोकता भी रहे। उस गुण का नाम अगुरुलघु गुण है। यह गुण द्रव्यमात्र का सामान्य गुण है, इसीलिए द्रव्यमात्र में अथवा सन्मात्र में उत्पाद-व्यय भी होना मानना पड़ता है और ध्रौव्यस्वभाव भी मानना पड़ता है। आर्हत अनेकान्तवाद में दृष्टविरोध का दोष नहीं आता, इसलिए मानना चाहिए कि ज्ञान बल में अविभाग प्रतिच्छेदों की हीनाधिकता होते हुए भी वे नष्ट नहीं होते।

कुछ लोग सूर्य प्रकाश के आवरण का दृष्टान्त सामने रखकर यों कहते हैं कि ज्ञानगुण के अविभागप्रतिच्छेद आवरण द्वारा नष्ट नहीं होते, किन्तु ढक जाते हैं, परन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि, दृष्टान्त एकदेश में ही सम्भव होता और वह भी जहाँ सम्भव न हो वहाँ दृष्टान्त का अर्थ औपचारिक ही मानना पड़ता है। अमूर्तिकगुणों का ढकना सम्भव नहीं है। यदि ढका जाना ही माना जाए तो जिस स्थान में ज्ञानगुण रहेगा वहाँ पर तो केवलज्ञान का अनुभव होना चाहिए। परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है, इसीलिए आवरण का अर्थ घात होना ही मानना पड़ता है।

बन्धयोग्य कर्म—

द्वे त्यक्त्वा मोहनीयस्य नाम्नः षड्विंशतिस्तथा॥ 41॥
सर्वेषां कर्मणां शेषा बन्ध-प्रकृतयः स्मृताः।

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मों के उत्तर भेद 148 हैं। पाँच ज्ञानावरण के, नौ दर्शनावरण के, दो वेदनीय के, अट्ठाईस मोहनीय के, चार आयु के, तिरानबे नाम के, दो गोत्र के, पाँच अन्तराय के। ये 148 कर्म सत्ता के समय पाये जाते हैं। वे भी किसी एक जीव में नहीं, किन्तु नाना जीवों में देखने से कहीं कोई और प्रकृति दिख पड़ती है। कुछ ऐसे भी कर्म हैं जो कि सर्वत्र पाये जाते हैं। कुल मिलाकर देखें तो 148 हो जाते हैं, परन्तु बन्ध के समय जो बन्धन में नहीं आते ऐसे अट्ठाईस कर्म हैं। मोहनीय के दो और नाम के छब्बीस कर्मों का जुदा बन्ध नहीं होता। बाकी सभी कर्मों की सभी प्रकृतियाँ बँधने में आती हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अबन्धयोग्य 28 कर्मों के नाम—

अबन्धाः मिश्र-सम्यक्त्वे बन्ध-संघातयोर्दश ॥ 42 ॥
स्पर्शे सप्त तथैका च गन्धेऽष्टौ रस-वर्णयोः।

अर्थ—सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये दो महोनीय कर्म ऐसे हैं जो बन्धन के समय जुदे बद्ध नहीं होते, परन्तु बँधने पर सत्ता में जुदे माने जाते हैं और उदय भी अलग-अलग समयों में अलग-अलग स्वरूपमय होता है। नाम कर्म के छब्बीस भेद अबन्ध हैं उनमें से पाँच शरीर-बन्धन और पाँच शरीर-संघात ये दश तो शरीर के घटक होने से पाँचों शरीर-कर्मों में गर्भित हो जाते हैं। इनका जुदा बन्ध नहीं होता और बीस भेद जो स्पर्शादिकों के हैं उनमें से स्पर्श का, रस का, गन्ध का, वर्ण का, एक-एक ही बन्ध होता है, इसलिए उत्तर भेद बीस में से चार का बन्ध होने से सोलह की संख्या इनमें से घट जाती है।

विशेष—स्पर्श के कुल आठ भेद बताये गये हैं। उनमें से एक बन्धन योग्य होने पर बाकी सात अबन्ध रह जाते हैं। गन्ध के कुल दो भेद हैं। उनमें से बन्धन के समय सामान्य एक ही संख्या रहती है, इसलिए एक संख्या कम हो जाती है। रस और वर्ण के पाँच-पाँच भेद कहे गये हैं। उनमें से प्रत्येक का एकरूप में बन्ध होने से चार-चार संख्या छूट जाने से आठ की संख्या कम हो जाती है। इस प्रकार मिलाने से अबन्ध की सभी प्रकृति 28 हो जाती हैं।

सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति—

वेद्यान्तराययोर्ज्ञान-दृगावरणयोस्तथा॥ 43 ॥
कोटीकोट्यः स्मृतास्त्रिंशत् सागराणां परा स्थितिः।
मोहस्य सप्ततिस्ताः स्युर्विंशति-र्नाम-गोत्रयोः॥ 44 ॥
आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत् सागराणां परा स्थितिः।

अर्थ—वेदनीय, अन्तराय की एवं ज्ञानावरण, दर्शनावरण की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होती है। मोह की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण होती है। नाम कर्म की और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होती है। आयुः कर्म की तैतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। यह उत्कृष्ट स्थिति मूल कर्मों की है। आठों मूल कर्मों के उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस होते हैं। उनमें से प्रत्येक मूल कर्म के किसी एकाध भेद में ही उत्कृष्ट स्थिति की सम्भावना बनती है, सभी भेदों में उत्कृष्ट स्थिति सम्भव नहीं होती। जैसे, मोह के उत्तर भेदों में से एक मिथ्यात्व में ही सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति हो सकती है। चारित्रमोह में अधिक से अधिक चालीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण ही हो सकती है। इसी प्रकार उत्तर भेदों में जघन्य से उत्कृष्ट भेद की स्थितिपर्यंत स्थितियों में एकेक समय की हीनाधिकता से असंख्यातों भेद हो जाते हैं।

सब कर्मों की जघन्य स्थिति—

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेया वेद्येऽष्टौ नाम-गोत्रयोः॥ 45॥
स्थितिरन्तर्मुहूर्तस्तु जघन्या शेषकर्मसु।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्तमात्र है। नाम और गोत्र की आठ मुहूर्तप्रमाण जघन्य स्थिति है। बाकी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह, आयु और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है। एक समय अधिक एक आवली प्रमाण काल से लेकर अन्तर्मुहूर्त शुरू होता है, और दो घड़ी में एक समय कम रहने तक अन्तर्मुहूर्त माना जाता है। मुहूर्त के भीतर के समय का नाम अन्तर्मुहूर्त है।

जघन्य स्थिति से एक समय अधिक यदि किसी कर्म की स्थिति हो तो वह मध्यम स्थिति जहाँ तक उत्कृष्ट स्थिति से एक समय कम मर्यादा रहे वहाँ तक मानी जाती है। स्थिति के मध्यम भेद एक-एक समय के बढ़ने से असंख्यातों होंगे यह बात कह चुके हैं। उत्कृष्ट स्थिति के समयों में से एकसंख्या तो उत्कृष्ट की घटा देनी चाहिए और एक समय अधिक आवली प्रमाण जघन्य स्थिति के असंख्यात समयों की वह असंख्यात घटा देनी चाहिए, फिर जो उत्कृष्ट स्थिति के समयों की मध्यम अंसख्यात संख्या रही उतने भेद मध्यम स्थिति के प्रत्येक कर्म में होते हैं। जघन्य का और उत्कृष्ट का भेद एक-एक हो सकता है। इस प्रकार कर्मों की तीन, दो प्रकार की स्थिति मानी गयी है।

जो कर्म जितने काल की स्थिति बँधते समय धारण करता है उतनी स्थिति पूर्ण होने पर उस कर्म का आत्मा से बन्धन छूट जाता है, फिर चाहे वह पुद्गल कर्म आत्मा के साथ ही रहे अथवा वहाँ से हट जाए। जो फिर आत्मा के पास ही बना रहता है उसे विस्रसोपचय कहते हैं। ऐसे विस्रसोपचय का प्रमाण बँधे हुए कर्मों के प्रमाण से बहुत कुछ अधिक सदा इकट्ठा बना रहता है। प्राय: उसी में से कुछ स्कन्ध रागद्वेषादि निमित्त के वश आत्मा के साथ बँधते रहते हैं और स्थिति पूरी होने पर छूटते रहते हैं।

प्रत्येक समय में असंख्यातों स्कन्ध कर्मरूप होते हैं, उनकी स्थिति जितनी होती हैं उतनी सभी पूर्ण होने पर वे एक दम निर्जीर्ण नहीं होते, किन्तु निर्जरा का क्रम एक दूसरा ही है।

कल्पना कीजिए एक सागर एक कर्म की स्थिति हुई। उसकी निर्जरा तो एक सागर के अन्त तक हो ही जाएगी, परन्तु शुरुआत कुछ देर से ही होती है। उसका अन्दाज ऐसा है कि एक सागर की स्थितिवाला कर्म सौ वर्ष के बाद से निर्जीर्ण होने लगता है और एक सागर के अन्त तक पूरा निर्जीर्ण हो जाता है। सौ वर्ष तक उसमें से कुछ भी अंश निर्जीर्ण नहीं होते, इसलिए एक सागर की स्थितिवाला कर्म यदि बराबर फल दे तो सौ वर्ष घटकर सागरपर्यन्त निरन्तर फल देगा। यहाँ पर सौ वर्ष का काल जो फल देने से शून्य रहा उसे आबाधाकाल कहते हैं। इसी प्रकार एक सागर के प्रति सौ वर्ष के हिसाब से प्रत्येक कर्म की स्थिति में से जो आबाधाकाल हो सकता है उतनी आबाधा सर्वत्र माननी चाहिए। अल्पस्थितिवाले कर्मों की यदि छोटी से छोटी आबाधा हो तो एक समय अधिक एक आवलीप्रमाणकाल होगा। आबाधा का यह सर्व सामान्य नियम सात कर्मों के विषय में है। आयु:कर्म की आबाधा सर्वत्र उतनी होती है जितनी कि आयुकर्म बाँधते समय से उस वर्तमान (भुज्यमान) पर्याय में ठहरना हो। जो जघन्यादि आयु का स्थितिमान बताया गया है उसकी गिनती उत्तर पर्याय के प्रति सन्मुख होने के समय से ही मानी जाती है। जैसे, एक मनुष्य ने तेतीस सागर की स्थितिवाला देवायु कर्म बाँधकर मरण किया और देव हो गया। तो मरण के बाद से ही तेतीस सागर की स्थिति का उपयोग होगा। मरने से चाहे जितने पहले उसने उस कर्म को बाँधा हो पर तेतीस सागर में उसकी गिनती नहीं होगी। इस प्रकार स्थिति का स्वरूप है, परन्तु यह सब कब? जबकि यथाकाल कर्मों की निर्जरा हो तब, यदि यथाकाल न आने पावे,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु प्रबल निमित्त उससे पहले ही मिल जाए तो कर्म यथासमय से पहले भी निर्जीण हो जाता है, उसका नाम उदीरणा है। किसी कर्म के बँधने पर यदि ऐसी उदीरणा बहुत ही जल्दी हो तो एक समय अधिक एक आवली प्रमाण काल के बाद ही हो सकती है। इसके बाद स्थिति पूर्ण होने से पहले कभी भी वह उदीरणा हो सकती है। परन्तु वह उदीरणा यदि आयु कर्म की हो तो उसका भोगना शुरू हो जानेपर ही होगी। उत्तरभव के लिए बँधे हुए आयु कर्म में उदीरणा कभी नहीं होती। इसी प्रकार और भी कोई-कोई कर्म कभी-कभी इस तरह से बँधते हैं कि उनमें भी उदीरणा नहीं होती। उनकी स्थिति जितनी बँधते समय ठहरती है उतनी पूरी होने पर ही वे पूरे निर्जीर्ण हो सकते हैं। इसके सिवाय परिणामों की उत्कट सरागता अथवा वीतरागता आदि निमित्त मिलने पर भी स्थिति में हीनाधिकता हो जाया करती है। जो स्थिति घटती है उसे अपकर्षण कहते हैं और जो बँधने के समय की ठहरी हुई स्थिति में बढ़ जाती है उसे उत्कर्षण कहते हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि चाहे जैसा उत्कर्षण हो, परन्तु किसी भी कर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति से अधिक स्थिति नहीं रह सकती है, यह स्थिति का स्वरूप हुआ।

अनुभागबन्ध का स्वरूप—

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम्॥ 46॥
असावनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः।

अर्थ—पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का जिस रूप में फल प्राप्त होता है उसका उस रूपवाली विशेष शक्ति को अनुभव अथवा अनुभाग कहते हैं। कर्मों के जैसे नाम होते हैं वैसे और उन्हीं नामवाले अनुभाग होते हैं। प्रकृतियों के और अनुभागों के नामों में अन्तर नहीं होता। प्रकृति, सामान्य स्वभाव को कहते हैं और उन्हीं स्वभावों की तरतमरूप विशेषताओं को अनुभाग कहते हैं। प्रकृति और अनुभागों में यदि अन्तर है तो इतना ही है।

प्रकृतियों के नामानुसार अनुभाग जो कहा वह मूल प्रकृतियों में तो सर्वत्र नामानुसार ही होता है, परन्तु उत्तरभेदों में दूसरे समानजातीय कर्मों के अनुसार भी अनुभाग हुआ करता है। जैसे, अप्रत्याख्यानावरण, अनन्तानुबन्धी प्रत्याख्यानावरण, संज्वलनरूप होकर फल दे सकता है। आयुकर्मों के परस्पर परिवर्तन नहीं हो सकते हैं। देवायु का मनुष्यादि आयुरूप होकर परिवर्तन नहीं होता। दर्शन व चारित्रमोह में भी परस्पर परिवर्तन नहीं होता है। जैसे, मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी आदि रूप से और अनन्तानुबन्धी आदि मिथ्यात्वरूप से फल नहीं दे सकते हैं। इस प्रकार आयु का व दर्शनमोह चारित्रमोह का परस्पर में अनुभाग बदलता नहीं है, बाकी उत्तर प्रकृतियों में निमित्त मिलने पर सजातीयरूप बदल भी जाता है।

इन कर्मों में से चार घाति और चार अघाति कहते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, ये चार घाति हैं। क्योंकि, सत्ता रखनेवाले ज्ञानादि गुणों का इनसे घात होता है। शेष चारों भी सूक्ष्मत्व—अव्याबाध-अगुरुलघु-अवगाहन गुणों को घातते हैं, परन्तु ये गुण सत्तात्मक नहीं हैं, इसलिए उनके घातक होने पर भी ये चारों अघाति कहलाते हैं। नामकर्म सूक्ष्मत्व गुण का घातक है। वेदनीय अव्याबाध का घातक है। गोत्रकर्म से अगुरुलघु गुण घाता जाता है और आयुकर्म द्वारा अवगाहन का घात होता है।

1. आवलियं आवाहा उदीरणासिज्ज सत्तकम्माणं। परभवियआढगस्स य उदीरणा णत्थि णियमेण॥—गो.क.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों के विपाक एक दूसरी दृष्टि से देखें तो चार प्रकार के हो जाते हैं : 1. पुद्गलविपाक, 2. क्षेत्रविपाक, 3. भवविपाक और 4. जीवविपाक। शरीरादि कर्मों का पुद्गल पर ही परिणाम होता है, इसलिए वे पुद्गलविपाकी हैं। ऐसे पुद्गलविपाकी कर्म 36 हैं। शरीर पाँच, अंगोपांग तीन, निर्माण एक, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक शरीर, साधारणशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ ये सब एक-एक, संस्थान छह, संहनन छह ये पुद्गलविपाकियों के नाम हैं। चारों अनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं, क्योंकि विग्रहगति के क्षेत्र में ही उनका फल प्राप्त होता है। चारों आयु भवविपाकी हैं, क्योंकि नरकादि भव उत्पन्न करने के लिए आयु ही है। बाकी अठहत्तर कर्म जीवविपाकी हैं। उनका परिणाम जीव के ऊपर ही सीधा होता है। उन अठहत्तर में से सैंतालीस घाति कर्म, दो वेदनीय, दो गोत्र और बाकी सत्ताईस नामकर्म। उन नामकर्मों के नाम—चार गति, पाँच जाति, उच्छ्वास एक, विहायोगति दो, त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, तीर्थकरत्व ये सब एक-एक।

प्रदेशबन्ध का स्वरूप—

घनांगुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः ॥ 47 ॥
एकद्वित्र्याद्य-संख्येय-समय-स्थितिकांस्तथा।
उष्ण-रूक्ष-हिम-स्निग्धान् सर्व-वर्ण-रसान्वितान् ॥ 48 ॥
सर्वकर्म-प्रकृत्यर्हान् सर्वेष्वपि भवेषु यत्।
द्वि विधान् पुद्गलस्कन्धान् सूक्ष्मान् योगविशेषतः ॥ 49 ॥
सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान्।
आत्मसात् कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते ॥ 50 ॥

अर्थ—जीव अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्धों को सर्व भागों में और प्रत्येक समय में अपने साथ तन्मय करता हुआ बाँधता है। इसी का नाम प्रदेशबन्ध है। वे पुद्गल सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में बद्ध होते हैं। एक भी आत्मप्रदेश उनसे बचता नहीं। वे पुद्गल अनेक प्रकार के होते हैं। परमाणुओं की संख्या सब में एकसी नहीं होती। प्रकृतिस्वभाव भी उनके परस्पर में अनेक प्रकार के होते हैं। स्पर्शादि के अविभागप्रतिच्छेद भी सबके समान नहीं होते। इत्यादि अनेक ऐसे विशेष धर्म रहते हैं जिनसे कि वे विविध प्रकार के मानने पड़ते हैं। बन्धयोग्य पुद्गल स्थूल नहीं होते, किन्तु सूक्ष्म होने चाहिए। सर्व कर्म प्रकृतिरूप परिणमने की योग्यता भी उनमें होनी चाहिए। चाहे जिस वर्ण के और चाहे जिस रस के धारक वे पुद्गल हो सकते हैं। आठ स्पर्शों में से स्निग्ध-रूक्ष-शीत-उष्ण इन चार स्पर्शों का उन स्कन्धों में प्रादुर्भाव रहता है। मृदु-कर्कश-गुरु-लघु ये चार स्पर्श स्थूल पर्यायों में ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे चार भेद यहाँ पर नहीं माने गये हैं। एक, दो, तीन, आदि संख्येय, असंख्येय समयों की स्थिति वाले वे स्कन्ध ही हैं। उनकी सूक्ष्मता का अन्दाज होने के लिए उनकी अवगाहना घनांगुल के असंख्यात एकभागमात्र क्षेत्र प्रमाण मानी गयी है। इस प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्ध प्रति समय प्रत्येक जीव के साथ बँधा करते हैं। इस

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेशबन्ध की टिकने की अवधि को स्थिति कहते हैं। प्रदेश जिन स्वभावों को साथ लिये बँधते हैं उनका नाम प्रकृति है। फलदान का जो तारतम्य होता है उसे अनुभाग कहते हैं। बन्ध के ये चार प्रकार हुए।

प्रदेशबन्ध का मुख्य कारण योग है। वह जैसा तीव्र, मन्द या मध्यम वेगरूप रहता है वैसा ही प्रदेशबन्ध हीनाधिक[1] बँधता है, यदि योग तीव्र हो तो प्रदेश बहुत बँधेंगे। यदि योग मध्यम या जघन्य हो तो प्रदेशों की संख्या भी मध्यम या जघन्य होगी, इसीलिए काययोग या मनोयोग, वचनयोग में से किसी योग की जहाँ पर अधिक सम्भावना होती है, वहाँ पर ही प्रदेशबन्ध सबसे अधिक होता है, परन्तु यह ध्यान रहे कि योग जघन्य भी हो तो भी अनन्तानन्त प्रदेश के भीतर जितनी संख्या कम हो सकती है उतनी कम प्राप्त होगी परन्तु अनन्त संख्यातासंख्यात आदि प्रदेश किसी समय भी प्राप्त नहीं होते। प्रदेशों की संख्या इतनी कम कभी नहीं होती। दशवें गुणस्थान के ऊपर जहाँ शेष सर्व कर्मों का बन्ध रुक जाने पर केवल सातावेदनीय का बन्ध रह जाता है वहाँ भी प्रदेश प्रति समय अनन्तानन्त ही आते हैं। वह योग—

योग के भेद—

शुभाशुभोपयोगाख्यनिमित्तो द्विविधस्तथा।
पुण्यपापतया द्वेधा सर्वं कर्म प्रभिद्यते॥ 51॥

अर्थ—योग शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का है। शुभ परिणामों के होने पर जो आत्मप्रदेश में चंचलता होती है वह शुभ योग कहलाता है। अशुभ परिणामों के द्वारा जो योग उत्पन्न होता है उसे अशुभ योग कहते हैं। अर्हन्त भक्ति, श्रुत में विनय इत्यादि शुभ मनोयोग हैं। इनसे उलटे हिंसा, चोरी, मैथुन इत्यादि अशुभ काययोग हैं। असत्य व कठोर वचन इत्यादि अशुभ वचन हैं। वध का विचार व ईर्ष्या इत्यादि अशुभ मनोयोग हैं। इन शुभाशुभ योगों के द्वारा जो कर्मबन्ध होता है। उनमें से कुछ पुण्यरूप और कुछ पापरूप हैं।

उच्चैर्गोत्रं शुभायूंषि सद्वेद्यं शुभनाम च।
द्विचत्वारिंशदित्येवं पुण्यप्रकृतयः स्मृताः॥ 52॥

अर्थ—उच्चगोत्र एवं देवायु, मनुष्यायु, तिर्यगायु—ये तीन शुभायु, तथा साता वेदनीय, देवगत्यादिक सेंतीस नाम कर्म की शुभ प्रकृति ये सब मिलकर ब्यालीस पुण्यकर्म माने गये हैं।

---

1. इन चार स्पर्शों में से भी एक-एक स्कन्ध में दो-दो ही स्पर्श रह सकते हैं। चार बताये हैं वे नानास्कन्धों की अपेक्षा से ठीक हैं। जैसे कि किसी में शीत होगा तो उष्ण न होगा परन्तु स्निग्ध और रूक्ष में से एक स्पर्श रहेगा। स्निग्धरूक्ष में से भी जहाँ स्निग्ध होगा वहाँ रूक्ष न रहेगा परन्तु शीतोष्ण में एक रह सकता है। इस प्रकार एक एक स्कन्ध में दो-दो ही स्पर्श रहेंगे। परमाणु में जो 'अविरुद्धस्पर्शद्वयम्' इस वचन से दो-दो अविरुद्धस्पर्श बताये हैं वे ही कार्मण वर्गणाओं में सम्भव होते हैं। क्योंकि परमाणु में जो सूक्ष्मता थी वह यहाँ तक बनी हुई है। जहाँ पर यह सूक्ष्मता हटकर स्थूलता आती है वहीं पर शेष चार स्पर्श हो सकते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पापकर्मों के नाम—

नीचै-र्गोत्रमसद्वेद्यं, श्वभ्रायुर्नाम चाशुभम्।
द्व्यशीतिर्घातिभिः सार्द्धं पापप्रकृतयः स्मृताः॥ 53॥

अर्थ—नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगत्यादि अशुभ नामकर्म चौंतीस तथा घातिकर्म की पैंतालीस—ये सब मिलकर बियासी कर्म प्रकृति पापरूप हैं।

बन्ध तत्त्व को जानने का फल—

इत्येतद् बन्धतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत्॥ 54॥

अर्थ—इस प्रकार इस बन्धतत्त्व को शेष छह तत्त्वों के साथ-साथ जो श्रद्धान करता है, जानता है और उपेक्षा धारण करता है वही निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य रचित तत्त्वार्थसार में बन्धतत्त्व का कथन करनेवाला धर्मश्रुतज्ञान हिन्दी टीका में पाँचवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

छठा अधिकार

संवरतत्त्व वर्णन

मंगलाचरण व विषय-प्रतिज्ञा

अनन्त-केवल-ज्योतिः-प्रकाशित-जगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना संवरः संप्रचक्ष्यते॥ 1॥

अर्थ—अपरिमित केवल ज्ञानरूप ज्योति के द्वारा तीनों लोक को प्रकाशित करनेवाले जिन भगवान को मस्तक से नमस्कार करके संवर तत्त्व को कहता हूँ।

संवर का लक्षण—

यथोक्तानां हि हेतूनामात्मनः सति सम्भवे।
आस्त्रवस्य निरोधो यः स जिनैः संवरः स्मृतः॥ 2॥

अर्थ—आत्मा का अस्तित्व सम्भव (अनुभूत) होने पर आस्त्रव का रुक जाना भगवान ने संवर कहा है। आस्त्रव के बहुत से भेद-प्रभेद पहले कहे जा चुके हैं। कषायादि के निमित्त से आस्त्रव के जो अनेक भेद हो जाते हैं वे सभी कर्मागम के कारण होते हैं। उन सभी को आस्त्रव कहते हैं। उन सबके रुक जाने से कर्मों का आना रुक भी जाता है। इस सब प्रकार के निरोध को संवर कहते हैं।

संवर के कारण—

गुप्तिः समितयो धर्मः परीषहजयस्तपः।
अनुप्रेक्षाश्च चारित्रं सन्ति संवरहेतवः॥ 3॥

अर्थ—गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र ये सब संवर होने में कारण हैं।

गुप्ति के लक्षण, भेद और फल—

योगानां निग्रहः सम्यग् गुप्तिरित्यभिधीयते।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्च सा त्रिधा॥ 4॥
तत्र प्रवर्तमानस्य योगानां निग्रहे सति।
तन्निमित्तास्त्रवाभावात् सद्यो भवति संवरः॥ 5॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान-पूर्वक ऐहिक वांछा रहित योगों के यथार्थ निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं। गुप्ति के तीन भेद हैं—1. मनोगुप्ति 2. वचनगुप्ति और 3. कायगुप्ति। गुप्ति में प्रवर्तनेवाले के योगों का निग्रह हो जाता है, इसीलिए योगों के निमित्त से आनेवाले कर्मों का आना बन्द पड़ जाता है, कर्मों का आना बन्द पड़ा कि संवर उसी समय हो जाता है।

समितियों के भेद—

ईर्या-भाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गभेदतः।
पञ्च गुप्त्यावशक्तस्य साधोः समितयः स्मृताः॥ 6॥

अर्थ—गुप्तिरूप प्रर्वतन में जब साधु असमर्थ हो जाता है उस समय ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण व उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ साधु के लिए मानी गयी हैं।

ईर्यासमिति का लक्षण—

मार्गोद्योतोपयोगानामालम्ब्यस्य च शुद्धिभिः।
गच्छतः सूत्रमार्गेण स्मृतेर्या समितिर्यतेः॥ 7॥

अर्थ—जो मार्ग शुद्ध हो, जिसमें दूसरे लोग भी चलते हों, प्रकाश बराबर पड़ता हो, साफ-साफ दिख सकता हो, उपयोग चलने में लग रहा हो अर्थात् सावधानी मन में हो, चलने के समय जो आलम्बन का विषय है वह भी शुद्धता से ग्रहण किया गया हो; इस प्रकार सूत्रमार्ग के अनुकूल यति गमन करें तो उनके ईर्यासमिति मानी जा सकती है। गमनसम्बन्धी शुद्धप्रवृत्ति का नाम ईर्यासमिति है।

भाषासमिति का लक्षण—

व्यलीकादि-विनिर्मुक्तं सत्यासत्यामृषा-द्वयम्।
वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिष्यते॥ 8॥

अर्थ—सूत्रमार्ग के अनुसार सत्य और सत्यासत्य वचन बोलने से भाषासमिति हो सकती है। चार प्रकार के वचन होते हैं। 1. सत्य, 2. असत्य, 3. सत्यासत्य=उभय और 4. सत्यासत्य रहित=अनुभय। इनमें से अनुभय वचन तो द्वीन्द्रियादिकों को माना जाता है। जिसमें सत्यासत्य की कल्पनाविभाग न हों वह अनुभय होता है, इसलिए वैसा वचन तो ये साधु बोल ही नहीं सकते। असत्य बोलने में भी पाप के भागी बन जाते हैं, इसलिए असत्य बोलना ही नहीं चाहते हैं, तो फिर सत्य ही बोलना चाहिए। रहा सत्यासत्य का तीसरा भेद। वह ऐसी जगह होता है जहाँ कि बोलने का अभिप्राय असत्य न ठहराया जा सके, किन्तु वाच्यार्थ उपलब्ध न होने से सत्य भी न कहा जा सके। जैसे, आज्ञावचन। ऐसे वचन बोलने पड़ते हैं। इसलिए दो प्रकार बोलने को भाषासमिति कहा है। तात्पर्य यह कि वह वचन मित हो, अनर्थक न हो, बहुप्रलापरूप न हो, उसका अर्थ साफ झलकता हो, सन्देह रहित हो, अक्षर उसके साफ हों। उस बोलने में मिथ्यापना नहीं होना चाहिए, ईर्ष्या-असूया न होनी चाहिए, अप्रियता न होनी चाहिए, कठोरता

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

न होनी चाहिए, किसी का गुह्य प्रकाशित न होना चाहिए, निस्सार अथवा अल्पसार न होना चाहिए, कषाय का तथा हास्यादि का सम्बन्ध न होना चाहिए, असभ्यपना न होना चाहिए, अधर्मोपदेश न होना चाहिए, देश-काल के अयोग्य न होना चाहिए, अतिशय निन्दा तथा स्तुति नहीं होनी चाहिए, इत्यादि दोष टालकर बोलना भाषासमिति है।

एषणासमिति का लक्षण—

पिण्डं तथोपधिं शय्यानुद्गमोत्पादनादिना।
साधोः शोधयता शुद्धा ह्येषणासमितिर्भवेत्॥ 9॥

अर्थ—एषणासमिति का अर्थ भोजन में निर्दोषता से प्रवर्तना है। उद्गम-उत्पादनादि भोजन के दोष यति के आचार में लिखे हैं, उन्हें टालकर पिंड, उपधि तथा शय्या की शुद्धि रखते हुए भोजन ग्रहण करने से साधु की एषणासमिति सुधरती है।

आदाननिक्षेपणसमिति का लक्षण—

सहसा-दृष्ट-दुर्मृष्टाप्रत्यवेक्षण-दूषणम्।
त्यजतः समितिर्ज्ञेयाऽऽदाननिक्षेपगोचरा॥ 10॥

अर्थ—धरने, उठाने में सावधानी से प्रवर्तन को आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं। किसी चीज का धरना या उठाना थोड़ा-सा ही देखकर करें, न देखते हुए न करें, ठीक झाड़े-पोंछे बिना न करें। इन सब में सावधानी रखते हुए, तत्सम्बन्धी दोषों को टालते हुए साधु को धर्मोपकरणादि धरने-उठाने चाहिए।

उत्सर्गनिक्षेपसमिति का लक्षण—

समितिर्दर्शितानेन प्रतिष्ठापनगोचरा।
त्याज्यं मूत्रादिकं द्रव्यं स्थण्डिले त्यजतो यतेः॥ 11॥

अर्थ—किसी शुद्ध भूमि पर मलमूत्रादि का क्षेपण करना, यह साधु की प्रतिष्ठापन समिति अथवा उत्सर्ग समिति कहलाती है।

समितियों के पालने का फल—

इत्थं प्रवर्तमानस्य, न कर्माण्यास्त्रवन्ति हि।
असंयमनिमित्तानि ततो भवति संवरः॥ 12॥

अर्थ— इस प्रकार पाँच समितियों के अनुसार प्रवर्तने वाले साधु के असंयमनिमित्तक कर्म नहीं आते, इसलिए संवर हो जाता है।

दश धर्मों के नाम—

क्षमा-मृद्वृजुते शौचं, ससत्यं संयमस्तपः।
त्यागोऽकिञ्चनता ब्रह्म धर्मो दशविधः स्मृतः॥ 13॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—ये दश धर्म के लक्षण हैं।

क्षमा धर्म का स्वरूप—

क्रोधोत्पत्ति-निमित्तानामत्यन्तं सति सम्भवे।
आक्रोश-ताडनादीनां कालुष्योपरमः क्षमा ॥ 14॥

अर्थ—गाली सुनना, मार खाना-इत्यादि बातों से क्रोधं उत्पन्न होना सम्भव है, परन्तु ऐसे क्रोध उत्पन्न होने के निमित्त अत्यन्त सम्भव हो जाने पर भी क्रोध उत्पन्न न होने देना सो क्षमा है।

मार्दव धर्म का स्वरूप—

अभावो योऽभिमानस्य परैः परिभवे कृते।
जात्यादीनामनावेशाद् मदानां मार्दवं हि तत् ॥ 15॥

अर्थ—जात्यादि निमित्तों से होनेवाला मद उत्पन्न न होने पाए, यदि ऐसी सावधानी रखी जाए तो अभिमान उत्पन्न न होगा। बस, इसी का नाम मार्दव है। दूसरे लोग चाहे जितना तिरस्कार करें, परन्तु उस समय आप बल-बुद्धि आदि किसी बात से कम न होते हुए भी यदि अभिमान न करें तो परिणामों में मृदुता रह सकती है। अभिमान के कारण आठ होते हैं-1. जाति, 2. कुल, 3. रूप, 4. बल, 5. ऋद्धि, 6. ज्ञान, 7. तप और 8. शरीरसौन्दर्य।

आर्जव धर्म का स्वरूप—

वाङ्मनःकाययोगानामवक्रत्वं तदार्जवम्।

अर्थ—वचन-मन-काय की प्रवृत्तियों को कुटिल न करना, किन्तु सरल रखना सो आर्जव है।

शौच धर्म का स्वरूप—

परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः ॥ 16॥
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते।

अर्थ—भोग का, उपभोग का, जीने का और इन्द्रियविषयों का—इन चार बातों[1] का लोभ होना सम्भव है। उन चारों ही प्रकार के लोभ का त्याग करने से शौच प्राप्त होता है। मलिनता का और ग्लानि का सब से मुख्य कारण लोभ है। उसके छूटते ही आत्मा में जो अत्यन्त प्रसन्नता या निर्मलता भासने लगती है वही असली शौच है।

---

1. वार्तिककार ने जीवन का, आरोग्य का, इन्द्रियों का और उपभोग का ऐसे चार विषयों का लोभ चार प्रकार से माना है। 'तच्चतुर्विधं जीवितारोग्येन्द्रियोपभोगभेदात्।'—रा.वा., 9/6, वा. 8

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्यधर्म का स्वरूप—

ज्ञान-चारित्र-शिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते।
धर्मोपबृंहणार्थं यत् साधु सत्यं तदुच्यते ॥ 17॥

अर्थ—धर्म की वृद्धि करने के लिए, यथार्थ और धर्मसहित बोलना सत्य कहलाता है। इस सत्यधर्म के व्यवहार करने की आवश्यकता ज्ञान-चारित्र के सिखाने में तथा धर्मोपदेशादि वीतराग कथन करने में लगती है। अपने सधर्मा दीक्षितजनों के साथ अथवा अपने भक्त श्रावकों के साथ बोलना, वह चाहे जितना बोलना हो, परन्तु धर्मानुकूल बोलना चाहिए, सत्य धर्म में इतनी ही बात देखी जाती है।

संयमधर्म का स्वरूप—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम्।
समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः ॥ 18॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य होना और प्राणियों की हिंसा से बचना-बचाना तथा समितिरूप प्रवर्तना यह संयम है। साधु जब तक समितिरूप न प्रवर्तेगा, तब तक इन्द्रिय संयम व प्राणिसंयम पालना कठिन है, इसलिए समितियों का पालना भी आवश्यक है। संयम के इन्द्रिय संयम और प्राणीसंयम ये दो भेद हैं।

संयम का जो अर्थ किया है कि 'प्राणीन्द्रियपरिहार' वही ठीक है। प्राणी और इन्द्रिय इन दोनों का परिहार होना—यही लक्षण है। यद्यपि भाषादिनिवृत्ति, कायादि की विशेष यत्नाचाररूप प्रवृत्ति अथवा त्रसस्थावरवध का त्याग, ये जो संयम के स्वरूप बताये वे भी संयम से जुदे नहीं रहते, परन्तु यहाँ पर ये जो संयम इष्ट है उसके अविनाभावी हैं, एक-एक अशंरूप हैं और कुछ कार्यकारण रूप हैं। इसलिए संयम का निर्दोष लक्षण जो कहा है वही है। उपेक्षारूप परिणाम को भी संयम कहते हैं, परन्तु यहाँ जो संयम कहा है वह अपहृत[1] संयम कहलाता है। इस संयम को विशेष दिखाने के लिए[2] आठ प्रकार की शुद्धि बताई गयी हैं। उनके नाम हैं—1. भावशुद्धि, 2. कायशुद्धि, 3. विनयशुद्धि, 4. ईर्यापथ शुद्धि, 5. प्रतिष्ठापनशुद्धि, 6. शयनासन शुद्धि और 8. वाक्यशुद्धि। इन आठों शुद्धियों के पालने से निराबाध संयम पलता है।

तप धर्म का स्वरूप—

परं कर्मक्षयार्थं यत् तप्यते तत्तपः स्मृतम्।

अर्थ—परिपूर्ण कर्मक्षय के लिए जो तपा जाए उसे तप कहते हैं। भावार्थ—किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए जब तक कसकर स्वयं श्रम नहीं किया जाता है तब तक फलप्राप्ति नहीं होती। कर्मक्षय के

---

1. संयमो द्विविध उपेक्षासंयमोऽपहृसंयमश्च। रा.वा., वा. 15।
2. तत्प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशः। रा.वा., वा. 16।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए भी जब तक स्वयं तप न तपा जाए तब तक कर्मक्षय नहीं हो सकता है। श्रम या तप स्वयं करना पड़ता है, उसी को तप कहते हैं। वह तप दो प्रकार से होता है, एक तो शरीर को उसके लिए एकाग्र करना और कृश करना, दूसरे उपयोग का उस तरफ लगाना और दूसरे विषयों से हटाना। इन्हीं को बाह्य व आभ्यन्तर ऐसे दो प्रकार के नामों से कहते हैं। इन दोनों प्रकार के श्रम में खूब तप होता है, इसलिए ये तप कहलाते हैं। ऐसे तपश्चरण के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, इसलिए सभी कार्यों को सिद्ध करने में तप करना पड़ता है। चूँकि यहाँ पर दूसरे कार्य सिद्ध करना इष्ट नहीं है। इसलिए केवल कर्मक्षयार्थ किए जानेवाले को तप कहा है। ध्यान, तप का ही भेद है। उस ध्यान से ही सारे कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, तप ही कर्मक्षय करने में समर्थ है।

त्याग धर्म का स्वरूप—

त्यागस्तु धर्मशास्त्रादि-विश्राणनमुदाहृतम्[1]॥ 19॥

अर्थ—धर्मशास्त्रादिकों के दान करने को त्याग कहते हैं। कहीं-कहीं परिग्रह के छोड़ने को त्याग[2] कहा है, परन्तु वहाँ पर भी धर्मशास्त्रादि के अथवा ज्ञानादि के दान[3] को त्याग में ही गर्भित किया है। जहाँ पर परिग्रह-निवृत्ति को त्याग कहा है, वहाँ पर विद्यमान परिग्रह का त्याग करना—ऐसा अर्थ किया है। शौच धर्म में जो लोभनिवृत्ति[4] बतायी, वह इसलिए कि परिग्रह न रहते भी कदाचित् लोलुपता का दूर कराना शौचधर्म बताने का जुदा फल है। इसलिए देना त्याग है, न लेना शौच-निर्लोभता है, होने में आसक्ति न होना आकिंचन्य है।

आकिंचन्य धर्म का स्वरूप—

ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषुचित्।
अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिंचन्यमुच्यते॥ 20॥

अर्थ—जो कुछ शरीरादिक मेरे हैं ऐसा समझकर ग्रहण कर रखे थे और अपना रखे थे, उनमें से ममत्व संकल्प का छूट जाना[5] आकिंचन्य है। मेरा कुछ नहीं है ऐसा जो मानने लगना है उसे अकिंचन कहते हैं। उसके अकिंचनत्व रूप परिणाम को अथवा कृति को आकिंचन्य कहते हैं। त्याग में विद्यमान परिग्रह का त्याग होना, शौच का अर्थ अविद्यमान में से भी लोलुपता छूट जाना कहा,परन्तु भिन्न दिखने वाले पदार्थों के ही विषय से उक्त दोनों धर्मों के होने पर निवृत्ति होना मुख्य फल है और जो जुदे नहीं जान पड़ते हैं तथा छूट भी नहीं सकते हैं ऐसे शरीरादि पदार्थों से भी ममत्व छूटना इस आकिंचन्य का

---

1. विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्। इत्यमरः।
2. परिग्रहनिवृतिस्त्यागः।—रा. वा., 9/6 वा. 18
3. अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः।—रा.वा., 9/6 वा. 20
4. शौचवचनात्सिद्धिरिति चेन्न, तत्रासत्यपि गर्धोत्पत्तेः।—रा.वा., 9/6 वा. 20
5. ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यम्।—रा.वा., 9/6 वा. 21

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

फल है, इसलिए इसे शौचादि के बाद में कहा है क्योंकि यह आकिंचन्य धर्म शौच, त्यागादि धर्म हुए बिना नहीं पल सकता है। इसकी महिमा भी इतनी है कि ठीक-ठीक इस धर्म की भावना रहे तो जीव सब कुछ छोड़ते हुए भी त्रैलोक्य का स्वामी[1] बन सकता है। सर्व धर्म हो जाने पर ही यह होता है। इसके बाद यदि भेदरूप से कहा जा सकता है तो वह एक ब्रह्मचर्य ही है जो कि पूर्णरूप से देखने पर उसका अन्तिम स्वरूप जान पड़ेगा और जिसका कहना आकिंचन्यादि धर्मों की पुष्टि के लिए ही है।

ब्रह्मचर्यधर्म का स्वरूप—

स्त्री-संसक्तस्य शय्यादेरनुभूतांगना स्मृतेः।
तत्कथायाः श्रुतेश्च स्याद् ब्रह्मचर्यं हि वर्जनात्॥ 21॥

अर्थ—स्त्रीसम्बन्धी शयन-स्थानादिकों का त्याग करने से, अनुभव की हुई स्त्रियों के स्मरण का त्याग करने से और स्त्रियों की राग-कथा का कहने या सुनने तक का त्याग करने से, ब्रह्मचर्य धर्म प्राप्त होता है। गुरुओं के पास, इस धर्म की सिद्धि के लिए जो वास करना है वह भी ब्रह्मचर्य ही है।

धर्मप्रवृत्ति का फल—

इति प्रवर्तमानस्य धर्मे भवति संवरः।
तद्विपक्ष-निमित्तस्य कर्मणो नास्रवे सति ॥ 22॥

अर्थ—इन धर्मों में प्रवर्तने से धर्म के विरुद्ध परिणामों द्वारा आनेवाला कर्म रुक जाता है, और संवर सिद्ध हो जाता है। कर्मास्रव रागद्वेषादि निमित्तों द्वारा होता है। धर्म उन रागद्वेषादिकों का विरोधी है, तब फिर कर्मों का आना क्यों बन्द न हो?

परीषहों के नाम व जीतने का फल—

क्षुत्पिपासा च शीतोष्णे दंशमत्कुणनग्नते।
अरतिः स्त्री च चर्या च, निषद्या शयनं तथा ॥ 23॥
आक्रोशश्च वधश्चैव याचनाऽलाभयोर्द्वयम्।
रोगश्च तृणसंस्पर्शः तथा च मलधारणम् ॥ 24॥
असत्कार-पुरस्कारं प्रज्ञाऽज्ञानमदर्शनम्।
इति द्वाविंशतिः सम्यक् सोढव्याः स्युः परीषहाः॥ 25॥
संवरो हि भवत्येतानसंक्लिष्टेन चेतसा।
सहमानस्य रागादि निमित्तास्रव-रोधतः॥ 26॥

अर्थ—क्षुधापरीषह, पिपासापरीषह, शीतपरीषह, ऊष्मापरीषह, दंशमशकपरीषह, नग्नतापरीषह, अरतिपरीषह, स्त्रीपरीषह, चर्यापरीषह, निषद्यापरीषह, शयनपरीषह, आक्रोशपरीषह, वधपरीषह, याचनापरीषह, अलाभपरीषह, रोगपरीषह, तृणस्पर्शपरीषह, मलपरीषह, असत्कार-पुरस्कारपरीषह, प्रज्ञापरीषह, अज्ञानपरीषह,

1. अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्॥ आ.शा.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अदर्शनपरीषह—ये बाईस परीषह विषयसम्बन्धी, सर्वबाधा छोड़कर सहना चाहिए। शान्त चित्त से इन परीषहों को सहन किया जाए तो रागादिनिमित्तों से होनेवाले कर्मास्रव रुक जाते हैं,संवर हो जाता है।

तप : संवर एवं निर्जरा का हेतु—

तपो हि निर्जरा हेतुरुत्तरत्र प्रचक्ष्यते।
संवरस्यापि विद्वांसो विदुस्तन्मुख्यकारणम्॥ 27॥

अर्थ—तप को आगे निर्जरा का हेतु कहेंगे, परन्तु आचार्यों ने उसे संवर का भी मुख्य कारण माना है।

अनेककार्य-कारित्वं न चैकस्य विरुध्यते।
दाह-पाकादि-हेतुत्वं दृश्यते हि विभावसोः ॥ 28॥

अर्थ—एक चीज अनेक कार्यों को कर सकती है, इसमें कुछ विरोध नहीं है। यह देखा जाता है कि जिस अग्नि से दाह होता है उसी से पाक भी हो जाता है। इसी प्रकार संवर का तथा निर्जरा का तप ही एक कारण हो सकता है।

अनुप्रेक्षा—

अनित्यं शरणाभावो भवश्चैकत्वमन्यता।
अशौचमास्रवश्चैव संवरो निर्जरा तथा ॥ 29॥
लोको दुर्लभता बोधेः स्वाख्यातत्वं वृषस्य च।
अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः ॥ 30॥

अर्थ—1. अनित्यता, 2. अशरण, 3. संसार, 4. एकता, 5. अन्यता, 6. अशुचिता, 7. आस्रव, 8. संवर, 9. निर्जरा, 10. लोक, 11. बोधिदुर्लभता और 12. धर्म के स्वरूपवर्णन की श्रेष्ठता—इन बारह विषयों के बार-बार चिन्तन करने को बारह अनुप्रेक्षा कहते हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

अनित्य अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

क्रोडी करोति प्रथमं जात-जन्तुमनित्यता।
धात्री च जननी पश्चाद् धिग् मानुष्यमसारकम्॥ 31॥

अर्थ—इस प्राणी को उत्पन्न होते ही प्रथम तो अनित्यता गोद में लेती है और बाद में माता तथा धाय गोद में ले सकती हैं, इसलिए इस असार मनुष्य-जन्म को धिक्कार हो।

अर्थात्, अनित्यता तो किसी भी चीज के उत्पाद होने के साथ ही लगी हुई है। मनुष्य जन्मने के कुछ समय बाद ही माता तथा धाय की गोद में आ सकेगा, परन्तु जो उत्पन्न हुआ है उसका मरना उसी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समय से उसके साथ लगा हुआ है, इसलिये इन शरीरादिकों को स्थिर मानकर इनमें प्रीति करना बड़ी भूल है। ऐसी मूर्खता को धिक्कार हो।

अशरण अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

उपघ्नातस्य घोरेण मृत्यु-व्याघ्रेण देहिनः।
देवा अपि न जायन्ते शरणं किमु मानवाः॥ 32॥

अर्थ—भयंकर मृत्युरूपी व्याघ्र जब जीव को आ घेरता है तब देव भी बचाने को समर्थ नहीं होते, मनुष्यों की तो बात ही क्या है! ऐसे शरणरहित इस जीवन को धिक्कार हो।

संसारानुप्रेक्षा का स्वरूप—

चतुर्गति-घटीयन्त्रे सन्निवेश्य घटीमिव।
आत्मानं भ्रमयत्येष हा कष्टं कर्म-कच्छिकः॥ 33॥

अर्थ—जैसे घटीयन्त्र में घटी को लगाकर काछी उसे फिराता है उसी प्रकार चतुर्गतिरूप घटीयन्त्र में यह कर्मरूपी काछी जीवरूप घटी को लगाकर निरन्तर फिराता है, यह बड़ा कष्ट है। इस कर्म के वश प्राणी को कभी तिर्यंच तो कभी देव, कभी मनुष्य तो कभी नारकी—इस प्रकार नाना योनियों में फिरना पड़ता है। कभी चैन से स्थिर नहीं हो पाता। इस फिराने का कारण कर्म है। इस परिभ्रमण का नाम ही संसार है, इसलिए समझना चाहिए कि संसार कोई सुख की चीज नहीं है।

एकत्वानुप्रेक्षा का स्वरूप—

कस्यापत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे॥ 34॥

अर्थ—किसका कौन पुत्र और कौन किसका पिता? किसकी कौन माँ और किसकी कौन स्त्री? दुस्तर संसारसमुद्र में जीव अकेला ही इधर से उधर भटकता है, इसलिए किसी को अपना समझना नितान्त भ्रम है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा का स्वरूप—

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम्।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः॥ 35॥

अर्थ—जीव अन्य है और शरीर अन्य है। जीव का चैतन्य लक्षण है और शरीर का जड़ता लक्षण है। इन लक्षणों से दोनों जुदे-जुदे अनुभव में आ सकते हैं। तो भी, बड़ा खेद है कि मनुष्य शरीर को अपने से जुदा नहीं मानते हैं। जब दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं तो इस शरीर को अपनाना बड़ी भूल है। जैसे शरीर भिन्न है वैसे ही पुत्र, धनधान्यादिक प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अशुचित्वानुप्रेक्षा का स्वरूप—

नाना कृमि-शताकीर्णे दुर्गन्धे मलपूरिते।
आत्मनश्च परेषां च क्व शुचित्वं शरीरके॥ 36॥

अर्थ—अनेक प्रकार के सैकडों कृमि-कीटों से यह शरीर भरा रहता है और मूत्र-विष्टा-थूक-खकार-पीव इत्यादि मलों से पूरित रहता है, इसलिए न यह शरीर पवित्र है और न दूसरों का। जैसा यह शरीर, वैसा ही दूसरों का। इसमें पवित्रता कहाँ से आयी? ऐसे अपवित्र नीच शरीर में स्नेह करना या आसक्ति रखना बड़ी भूल है।

आस्रवानुप्रेक्षा का स्वरूप—

कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोऽसौ योगरन्ध्रसमाहृतैः।
हा दुरन्ते भवाम्भोधौ जीवो मज्जति पोतवत्॥ 37॥

अर्थ—कर्मों के भर जाने से जीव संसार में डूबता है। संसार मानो एक समुद्र है। कष्ट है कि समुद्र का कदाचित् अन्त भी लग जाए, परन्तु इसका अन्त कभी नहीं लगता। जीव जहाज के समान है। योगरूप छिद्रों द्वारा संचित हुए कर्मरूप जल से प्राणी परिपूर्ण हो रहा है, इसलिए समुद्र के समान इस संसार में डूबता है। योग ही आस्रव है। इसी के द्वारा कर्म आते हैं। न कर्म आते और न ही प्राणी डूबता। इस सारे दुःख का कारण योग अथवा आस्रव है।

संवरानुप्रेक्षा का स्वरूप—

योगद्वाराणि रुन्धन्तः कपाटैरिव गुप्तिभिः।
आपतद्भिर्न बाध्यन्ते धन्याः कर्मभिरुत्कटैः॥ 38॥

अर्थ—योग अथवा आस्रवरूप द्वारों को जो किवाड़ों के समान गुप्ति द्वारा बन्द करते हैं वे धन्य हैं। वे आते हुए कर्मों द्वारा भी बाधित नहीं हो पाते हैं। आने का द्वार ही रुक गया तो आपत्तियाँ आ कहाँ से सकती हैं, इसलिए जो योग-द्वारों को रोक देते हैं वे ही कर्मों के जाल से बचते हैं। वे धन्य हैं। उन्हीं का अनुकरण सबको करना चाहिए। यह हुआ आनेवाले नवीन कर्मों के रोकने का उपाय। अब संचित कर्मों के खिपाने का उपाय कहते हैं।

निर्जरानुप्रेक्षा का स्वरूप—

गाढोऽपजीर्यते यद्वद् आमदोषो विसर्पणात्।
तद्वद् निर्जीर्यते कर्म तपसा पूर्वसञ्चितम्॥ 39॥

अर्थ—रेचन की औषध सेवन करने से जिस प्रकार गाढ जमा हुआ आम दोष अथवा अजीर्णता का दोष दूर हो जाता है उसी प्रकार पूर्वसंचित कर्म तपश्चरण करने से नष्ट हो जाता है। यह संचित कर्म के दूर करने का उपाय है। इससे कैसा ही दृढ़बद्ध कर्म भी नष्ट हो जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप—

नित्याध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि।
वसति-स्थानवत् कानि कुलान्यध्युषितानि न ॥ 40॥

अर्थ—जीव सदा ही भ्रमण करता है। राहगीर ही बना रहता है। लोक मात्र भ्रमण का मार्ग है। घर, द्वार की तरह असंख्यातों ऐसे शरीराकार हैं कि जिन्हें कुल कहते हैं। उनमें से ऐसे कौन से कुल हैं जो कि जीव ने अपने भ्रमण में घररूप न बना लिये हों—जिनमें कि जीव भ्रमते हुए निवास न कर चुका हो। जबकि अनादि से भ्रम रहा है तो कौन-सा लोक-क्षेत्र तथा कुल इससे छूट सकता है? एक बार नहीं, किन्तु अनेक-अनेक बार, एक-एक क्षेत्र में जन्म-मरण हो चुके हैं। इस प्रकार लोक का अपने साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। यह कैसे छूटे?

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का स्वरूप—

मोक्षारोहणनिश्रेणिः कल्याणानां परम्परा।
अहो कष्टं भवाम्भोधौ बोधिर्जीवस्य दुर्लभा॥ 41॥

अर्थ—देखो, यह बड़ा कष्ट है कि, जो मोक्ष तक चढ़ने के लिए सीढ़ियों के समान है, कल्याणों की परम्परा है, ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति संसार-सागर में जीव के लिए अत्यन्त दुर्लभ हो रही है। यदि जीव इस संसार-सागर से तरना चाहे तो रत्नत्रय के द्वारा ही तर सकता है। उसी के द्वारा मोक्ष में पहुँच सकता है। संसार में जब तक जीव रहे तबतक भी उससे अनेक और सातिशय सुख प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु उसे रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन हो रहा है। जीव का नित्यनिगोद पहला निवासस्थान है। वहाँ से मनुष्यजन्म तक आना अति कठिन है। मनुष्य-भव में ही रत्नत्रय का लाभ हो सकता है। यदि यह जन्म निष्फल गया तो फिर समुद्र में चिन्तामणि रत्न फेंक देने के बराबर हानि होगी।

धर्मानुप्रेक्षा का स्वरूप—

क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाख्यातो जिनपुंगवैः।
अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम्॥ 42॥

अर्थ—उत्तमक्षमादिरूप धर्म का सच्चा स्वरूप जिनेन्द्रभगवान ने ही कहा है। संसारसमुद्र में डूबते हुए प्राणियों को यही आश्रय देनेवाला—उन्हें थामने वाला खम्भ है। इसी के सहारे से प्राणी संसारसमुद्र में डूबने से बचते हैं और पार होते हैं।

भावनाओं का एकमात्र फल—

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः।
ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः॥ 43॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने से साधु के धर्म का महान् उद्यम होता है—धर्म में साधु दृढ़ होता है। धर्म की रक्षा करने में और उसकी वृद्धि में महान् उद्यम करने लगता है। ऐसा करने से उस तपस्वी के प्रमाद दूर हो जाते हैं और प्रमाद रहित होने से कर्मों का महान् संवर होता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं को संवर का कारण कहा। अब चारित्र को दिखाते हैं—

चारित्र के भेद—

वृत्तं सामायिकं ज्ञेयं छेदोपस्थापनं तथा।
परिहारं च सूक्ष्मं च यथाख्यातं च पञ्चमम् ॥ 44॥

अर्थ—वृत्त अर्थात् चारित्र। चारित्र के पाँच भेद हैं—1. सामायिक 2. छेदोपस्थापन 3. परिहारविशुद्धि, 4. सूक्ष्मसाम्पराय और 5. यथाख्यात।

सामायिक चारित्र का स्वरूप—

प्रत्याख्यानमभेदेन सर्वसावद्य-कर्मणः।
नित्यं नियतकालं वा वृत्तं सामायिकं स्मृतम्॥ 45॥

अर्थ—सभी पाप-क्रियाओं का अभेदरूप से सदा के लिए अथवा जीवन भर के लिए त्याग करना इसे सामायिक चारित्र हैं। छेदोपस्थापनादि चारित्र भेदरूप से पापक्रियाओं के छोड़ने पर होते हैं और यह चारित्र अभेदरूप से पापक्रिया छूटने पर होता है। छेदोपस्थापन से यही इसमें अन्तर है।

छेदोपस्थापन चारित्र का स्वरूप—

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत्॥ 46॥

अर्थ—जहाँ पर हिंसा, चोरी इत्यादि विशेषरूप से भेदपूर्वक पाप-क्रिया का त्याग किया जाता है और व्रत भंग हो जाने पर उसकी शुद्धि करते समय भी किसी विशेष पाप-क्रिया के हटाने में ही लक्ष्य रहता है ऐसा भेद पुरस्सर पाप-क्रिया का त्याग छेदोपस्थापन है। सामायिक चारित्र से जो इसमें भेद बता चुके हैं वह भी उपयुक्त ही है। यह चारित्र दोनों तरह से हुआ करता है। एक वह जो किसी व्रत के भंग हो जाने पर उसकी शुद्धि करते समय प्रायश्चित के रूप में किया जाता है। दूसरा, व्रतधारण करते समय ही भेदरूप से सावद्यक्रिया के छोड़नेरूप जो परिणाम होता है वह समझना चाहिए। ये दोनों प्रकार कहने मात्र के लिए जुदे दो हैं, स्वरूप दोनों का एक ही है अर्थात् एक तो व्रत भंग हो जाने पर किया जाता है और दूसरा पहले से ही किया जाता है अथवा चाहे जब किया जा सकता है। बस, इतनी अपेक्षा से दोनों में भेद माना गया है परन्तु लक्षण दोनों का इतना ही है कि विशेष रूप से सावद्य का परिहार किया जाये। इसकी और प्रथम चारित्र की स्थिति छठे गुणस्थान से नौवें गुणस्थान तक रहती है।

इसके बाद दसवाँ गुणस्थान प्राप्त हो जाता है जिसमें कि सूक्ष्मसाम्पराय नाम का चौथा चारित्र प्रकट

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है, परन्तु किसी विशिष्ट सुखी पुरुष को दृष्टिवाद के चौदह पूर्वों में से नौ प्रत्याख्यान नाम पूर्वतक तीर्थंकर केवली के समीप श्रुतज्ञान प्राप्त करने का सौभाग्य मिल गया हो तो उसे परिहारविशुद्धि नाम की ऋद्धि प्रकट हो जाती है, जिससे कि उसके शरीर से जीव-हिंसा न हो सके। बस, इसी का नाम परिहारविशुद्धि चारित्र है। यही आगे कहते हैं।

परिहारविशुद्धि चारित्र का स्वरूप—

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥ 47 ॥

अर्थ—ऊपर जो निमित्त बता चुके हैं उसके द्वारा शरीर से जीववध होना छूट जाने के कारण जो प्राणिघात का विशिष्ट परिहार हो जाता है उससे आत्मा में एक अपूर्व शुद्धि उत्पन्न होती है, इसी का नाम परिहारविशुद्धि है। यह तीसरा चारित्र किसी विरले को ही प्राप्त होता है। शरीर-क्रिया करते हुए भी इससे पाप नहीं लगता है, इसलिए इसे प्रायश्चित की या छेदोस्थापन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। सामायिक चारित्रवाला भी कभी-कभी छेदोपस्थापन की आवश्यकता न रखता हुआ ही नवें गुणस्थान तक जा सकता है, परन्तु उसका व्रतभंग हो जाना सम्भव है, इसीलिए सामायिक व छेदोपस्थापन की सत्ता नौवें तक सुख से एक-सी रह सकती है। परिहारविशुद्धि चारित्र सातवें तक ही होता है। यदि श्रेणी का आरोहण करना हो तो परिहारविशुद्धि छोड़कर, सामायिक-छेदोपस्थापन का अवलंबन लेना पड़ेगा, इसलिए यह मानना चाहिए कि उत्तरोत्तर गुणस्थानों की वृद्धि करते हुए केवलज्ञान की तरफ ले जानेवाले ये दो ही चारित्र हैं। परिहारविशुद्धि केवल प्राणिवध बन्द हो जाने से विशुद्ध माना जाता है और वह भी तब तक, जब तक कि छठे, सातवें में उतरने-चढ़ने की सम्भवना रहती है। श्रेणी पर चढ़नेवाले जीव को इस महत्त्व की कीमत नहीं रहती। वह स्वयं सब तरफ से अति विशुद्ध बनने लगता है। उसमें परिहारविशुद्धि की महिमा गर्भित हो जाती है इसलिए फिर उनमें परिहारविशुद्धि नहीं रहता। यद्यपि जहाँ सामायिक-छेदोपस्थापन समाप्त हो जाता है वहाँ से भी ऊपर सूक्ष्मसाम्पराय और फिर यथाख्यातचारित्र ऐसे उत्तरोत्तर परिणामों की वृद्धि होती जाती है, परन्तु सामायिक-छेदोपस्थापन के बाद की जो विशुद्धिवृद्धि होती है उससे परिहार विशुद्धि के बाद की सामायिकादिरूप विशुद्धिवृद्धि एक जुदे प्रकार की है। वह ऐसी कि, जिन छठे, सातवें गुणस्थानों में सर्वसामान्य साधु को सामायिक-छेदोपस्थापन होते हैं, उन्हीं गुणस्थानों में परिहारविशुद्धि वृद्धि प्राप्त होने पर सामायिक या छेदोपस्थापन न रहकर परिहारविशुद्धिचारित्र हो जाता है। इससे यह मानना पड़ता है कि उन गुणस्थानों के सामायिक-छेदोपस्थापन से यह चारित्र अधिक विशुद्ध है। तभी तो उन दोनों को हटाकर परिहारविशुद्धि-चारित्र प्रकाशमान हो जाता है, परन्तु जब श्रेणीआरोहण करने लगता है तब वही साधु परिहारविशुद्धि से ऊँचा दर्जा ग्रहण करता हुआ सामायिक-छेदोपस्थापन नाम के चारित्र को पाता है। उस समय परिहारविशुद्धि छूट जाता है, अर्थात्, एक बार नीचे दर्जे में परिहारविशुद्धि दोनों चारित्रों को पराभूत करती है और दूसरी बार स्वयं उनसे पराभूत होती है। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि परिहारविशुद्धि-चारित्र एक ऋद्धिविशेष की महिमा का नाम है जो कि गुणस्थान बढ़ाने के कारणभूत चारित्र की कोटि का नहीं हो सकता है और सामायिक-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

छेदोपस्थापन गुणस्थान बढ़ाने में कारणभूत होते हैं, इसीलिए नौवें गुणस्थान तक सामायिक या छेदोपस्थापन के द्वारा परिणामों की वृद्धि हो जाने पर जो चारित्र होता है उसका नाम सूक्ष्मसाम्परायचारित्र है।

सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र का स्वरूप—

कषायेषु प्रशान्तेषु प्रक्षीणेष्वखिलेषु वा।
स्यात् सूक्ष्मसाम्परायाख्यं सूक्ष्मलोभवतो यतेः॥ 48॥

अर्थ—सम्पूर्ण कषायों को उपशान्त अथवा क्षीण करते-करते जब थोड़ा-सा सूक्ष्म लोभ उदय में शेष रह जाता है उस समय जो परिणामों में अधिक विशुद्धि प्राप्त होती है वह सूक्ष्मसाम्परायचारित्र है। इससे पूर्व में कषायों की अधिकता के वश जीव को विशुद्ध परिणाम करने के लिए प्रयत्न तीव्र करना पड़ता था। क्योंकि, परिणामशुद्धि के विरोधी कर्मों के वश जीव को विशुद्ध परिणाम करने के लिए प्रयत्न तीव्र करना पड़ता था; यह इसलिए कि परिणामशुद्धि के विरोधी कर्मों का उदय तबतक प्रबल था। अब वह उदय प्रबल न रहने पर भी प्रयत्न तो करना पड़ता है, परन्तु मन्द उद्यम से अब काम चल जाता है, इसलिए नौवें गुणस्थान तक के परिणामों की जाति से उसको जुदा माना है। छठे गुणस्थान से नौवें तक चार गुणस्थान बदलते-बदलते हो गये और इन चार गुणस्थानों के परिणाम परस्पर में भिन्न रहे, परन्तु उनमें चारित्र का भेद न करके दसवें में आने पर किया। इसका कारण वही है जो कि ऊपर कह चुके हैं।

इससे भी जो ऊपर चारित्र होता है उसका नाम यथाख्यात है। उसमें प्रयत्न का अभाव ही हो चुकता है। वहाँ प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। उसकी उत्पत्ति प्रयत्न के अभाव होने पर होती है। प्रयत्न कषाय का कार्य है। वह रहता है तबतक यथाख्यात स्वरूप का होना असम्भव है, इसीलिए प्रयत्न के न रहने पर यह चारित्र होता है। इस तरह सूक्ष्मसाम्पराय की जाति से इस की जाति जुदी है, अर्थात् सामायिक-छेदोपस्थापन प्रयत्नप्रधान हैं। सूक्ष्मसाम्पराय गौण प्रयत्नवान् है और यह यथाख्यात प्रयत्नशून्य है। इस प्रकार इस चारित्र में पूर्व से विशेषता है, यही बात आगे कहते हैं—

यथाख्यातचारित्र का स्वरूप—

क्षयाच्चारित्रमोहस्य कात्स्न्र्येनोपशमात्तथा।
यथाख्यातमथाख्यातं चारित्रं पञ्चमं जिनैः॥ 49॥

अर्थ—चारित्रमोहकर्म का पूरा क्षय हो जाने पर जिनभगवान ने पाँचवाँ यथाख्यातचारित्र होना बताया है। अथाख्यात भी इसका दूसरा नाम है। जिनेन्द्रभगवान ने पूरा शुद्ध आत्मस्वरूप जैसा कहा है वैसा स्वरूप ही यहाँ पर प्राप्त होता है। इसलिए इसे यथाख्यात कहते हैं। अथाख्यात का अर्थ यह है कि आज तक जिसकी कथामात्र की थी, परन्तु जो प्राप्त नहीं हुआ था, वह अब प्राप्त हुआ है। मोहकर्म का पूरा उपशम हो जाने पर भी यथाख्यातचारित्र हुआ माना जाता है, क्योंकि, मोहोदय के बिना पूर्ण शुद्ध स्वरूप में मलिनता कौन उत्पन्न कर सकता है? वह उदय जैसा मोहक्षय के समय नष्ट हो जाता है, वैसा ही मोहोपशम के समय में भी नष्ट हो जाता है। इसलिए उपशान्तकषाय वाले जीव में भी यथाख्यात प्रकट

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हुआ माना जाता है, परन्तु वह हुआ कि मोहोदय हो जाता है, जिससे कि यथाख्यात की दशा फिर भी छूट जाती है। क्षीणमोह के यथाख्यात से इस यथाख्यात का स्थान भी नीचा है और फल भी अल्प है, इसलिए वही चिरस्थायी यथाख्यात है जो कि क्षीणमोह को प्राप्त होता है।

चारित्र का फल—

सम्यक्चारित्रमित्येतद् यथास्वं चरतो यतेः।
सर्वास्रवनिरोधः स्यात् ततो भवति संवरः॥ 50॥

अर्थ—इस प्रकार इस सम्यक्चारित्र का यथायोग्य आचरण करनेवाले साधु का सब कर्मास्रव होना रुक जाता है। इससे उसका संवर होना सिद्ध हो जाता है।

तपस्तु वक्ष्यते तद्धि, सम्यग्भावयतो यतेः।
स्नेहक्षयात्तथा योगरोधाद् भवति संवरः॥ 51॥

अर्थ—तप आगे कहेंगे। उस तप की यथार्थ भावना करनेवाले योगी का रागद्वेष नष्ट हो जाता है और योग भी रुक जाते हैं, इसलिए उसके कर्मों का आना रुकता है और संवर सिद्ध होता है।

संवर तत्त्व को जानने का फल—

इति संवरतत्त्वं यः श्रद्धते वेत्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः, स हि निर्वाणभाग् भवेत्॥ 52॥

अर्थ—इस प्रकार संवरतत्त्व का बाकी छह तत्त्वों के साथ-साथ जो श्रद्धान करता है, उसे जान लेता है और उपेक्षित होकर चारित्र धारण करता है वही निर्वाण का भागी होता है।

इति श्री अमृतचन्द्राचार्यरचित तत्त्वार्थसार में संवर तत्त्व का कथन करनेवाला,
धर्मश्रुतज्ञान हिन्दी टीका में छठा अधिकार पूर्ण हुआ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सातवाँ अधिकार

निर्जरा तत्त्व-वर्णन

मंगलाचरण एवं विषय-प्रतिज्ञा

अनन्त-केवल-ज्योतिः प्रकाशित-जगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना निर्जरा तत्त्वमुच्यते॥ 1॥

अर्थ—केवलज्ञानरूप अनन्तज्योति के द्वारा तीनों जगत को प्रकाशित करनेवाले जिनेन्द्र भगवान को मस्तक झुकाकर निर्जरा तत्त्व का वर्णन करते हैं।

निर्जरा के लक्षण व भेद—

उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा।
आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा॥ 2॥

अर्थ—बन्धे हुए कर्मों के झड़ जाने का नाम निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है—विपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

विपाक निर्जरा का लक्षण—

अनादि-बन्धनोपाधि विपाक-वशवर्तिनः।
कर्मारब्ध-फलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा॥ 3॥

अर्थ—अनादि काल से कर्मबन्धन की जो उपाधि लगी हुई है, उसका जब-जब फलकाल उपस्थित होता है तब-तब वे कर्म फल दे-देकर खिरते हैं। बस, इसी का नाम विपाक निर्जरा है। ऐसी निर्जरा सदा ही होती रहती है। जब कोई भी कर्म बँधता है वह कुछ स्थिति की मर्यादा रखता हुआ ही बँधता है, इसलिए उतनी स्थिति पूरी होने पर वह कर्म खिरना ही चाहिए। इसी प्रकार अनादि काल से पूर्व कर्म खिरते जाते हैं और नवीन कर्म बँधते जाते हैं। ऐसी लड़ी बराबर चली आ रही है। कभी-कभी, किसी-किसी कर्म की पूर्वबद्ध स्थिति खत्म हो जाने पर भी उस समय स्थितिवर्धक निमित्त मिल जाने से स्थिति बढ़ जाती है। ऐसा होने पर कभी न कभी उनका अन्त आता ही है। इस प्रकार यह सब विपाक निर्जरा सदा ही होती रहती है। यह निर्जरा होते हुए भी जीव कर्मों से छूट नहीं पाता है; क्योंकि, एक खिरता है तो दूसरा बँधता है। कर्मों से छूटने का उपाय अविपाक निर्जरा है। इस प्रकरण में वही निर्जरा ली जाती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अविपाक निर्जरा का लक्षण—

अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम्।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा॥ 4॥

अर्थ—कर्मों का उदयकाल प्राप्त न हुआ हो तो भी जहाँ पर तपश्चरण के सामर्थ्य द्वारा उसे परिपाक हुई उदयावली में प्रवेश कराकर बन्धन से छुड़ा दिया जाता है उस समय की उस निर्जरा को अविपाक निर्जरा कहते हैं। फल देने का नाम उदय है, परन्तु फल न देकर भी जो खिरना है उसे भी कभी-कभी ग्रन्थकार उदय कह देते हैं, क्योंकि, कर्म फल दे या न दे, परन्तु बन्धन की दृढ़ अवस्था से उसकी शिथिल अवस्था दोनों ही बार होती है। उसी को उद्रिक्त (आवेगपूर्ण) नाम से भी कहते हैं। फल भोगने में आना, न आना—यह बात केवल कर्माधीन नहीं है, किन्तु बाह्य निमित्त का होना, न होना भी फल भुगाने में कारण होता है। तपश्चरण के द्वारा जो कर्म खिपाये जाते हैं उनके भुगानेवाले बाह्य निमित्तों का एक साथ एकत्र होना कठिन तथा असम्भव बात है। अतः तपश्चरण द्वारा खिपनेवाले कर्म उदित होकर बिना फल दिये खिर जाते हैं, परन्तु भोगने में आनेवाले कर्मों का और बिना भोगे ही खिरनेवाले कर्मों का खिरने के समय जो उद्रेक होता है वह एक-सा होता है। इतनी समानता को देखकर ग्रन्थकार अविपाक निर्जरावाले कर्मों को भी उदयावली में प्रविष्ट होनेवाले मानते हैं और उनका वेदन होना भी बताते हैं। परन्तु यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि फल भोगने रूप जो उदय है, वह उदय यहाँ पर नहीं होता। यदि इस उदीर्ण उदयावली में भी फल भोगने का नियम हो तो निर्जरा का यह दूसरा भेद ही न बन सकेगा। फिर फल भोगनेवाले के नवीन कर्म भी नियम से बँधते ही हैं। ऐसी हालत में उनका मुक्त होना असम्भव हो जाएगा, इसलिए मानना चाहिए कि निष्काम तपश्चरण करनेवाले के जो कर्म खिरते हैं वे बिना फल भोगे ही खिराये जाते हैं।

प्रश्न—यदि बिना फल भोगे भी कर्म खिर जाते हैं तो कृतनाश का दोष क्यों न आएगा?

उत्तर—जो काम किया जाता है उसका जहाँ पर कोई भी फल सम्भव नहीं होता, वहाँ पर कृतनाश का दोष आता है। बाँधे हुए कर्मों द्वारा जीव परतन्त्र बन जाता है, इसलिए कर्म का बन्ध निष्फल नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार उदय सम्बन्धी फल न मिलने पर भी कृतनाश का दोष नहीं आ सकता है, इसलिए बद्ध कर्मों को भोगकर खिराने का नियम मानना असंगत बात है।

अविपाकनिर्जरा का उदाहरण—

यथाम्रपनसादीनि परिपाकमुपायतः।
अकालेऽपि प्रपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनाम्॥ 5॥

अर्थ—जिस प्रकार आम, पनस इत्यादि कच्चे फल पाल में रख देने से असमय में भी पक जाते हैं उसी प्रकार जीवों के कर्म उदयकाल आने से पहले भी तपश्चरणादि प्रयोग द्वारा परिपक्व हो जाते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि बिना फल दिये भी कर्म खिर सकते हैं, उसी का यह उदाहरण है। जीव से सम्बन्ध छोड़ने के सन्मुख हो जाना ही परिपाक होने का अर्थ है। भोगने के योग्य होने का अर्थ यह है कि जीव के साथ जो दृढ़ बद्ध था, उससे शिथिल हो जाना, जिससे की आगे सम्बन्ध न रह सके।

---

1. इस उत्तर से इस वचन का भी समाधान हो जाता कि, "अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

फल के भी पकने का यही अर्थ है कि जो वृक्ष के साथ दृढ़ सम्बन्ध था उसका शिथिल हो जाना और उसके जो अवयव दृढ़ थे उनका भी शिथिल हो जाना। फल पकने पर वृक्ष से अपने आप जुदा हो जाता है, क्योंकि उसके डंठल में जुड़े रहने की शक्ति नहीं रहती है। इसी प्रकार कर्म का परिपाक होते ही उसे आत्मा से जुदा होना पड़ता है। उसमें बन्धन की शिथिलता हो जाने से उसका वहाँ पूर्ववत् रहना अशक्य हो जाता है। इसके भोगने का अर्थ यह है कि पके हुए का जो उपयोग हो सकता है वह उपयोग हो जाना। जैसे, फल का उपयोग यह कि उसे खाकर जीव सुखी या दुःखी हो जाए। उसी प्रकार कर्म को भोगकर उसके द्वारा सुखी-दुःखी बनना कर्म के भोगने का मतलब है। जिस प्रकार यह नियम नहीं है कि पके हुए फल का भक्षण कोई न कोई करे ही, उसी प्रकार कर्म उदय में आने पर उसका फल भोगा ही जाए—यह नियम नहीं हो सकता है, इसलिए इस फल के उदाहरण से यह बात माननी चाहिए कि अविपाक निर्जरा बिना फल दिये ही हो जाती है।

उदाहरण में जो भोक्ता है वह मनुष्य या प्राणी फल से जुदा दिख पड़ता है। फल परिपक्व होने पर जो वृक्ष से सम्बन्ध छोड़ता है उतनी तुलना दृष्टान्त से मिल जाती है। क्योंकि कर्मों के परिपाक का फल-भोक्ता भी वही प्राणी होता है और जिससे कर्म सम्बन्ध छोड़ता है वह भी वही प्राणी होता, परन्तु फल के कर्ता, भोक्ता, और उससे सम्बन्ध रखनेवाले जुदे-जुदे होते हैं। इतनी विषमता दृष्टान्त में जान पड़ेगी, परन्तु यह कोई दोष नहीं है। जगत के कारक के और भी ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जो कि दोनों प्रकार के होते हैं। उदाहरणार्थ, "अमुक मनुष्य कुल्हाड़ी से लकड़ी काट रहा है"—इस वाक्य में कर्ता, कर्म, करण जुदे-जुदे हैं। "अमुक मनुष्य ज्ञान द्वारा अपने को जान रहा है"—इस वाक्य में कर्ता, कर्म, करण एक ही हैं। इसी प्रकार आम्र आदि फलों के कर्ता, भोक्ता आदि जुदे-जुदे हैं और कर्म के कर्ता, भोक्ता आदि एक ही हैं। इतनी विषमता से फल के परिपाक का उदाहरण मिथ्या नहीं हो सकता है।

अथवा कर्ता, कर्म, करण आदि को कहीं भी जुदा-जुदा मानना व्यवहारनयाधीन है। वास्तव में और भी सूक्ष्म कार्यकारणादि सम्बन्ध देखे जाएँ तो सर्वत्र यही बात सिद्ध होती है कि कर्ता, कर्म आदि एक ही होने चाहिए। जुदा पदार्थ, जुदे पदार्थ के साथ कुछ नहीं कर सकता है, क्योंकि कुछ भी करने में और होने में शक्ति का विनियोग होता है। जबकि दूसरे पदार्थ की शक्ति किसी और दूसरे में परिवर्तन कर ही नहीं सकती तो वह दूसरे में करेगी क्या? यदि दूसरे का, दूसरे में परिवर्तन होना मान लिया जाए तो विश्व की उथल-पुथल हो जाए, इसलिए मानना चाहिए कि दूसरा कोई किसी का कुछ भी करता नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार आम्रफलादिकों में क्या और कर्म में क्या? सर्वत्र कर्ता-कर्मादि तथा कर्ता-भोक्तादि एक वस्तु के ही धर्मविशेष तादात्म्य सम्बन्ध से मानने चाहिए, इसलिए कर्म का कर्ता करणादि सम्बन्ध पुद्गलों में ही माना जाता है और जीव को जीव के परिणाम में ही कर्ता-भोक्ता तथा कर्ता, करणादिरूप माना[1] जाता है, इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि भोग न होते हुए कर्म का, कृत्रिम उपायों से विपाक हो सकता है। यही बात आगे दिखाते हैं—

दोनों निर्जराओं के स्वामी—

अनुभूय क्रमात्कर्म विपाकप्राप्तमुज्झताम्।
प्रथमास्त्येव सर्वेषां द्वितीया तु तपस्विनाम्॥ 6॥

1. "पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो। चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥"—द्र.सं., गा. 8

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—कालक्रम से विपाक को प्राप्त हुए कर्मों का फलानुभव करके जो छोड़ना है वह प्रथम निर्जरा है। ऐसी निर्जरा जगत के सभी जीव करते हैं, परन्तु दूसरी जो निर्जरा है उसे तपस्वी ही कर सकते हैं, अर्थात् उसमें इतना ही विशेष है कि कर्मों का परिपाक होने पर उसका अनुभव नहीं किया जाए तो विपाकानन्तर जो निर्जरा होगी वह अविपाक समझी जाएगी। दोनों ही निर्जरा विपाक प्राप्त कर्मों की होती है ऐसा जो कहा है वह विपाक उदयावली में कर्म का प्राप्त होना है अथवा उद्रेक होना है अथवा फल देने के सन्मुख होना है। कर्म की ऐसी अवस्था दोनों ही निर्जराओं में होती है। यदि अविपाक निर्जरा में कर्मों का विपाक होना न माना जाए तो तपस्वियों के भी जो कुछ कर्म स्वयमेव काल पाकर उदय को प्राप्त होते हैं उनका विपाक होना ही असम्भव हो जाएगा, परन्तु स्थिति समाप्त हो चुकी हो तो उनको उदयावली में आने से कैसे रोका जा सकता है? और जो जीव कर्म के उदय का अथवा उदीरणा का अनुभव करते हैं उनके उन कर्मों की निर्जरा सविपाक मानी जाती है। श्लोक में क्रमप्राप्त कर्म का अनुभव होने पर होने वाले क्षय को सविपाक निर्जरा कहा है। क्रमप्राप्त एक तो वे कर्म होते हैं जो यथाकाल उदय को प्राप्त होते हैं; और दूसरे उन्हें भी क्रमप्राप्त ही मानना चाहिए जो कि उदीरणा द्वारा उद्रेकित होते हैं। तपश्चरण द्वारा उदयावली में आनेवाले वे कर्म समझे जाते हैं जो कि केवल निर्जरा की इच्छा से तपों द्वारा उद्रेकित किये गये हों।

तपश्चरण के भेद—

तपस्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तर-भेदतः।
प्रत्येकं षड्विधं तच्च सर्वं द्वादशधा भवेत्॥ 7॥

अर्थ—तप के मूल दो भेद हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। दोनों के उत्तर भेद छह-छह हैं। इस प्रकार सब बारह भेद तप के हो जाते हैं। संवर प्रकरण में तप का लक्षण कह चुके हैं कि "कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्।" इसलिए यहाँ पर लक्षण न कहकर भेद मात्र की संख्या दिखा दी है।

बाह्य तप के छह भेदों के नाम—

बाह्यं तत्रावमौदर्यमुपवासो रसोज्झनम्।
वृत्तिसंख्या वपुःक्लेशो विविक्त-शयनासनम्॥ 8॥

अर्थ—उन दोनों भेदों में से बाह्य तप के जो छह भेद हैं उनके ये नाम हैं : 1. अवमौदर्य, 2. उपवास, 3. रसत्याग, 4. वृत्तिसंख्यान, 5. कायक्लेश, 6. विविक्तशय्यासन।

अवमौदर्य तप का स्वरूप—

सर्वं तदवमौदर्यमाहारं यत्र हापयेत्।
एकद्वित्र्यादिभिर्ग्रासैराग्रासं समयान्मुनिः॥ 9॥

अर्थ—जिसमें आहार को घटाया जाता है उस सारी प्रवृत्ति को अवमौदर्य तप कहते हैं। इसके घटाने की विधि यह है कि मुनि का जो पूर्ण भोजन है उसमें से एक, दो, तीन आदि ग्रास घटाकर मुनि भोजन करे। इसके घटाने की उत्कृष्ट सीमा वहाँ तक है जहाँ एक ग्रास शेष रह जाए। एक ग्रास घटाकर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भोजन करना जघन्य अवमौदर्य है। एक ग्रासमात्र भोजन करना उत्कृष्ट अवमौदर्य है। बीच के भेद मध्यम अवमौदर्य में गर्भित होते हैं।

उपवास तप का स्वरूप—

मोक्षार्थं त्यज्यते यस्मिन्नाहारोऽपि चतुर्विधः।
उपवासः स तद्भेदाः सन्ति षष्ठाष्टमादयः॥ 10॥

अर्थ—केवल मुक्तिफल की इच्छा रखते हुए सर्व विषयों से उपेक्षित होकर चारों प्रकार के आहार का त्याग जिस तप में किया जाता है उसे उपवास कहते हैं। बेला, तेला आदि उपवास के ही भेद हैं। आहार चार हैं—अन्न, खाद्य, पेय, लेह। इन चारों आहारों का पूर्ण त्याग होने पर उपवास तप होता है। अवमौदर्य का अभ्यास बढ़ जाने पर उपवास तप करने में प्रवृत्ति की जाए तो सुखसाध्य होता है, इसीलिए अवमौदर्य के बाद में उपवास का नाम हैं।

रसत्याग तप का स्वरूप—

रसत्यागो भवेत्तैल-क्षीरेक्षु-दधिसर्पिषाम्।
एक-द्वि-त्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा॥ 11॥

अर्थ—तेल, दूध, खांड, दही, घी—ये पाँच रस हैं। इनका यथासाध्य त्याग करना रसत्याग तप है। इसके पाँच प्रकार हो जाते हैं : (1) किसी एक रस का त्याग करना, (2) दो रसों का त्याग करना, (3) तीन रसों का त्याग करना, (4) चार रसों का त्याग करना, (5) पाँचों रसों का त्याग करना। पहला जघन्य है, अन्त का उत्कृष्ट है। बीच के तीनों भेद मध्यम तप समझना चाहिए।

वृत्तिसंख्यान तप का स्वरूप—

एकवस्तु-दशागार-पान-मुद्गादिगोचरः।
संकल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः॥ 12॥

अर्थ—भोजन के पूर्व मुनि इस प्रकार संकल्प करें कि मैं आज एक ही वस्तु का भोजन करूँगा, अथवा दश घर से अधिक न फिरूँगा, अथवा अमुक पान मात्र करूँगा, अथवा मूँग ही खाऊँगा इत्यादि अनेक प्रकार के संकल्प इच्छानिरोध के लिए किये जाते हैं। इसी को वृत्तिसंख्यान तप कहते हैं। एक वस्तु, दश अगार, पान, मूँग इत्यादि नाम उदाहरणार्थ बताये गये हैं। इन उदाहरणों से यह मतलब समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार से वृत्ति की अर्थात् भोजन प्रवृत्ति की संख्या अर्थात् मर्यादा बाँधी जा सकती है।

कायक्लेश तप का स्वरूप—

अनेकप्रतिमा-स्थानं मौनं शीतसहिष्णुता।
आतपस्थानमित्यादि कायक्लेशो मतं तपः॥ 13॥

अर्थ—अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना, मौन रहना, शीतबाधा सहना, धूप में जाकर खड़े होना इत्यादि कायक्लेश तप के प्रकार हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विविक्तशैयासन तप का स्वरूप—

जन्तुपीडा-विमुक्तायां वसतौ शयनासनम्।
सेवमानस्य विज्ञेयं विविक्तशयनासनम्॥ 14॥

अर्थ—जन्तुओं की पीडा रहित वसतिका में सोना, बैठना इसका नाम विविक्तशैयासन तप है। एकान्त स्थान में सोने-बैठने को विविक्तशैयासन कहते हैं।

अन्तरंग तप के छह भेदों के नाम—

स्वाध्यायः शोधनं चैव वैयावृत्त्यं तथैव च।
व्युत्सर्गो विनयश्चैव ध्यानमाभ्यान्तरं तपः॥ 15॥

अर्थ—(1) स्वाध्याय, (2) प्रायश्चित्त, (3) वैयावृत्त्य, (4) व्युत्सर्ग, (5) विनय और (6) ध्यान, ये छह अन्तरंग तप के भेद हैं।

स्वाध्याय तप का स्वरूप व भेद—

वाचना-पृच्छनाम्नायः तथा धर्मस्य देशना।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पञ्चधा जिनैः॥ 16॥

अर्थ—वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मदेशना, अनुप्रेक्षा ये पाँच प्रकार स्वाध्याप तप के माने गये हैं। स्वाध्याय का अर्थ विद्याभ्यास करना है। पढ़ना, पढ़ाना, शुद्ध पाठ उच्चारण करना, धर्मसम्बन्धी उपदेश करना, अथवा तत्त्वों का चिन्तवन करना ये सभी बातें विद्याभ्यास में ही गर्भित होती हैं।

वाचना स्वाध्याय का स्वरूप—

वाचना सा परिज्ञेया यत्पात्रे प्रतिपादनम्।
ग्रन्थ[1]स्य वार्थ[2] पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा॥ 17॥

अर्थ—ग्रन्थ पढ़ाना अथवा तत्त्वार्थ का स्वरूप बताना अथवा ग्रन्थ और अर्थ—दोनों पढ़ाना इसका नाम वाचना है। जो पढ़ाने का या बताने का पात्र हो उसी को पढ़ाना चाहिए। पात्रता का होना, जिज्ञासु होना, यह एक लक्षण मुख्य है। इसके सिवाय बुद्धिमान् हो, दुराग्रही न हो, पढ़कर मनन करनेवाला हो, गुरु की और विद्या की भक्ति, विनय करनेवाला हो, गुरु की आज्ञा माननेवाला हो—इत्यादि और भी पात्रता के सूचक गुण माने गये हैं। इसी को पढ़ाना अथवा अध्यापन अथवा वाचना कहते हैं। वाचना का फल प्रज्ञातिशय है।

पृच्छना स्वाध्याय का स्वरूप—

तत्संशयापनोदाय तन्निश्चय-बलाय च।
परं प्रत्यनुयोगो यः[3] पृच्छनां तद्विदुर्जिनाः॥ 18॥

---

1. गद्यस्य, पाठान्तरम्।
2. 'ग्रन्थस्य वाथ पद्यस्य' ऐसा पाठ था परन्तु 'निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना' इस वार्तिक के अनुसार ऊपर का पाठ शुद्ध समझा गया।
3. 'परं प्रत्यनुयोगाय' ऐसा प्रथम पाठ था।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—जो वाचना द्वारा अध्ययन किया हो अथवा कर रहा हो उसके शब्द में, अर्थ में अथवा दोनों में संशय दूर करने के लिए अथवा उसका दृढ़ निश्चय होने के लिए, दूसरों को भी ज्ञान-लाभ हो इस भाव से जो गुरु से अथवा सहपाठी आदि से पूछना-विचारना किया जाता है, जिन भगवान ने उसे पृच्छना कहा है। इसी को पढ़ाना भी कह सकते हैं। इससे प्रशस्त अध्यवसाय होता है।

आम्नाय स्वाध्याय का स्वरूप—

आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम्।

अर्थ—पाठ कंठस्थ करने के लिए बार-बार शुद्ध उच्चारण करना अथवा आवृत्ति करना—यह आम्नाय कहलाता है। 'पाठ करना'—इस शब्द का यही अर्थ है। इससे तप की वृद्धि होती है।

धर्मदेशना स्वाध्याय का स्वरूप—

कथाधर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना॥ 19॥

अर्थ—पूर्व पुरुषों के चरित्र अथवा धर्मादि विषयों का स्वरूप श्रोताओं को सुनाना सो धर्मदेशना है। धर्मोपदेश भी इसका दूसरा नाम है। इससे अतिचार विशुद्धि होती है।

अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का स्वरूप—

साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत्।
अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः॥ 20॥

अर्थ—जो तत्त्वज्ञान हो चुका है उसका मन में बार-बार चिन्तन करना—इसको जिनेन्द्र ने स्वाध्याय कहा है। संवर व निर्जरा को मुख्यता से साधु ही कर सकते हैं, इसलिए इस अधिकार में अनेक बार साधु को अधिकारी बताया है। इसका अर्थ प्रमुखता ही लेना चाहिए, क्योंकि गृहस्थ उक्त संवर, निर्जरा का उत्कृष्ट अधिकारी नहीं हो सकता है; तो भी एक देश यथासाध्य संवर, निर्जरा को वह भी करता ही है। इससे संवेग जाग्रत होता है।

अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय पढ़ने के अन्त में चाहे जब तक हो सकता है और ज्ञान-वृद्धि का यही अन्तिम उपाय है, इसलिए इसे अन्त में गिनाया है। तत्त्वार्थ सूत्र कर्ता ने धर्मोपदेश को अन्त में गिनाया है। इसका यह मतलब है कि प्राप्त हुए श्रुतज्ञान का उपयोग सर्वसामान्य को कराना—यही श्रुतज्ञान का प्रयोजन है। वह धर्मोपदेश द्वारा ही हो सकता है, परन्तु उन्होंने भी पढ़ने और पढ़ाने के बाद में इस अनुप्रेक्षा को गिनाया है। इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि पठन-पाठन के अथवा वाचन-पृच्छना के अन्त में ही इसका उपयोग होता है और उन दोनों से यह अधिक दृढ़ता का कारण है। इस प्रकार स्वाध्याय तप के पाँच स्वरूपों का वर्णन[1] हुआ।

---

1. जो श्रवणमननिदिध्यासन ऐसे तीन भेद ज्ञानाभ्यास के किये जाते हैं वे वाचना-पृच्छना-अनुप्रेक्षा में गर्भित हो सकते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्त तप के भेद—

आलोचनं प्रतिक्रान्तिः तथा तदुभयं तपः।
व्युत्सर्गश्च विवेकश्च तथोपस्थापना मता॥ 21॥
परिहारस्तथा छेदः प्रायश्चित्तभिदा नव।

अर्थ—1. आलोचन, 2. प्रतिक्रमण, 3. आलोचन-प्रतिक्रमणोभय, 4. व्युत्सर्ग, 5. विवेक, 6. उपस्थापना, 7. परिहार, 8. छेद, 9. तप—ये नौ प्रायश्चित्त के भेद हैं। आवश्यकता और पात्रता जुदी-जुदी होने से इन नौ भेदों का उपयोग जुदा-जुदा होता है। सुवर्ण की शुद्धि जिस प्रकार तपाये बिना नहीं होती, उसी प्रकार तप के बिना आत्मा की भी कर्ममल से शुद्धि नहीं होती। जैसे, संस्कार के बिना अग्नि मलशोधन का काम नहीं कर सकती, उसी प्रकार प्रायश्चित्त के बिना तप कर्ममल शोधने का काम नहीं कर सकता है। इसी कारण से इसको अन्तरंग के जुदे भेद में गिनाया गया है। दोष टालने का उपाय—यह प्रायश्चित्त का सामान्य अर्थ है।

आलोचन का स्वरूप—

आलोचनं प्रमादस्य गुरवे विनिवेदनम्॥ 22॥

अर्थ—गुरु के पास जाकर अपने से हुए प्रमाद का सुनाना आलोचन है। आकंपितादि दस दोष न लगाते हुए यह निवेदन करना चाहिए।

जो दश दोष लग सकते हैं उनका स्वरूप इस प्रकार है—(1) उपकरण देने से गुरु मेरे दोष के प्रायश्चित्त को थोड़ा कर देंगे—ऐसा विचार कर पहले कुछ पुस्तक, कमंडल आदि दान देना और फिर दोष निवेदन करना—यह प्रायश्चित्त का प्रथम दोष है।

(2) मैं असमर्थ हूँ, दुर्बल हूँ। उपवास आदि कठिन तप नहीं कर सकूँगा। यदि आप कोई छोटा-सा प्रायश्चित्त दें तो मैं दोष निवेदन करता हूँ ऐसा बोलना फिर दोष कहना, दूसरा दोष है।

(3) जिस दोष को किसी ने देखा न हो उसे तो छिपा लेना और उस दोष को कह देना जो कि दूसरों ने देख लिया हो, यह तीसरा 'मायाचार' दोष है।

(4) आलस्य के या प्रमोद के वश होकर दोष निवेदन करने में उत्साह न रखना, किन्तु आवश्यकता समझकर मोटे-मोटे कह देना, यह चौथा 'स्थूल दोष प्रतिपादन' नाम का प्रायश्चित्त दोष है।

(5) महादोष का प्रायश्चित्त भी दुर्धर होगा ऐसा विचारकर उस प्रायश्चित्त से डरता हुआ बड़े दोष को यदि छिपा लें और नित्यक्रमानुसार प्रमादाचार का निवेदन कर दें तो 'प्रमादाचार विबोधन' नाम का पाँचवाँ दोष लगाता है।

(6) गुरु से कुछ इस तरह पूछें कि महाराज, ऐसे दोष का प्रायश्चित क्या होता है? इस तरह पूछकर प्रायश्चित्त कर लें, परन्तु गुरु आदि को मालूम न होने दे, यह गुरुपासना नामक छठा दोष है।

---

1. महदपि तपःकर्म अनालोचनपूर्वकं नाभिप्रेतफलप्रदम्—आविरिक्तकायगतौषधवत् कृतालोचनस्यापि गुरुदत्तप्रायश्चित्तमकुर्वतोऽपरिकर्मसस्यवन्महाफलं न स्यात्। कृतालोचनचित्तगतप्रायश्चित्तं परिमृष्टदर्पणतलरूपवत् परिभ्राजते।—रा.वा., 9/22, वा. 2

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(7) सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आदि के समय कोलाहल अधिक उठने पर अपने पूर्व दोष का निवेदन कर दें, जिससे कि कोई सुनने न पावे, यह सातवाँ 'शब्दाकुलित' नाम का दोष है।

(8) गुरु के बता देने पर भी उस प्रायश्चित्त में शंका समझकर दूसरों से पूछें कि इस दोष का प्रायश्चित्त ऐसा ही होना चाहिए या कोई दूसरा होना चाहिए? इसे 'अन्यसाधुपरिप्रश्न' नाम का आठवाँ दोष कहते हैं।

(9) कुछ बहाना बताकर यदि किसी अपने समान साधु से ही प्रायश्चित्त पूछ कर लिया जाए तो वह बड़ा प्रायश्चित भी फलीभूत नहीं होता, इसलिए यह भी एक दोष है।

(10) अपने दोष के समान दूसरों का दोष आलोचित होते हुए सुनकर उसी के प्रायश्चित्त को आप धारण कर लें, परन्तु अपना दोष प्रकट न करें, यह सदुश्चरितसंवरण नाम का दशवाँ दोष है।

ऐसे सब दोष लगते तभी हैं जब कि मायाचारपूर्वक प्रायश्चित्त करता हो। यदि सरल भावों से आलोचनादि करे तो कोई भी दोष नहीं लगता है।

प्रतिक्रमण और तदुभय का स्वरूप—

अभिव्यक्तप्रतीकारं मिथ्या मे दुष्कृतादिभिः।
प्रतिक्रान्तिस्तदुभयं संसर्गे सति शोधनात्॥ 23॥

अर्थ—मेरा अमुक पाप दुष्कृत—मिथ्या हो—इत्यादि शब्दों द्वारा किसी पाप का प्रतिकार करना, प्रकट दिखाया जाए सो प्रतिक्रमण है। पाप हो जाने पर उसके पछतावे को प्रकाशित करना—यह प्रतिक्रमण का अर्थ है। कोई प्रबल दोष छूटता नहीं दिखता तब आलोचन और प्रतिक्रमण ये दोनों करने पड़ते हैं—इसका नाम तदुभय अथवा 'आलोचन-प्रतिक्रमणोभय' है।

तप प्रायश्चित्त का स्वरूप—

भवेत्तपोऽवमौदर्यं वृत्तिसंख्यादि-लक्षणम्।

अर्थ—अवमौदर्य तथा वृत्तिपरिसंख्यान आदि जो तप पहले कहे हैं वे ही तप किसी दोष का प्रायश्चित्त करने के लिए जब धारण किये जाते हैं तब तप नाम के प्रायश्चित्त कहे जाते हैं।

व्युत्सर्ग का स्वरूप—

कायोत्सर्गादि-करणं व्युत्सर्गः परिभाषितः॥ 24॥

अर्थ—प्रतिमायोग आदि धारण करते समय शरीर से ममत्व छोड़ना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग आदि क्रिया प्रायश्चित्त की इच्छा से की जाए तो उसे व्युत्सर्ग कहते हैं।

विवेक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

अन्नपानौषधीनां तु विवेकः स्याद् विवेचनम्।

अर्थ—संसक्त अन्न, पान अथवा औषधि का विभाग करके ग्रहण करना—यह विवेक नाम का प्रायश्चित्त है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उपस्थापना-प्रायश्चित्त का स्वरूप—

पुनर्दीक्षाप्रदानं यत् सा ह्युपस्थापना भवेत्॥ 25॥

अर्थ—कोई महान दोष लगने पर आज तक का तप छोड़ करके फिर से यदि साधु को नया दीक्षित बनाया जाए तो उस प्रायश्चित्त को उपस्थापना कहते हैं।

परिहार-प्रायश्चित्त का स्वरूप—

परिहारस्तु मासादि-विभागेन विवर्जनम्।

अर्थ—महीने, पन्द्रह दिन आदि कुछ नियत समय के लिए संघ में से निकाल देने को परिहार-प्रायश्चित्त कहते हैं।

छेद-प्रायश्चित्त का स्वरूप—

प्रव्रज्याहापनं छेदो मास-पक्ष-दिनादिना॥ 26॥

अर्थ—एक दिन या महीना, पन्द्रह दिन आदि कुछ समय दीक्षा के दिनों में से कम करने को छेद- प्रायश्चित्त कहते हैं। ये नौ भेद प्रायश्चित्त के हैं।

वैयावृत्त्य अन्तरंग तप के भेद—

सूर्युपाध्याय-साधूनां शैक्ष्य-ग्लान-तपस्विनाम्।
कुल-संघ-मनोज्ञानां वैयावृत्त्यं गणस्य च॥ 27॥
व्याध्याद्युपनिपातेऽपि तेषां सम्यग् विधीयते।
स्वशक्त्या यत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं तदुच्यते॥ 28॥

अर्थ—किसी कष्ट को दूर करना सो वैयावृत्त्य है। कुछ कष्ट तो शरीर का श्रम करने से दूर हो सकते हैं, कुछेक दूसरे प्रकार से हो सकते हैं। जैसे कोई थक गया हो तो उसका शरीर दबाने से थकावट दूर हो सकती है। यह काम शरीर के श्रम से ही सिद्ध हो सकता है। अथवा किसी को कुछ उपसर्ग हो रहा तो वह अपने शरीर के प्रयत्न से दूर हो सकता है। यदि कोई रोगी है तो उसे औषध देने से उसका कष्ट दूर होगा। कोई भयभीत हो रहा हो तो उसे वचनों से धैर्य बँधाने पर वह भय से मुक्त हो सकता है। प्रयोजन यहाँ यह है कि किसी भी तरह दूसरों का कष्ट दूर करना चाहिए। इसी को वैयावृत्त्य कहते हैं।

1. आचार्य, 2. उपाध्याय, 3. साधु, 4. शिष्य, 5. ग्लान, 6. तपस्वी, 7. कुल, 8. संघ, 9. मनोज्ञ, 10. गण—साधुओं के ये दश भेद हैं। इन दशों प्रकार के साधुओं का वैयावृत्त्य जैसे हो सकता हो वैसे करना चाहिए। इनको कोई व्याधि अथवा उपसर्गादि होने लगा हो तो उसका निर्दोष रीति से प्रतिकार करना चाहिए। जहाँ तक अपनी शक्ति हो, वहाँ तक करना चाहिए। इसी का नाम वैयावृत्त्य है। वैयावृत्त्य

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में कोई विशेष भेद नहीं है, परन्तु जिनका वैयावृत्त्य करना चाहिए, उनके दश भेद ऊपर कहे हैं। इसलिए उपचारवश वैयावृत्त्य के वे भेद मान लिये गये हैं।

1. जो संघ के स्वामी होते हैं उन्हें सूरि या आचार्य कहते हैं। 2. शिक्षा देनेवाले या पढ़ानेवाले साधुओं को उपाध्याय कहते हैं। 3. बहुत पुराने तपस्वियों को साधु कहते हैं। 4. पढ़ने, सीखनेवालों को शिष्य अथवा शैक्ष्य कहते हैं। 5. रोगी मुनियों को ग्लान कहते हैं। 6. उपवासादि बड़े-बड़े तप करनेवालों को तपस्वी कहते हैं। 7. आचार्य के शिष्य समूह को कुल कहते हैं। 8. ऋषि, मुनि, अनगार, तपस्वी इन चारों के समुदाय को संघ कहते हैं। 9. लोक में जिसकी मान्यता अधिक हो, जो महाकुल में उत्पन्न हुआ हो, बड़ा विद्वान हो, वक्ता हो उसे मनोज्ञ कहते हैं। आचार्यों द्वारा मान्य मुनिदीक्षा का इच्छुक ऐसे असंयत सम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ कहते हैं। 10. वृद्ध साधुओं के समूह को गण कहते हैं।

इन दश भेदों में से नौ तो साधुओं के ही भेद हैं और एक मनोज्ञ ऐसा है कि जिसमें गृहस्थ व साधु दोनों का अन्तर्भाव किया है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को भी मिथ्यात्वादि दोषों से बचाने के लिए वैयावृत्त्य होने योग्यों में गर्भित करते हैं।

इन दशों में से किसी को भी रोग हो जाए, परिषह या उपसर्ग आ जाए अथवा मिथ्यात्व का दोष होते दिखे तो प्रासुक औषध देकर, भोजनादि कराकर, रहने के लिए स्थान देकर, बिछौना आसनादि देकर और भी जैसे हो सके, वैसे उपचार करके, शरीर स्वस्थ करना तथा धर्म में दृढ़ करना चाहिए। यह सब वैयावृत्त्य का स्वरूप[1] है।

व्युत्सर्ग तप के भेद व नाम—

बाह्यान्तरोपधि-त्यागाद् व्युत्सर्गो द्विविधो भवेत्।
क्षेत्रादिरुपधिर्बाह्यः क्रोधादिरपरः पुनः॥ 29॥

अर्थ—दूसरे पदार्थ में बल उत्पन्न करनेवाला जो अन्य तत्त्व, उसे उपधि अथवा उपाधि कहते हैं। दूसरों को भी जो पदार्थ जुदा दिखें वह बाह्य उपाधि है। क्रोधादि अन्तरंग भावों को अन्तरंग उपाधि कहा है। इन दोनों उपाधियों के छोड़ने को व्युत्सर्ग कहते हैं। उपाधि दो प्रकार की हैं, इसलिए व्युत्सर्ग के भी दो भेद हो जाते हैं। पहले का नाम बाह्योपाधि व्युत्सर्ग है। दूसरे का नाम आभ्यन्तरोपाधि व्युत्सर्ग है। शरीर से ममत्व सम्बन्ध छोड़ने को भी आभ्यन्तरोपाधि व्युत्सर्ग कहते हैं। शरीर से ममत्व सम्बन्ध एक तो कुछ समय के लिए ध्यानावस्था में छूट जाता है, दूसरा यावज्जीवन त्याग होता है जो कि सल्लेखना समाधि के समय किया जाता है।

दीक्षा के समय भी बाह्य, आभ्यन्तर उपाधियों का त्याग किया जाता है, परन्तु उस समय उपस्थित धन, धान्यादि वस्तुओं के त्याग का अभिप्राय मुख्य रहता है। यहाँ पर तो ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जो कि छोड़ने योग्य हो। तो भी कषाय मन्द करने के लिए, ध्यानसिद्धि के लिए शरीरादिकों से ममत्व

1. व्यावृत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्। वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥—रत्नक. श्रा. 112

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हटाने का प्रयोजन इसमें सिद्ध होता है, इसलिए इसे जुदा कहा है। धर्मों में भी त्याग-धर्म आ गया है, परन्तु वहाँ पर आहारादि दान करना त्याग का अर्थ होता है, इसलिए उससे भी यह एक अलग सिद्ध हो जाता है। प्रायश्चित्तों में जो व्युत्सर्ग कहा जाता है, उसका अर्थ और इसका अर्थ स्वरूप से जो जुदा नहीं होता है, परन्तु प्रयोजन दोनों के जुदे-जुदे हैं। प्रायश्चित्तों में जो व्युत्सर्ग है, वह व्रतों के अतिचारदोष दूर करने के लिए है, यहाँ पर जो व्युत्सर्ग है वह किसी प्रतिद्वन्द्वी के हटाने की इच्छा से नहीं, किन्तु उत्साह के बढ़ाने के लिए है और उत्तरोत्तर गुणों में वृद्धि होने के लिए है। इस प्रकार व्युत्सर्ग तप एक जुदा ही तप है जिसका दूसरे किसी भी व्रत में या धर्मादिक में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। व्युत्सर्ग तप करने से ममत्व छूट जाता है, परिणाम निर्मल हो जाते हैं, जीवन की आशा का अभाव हो जाता है, दोष दूर होते हैं, मोक्षमार्ग की भावना सुदृढ़ हो जाती है। इत्यादि अनेकों इसके फल हैं।

विनय तप के भेद—

दर्शन-ज्ञानविनयौ चारित्रविनयोऽपि च।
तथोपचारविनयो विनयः स्याच्चतुर्विधः॥ 30॥

अर्थ—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, विनय के ये चार भेद हैं।

दर्शनविनय का स्वरूप—

यत्र निःशंकितत्वादि-लक्षणोपेतता भवेत्।
श्रद्धाने सप्ततत्त्वानां सम्यक्त्वविनयः स हि॥ 31॥

अर्थ—जहाँ पर सातों तत्त्व का श्रद्धान ऐसा दृढ़ हो और यथार्थ हो कि शंकादि दोषों का लेश भी न दिख पड़े। इस प्रकार निःशंकितादि गुणों से युक्त सम्यग्दर्शन रखना सो सम्यग्दर्शन विनय है। सम्यक्त्वविनय या दर्शनविनय भी इसी को कहते हैं।

ज्ञानविनय का स्वरूप—

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यास-स्मरणादीनि कुर्वतः।
बहुमानादिभिः सार्द्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत्॥ 32॥

अर्थ—बहुमानपूर्वक, आलस्य रहित, शुद्धान्तःकरण द्वारा, देशकाल की विशुद्धि रखते हुए मोक्षोपयोगी ज्ञान को स्वीकार करना, ज्ञान का अभ्यास करना, ज्ञान का स्मरण रखना—यही ज्ञानविनय[1] है।

चारित्रविनय का स्वरूप—

दर्शन-ज्ञानयुक्तस्य या समीहितचित्तता।
चारित्रं प्रतिजायेत चारित्रविनयो हि सः॥ 33॥

---

1. बहुमाने समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम्।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होते हुए जो चारित्र निर्मल करने की इच्छा प्रकट हो, चारित्र में भक्ति उत्पन्न हो, चारित्र की तरफ लक्ष्य जाने पर रोमांच व हर्ष उत्पन्न हो सो चारित्रविनय है। सदा चारित्ररूप भाव रखना भी चारित्रविनय ही है।

उपचारविनय का स्वरूप—

अभ्युत्थानानुगमनं वन्दनादीनि कुर्वतः।
आचार्यादिषु पूज्येषु विनयो ह्यौपचारिकः॥ 34॥

अर्थ—पूज्य आचार्य, उपाध्याय आदि अपने प्रत्यक्ष हो जाने पर उनके लिए उठ खड़े होना, उनके पीछे-पीछे चलना, उनकी वन्दना करना, हाथ जोड़ना इत्यादि कृति को उपचारविनय कहते हैं। उनके परोक्ष रहने पर भी गुणानुवाद करना, हाथ जोड़ना, गुण चिन्तवन करना सो भी उपचारविनय ही है। पूजा के कारण गुण होते हैं। इसलिए साक्षात् सम्यग्दर्शनादि गुणों का विनय तो सम्यग्दर्शनादिकों को निर्मल धारण करने से होता हैं, परन्तु उन गुणों के कारण पूजना यह गुणों के साथ उपचरित सम्बन्ध द्वारा सिद्ध होता है, इसलिए इसे उपचारविनय कहते हैं। विनय तप के होने से ज्ञान का लाभ हो सकता है, आचार विशुद्ध हो जाता है, दर्शनादि आराधनाओं की सिद्धि हो सकती है। धर्म की पात्रता विनय गुण के ही रहने से हो सकती है। अविनीत मनुष्य में कोई भी गुण प्रवेश नहीं करते हैं। विनयतप की इसीलिए आवश्यकता है। इस प्रकार स्वाध्याय आदि पाँच अन्तरंग तपों का स्वरूप निरूपण पूरा हुआ।

ध्यान तप के हेयोपादेय भेद—

आर्तं रौद्रं च धर्म्यं च, शुक्लं चेति चतुर्विधम्।
ध्यानमुक्तं परं तत्र तपोऽङ्गमुभयं भवेत्॥ 35॥

अर्थ—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान इस प्रकार ध्यान के चार भेद हैं। इनमें से अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण और तप में गर्भित हैं। पहले दोनों ध्यान संसार-वृद्धि के कारण हैं, इसलिए वे हेय हैं।

आर्तध्यान का भेदपूर्वक स्वरूप—

प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये।
आर्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः॥ 36॥

अर्थ—1. इष्ट का नाश हो जाने पर, चिन्ता शुरू होती है उसे इष्टवियोगज नाम आर्तध्यान कहते हैं, आर्तध्यान का यह पहला भेद है। 2. अनिष्ट वस्तु का संयोग हो जाने पर उसे दूर हटाने की चिन्ता को अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान कहते हैं, यह दूसरा भेद है। 3. अप्राप्तपूर्व वस्तुओं के प्राप्त होने की आकांक्षा को निदान कहते हैं, यह आर्त का तीसरा भेद है। 4. दुःख की वेदना होने पर अधीर होकर उससे मुक्त होने की चिन्ता करना सो वेदना जनित चौथा आर्तध्यान है। आर्तध्यान के ये चार भेद हैं, यद्यपि इष्टवियोगज आर्तध्यान में निदान का समावेश करने की इच्छा हो सकती है, परन्तु वे दोनों भिन्न-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न हैं। प्राप्त हुए इष्ट का वियोग हो जाने पर या उसे पुनः प्राप्त करने की चिन्ता में लगने से इष्टवियोगज आर्तध्यान होता है। निदान वहाँ पर होता है जिसकी कि प्राप्ति हुई ही नहीं है। केवल उसके संकल्प से जीव लालायित बनता है। निदान में भी जो वस्तु चाही जाती है, वह इष्ट अवश्य होती है, परन्तु वह अभी तक प्राप्त ही नहीं हुई है तो उसका वियोग कैसा? अथवा पूर्वजन्मादिक में प्राप्त भी हुई हो, परन्तु अब प्राप्त होने की-सी समझ कहाँ हैं? क्योंकि; विस्मरणरूप समारोप द्वारा भूल जाने से अब वह नवीन ही माननी चाहिए। यदि ऐसा न हो तो संसार में कोई चीज नवीन ही न रहे, इसलिए निदान व इष्टवियोगज आर्तध्यान में परस्पर अन्तर है।

इसी प्रकार अनिष्टसंयोग और वेदना में भी अन्तर है, क्योंकि, वेदना स्वयं दुःखरूप है और अनिष्टसंयोग दुःख का कारण होता है। जैसे, विष या शस्त्र, शत्रु आदिक सम्बन्ध दुःख का कारण होने से अनिष्ट माना जाता है। मनुष्य आगामी दुःखोत्पत्ति की आशंका करके डरते हैं और कारण के हटाने की चिन्ता में लगते हैं, परन्तु वेदना स्वयं दुःखरूप है, इसलिए इसके होने से जीव स्वस्थ नहीं रह पाता है। वह इसे हटाने की चिन्ता में लगता है। इस प्रकार अनिष्ट संयोग और वेदना भिन्न-भिन्न हैं।

रौद्रध्यान का भेदपूर्वक स्वरूप—

हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे।
रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः॥ 37॥

अर्थ—क्रोधादि कषायपूर्वक हिंसा करने में रत होना, झूठ बोलने में रत होना, चोरी करने में रत होना या विषयों की रक्षा करने में मगन होना सो रौद्रध्यान है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयसंरक्षण—ये विषय भिन्न-भिन्न होने से रौद्रध्यान भी चार प्रकार का है—(1) हिंसानन्द, (2) मृषानन्द, (3) स्तेयानन्द, (4) विषयसंरक्षणानन्द।

ध्यान का लक्षण व उत्कृष्ट कालप्रमाण—

एकाग्रत्वेऽतिचिन्ताया निरोधो ध्यानमिष्यते।
अन्तर्मुहूर्ततः तच्च भवत्युत्तमसंहतेः॥ 38॥

अर्थ—अनेक विषयों में जो चिन्ता पसर रही है उसका निरोध करके एक विषय में स्थिर करना सो ध्यान है। उत्तम संहननवाले जीव में वह ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं टिकता है। जो जीव हीन संहननवाले हैं उनका ध्यान उनसे भी कम समय तक रह पाता है। यह काल की मर्यादा है।

उत्तम संहनन तीन होते हैं : (1) वज्रर्षभनाराच संहनन, (2) वज्रनाराच संहनन, (3) नाराच संहनन। इन तीन संहननों में से भी मोक्षोपयोगी मात्र पहला संहनन ही है। शेष दो संहनन द्वारा ध्यान होता है। वह कर्मों का निःशेष नाश नहीं कर सकता है। संहनन का अर्थ कह चुके हैं।

---

1. आद्यं संहननत्रयमुत्तमम्। तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव।—रा.वा., 9/27, वा.1

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे लोग ध्यान की सिद्धि के उपाय यम, नियम, प्राणायाम इत्यादि को बताते हैं, परन्तु जैनसिद्धान्तानुसार यम, नियमादि का निषेध नहीं है तो भी ध्यान सिद्धि के मुख्य उपाय गुप्ति, समिति आदिक हैं। गुप्ति, समिति आदि का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। इन्हें पहले कहने का हेतु ही यह है कि वे गुप्त्यादि सध जाएँ तब ध्यान सिद्ध हो सके।

यहाँ पर प्रकरण मोक्षमार्ग का होने से शुभध्यानों के कहने की मुख्यता है, इसलिए आनुषंगिक आर्त, रौद्र रूप अशुभ ध्यानों को नाममात्र गिनाकर शुभ ध्यानों के लक्षण बताते हैं।

धर्मध्यान का स्वरूप व भेद—

आज्ञापाय-विपाकानां विवेकाय च संस्थितेः।
मनसः प्रणिधानं यद् धर्म्यध्यानं तदुच्यते॥39॥

अर्थ—धर्मयुक्त मन की एकाग्रता को धर्म्यध्यान[1] कहते हैं। विवेक, विचार, विचिति, विचय; इन शब्दों का अर्थ एक ही है। वह है— विचार[2] करना। आज्ञा का, अपाय का, विपाक और संस्थान का विचार[3] करने के लिए धर्म्यध्यान में मन की एकाग्रता होती है। आज्ञादि विचय चार होने से धर्म्यध्यान के चार भेद हो जाते हैं।

आज्ञाविचय का स्वरूप—

प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमाज्ञामर्थावधारणम्।
गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचयमुच्यते॥ 40॥

अर्थ—सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रमाण मानकर गहन सूक्ष्म पदार्थों का निश्चित करना अर्थात् श्रद्धान करना—यह आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है।

1. इस ध्यान के पहले भेद को आज्ञाविचय धर्म्यध्यान कहते हैं। आगम को प्रमाण मानकर अर्थ का निश्चय करना आज्ञाविचय है। यह तब होता है जब कि अपना ज्ञान मन्द हो और उपदेशक कोई दिखता न हो, पदार्थ अतिसूक्ष्म होने से वहाँ पर हेतु तथा दृष्टान्त का मिलना कठिन हो गया हो। उस समय सर्वज्ञप्रणीत मार्ग को प्रमाण मानकर दृढ़ निश्चय करना आज्ञाविचय[4] है। यह आज्ञाविचय अथवा आज्ञाविचार बराबर कुछ देर तक चलता रहे तो एकाग्रचिन्तानिरोध हो जाने से ध्यान कहा जाता है। अथवा[5] स्वयं को सर्वज्ञ की आज्ञा[6] और मार्ग ज्ञात है, परन्तु जो उस आज्ञा को न स्वीकार करता हो उसे कथामार्ग के आश्रय से तर्क, हेतु, दृष्टान्त, नय, प्रमाण आदि के द्वारा सिद्ध करके बताना और लोगों में उस आज्ञा का प्रकाश तथा सत्यपना प्रसिद्ध करना—यह भी आज्ञाविचय धर्म्यध्यान का ही अर्थ है।

---

1. धर्मादनपेतं धर्म्यम्। रा.वा., 9/28, वा. 3। 2. विचयस्तत्र मीमांसा प्रमाणनयतः स्थितः। तस्मिंश्चिन्ताप्रबन्धोऽनुश्चिन्तान्तरनिरोधतः॥ (श्लोकवा.) 3. तदर्थम् (आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयार्थम्) आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्। रा.वा., 9/36, वा. 2। 4. तत्रागमप्रामाण्यादर्थावधारमाज्ञाविचयः।—रा. वा., 9/36, वा. 4। 5. अथवा विदितस्वपरसमयपदार्थनिर्णयस्य अन्यं प्रतिपादयिषस्तत्समर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः, सार्वज्ञ-ज्ञानप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः।—रा. वा., 9/36, वा. 5। 6. तत्राज्ञा द्विविधा हेतुवादेतरविकल्पतः। सर्वज्ञस्य विनेयान्तःकरणायत्तवृत्तयः। श्लो.वा., भा. 7, अ. 9, श्लो. 2

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अपायविचय का स्वरूप—

कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी उन्मार्गतो जनाः।
अपायमिति[1] या चिन्ता तदपायविचारणम्॥ 41॥

अर्थ—सुख के विरुद्ध मार्ग से हटकर प्राणी सुमार्ग में कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं? इस प्रकार दुःखी संसारी जीवों के दुःख दूर होने का और सुख में प्रवृत्त करने के उपाय का चिन्तवन करना अपायविचार अथवा अपायविचय धर्म्यध्यान है। दुःख दूर होने का नाम यहाँ अपाय है। उसका विचार करना सो अपायविचय है। सन्मार्ग प्रवृत्ति कराने का उपाय विचारना भी इसी ध्यान में होता है, इसीलिए उपायविचय[2] भी इसी का दूसरा नाम हो सकता है, परन्तु प्रतिषेध की मुख्यता से अपायविचय नाम कहा गया है।

असत्य मार्ग से अपाय (दूर होने, बचने) का चिन्तवन करना सो अपायविचय धर्म्यध्यान है। जैसे अन्धा मनुष्य जंगल में पड़ा हो और किसी ग्राम की ओर जाना चाहता हो, तो कोई मार्गदर्शक न मिलने पर यों ही इधर-उधर भटकता रहेगा। उसका इष्ट स्थान पर पहुँचना कठिन है। इसी प्रकार सच्चे धर्म का अवलम्बन न हो तो मोक्ष के सुख से जीव सदा ही वंचित रहेगा। संसार में ऐसे जीव बहुत हैं जो कि आत्यन्तिक सुख चाहते हैं, परन्तु सच्चे उपायों को नहीं जानते, इसलिए इष्ट विषय को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उनका भटकना अन्धे के समान है। वे जीव संसार में ही भटकते हैं और दुःखी होते हैं। ऐसे चिन्ताप्रबन्ध को अपायविचय धर्म्यध्यान कहते हैं।

विपाकविचय का स्वरूप—

द्रव्यादिप्रत्ययं कर्मफलानुभवनं प्रति।
भवति प्रणिधानं यद् विपाकविचयस्तु सः॥ 42॥

अर्थ—कर्म की स्थिति पूरी हो जाने पर जो कर्म का फल प्राप्त होता है उसके लिए निमित्त कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होते हैं। उन निमित्तों के वश होकर ही कर्म फल दे सकते हैं। निमित्तों की प्रबलता हो तो कर्म स्थिति पूर्ण होने से पहले भी उदीर्ण हो जाते हैं। स्थिति पूर्ण होने से पहले जो फल भोगने में आता है उसे उदीरणा कहते हैं। स्थिति पूर्ण करके यदि फल भोगा जाए तो उसे उदय कहते हैं। चाहे उदयरूप फल भोगा जाए और चाहे उदीरणारूप, फल भोगने पर निर्जरा अवश्य हो जाती है। निमित्त होने पर उदयकाल में फल तो सभी कर्मों का होता है, किन्तु कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका अनुभवयोग्य और नामानुसार फल उदीरणा होने पर ही होता है। जैसे मैथुन में प्रवृत्ति होना वेद कर्म का कार्य है, परन्तु यह वेद की उदीरणा होने पर ही होता है। वेद का उदय सदा ही रहता है, परन्तु सदा मैथुन में प्रवृत्ति नहीं होती। इस तरह विचार में एकाग्रता होना विपाकविचय धर्मध्यान है।

---

1. 'अपायमिति वा' ऐसा पाठ भी हो सकता है। तब अर्थ ऐसा होगा कि जन सन्मार्ग में कैसे प्रवृत्त हों अथवा उन्मार्ग से दूर कैसे हों। अर्थात् 'या' की जगह 'वा, रखने से विधिमुख व निषेधमुख ऐसे दो पक्ष सिद्ध हो जाते हैं।
2. असन्मार्गादपायः स्यादनपायः स्वमार्गतः। स एवोपाय इत्येष ततो भेदेन नोदितः। श्लो.वा., भा. 7, अ. 9, सू. 36

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्थानविचय का स्वरूप—

लोकसंस्थान-पर्याय-स्वभावस्य विचारणम्।
लोकानुयोगमार्गेण संस्थानविचयो भवेत् ॥ 43॥

अर्थ—लोक के संस्थान का विचार करना सो संस्थानविचय धर्म्यध्यान कहलाता है। (1) आकाश के ठीक बीच में अकृत्रिम स्वभाव वाला वेत्रासन, भल्लरी, मृदंग समान अथवा पुरुषाकार लोक का आकार है। नीचे से ऊपर तक चौदह राजू ऊँचा है। उत्तर-दक्षिण दिशाओं में सर्वत्र सात राजू विस्तीर्ण है। पूर्व-पश्चिम में नीचे सात राजू विस्तीर्ण है। ऊपर की ओर सात राजूपर्यन्त प्रमाण घटता हुआ मध्यलोक में एक राजू विस्तीर्ण रह गया है। फिर ऊपर की ओर साढ़े तीन राजू की ऊँचाई पर्यन्त विस्तार बढ़ता गया है। वह विस्तार पाँचवें स्वर्ग की जगह पाँच राजू प्रमाण हो गया है। फिर ऊपर की ओर विस्तार घटने लगा है। सो अन्त में एक राजू विस्तार रह गया है। ऊर्ध्वलोक में सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक तथा अनुदिश, अनुत्तर विमानों की रचना है और अन्त में सिद्धस्थान है। नीचे सात राजू गहरा अधोलोक है जिसमें कि सात मुख्य और उनचास अवान्तर नरक स्थान हैं। सर्वत्र प्रत्येक नरकादिकों के नीचे की ओर तथा समग्र लोक के चारों ओर तीन-तीन वायुमण्डल हैं। उन वायुमण्डलपर्यन्त लोक का घनाकार देखा जाय तो तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण होता है। इस प्रकार लोकसंस्थान है। इसका विचार करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

लोक में जो वस्तुओं का स्वभाव दिख पड़ता है उसका विचार करना भी संस्थानविचय धर्म्यध्यान में गर्भित होता है क्योंकि, अमूर्तिक लोक का तो संस्थान दिख ही नहीं सकता है, इसलिए लोक में स्थित जो जीव-पुद्गलों के पर्याय हैं उन्हीं को लोक कह सकते हैं। अतः उनके स्वभाव का चिन्तवन करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान हो सकता है। लोक में आलोकित होनेवाली चीजों का जो अलग-अलग तथा समुदायरूप आकार है वही लोक का संस्थान है। अलग-अलग आकार—जैसे, मेरूपर्वत का आकार, विन्ध्यादि पर्वतों का तथा नदी, ग्राम, नगर आदि का आकार—ये सब लोक के ही आकार हैं। सामान्य आकार—जैसे तीनों लोक पुरुषाकार, इत्यादि सर्वलोक के ही आकार हैं।

लोक में स्थित मनुष्यादि प्राणियों के शरीर प्रमाणादि भी लोकसंस्थानरूप ही हैं, इसलिए उनका विचार करना भी संस्थानविचय धर्म्यध्यान समझना चाहिए।

लोकगत द्वीप-समुद्रादि वस्तुओं की संख्या का चिन्तवन करना, रचनाविशेष पर विचार करना भी संस्थानविचय धर्म्यध्यान है। इस प्रकार लोक के संस्थान का विचार चार विकल्प से हो सकता है, इसीलिए ऊपर की चारों बातों पर विचार करना, उसके चिन्तवन में रत होना सो सर्व संस्थानविचय धर्म्यध्यान कहलाता है।

---

1. सव्वायासमणंतं तस्स य वहुमज्झसंठिओ लोओ। सो केणवि णत्थि कओ णय धरिओ हरिहरादीहिं॥ सत्तेक्कपंच इक्कामूले मज्झे तहेव बंभंते। लोयंते रज्जूओ पुव्वावरदो य वित्थारो॥ उत्तर दक्खिणदो पुण सत्त वि रज्जू हवेइ सव्वत्थ। उड्ढो चउदस रज्जू। सत्त विरज्जूधणोलोओ॥ मेरुस्स हिट्ठभाए सत्त वि रज्जू हवे अहोलोओ। उड्ढम्मि उड्ढलोओ मेरुसमो मज्झिमो लोओ॥ 115-120। का. अनु. लोका.।
2. लोकः संस्थानभेदाद्वा स्वभावाद्वा निवेदितः। तदाधारो जनो वापि मानभेदोऽपि वा क्वचित्॥ लोकस्याधो मध्योर्ध्वं भेदस्य संस्थानं संनिवेशो लोक्यमानस्वभावस्य च लोकस्य संस्थानं प्रति द्रव्यस्याकृतिः, तदाधारस्य च जनस्य लोकस्य संस्थानं स्वोपात्तशरीरपरिमाणाकारो, मानभेदस्य च संख्याविशेषाकारः संस्थानम् तस्य विचयः संस्थानविचयः। श्लो.वा.भा. 7, श्लो. 5

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

लोक के संस्थान को ही संस्थान शब्द से यहाँ पर लेते हैं। वह लोक लोकानुयोग में विस्तार के साथ बताया है, इसलिए लोकानुयोग के अनुसार संस्थान का चिन्तवन करना चाहिए।

शुक्लध्यान के भेद—

शुक्लं पृथक्त्वमाद्यं स्यादेकत्वं तु द्वितीयकम्।
सूक्ष्मक्रियं तृतीयं तु तुर्यं व्युपरतक्रियम् ॥ 44॥

अर्थ—अत्यन्त मन्द संज्वलन कषाय रह जाने पर जीव जब श्रेणी पर आरुढ़ होता है उस काल में उसके परिणाम अत्यन्त एकाग्र होते हैं। उन परिणामों की एकाग्रता को शुक्लध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं—(1) पृथक्त्ववितर्कवीचार, (2) एकत्ववितर्कवीचार, (3) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और (4) व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

पृथक्त्ववितर्कवीचार का स्वरूप—

द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यत् त्रिभिः।
शान्तमोहस्ततोह्येतत् पृथक्त्वमिति कीर्तितम् ॥ 45॥

अर्थ—द्रव्यों के जुदे-जुदे भेदों को तीनों योग द्वारा योगी इस ध्यान के समय चिन्तता है, इसलिए इसे पृथक्त्व नाम प्राप्त हुआ है। इस ध्यान का पात्र योगी तब हो सकता है जब कि शान्तमोह हो गया हो। जब तक मोह की अवस्था शान्त नहीं हुई तब तक शुक्लध्यान में प्रवेश नहीं होता है। यह पृथक्त्व विशेषण प्राप्त होने का कारण हुआ।

वितर्क विशेषण का कारण—

श्रुतं यतो वितर्कः स्यात् यतः पूर्वार्थशिक्षितः।
पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत्॥ 46॥

अर्थ—श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं। श्रुतज्ञान के बारह भेदों में से अन्तिम भेद का नाम दृष्टिवाद है। उसके चौदह भेद कहे गये हैं। उन्हीं को चौदह पूर्व कहते हैं, इसलिए चौदह पूर्व का जिसे ज्ञान हो उसे पूरा श्रुतज्ञानी कहते हैं। श्रुतज्ञानी योगी ही श्रुतज्ञान के आश्रय से श्रेणी के प्रारम्भ से दशवें गुणस्थान के अन्त तक द्रव्य, गुण, पर्याय आदि नाना भेद रूप वस्तुओं का ध्यान करते हैं, इसलिए इस शुक्लध्यान को सवितर्क कहा है।

यद्यपि श्रुतज्ञानी ही इसके अधिकारी होते हैं, परन्तु शुक्लध्यान का प्रारम्भ करनेवाले सभी योगी पूर्णश्रुतज्ञानी नहीं हो सकते हैं। इसलिए श्रुतज्ञान की यहाँ के योग्य जघन्य मर्यादा भी बता दी गयी है। वह मर्यादा तीन गुप्ति और पाँच समिति हैं। इसी मर्यादा को आठ प्रवचनमाता के नाम से भी कहा है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वीचार का अर्थ—

अर्थ व्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमो मतः।
वीचारस्य हि सद्भावात् सवीचारमिदं भवेद् ॥ 47॥

अर्थ—द्रव्यगुणपर्यायों के समुदाय को अर्थ कहते हैं। व्यंजन नाम शब्द का है। योग आत्मप्रदेशचंचलता को कहते हैं। ये तीनों बातें परिवर्तनस्वरूप यहाँ होती हैं। अर्थात् अर्थ, जो कि ध्यान का विषयभूत होता है, वह बदलता रहता है। कभी द्रव्यस्वरूप ध्यान में रहता है तो कभी पर्याय अथवा गुणरूप। योगी कभी द्रव्य का स्वरूप ध्याने लगता है और कभी उसे छोड़ करके गुण या पर्याय को ध्याने लगता है। गुण या पर्याय को छोड़कर फिर से कभी द्रव्य का ध्यान करने लगता है। इस प्रकार थोड़े-थोड़े समय में ध्येय विषय को यह योगी बदलता रहता है। अथवा, यों भी कह सकते हैं कि प्रथम ध्यान की अवस्था शिथिल होने से उस ध्यान का एक विषय चिरकाल तक टिक नहीं पाता है, इसलिए विषयान्तर हुआ करता है। जिस प्रकार एक ही विषय चिरकालपर्यन्त टिकता नहीं है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान के शब्द तथा योग भी बदलते रहते हैं।

जिस एक श्रुतवचन को लेकर प्रथम ध्यान करता है उसको थोड़े ही समय बाद छोड़कर एक दूसरे ही श्रुतवचन का आसरा ले लेता है। थोड़े ही समय बाद उसे भी छोड़कर, तीसरा श्रुतवचन धर लेता है। उसे भी छोड़कर फिर कभी पहले श्रुतवचन को अपना लेता है। इस प्रकार श्रुतवचनों में परिवर्तन करता रहता है, किसी एक योग पर कायम नहीं रहता।

काययोग को लेकर कभी तो ध्यान करता है और कभी उसे छोड़ करके मनोयोग को अथवा वचनयोग को ले लेता है। फिर कभी काययोग पर आ जाता है। इस प्रकार योगों का परिवर्तन सतत होता रहता है। इस ध्येय का, आगम के वचनों का और योगों का बराबर परिर्वतन, इस प्रथम ध्यान में होता रहता है। इस परिवर्तन का नाम वीचार रखा गया है। वीचार रहने से इस ध्यान को 'सवीचार' कहते हैं। इस प्रकार इस ध्यान के नाम में जो तीन शब्द जोड़े गये हैं उनकी सार्थकता है। वे तीन शब्द पृथक्त्व, वितर्क और वीचार हैं। नाम तो 'पृथक्त्ववितर्क' ऐसा ही है, परन्तु आगे के ध्यान में दृढ़ता आ जाती है, इसलिए परिवर्तन होना बन्द हो जाता है, इस ध्यान में उतनी दृढ़ता न होने से परिर्वतन होता रहता है। यह शिथिलता वीचार-विशेषण लगाने से ही जानी जाती है। अर्थात् यह पहला ध्यान सुदृढ़ नहीं होता, इसका विषय भी सुदृढ़ नहीं रहता और ध्यान का साधन भी सुदृढ़ नहीं रहता है। अर्थ-व्यंजन-योगों का परिर्वतन होना बताकर उक्त तीनों ही बातों में शिथिलता बता दी गयी है।

एकत्व वितर्क ध्यान का स्वरूप—

द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण[1] च।
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत्॥ 48॥

अर्थ—दूसरे ध्यान का नाम एकत्ववितर्क है। प्रथम ध्यान में ध्येय का परिवर्तन होता था, परन्तु इस ध्यान में वह परिवर्तन बन्द हो जाता है अथवा यों कहना चाहिए कि उसी प्रथम ध्यान की शिथिलता कम हो जाने पर जब सुदृढ़ता प्राप्त हो जाती है तब परिर्वतन होना बन्द पड़ जाता है। उसी अवस्था

1. तीन योगों में से कोई एक योग का रहना माना गया है। इसके लिए अन्यतर शब्द कहा गया है, परन्तु यह कोई दोष नहीं है। अन्यतर शब्द ही स्वतन्त्र शब्द है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को दूसरा ध्यान कहते हैं। ध्यान के विषय को यहाँ द्रव्य कहा है। वह द्रव्य एक ही बना रहता है। योग भी कोई एक ही बना रहता है। ऐसा ध्यान क्षीणमोह, वीतरागी, परमयोगी को प्राप्त होता है। इस प्रकार विषय में द्रव्य, गुण, पर्यायों में से एक मात्र द्रव्य रह जाने से इस ध्यान को एकत्वरूप कहते हैं। अभी श्रुतज्ञान के वचनों का आलम्बन इस ध्यान में भी लगा हुआ रहता है इसी बात को आगे दिखाते हैं।

श्रुतं यतो वितर्कः स्यात् यतः पूर्वार्थशिक्षितः।
एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥ 49॥

अर्थ—द्वादशांगपूर्वपर्यन्त श्रुतज्ञान का ज्ञाता इस एकत्व ध्यान का आरम्भ करता है। श्रुतज्ञान का नाम वितर्क है; इसलिए इस ध्यान को एकत्व सहित तथा सवितर्क अथवा वितर्क सहित कहते हैं।

एकत्व वितर्क वीचार रहित है—

अर्थव्यंजनयोगानां वीचारः संक्रमो मतः।
वीचारस्य ह्यसद्भावादवीचारमिदं भवेत् ॥ 50॥

अर्थ—अर्थव्यंजनयोगों के संक्रमण को वीचार कह चुके हैं। यह वीचार इस ध्यान में नहीं रहता है इसलिए इस दूसरे ध्यान को अवीचार कहते हैं। प्रथम ध्यान को पृथक्त्ववितर्क कहा था और इसे एकत्ववितर्क कहते हैं, अर्थात् वितर्क दोनों में ही रहता है, परन्तु पृथक्त्व बदलकर यहाँ एकत्व प्राप्त हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि अर्थव्यंजनयोगों के संक्रमण को जो वीचार कहते हैं वह वीचार प्रथम ध्यान में रहने से ध्यान में एकता नहीं कही जा सकती है। प्रथम ध्यान जहाँ तक माना गया है वहाँ तक सचमुच वह एक ध्यान नहीं होता, किन्तु अनेकों ध्यान होते हैं, तो भी लक्षण समान रहने से उन अनेक ध्यानों की सन्तान को भी एक ध्यान कह देते हैं।

इस प्रकार प्रथम ध्यान में एकता उपचार सिद्ध है, इसीलिए उसे एक संख्या में गर्भित करते हुए ग्रन्थकार पृथक्त्व विशेषण द्वारा उसका अनेकपना द्योतित करते हैं। वीचार विशेषण से भी यही बात सिद्ध होती है, परन्तु वीचार विशेषण ध्यान के कारणों में अनेकता दिखाता है और पृथक्त्व विशेषण साक्षात् ध्यान में अनेकता दिखाता है, इसीलिए इस ध्यान के नाम के साथ पृथक्त्व पद जोड़ा गया है और वीचार नहीं जोड़ा गया है। हाँ, समर्थन करते समय वीचार को ही दिखाया है, इसलिए मानना चाहिए कि प्रथम ध्यान में पृथक्त्व है और वह वीचार के होने से होता है। वीचार न रहने से दूसरे ध्यान का नाम एकत्ववितर्क है। एकत्व कहने से ही वीचार का अभाव सिद्ध हो जाता है।

सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यान का स्वरूप—

अवितर्कमवीचारं, सूक्ष्मकायावलम्बनम्।
सूक्ष्मक्रियां भवेद् ध्यानं सर्वभावगतं हि तत् ॥ 51॥

अर्थ—तीसरे ध्यान में न वितर्क का आलम्बन रहता है और न संक्रमण ही होता है। योगों में से भी एक काय मात्र का अवलबन रह जाता है। वह भी अतिसूक्ष्म रहता है, इसलिए इस तीसरे ध्यान

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती अथवा सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। सर्व भावों को जाननेवाले केवली भगवान का यह ध्यान है, इसलिए इस ध्यान को सर्वभावगत भी कहते हैं।

तीसरे शुक्ल ध्यान का समय व प्रयोजन—

काययोगेऽतिसूक्ष्मे तद् वर्तमानं हि केवली।
शुक्लं ध्यायति संरोद्धुं काययोगं तथाविधम् ॥ 52॥

अर्थ—योगनिरोध के समय अतिसूक्ष्म हुए काययोग के सहारे से केवली भगवान् जिस तीसरे शुक्ल ध्यान का आरम्भ करते हैं उसका प्रयोजन योगनिरोध करना है। उस अन्त्य समय में दूसरे कोई योग तो रहते ही नहीं हैं। केवल काययोग रहता है वह भी अतिसूक्ष्म। उतने का ही निरोध इस तीसरे ध्यान द्वारा किया जाता है। परिणामस्वरूप केवली भगवान् सयोग से अयोग बन जाते हैं।

चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान का स्वरूप एवं प्रयोजन—

अवितर्कमवीचारं ध्यानं व्युपरतक्रियम्।
परं निरुद्धयोगं हि तच्छैलेश्यमपश्चिमम्[1] ॥ 53॥
तत्पुनारुद्धयोगः सन् कुर्वन् कायत्रयासनम्।
सर्वज्ञः परमं शुक्लं ध्यायत्यप्रतिपत्ति तत् ॥ 54॥

अर्थ—व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान चौदहवें गुणस्थानवर्ती भगवान् केवली को प्रकट होता है। इसमें योगनिरोध पूरा-पूरा हो चुकता है, इसलिए इसके स्वामी को शीलेश अथवा शैलेश्य कहते हैं। आत्मा के अठारह हजार शुद्ध शील-स्वभाव गिनाये हैं। वे सब स्वभाव इस अवस्था में प्रकट हो जाते हैं। क्रिया अर्थात् योगप्रवृत्ति पूरी बन्द पड़ जाने से इस ध्यान को 'व्युपरतक्रिया' कहते हैं। योगनिरोध पूरा हो जाने से तीनों विद्यमान शरीरों का विश्लेषण होने लगता है। वे तीन विद्यमान शरीर कौन से हैं? औदारिक, तैजस, कार्मण। आत्मा जो शरीरों को सहारा देता है उसी को योग कहते हैं। उसी सहारे के सामर्थ्य से शरीरों का पोषण होता रहता है—शरीरपोषक पुद्गल बाहर से आ आकर शरीर में मिलते हैं और शरीरों को पुष्ट करते हैं। वह सहारा छूट जाने से उक्त तीनों शरीर जीर्ण होने लगते हैं। यही शरीरों का ह्रास है। योगक्रिया सर्वथा बन्द पड़ जाने से शरीरों के ह्रास होने में अधिक विलम्ब नहीं लगता। ठीक भी है, आश्रय का अभाव होने पर आश्रयी के नष्ट होने में विलम्ब कैसे सम्भव हो सकता है? इसलिए श्रुतकेवली के मुख से पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उतने काल में योगी के तीनों शरीर छूट जाते हैं, इसीलिए उसे अप्रतिपत्तिक कहा है। इस प्रकार योगी चौथे परम शुक्ल ध्यान को वितर्क-वीचार रहित ध्याता है। इससे अधिक विशुद्ध दूसरा कोई ध्यान नहीं है, इसी ध्यान से परम निर्जरा होती है।

---

1. सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्से स आसवो जीवो। कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि॥ गो. जी. गा. 65।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्जरा का वृद्धिक्रम—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संयतासंयतस्ततः।
संयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धि-प्रवियोजकः॥ 55॥
दृग्मोहक्षपकस्तस्मात् तथोपशमकस्ततः।
उपशान्तकषायोऽतः ततस्तु क्षपको मतः॥ 56॥
ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनः।
दशैते क्रमतः सन्त्यसंख्ययेय गुणनिर्जराः॥ 57॥

अर्थ—1. सम्यग्दर्शन युक्त चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव, 2. संयतासंयत, 3. संयत छठे गुणस्थान वाला, 4. चौथे से सातवें गुणस्थानपर्यन्त कहीं पर भी अनन्तानुबन्धी कर्म का विसंयोजन करनेवाला जीव 5. दर्शनमोह का क्षय करनेवाला, चौथे से सातवें गुणस्थानपर्यन्त का जीव, 6. उपशमश्रेणी चढ़नेवाला जीव, 7. उपशान्तमोह ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव, 8. क्षपकश्रेणी चढ़नेवाला जीव, 9. क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान वाला जीव, 10. घातिकर्मों से मुक्त हुए केवली भगवान। इन दशस्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात-असंख्यात गुणित निर्जरा होती है। अर्थात्, विद्यमान कर्मों के अंश प्रत्येक स्थान में क्रम से असंख्यात-असंख्यात गुणे अधिक-अधिक नष्ट होते जाते हैं।

निर्ग्रन्थ साधुओं के भेद—

पुलाको वकुशो द्वेधा कुशीलो द्विविधस्तथा।
निर्ग्रन्थः स्नातकश्चैव निर्ग्रन्थाः पञ्च कीर्तिताः॥ 58॥

अर्थ—(1) पुलाक मुनि (2) दो प्रकार के वकुश मुनि (3) दो प्रकार में विभक्त कुशील मुनि (4) निर्ग्रन्थ तथा (5) स्नातक निर्ग्रन्थ—साधुओं के ये पाँच भेद हैं।

(1) जिनके उत्तर गुण तो नहीं ही हैं, किन्तु व्रत भी परिपूर्ण न हों उन्हें पुलाक कहते हैं। उत्तर गुणों की तरफ तो परिणाम ही नहीं हो पाता, किन्तु व्रतों में जो परिपूर्णता[1] नहीं हो पाती वह किसी-किसी समय में व किसी-किसी क्षेत्र में समझनी चाहिए। सदा ही उनके व्रत अपरिपूर्ण रहते हों यह बात नहीं है। धान के ऊपर के तुष को पुलाक कहते हैं। उसके लगे रहने से जैसे चावल का स्वरूप प्रकट नहीं होता, उसी प्रकार साधु के चारित्रमोह की ऐसी कोई मलिनता बनी रहती है कि उसके परिणाम वीतरागता की तरफ पूर्णतः नहीं झुक पाते।

(2) व्रतों को तो जो कभी और किसी क्षेत्र में भी नहीं बिगड़ने देते हैं, परन्तु शरीर के संस्कार में, ऋद्धि प्राप्त होने की अभिलाषा में, सुख की इच्छा में, यश व विभूति बढ़ाने में मन आसक्त बना रहता है, उन्हें वकुश[2] कहते हैं । वकुश-शब्द का शवल अर्थ होता है। जो शरीर के संस्कारों में लगे रहते हैं उन्हें शरीर-वकुश कहते हैं। उपकरणों में आशक्ति रखनेवालों को उपकरण-वकुश कहते हैं। वकुशों के इस तरह दो भेद हो जाते हैं।

---

1. उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित्परिपूर्णतामप्राप्नुवन्तोऽविशुद्धपुलाकसादृश्यात् पुलाकव्यपदेशमर्हंति। रा.वा., 9/46, वा. 1।
2. अखण्डिव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणा वकुशाः। शबलपर्यायवाची वकुशशब्दः। रा.वा., 9/46, वा. 2।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) शीलों में कुछ मलिनता रखनेवाले साधु को कुशील कहते हैं। उसके 'प्रतिसेवना कुशील' व 'कषाय कुशील' ऐसे दो भेद[1] हैं। मूलगुण तथा उत्तरगुण ये दोनों गुण तो जिसके परिपूर्ण ही रहते हों, परन्तु कदाचित् कथंचित् उत्तरगुणों में विराधना कर लेता उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं। उदाहरणार्थ, स्नानत्यागी होकर भी वह साधु ग्रीष्म ऋतु में कभी-कभी जाँघपर्यन्त जल से प्रक्षालन कर डालता है। कषाय कुशील उसे कहते हैं जो कि अन्य कषायों को वश कर चुका हो, परन्तु संज्वलन कषाय के वशीभूत बना हुआ हो। श्रेणी चढ़ जाने पर जो दशवें गुणस्थान तक साधु रहते हैं वे कषाय कुशील माने जाते हैं।

(4) जल की रेखा जिस प्रकार जल्दी ही विलय को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार जिन साधुओं को क्षणभर बाद ही केवलज्ञान होनेवाला है, जिनके घातिकर्म नाश के सन्मुख हैं उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधु की दशा वर्तमान में कषाय के उदय से रहित होती है, इसलिए उसे भी निर्ग्रन्थ कहते हैं। इस प्रकार दशवें गुणस्थान के बाद निर्ग्रन्थ संज्ञा प्राप्त हो जाती है। क्योंकि, बाह्य परिग्रह पहले से ही छूट जाता है। रहा अन्तरंग ग्रन्थ क्रोधादि, वह दशवें के ऊपर छूट जाता है। इसलिए अन्तरंग परिग्रह के छूटते ही निर्ग्रन्थ-यह विशेषण साक्षात् मानने में आने लगता है। यों तो पाँचों प्रकार के साधुओं को ग्रन्थकार ने निर्ग्रन्थ ही कहा है। परन्तु पूर्व के तीनों निर्ग्रन्थ, बाह्य ग्रन्थ के अभाव की मुख्यता से ही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

(5) केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर स्नातक नाम प्राप्त हो जाता है। ज्ञान की पूर्णता हो जाने की अपेक्षा से स्नातक-शब्द का प्रयोग होता है। स्नातक[2] का शब्दार्थ भी ऐसा ही है।

इन पाँच प्रकार के साधुओं में यद्यपि अन्तरंग विशुद्धि का अन्तर रहता है, परन्तु ये सभी निर्ग्रन्थ गुरु पद के धारी होते हैं। जैसे, चारित्र, अध्ययन आदि क्रियाओं का भेद होने से ब्राह्मणों में अन्तर्भेद होते हैं, परन्तु सभी को ब्राह्मण[3] तो कहा ही जाता है। उसी प्रकार इन पाँचों प्रकार के साधुओं में निर्ग्रन्थ-शब्द का प्रयोग हो सकता है। अथवा सम्यग्दर्शन और निर्ग्रन्थ का वेश सभी में एक-सा पाया जाता है[4] इसलिए वे सभी निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

साधुओं के परस्पर भेद का दूसरा हेतु—

संयम-श्रुत-लेश्याभिर्लिङ्गेन प्रतिसेवया।
तीर्थस्थानोपपादैश्च विकल्प्यास्ते यथागमम् ॥ 59॥

अर्थ—(1) संयमभेद, (2) श्रुतभेद, (3) लेश्यादि, (4) लिङ्गभेद, (5) प्रतिसेवना भेद, (6) तीर्थभेद, (7) स्थान भेद, (8) उपपादभेद—ये आठ और भी ऐसे निमित्त हैं जिनसे कि साधुओं में परस्पर

---

1. कुशीला द्विविधा प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात्। रा.वा., 9/46 वा. 3
2. स्नातको वेदसमाप्तौ इति साधिनं।
3. ब्राह्मणशब्दवत्।
4. दृष्टिरूपसामान्यात्। भग्नव्रतेवृत्तावतिप्रसंग इति चेन्न, रूपाभावात्। अन्यस्मिन् स्वरूपेऽतिप्रसंग अति चेन्न, दृष्ट्यभावात्। रा.वा., 9/46, वा. 9, 10, 11

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भेद सिद्ध हो जाता है। पुलाक आदि जो पाँच भेद किये हैं वे तो हैं ही, किन्तु उन्हीं के इन आठ निमित्तों द्वारा उत्तर अनेक भेद हो जाते हैं।

(1) संयम की अपेक्षा पुलाकादि को देखें तो किसी में कोई संयम रहता है, किसी में कोई। सभी साधुओं में एक ही तरह का कोई संयम नहीं रहता है। सामायिकादि पाँच चारित्रों को संयम कहते हैं। उन पाँचों में से पहले दो सामायिक व छेदोपस्थापन संयम पुलाक में मिलेंगे, बकुश में मिलेंगे और प्रतिसेवना कुशील में मिलेंगे। कषायकुशीलों में यथाख्यात छोड़कर चारों ही संयम मिल सकते हैं। स्नातक व निर्ग्रन्थ, एक यथाख्यात संयम के ही धारी होते हैं।

(2) पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना कुशीलों में यदि श्रुतज्ञान उत्कृष्ट हो तो अभिन्नाक्षर दशपूर्वपर्यन्त हो सकता है। कषायकुशील व निर्ग्रन्थ उत्कृष्टता से चौदह पूर्व तक अर्थात् द्वादशांग के पूरे धारी हो सकते हैं। जघन्यता से पुलाक को आचारवस्तु प्रमाण ज्ञान होता है। आचारवस्तु प्रमाण का अर्थ है—जो गुरु ने कहा उतना स्वीकार कर लो, उतने ज्ञान मात्र से आत्मा का हित हो जाता है। जैसे, शिवभूति मुनि को 'तुषमास भिन्नं'[1] इतने मात्र से ही केवलज्ञान हो गया। बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थों को जघन्य श्रुतज्ञान हो तो तीन गुप्ति व पाँच समिति-इन आठ प्रवचन माताओं का ज्ञानमात्र होता है। स्नातकों में श्रुतज्ञान की कल्पना ही छूट जाती है, क्योंकि वे केवलज्ञानी होते हैं।

(3) लेश्या—पुलाक में तो आगे की तीन रहती हैं। बकुश में और प्रतिसेवना कुशील में छहों लेश्या हो सकती हैं। कषायकुशील यदि परिहारशुद्धिवाला हो तो अन्त की चार लेश्या सम्भवती हैं। यदि सूक्ष्मसाम्परायवाला कषायकुशील हो तो एक—शुक्ल लेश्या—ही रहती है। निर्ग्रन्थ तथा स्नातक शुक्ललेश्या वाले ही होते हैं। अयोगी स्नातकों में एक भी लेश्या नहीं रहती है।

(4) चौथा साधन लिंग है। लिंग दो प्रकार से कहा जा सकता है। एक द्रव्यलिंग, दूसरा भावलिंग। भावलिंग से तो पाँचों प्रकार के साधु निर्ग्रन्थलिंगी ही होते हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा परस्पर में भेद रहता है।

(5) प्रतिसेवना का अर्थ कषाय के अधीन होकर मूलोत्तर गुणों में विराधना करते रहना है। पुलाक साधु पाँच मूलगुण और छठा रात्रिभोजनत्याग—इन छहों में से एकाध व्रत में कभी-कभी पराधीन होकर दोष लगा लेता है। वकुश दो प्रकार का होता है : 1. उपकरण वकुश, 2. शरीर वकुश। उपकरणों में जिसका चित्त आसक्त रहता हो, बहुमूल्यादि विशेषतायुक्त उपकरणों की इच्छा रखनेवाला हो या उपकरणों के संस्कार करने में लगा रहता हो वह उपकरण-वकुश कहलाता है। जो शरीर को संस्कार-युक्त बनाता रहे वह शरीर-वकुश है। इन दोनों से कषाय के कार्य होते हैं, जिससे कि गुणों में विराधना होती है। प्रतिसेवना कुशील मूलगुणों को सँभालता है, परन्तु उत्तरगुणों में से किसी-किसी गुण को विराधता रहता है, इसलिए प्रतिसेवना कुशील को भी प्रतिसेवना प्राप्त हो जाती है। कषाय कुशील तथा निर्ग्रन्थ, स्नातक प्रतिसेवना नहीं करते हैं।

(6) जिस-जिस तीर्थंकर के काल में जो-जो मुनि होते हैं वे-वे उस तीर्थवाले कहलाते हैं।

(7) स्थान का अर्थ कषायस्थान है। कषायों के निमित्त से जो संयम भेद होते हैं वे भी स्थान

---

1. भाव पा.गा. 53।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ही हैं। पुलाक और कषायकुशील शुरु में सबसे हीन संयमस्थानों में रहता है। कषायकुशील के वे स्थान छूटकर ऊपर के अधिक विशुद्ध भी हो जाते हैं। वहाँ पर पुलाक नहीं पहुँच पाता है। उन स्थानों में कुशील, प्रतिसेवना कुशील तथा वकुश साथ रह सकते हैं। कुछ ऊपर जाने पर वकुश छूट जाता है। उसके ऊपर और भी चलने पर प्रतिसेवना कुशील छूट जाता है। अर्थात् उन उच्च संयमस्थानों में कषाय कुशील ही रहता है। उससे भी असंख्यातों स्थान ऊँचे जाएँ तो वहाँ कषाय कुशील भी नहीं रहता है। इसके ऊपर फिर कषायरहित स्थान है।

(8) मरकर स्वर्ग में जन्म लेने के स्थानों को यहाँ उपपाद कहते हैं। उपपाद अलग-अलग साधुओं के अलग-अलग हैं। पुलाक बारहवें स्वर्ग सहस्रार के उत्कृष्ट स्थितिवाले देवों में उपजता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील पन्द्रहवें-सोलहवें आरण-अच्युत स्वर्गों में बाईस सागर स्थिति रखते हुए देव होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ तेतीस सागर के आयुवाले अनुत्तर विमानवासी देव होते हैं। यह उपपाद की उत्कृष्ट मर्यादा है। जघन्य देखें तो दो सागर की स्थिति रखते हुए स्वर्ग मे ऊपर कहे हुए चारों ही प्रकार के साधु देव हो सकते हैं। स्नातक का स्वर्ग में उपपाद न होकर निर्वाण ही होता है। इन आठ अनुयोगों द्वारा साधुओं का परस्पर अन्तर जाना जाता है।

निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा का फल—

इति यो निर्जरातत्त्वं श्रद्धते वेत्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत्॥ 60॥

अर्थ—इस प्रकार जो साधु छह तत्त्वों के साथ-साथ निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा करता है, जानता है और उससे उपेक्षित होकर मध्यस्थरूप वीतराग चारित्रधारी होता है, वही निर्वाण का भागी होता है।

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य रचित तत्त्वार्थसार में निर्जरा तत्त्व का कथन करनेवाला धर्मश्रुतज्ञान नामक हिन्दी टीका में सातवाँ अधिकार पूर्ण हुआ॥7॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आठवाँ अधिकार

मोक्षतत्त्व निरूपण

मंगलाचरण और अधिकार प्रतिज्ञा—

अनन्त केवलज्योति:प्रकाशित जगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान् मूर्ध्ना मोक्षतत्त्वं प्ररूप्यते॥ 1॥

अर्थ—अनन्त केवलज्ञानरूप ज्योति के द्वारा तीनों जगत को प्रकाशित करनेवाले जिन भगवान् को शिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ और मोक्षतत्त्व का स्वरूप कहता हूँ।

मोक्ष का साक्षात्कार और लक्षण—

अभावाद् बन्धहेतूनां बन्ध-निर्जरया तथा।
कृत्स्नकर्म प्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते॥ 2॥

अर्थ—आस्रव (मिथ्यात्व, कषायादि बन्धहेतुओं) का अभाव हो जाने से और बन्धन को प्राप्त हुए कर्मों की निर्जरा होने से, सम्पूर्ण कर्मों का हमेशा के लिए नाश हो जाना ही मोक्ष है।

कर्मबन्धन कब छूटता है?

बध्नाति कर्म सद्वेद्यं सयोगः केवली विदुः।
योगाभावादयोगस्य कर्मबन्धो न विद्यते॥ 3॥

अर्थ—संसारी जीव तो कर्मों का सतत बन्ध करते ही हैं, परन्तु सयोगकेवली भगवान भी योग के रहने से एक सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं। योग का अभाव हो जाने से अयोगकेवली के कर्मबन्धन का पूरा अभाव हो जाता है।

संवरपूर्वक निर्जरा की सिद्धि—

ततो निर्जीर्ण-नि:शेष-पूर्वसंचित-कर्मण:।
आत्मनः स्वात्मसम्प्राप्तिर्मोक्षः सद्योऽवसीयते॥ 4॥

अर्थ—इस प्रकार नवीन कर्मबन्धन होना बन्द हो जाने पर पूर्वसंचित कर्मों की भी नि:शेष निर्जरा शीघ्र ही हो जाती है, इसलिए स्व-स्वरूप की शुद्ध पूर्ण प्राप्ति होने में अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप प्रकट

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होने में कोई विलम्ब नहीं लगता है। वह स्वरूप प्राप्त हो जाना ही जीव का मोक्ष है। वह मोक्ष संवर पूर्वक नि:शेष निर्जरा करनेवाले को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

मोक्ष में गुणों का अभाव-सद्भाव—

तथौपशमिकादीनां भव्यत्वस्य च संक्षयात्।
मोक्षः सिद्धत्वसम्यक्त्व ज्ञानदर्शनशालिनः॥ 5॥

अर्थ—कर्मों की तरह और कर्मों के कार्यभूत शरीरादिकों की तरह औपशमिकादि भावों का तथा भव्यत्व का भी क्षय हो जाने पर मोक्ष प्रकट होता है। उस मोक्ष अवस्था में सिद्धत्व, सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान तथा केवलदर्शन—ये सर्वथा शुद्ध स्वभाव शेष रह जाते हैं। यदि कुछ भी शेष न रहे तो मोक्ष के समय आत्मा की सत्ता किस प्रकार सिद्ध हो सकेगी? आत्मा का यदि नाश ही होना मान लिया जाए तो मोक्षप्राप्ति का प्रयत्न करना निरर्थक हो जाता है, इसलिए विकारीभावों के नाश होने पर भी ज्ञानादि शुद्ध भावों का वहाँ पर सद्भाव है।

अनादि कर्म के नष्ट होने में युक्ति—

आद्यभावान्नभावस्य कर्मबन्धनसन्ततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्यबीजवत्॥ 6॥

अर्थ—जिस वस्तु की उत्पत्ति का आद्य समय नहीं होता उसको अनादि कहते हैं। जो भाव अनादि होता है उसका अन्त भी कभी नहीं होता। यदि अनादि का अन्त हो जाए तो सत् का विनाश होना मानना पड़ेगा, परन्तु सत् का विनाश होना सिद्धान्त से भी विरुद्ध है और युक्ति से भी विरुद्ध है। सिद्धान्त में द्रव्यमात्र को नित्य कहा है। अकारणक कार्योत्पत्ति न होना यहाँ पर युक्ति है। यदि अकारणक कार्योत्पत्ति हो सकती हो तो अंकुरोत्पत्ति के लिए बीज की अपेक्षा किसी को भी न हो।

इस न्याय के आधार पर इस प्रकरण में यह शंका होती है कि अनादि कर्मबन्धन सन्तति का भी नाश कैसे हो सकता है? अर्थात् कर्मबन्धन का कोई आद्य समय नियत नहीं है, इसलिए कर्मबन्धन अनादि है। जबकि वह अनादि है तो उसका अन्त भी न होना चाहिए। जैसा अनादि से चला आ रहा है वैसा ही अनन्त काल तक जीव के साथ सदा बना रहना चाहिए। इसका फल यह होगा कि जीव मुक्त कभी न हो सकेगा।

इस शंका के दो रूप हो जाते हैं। एक तो यह कि जीव से कर्म का सम्बन्ध कभी छूटना न चाहिए। दूसरा यह कि कर्मत्व रूप जिन पुद्गलों में हैं उनमें ही सदा बना रहना चाहिए। क्योंकि, कर्मत्व एक जाति है। वह सामान्य होने से ध्रुव होनी चाहिए। फिर चाहे उसके पर्याय कितने ही बदलते रहें, परन्तु वे सब पर्याय कर्मरूप रहेंगे। जैनसिद्धान्त में जो द्रव्य जिस स्वभाव का होता है वह उसी स्वभाव का सदा बना रहता है। जीव अपने चैतन्य स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है, तो कर्मद्रव्य अपने कर्मत्व को कैसे छोड़ सकता है?

उत्तर—कर्म का सम्बन्ध यद्यपि अनादि है, परन्तु वह अनादि सम्बन्ध किसी कर्म विशेष का नहीं है, किन्तु एक-एक कर्म कुछ अवधिपर्यन्त ही रहता है। उस एक-एक कर्म की उत्पत्ति का भी कोई

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

न कोई समय रहता है और छूटने का भी समय नियत रहता है, फिर भी कोई न कोई कर्म जीव के साथ अवश्य बना रहता है। संसारी जीवों में ऐसी अवस्था अनादि से हो रही है। कर्मों का सम्बन्ध होना किसी नियत काल से ठहरा हुआ नहीं है। इसी से सम्बन्ध को अनादि कहना पड़ता है। इस कहने से यह सिद्ध होता है कि एक कर्म अनादि काल से जीव के साथ लगा हो यह बात नहीं है, इसलिए एक-एक सम्बन्ध की अवधि है। तो जिस प्रकार उत्पत्ति की अवधि हो सकती है उसी प्रकार उसके नाश की भी अवधि हो सकती है। उस एक अन्तिम कर्म का नाश होते समय यदि नवीन कर्म का बन्धन न होने दिया जाए तो कर्म का सम्बन्ध निर्मूल नष्ट हो सकता है। तात्पर्य यह सिद्ध हुआ कि जुदी-जुदी चीजों का सम्बन्ध अनादि काल से हो तब भी वह नष्ट हो सकता है।

इसके लिए उदाहरण भी मिलते हैं। बीजवृक्ष का सम्बन्ध अनादि काल का मानना पड़ता है। कोई भी बीज बिना अपने पूर्व के वृक्ष के नहीं पैदा हो सकता है। बीज का उत्पादन करना पूर्ववृक्ष को भी कह सकते हैं और पूर्व बीज को भी कह सकते हैं। इस प्रकार का उत्पादन होता ही है तो बीजवृक्ष की अथवा बीज-बीज की सन्तति अनादि हो जाती है। सन्तति अनादि होने पर भी उस सन्तति के अन्तिम बीज को यदि पीस-कूटकर अथवा जला, गलाकर नष्ट कर दिया जाए तो आगे के लिए वह सन्तति नष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार नाश के प्रयोगों द्वारा पूर्वार्जित कर्मों में अन्तिम रहे हुए कर्म का नाश कर दिया जाए तो फिर सन्तति निःशेष नष्ट हो सकती है। पूर्वार्जित कर्म के नाश का और नवीन कर्म की उत्पत्ति न होने देने का उपाय पहले संवर, निर्जरा के प्रकरण में लिख चुके हैं। कर्म का सम्बन्ध जीव से छूट नहीं सकता—ऐसी जो शंका थी वह इस उत्तर से दूर हो जाती है।

किसी विरले जीव की संसार शृंखला भी निर्मूल नष्ट हो जाती है। न तो विकारी शृंखलाओं में अनन्तता का नियम है और न विकारी पर्यायों में अनन्तता का नियम हो सकता है। इसलिए जीव के कर्म बन्धन का सम्बन्ध भी छूट सकता है और उन कर्मों के कर्मत्व पर्याय भी नष्ट भी हो सकते हैं।

कर्म के नाश से संसार का नाश कैसे है?

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥ 7॥

अर्थ—जैसे बीज पूरा जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही कर्मबीज जल जाने पर संसाररूप अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता है। जब कारण का ही नाश हो गया तो कार्य किस प्रकार हो सकता है? भव की उत्पत्ति का कारण कर्म है। उस कर्म का नाश होने पर भव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? मनुष्यादि योनियों में मरना, उत्पन्न होना इसका नाम भव है। इस भव का कर्मबन्धन के साथ कार्यकारण भाव सम्बन्ध है। जीव की स्वाभाविक दशा कुछ और रहती है और कर्म के सहभाव से कुछ और प्रकार की होती है। उसके विकार का कारण कर्म है, इसलिए कर्म के अभाव में भी जीव का परिणमन होना तो बन्द नहीं पड़ सकता है, परन्तु विकार मात्र का अभाव हो जाता है। स्वाभाविक दशा का स्वरूप

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान-दर्शन-सुख सत्तामय है। विकारी दशा का स्वरूप रागद्वेषादि भाव और शरीर हैं। कर्म विकार का कारण है, इसलिए कर्म के नष्ट होते ही रागद्वेषादि भाव और शरीर नहीं रहते हैं। रागद्वेषादि तथा शरीरादि नष्ट हो जाने पर भी ज्ञान-दर्शन स्वाभाविक होने के कारण बने रहते हैं। जैसे आर्द्रेन्धन संयोग होने से धुआँ होता है और थोड़ा-सा धुँधला प्रकाश भी होता है, परन्तु आर्द्रेन्धन हट जाने पर तो वह पूरा और शुद्ध होता ही है, धुआँ होना भी बन्द हो जाता है। इसलिए आर्द्रेन्धन संयोग धुआँमात्र का कारण माना जाता है। उसे उपाधि भी इसलिए कहते हैं कि वह स्वाभाविक स्वयं भी नहीं होता और स्वाभाविकपना कार्य में भी नहीं रहने देता। इसी प्रकार कर्म उपाधि है। उपाधि के हटने से वस्तु का स्वाभाविकपना नष्ट नहीं होता, किन्तु शुद्ध और पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है। कर्मोपाधि के हटने से रागद्वेषादि तथा शरीर उत्पन्न होना बन्द हो जाता है, न कि जीव की स्वाभाविक दशा। इस प्रकार मोक्षावस्था का स्वरूप शून्यरूप न होकर इसके उलटे अधिक जाज्वल्यमान दशा है।

आत्मबन्धन-सिद्धि का दृष्टान्त—

अव्यवस्था न बन्धस्य गवादीनामिवात्मनः।

अर्थ—यदि कोई आक्षेप करे कि आत्मा का बन्धन सिद्ध नहीं होता तो उसके लिए यह उत्तर है कि बन्धन के बिना परतन्त्रता नहीं होती है। जैसे गाय, भैंस आदि पशु जब तक बन्धन में नहीं पड़ते तब तक वे परतन्त्र नहीं होते। बन्धन में पड़ने पर वे परतन्त्र होते हैं—जहाँ के तहाँ खड़े रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी शरीर के परतन्त्र होने से बन्धनबद्ध होना चाहिए, इसलिए आत्मा का बन्धन मानना असिद्ध अथवा अयुक्त नहीं है। शरीर में आत्मा का रहना परतन्त्रता का सूचक है। परतन्त्रता उसे कहते हैं जो कि अनिष्ट होने पर भी करना पड़े। दुःख के कारणभूत शरीर में रुके रहना जीव के लिए अनिष्ट है तो भी उसे शरीर में रुकना पड़ता है, इसलिए शरीर में रुककर रहना आत्मा की परतन्त्रता है। जो दुःख का कारण होता है उसे अनिष्ट कहते हैं। शरीर दुःखों का कारण है, इसलिए अनिष्ट है जैसे कारागृह दुःख का कारण होने से अनिष्ट माना जाता है। उसमें परतन्त्रता के बिना कौन रुककर रहेगा। शरीर भी विविध बाधाओं का कारण होने से दुःख का कारण माना गया है, इसलिए उसमें वह ही रुका रहेगा रहेगा जो परतन्त्र हो। इस प्रकार संसारी आत्मा का बन्धन होना मानना पड़ता है।

मुक्त होने पर भी बन्ध होने की आशंका का परिहार—

कार्य-कारण-विच्छेदाद् मिथ्यात्वादि-परिक्षये॥ 8॥
जानतः पश्यतश्चोर्ध्वं जगत् कारुण्य-योगतः।
तस्य बन्ध-प्रसंगो न सर्वास्त्रव-परिक्षयात्॥ 9॥

अर्थ—मिथ्यादर्शनादि भावों का अभाव होने से जो कर्म का कार्य-कारण सम्बन्ध था वह भी छूट जाता है। जानना, देखना कर्मबन्धन का कारण नहीं होता, किन्तु उन पर अनित्य वस्तुओं में से रागद्वेषरूप आत्मीयपने

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

की भावना तथा नित्य शुचिपने की भावना करना बन्ध का कारण होता है। ऐसी मिथ्याभावना कराने के कारणभूत ज्ञान-दर्शन को मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन कहते हैं। जग की चराचर वस्तुओं को जानना, देखना मिथ्याभाव छूट जाने पर भी होता है, क्योंकि, ज्ञान-दर्शन जीव के स्वाभाविक धर्म हैं, असाधारण लक्षणधर्म हैं। स्वाभाविक, असाधारण लक्षणधर्म का किसी वस्तु में भी नाश नहीं होता है। यदि स्वाभाविक असाधारण लक्षणधर्मों का नाश हो जाए तो वस्तु का ही नाश हो जाए, इसलिए जानना, देखना मिथ्यावासनाओं के अभाव में भी होना चाहिए। बन्ध के कार्यकारणभाव का अभाव मिथ्यावासनाओं के अभाव के साथ ही हो जाता है। कर्मागमन के कारणों का अभाव हो जाने से फिर देखते-जानते हुए भी आत्मा कर्मों से बद्ध नहीं हो पाता।

देखने-जानने और रागद्वेष होने के कारण जुदे-जुदे हैं, इसलिए मिथ्यावासना के होते हुए रागद्वेष व कर्मबन्ध उत्तरोत्तर होते रहते हैं। स्वभाव बन्ध के कारण नहीं होते हैं, इसलिए देखने-जानने का कार्य जारी रहते हुए भी मिथ्यावासनाओं का अभाव हो जाने पर बन्ध नहीं होता। स्वाभाविक भाव कभी नष्ट नहीं हो सकते हैं, इसलिए मुक्त अवस्था में भी ज्ञान-दर्शन रहने ही चाहिए। कहीं-कहीं पर योगी जगत् के ऊपर करुणा उत्पन्न होने के कारण भी जगत् को देखते हैं, जानते हैं और उपदेश भी देते हैं, परन्तु आसक्ति उत्पन्न न होने के कारण कर्मों से बद्ध नहीं होते, इसलिए किसी-किसी विद्वान् ने करुणा को भी जीव का स्वभाव सिद्ध किया है। भगवज्जिनसेन स्वामी परमात्मा की स्तुति[1] करते हुए परमात्मा को जगत् पर करुणा करनेवाला कहते हैं। भावार्थ इतना ही है कि करुणा होने से भी यदि रागद्वेष न हों तो बन्ध नहीं होता।

बन्ध स्वाभाविक धर्म नहीं है—

अकस्माच्च न बन्धः स्यादनिर्मोक्षप्रसंगतः।
बन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान् मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम्॥ 10॥

अर्थ—अकस्मात्—बिना कारण मुक्त जीव के बन्ध नहीं होता, क्योंकि बिना कारण के भी बन्ध होता है ऐसा मानने पर कभी मुक्त होने का प्रसंग ही नहीं आयेगा। मुक्ति प्राप्ति के बाद भी उनके बन्ध हो जायेगा।

मुक्त जीव पुनः संसार में न आने का कारण—

पातोऽपि स्थानबन्धत्वात् तस्य नास्रवतत्त्वतः।
आस्रवाद् यानपात्रस्य प्रपातोऽधो ध्रुवं भवेत्॥11॥

अर्थ—यदि यहाँ यह कहा जाए कि आत्मा मुक्त होने पर स्थानवाला होता है और जो स्थानवाला होता है वह अवश्य ही किसी एक स्थान में स्थिर न रहकर गिरता, पड़ता वा विचलित होता रहता है, इसलिए आत्मा भी ऊर्ध्वलोक में स्थिर न रहकर नीचे गिरना व स्थान से स्थानान्तरित होना चाहिए? इसका यह उत्तर है कि—पदार्थों के स्थानान्तरित होने में स्थानत्व कोई कारण नहीं है, किन्तु आस्रवत्व कारण

1. 'जगत्कारुण्यको' ऐसी स्तुति है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है। जिस प्रकार नाव में जल आकर भर जाता है तो वह डूब जाती है उसी प्रकार आत्मा में जब तक कर्मास्रव होता रहता है तब तक संसार में डूबता वा स्थान बदलता रहता है और जब मुक्त अवस्था में वह कर्मास्रव से रहित हो जाता है तो स्थानान्तरित नहीं होता।

यदि स्थानत्व को ही स्थानान्तरित होने में कारण माना जाएगा तो ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो स्थानवाला न हो, क्योंकि, जितने भी पदार्थ हैं वे कहीं न कहीं अवश्य रहते हैं, इसीलिए वे हैं तो पदार्थ ही स्थानान्तरित होते रहने चाहिए, पर ऐसा काल आदि द्रव्यों को देखने से मिथ्या ठहरता है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि मुक्त आत्मा कर्मास्रव से सर्वथा रहित है, इसलिए अपने स्थान से विचलित नहीं होता।

मुक्तजीव का पतन (अधोगमन) नहीं होता—

तथापिगौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्यते।
वृन्तसम्बन्ध विच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु ॥12॥

अर्थ—स्थानवान् होने पर भी गुरुत्व का अभाव होने के कारण मुक्त जीव के पतन का प्रसंग नहीं आता। जैसे डंठल के सम्बन्ध का विच्छेद होने पर गुरु (वजनदार) आम का फल नीचे गिरता है।

गुरुत्व गुण का होना, न होना ही किसी चीज के नीचे गिरने, न गिरने का कारण होता है। अथवा गुरुत्व गुण दो प्रकार से कहा जा सकता है : अधोगुरुत्व और ऊर्ध्वगुरुत्व। पुद्गल में अधोगुरुत्व गुण होने से वह नीचे की तरफ जाता है। आत्मा में ऊर्ध्व गुरुत्व गुण है, इसलिए कर्मबन्धन छूटते ही आत्मा ऊपर की तरफ जाता है।

जीवात्मा मनुष्य पर्याय से ही सिद्ध होते हैं। मनुष्यों का रहना अढाई द्वीप के ही भीतर है, इसलिए संसार में जो कोई जीव मुक्त होता है वह अढाई द्वीप के भीतर से ही होगा। मुक्त होने पर वह ऊर्ध्वगमन करता है—यह बात आगे कहनेवाले हैं। इस अढ़ाई द्वीप में से जो मुक्तों का गमन होता है उमसें मोड़े नहीं होते, किन्तु सीधा हेाता है, इसलिए यहाँ के अन्तपर्यन्त गमन करने में उन्हें एक ही समय लगता है यह बात कह चुके हैं। जिस प्रकार यहाँ से उनके निकलने का क्षेत्र अढ़ाई द्वीप मात्र है, उसी प्रकार ऊपर पहुँचकर जहाँ ठहरते हैं वह तो अढ़ाई द्वीप के बराबर ही चौड़ा और लम्बा है। क्योंकि, जो मोड़ा न लेकर सीधे जाएँगे, वे निकलने के स्थान से अधिक लम्बे चौड़े स्थान में पसर नहीं सकते हैं। स्थान उतना होकर भी मुक्तात्माओं की संख्या अब तक अनन्तों हो चुकी है।

अनन्त आत्माओं के थोड़े से क्षेत्र में रहने की युक्ति—

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्तानां प्रसज्यते।
परस्परोपरोधोऽपि नावगाहनशक्तितः॥ 13॥

अर्थ—चरमशरीरी जीव की अवगाहना छोटी से छोटी साढ़े तीन हाथ की होती है। बड़ी से बड़ी सवा पाँच सौ धनुष ऊँची होती है। मुक्त होने पर जीव चाहे छोटी अवगाहनावाला हो और चाहे बड़ी अवगाहनावाला, प्रत्येक अवगाहन के भीतर आकाश के असंख्यात प्रदेश आ जाते हैं। सिद्ध स्थान अढाई द्वीप समान होने से उस स्थान के भीतर यदि अनन्तानन्त सिद्ध रहें तो बहुत ही थोड़े स्थान में आ सकेंगे,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु सिद्धात्माओं की आज तक संख्या अनन्त हैं। जो जिस सीध में आता है वह वहाँ पर रह जाता है। इस प्रकार आज पर्यन्त एक-एक स्थान में अनन्तों-अनन्तों सिद्ध एकत्रित हो चुके हैं। थोड़े से क्षेत्र में अधिक आत्माओं का आ जाना युक्तिबाधित इसलिए नहीं होता कि आकाश में चाहे जिसको अवकाश देने की शक्ति सदा विद्यमान रहती है। जहाँ पर एक चीज समा जाने पर दूसरी चीज प्रवेश नहीं कर सकती है वहाँ पर भी आकाश के अवकाशदानरूप सामर्थ्य में कोई हीनता नहीं होती। आकाश की अवकाशदान शक्ति सदा ही अव्याहत बनी रहती है और परस्पर में जो चीजें एक दूसरे को रोकती हैं वे स्थूल हों तभी रोकती हैं, नहीं तो नहीं।

अनन्त आत्माओं के समाने का दृष्टान्त—

नानादीपप्रकाशेषु मूर्तिमत्स्वपि दृश्यते।
न विरोधः प्रदेशेऽल्पे हन्तामूर्तेषु किं पुनः ॥14॥

अर्थ—मूर्तिमान् पदार्थ भी ऐसे बहुत से हैं जो कि थोड़े से आकाश में बहुत से समा जाते हैं। इसका दृष्टान्त दीप का प्रकाश है। जितने आकाश-क्षेत्र में एक दीप का प्रकाश पसर कर रह जाता है उतने ही क्षेत्र के भीतर दूसरे तीसरे आदि दीपकों के प्रकाश भी समा जाते हैं। आत्मा अमूर्तिक द्रव्य है, इसलिए एक-एक क्षेत्र में अनन्तानन्त आत्मा रह सकते हैं और रहते हैं।

अमूर्तिक आत्मा के निराकार होने पर भी सद्भाव सिद्ध—

आकाराभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते।
अनन्तरपरित्यक्त-शरीराकारधारिणः ॥ 15॥

अर्थ—जीवात्मा अमूर्तिक अवश्य है, परन्तु जो अमूर्तिक होता है उसका भी आकार अवश्य होता है। जिस शरीर को छोड़कर जीव मुक्त होता है उसी शरीर के बराबर उसका मुक्तावस्था में आकार रहता है, इसलिए जब कि जीवात्मा का आकार है तो अभाव कैसे कहा जा सकता है?

आत्मा की शरीराकृति—

शरीरानुविधायित्वे तत्तद्भावादवसर्पणम्।
लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः ॥ 16॥

अर्थ—जब यह जीव इन कर्मबन्धनों से और सम्बन्ध से छूटकर मुक्त होता है तब जिस अन्तिम शरीर को छोड़कर यह जुदा होता है उसी शरीर के आकार को रखता है। फिर उस आकार में कभी बदलाव नहीं होता। बन्धवश जो बदलाव होता आया उस बदलाव को अब कौन करे? निष्कारण कोई भी कार्य नहीं हो सकता हैं। संकोच या विस्तार पराधीनतावश होता था और इसलिए वह संकोच-विस्तार का होना विकार रूप कार्य था। विकार के हटते ही वह कार्य होना भी बन्द पड़ जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीराकार होने का दृष्टान्त—

शराव-चन्द्रशालादि-द्रव्यावष्टम्भयोगतः।
अल्पो महांश्च दीपस्य प्रकाशो जायते यथा॥ 17॥

अर्थ—शकोरा, चन्द्रशाला, घट, मकान-इत्यादि जैसे आवरण करनेवाले छोटे, बड़े द्रव्य का सम्बन्ध होता है, दीपक वैसा ही अपने प्रकाश को संकुचित तथा विस्तृत बनाकर रहने लगता है। जब जिसके भीतर वह दीपक रहता है उस समय उस द्रव्य के बाहर अपना प्रकाश नहीं ले जाता, किन्तु उसी के भीतर समाकर रहता है। अपने प्रकाश को भी उसी के भीतर रखता है।

इस दृष्टान्त का उपसंहार—

संहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगतः।
तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे॥ 18॥

अर्थ—जिस प्रकार आवरणवश दीप के प्रकाश का संकोच और विस्तार है उसी प्रकार कर्म व शरीर के बन्धन से पराधीन हुआ जीव तदनुसार संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता रहता है। पराधीनता के कारण जब नहीं रहते हैं, तब न संकोच होता है न विस्तार होता है।

अब रही यह बात कि जिस प्रकार आवरण-द्रव्य का अभाव होने पर दीपक का प्रकाश अन्तिम आवरण की मर्यादा से अधिक पसर जाता है उसी प्रकार शरीरादि बन्धनों का अभाव होने पर आत्मा लोकाकाश के बराबर अपने सब प्रदेशों का विस्तार क्यों नहीं करता है?

इसका उत्तर एक तो यह है कि दृष्टान्त के सब गुणधर्मों की दार्ष्टान्त में तुलना नहीं होती है। यदि सब गुणधर्म दोनों के एक से ही हों तो एक को दृष्टान्त और दूसरे को दार्ष्टान्त कौन कहे? दूसरा, इसी से मिलता हुआ उत्तर यह भी है कि दीपक के प्रकाश का पसरने का स्वभाव तो स्वयं है और संकोच होना पराधीन है, इसलिए आवरणों के वश वह रुकता है और आवरण हटने पर पसर जाता है। आत्मा में यह बात नहीं है। आत्मा में न संकोच होने का ही धर्म स्वभावरूप है और न पसरना ही स्वभाव है।

दीपक से इसके स्वभाव में इतना अन्तर होने का कारण मूर्तिकता व अमूर्तिकता हो सकता है। दूसरा यह भी कारण हो सकता है कि दीपक के और प्रकाश के प्रदेश तो भिन्न-भिन्न हैं। शब्द से शब्दान्तर होने की तरह प्रकाश से प्रकाशान्तर उत्पन्न होता हुआ कुछ दूर तक पसरता है। वह उत्पत्ति आवरण के होते हुए मर्यादित क्षेत्र में होती है और आवरण न हो तो जहाँ तक हो सके वहाँ तक होती है। आत्मा में यह बात नहीं है। आत्मा में जो कुछ पसरना है या संकुचित होना है वह उसी के प्रदेशों का है, इसलिए जब संकोचक निमित्त मिलते हैं तब उसका संकोच होता है और जब विस्तार के निमित्त मिलते हैं तब उसका विस्तार होता है।

संकोच और विस्तार परस्पर में विरोधी स्वभाव एक वस्तु में एक साथ नहीं रह सकते हैं। विरोधी धर्मों के प्रकट करने का कारण केवल वह पदार्थ नहीं हो सकता जिसमें कि वे विरोधी धर्म रहते हों, किन्तु उनके प्रकट करने का कारण परवस्तु हुआ करता है जिसे उपाधि कह सकते हैं। जिस प्रकार कि जल में शीतलता और उष्णता के उत्पादक कारण सूर्य परिभ्रमण के द्वारा होनेवाले ऋतु आदि होते हैं,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिए शीतोष्णता का होना उपाधि के अधीन है। इस प्रकार आत्मा में संकोच, विस्तार का होना उपाधि के अधीन है। जो बातें उपाधिजन्य होती हैं उनमें से उपाधि हटने पर एक भी बात नहीं होती।

ऐसे उपाधिजन्य परस्पर विरोधी अनेक कार्यों में से कहीं पर तो कोई एक धर्म वस्तु में रहता है और शेष उपाधि मिलने पर होते हैं, नहीं तो नहीं। जैसी जल की उष्णता उपाधिजन्य है और शीतलता मूल का ही धर्म है। अथवा प्रकाश का विस्तार होना मूल से ही है और संकोच होना पराश्रित है। एवं कहीं-कहीं पर ऐसे दो धर्मों में से एक भी मूल वस्तु का नहीं होता। जैसे स्फटिक में हरे, पीले, लाल आदि जो कुछ रंग दिख पड़ते हैं वे सभी उपाधिजन्य होते हैं। अथवा दर्पण में जितने प्रकार की छाया पड़ती हैं वे सब उपाधिजन्य होती हैं। एक भी प्रतिबिम्ब स्वाभाविक नहीं होता। इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्मों के ये दो प्रकार हैं कि कोई तो ऐसे कि उनमें से एक मूल का, बाकी उपाधिजन्य और कोई ऐसे कि अनेकों में से सभी उपाधिजन्य। आत्मा के जो संकोच विस्तार धर्म हैं वे सभी उपाधिजन्य हैं। उन दोनों में से मूल का एक भी धर्म नहीं है, इसीलिए इसके लिए जो दीप का प्रकाश दृष्टान्त बताया है वह एकदेशी दृष्टान्त समझना चाहिए।

शरीर सम्बन्ध छूटने पर आत्मा का संकोच विस्तार न होने के विषय में गीले कपड़े का दृष्टान्त भी दिया जाता है। गीले कपड़े को कोई संकोचना चाहे तो संकुचित भी हो जाता है और विस्तारना चाहे तो विस्तार भी हो जाता है, परन्तु जितने विस्तार या संकोच की दशा में उसे छोड़ दिया जाए उससे अधिक अपने आप न संकोच ही होता है और न विस्तार ही। उसी प्रकार आत्मा शरीर सम्बन्धों द्वारा संकुचित भी होता है और विस्तृत भी होता हे, परन्तु शरीर सम्बन्ध छूटने पर वह न अधिक संकुचित ही होता है और न विस्तृत ही होता है।

मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करते हैं—

कस्यचिच्छृंखला मोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात्।
अवस्थानं न मुक्तानामूर्ध्वं व्रज्यात्मकत्वतः॥ 19॥

अर्थ—जड़ पदार्थ कुछ ऐसे होते हैं कि साँकल, रस्सी आदि के बन्धन जो पहले थे उनके छूट जाने पर वे ज्यों-के-त्यों पड़े रहते हैं, परन्तु यह बात जीवों में नहीं है। जीव प्रत्येक बात में पुद्गल से प्रायः उलटे स्वभाववाला है। पुद्गल मूर्तिक है तो जीव अमूर्तिक हैं। पुद्गल जड़ है तो जीव चेतन है। पुद्गल के तिरछे व ऊर्ध्वगमन स्वभाव भी हैं, परन्तु एक-एक पर्यायगत वे सब स्वभाव हैं। यथार्थ में गुरुत्व धर्म के होने से पुद्गल का अधोगमन स्वभाव है। ठीक उससे उलटा जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। पुद्गल के वायु, अग्नि आदि पर्यायों में सम्बन्ध विशेष से इधर-उधर गमन होता है, परन्तु उपाधिजन्य है। उसी प्रकार जीव के संसार अवस्था में जो गमन होते हैं वे भी उपाधिजन्य होते हैं। जीव में उपाधि कर्म होता है और पुद्गल में आपस के ही दूसरे पुद्गल बन्धन की विचित्रता करके उपाधिरूप बन जाते हैं। उपाधि रहित होने पर मुक्तजीव स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करते हैं और लोक के अन्तभाग में पहुँचकर अनन्तकाल के लिए वहीं स्थिर हो जाते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मक्षय का क्रम—

सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-संयुक्तस्यात्मनो भृशम्।
निरास्त्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ॥ 20॥
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजं कात्स्न्र्येन मोहनीयं प्रहीयते॥ 21॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र के सामर्थ्य से आत्मा आस्रव को रोकता है, जिससे कि नवीन आनेवाली सन्तति रुक जाती है। नवीन कर्मों का आना रुका कि आत्मा के पूर्वार्जित कर्मों का क्षय होना भी शुरू हो जाता है। कर्मक्षपणा के हेतु जो पहले कह चुके हैं वे ही हैं। उन हेतुओं द्वारा सबसे प्रथम मोहनीय कर्म का क्षय होता है। मोहनीय कर्म ही सब कर्मों का और संसार का असली कारण है। उसका यहाँ पर सम्पूर्ण क्षय करना पड़ता है। जब तक इसका समूल नाश न हो तब तक दूसरे कर्मों की जड़ कटना असम्भव है।

मोहक्षय के बाद किन कर्मों का क्षय होता है?

ततोऽन्तराय-ज्ञानघ्न-दर्शनघ्नान्यनन्तरम्।
प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः॥ 22॥

अर्थ—मोहक्षय हुआ कि बाद में एक साथ अन्तराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण—ये तीन घाति कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं। मोह का क्षय होने पर ये शेष कर्म टिक ही नहीं सकते हैं।

मोहक्षय से होनेवाला परिणाम : दृष्टान्त—

गर्भसूच्यां विनष्टायां तथा बालो विनश्यति।
तथा कर्म क्षयं याति मोहनीये क्षयं गते॥ 23॥

अर्थ—जिस प्रकार गर्भसूची नष्ट होते ही गर्भगत बालक मर जाता है, उसी प्रकार मोहकर्म हटते ही शेष कर्म नष्ट होने लगते हैं। गर्भसूची नष्ट होने पर जिस प्रकार बालक थोड़ी देर तक भी जी नहीं सकता, उसी प्रकार मोह नष्ट होने पर कर्मों में टिकने की शक्ति नहीं रहती है। इस प्रकार यहाँ तक चारों घाति कर्मों का नाश हो जाता है।

स्नातक अवस्था की प्राप्ति—

ततः क्षीणचतुष्कर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्।
बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः॥ 24॥

अर्थ—चारों घातिकर्म नष्ट होते ही अथाख्यात अथवा यथाख्यातसंयम की प्राप्ति हो जाती है। बीज के समान बन्धन का निर्मूल नाश होने से बन्धन रहित हुए योगी स्नातक कहलाने लगते हैं। उसी समय परम ऐश्वर्य के प्रकट होने से वे परमेश्वर कहलाने लगते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

परमैश्वर्य के चिह्न—

शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली॥ 25॥

अर्थ—चारों घातिकर्मों का नाश हो जाने से वे योगी सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं, बुद्ध कहलाने लगते हैं। सर्व आधि, व्याधियों से मुक्त हो जाते हैं, अर्थात् अठारह दोषों से रहित हो जाते हैं, इसलिए निर्दोष कहलाने लगते हैं। सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा, केवली, जिन इत्यादि परमेश्वरता के सूचक अनन्त गुण प्रकट हो जाते हैं। इतने गुण प्रकट होने पर भी अघाति कर्मों के फलानुसार शरीर सहित रहना पड़ता है। इसी को जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं।

निर्वाण-प्राप्ति—

कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति।

अर्थ—शेष रहे हुए अघाति कर्मों का जब पूरा नाश हो जाता है तब जीवात्मा शरीर छोड़कर निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

दृष्टान्त—

यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः॥ 26॥

अर्थ—जैसे संगृहीत ईंधन को जलाकर अग्नि शान्त हो जाती है। जब ज्वाला बढ़ने का कारण ईंधन रहेगा ही नहीं तो ज्वाला उठेगी और भड़केगी कहाँ से? इसी प्रकार बन्धन का, भड़काने का या उद्विग्नता का कारण कर्म है। वह जब नष्ट हो चुका तब जीव का निर्वाण होना ही समय प्राप्त है।

तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात् स गच्छति।
पूर्वप्रयोगासंगत्वाद् बन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः॥ 27॥

अर्थ—निर्वाण होते ही जीव ऊपर की तरफ लोकाकाश पर्यन्त गमन कर जाता है। इस गमन के हेतु चार हैं : (1) पूर्वप्रयोग, (2) असंगता, (3) बन्धच्छेद, (4) ऊर्ध्वगमन स्वभाव अथवा ऊर्ध्वगौरव धर्म।

पूर्वप्रयोग हेतु का स्वरूप और दृष्टान्त—

कुलालचक्रं दोलायामिषौ चापि यथेष्यते।
पूर्वप्रयोगात्कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता॥ 28॥

अर्थ—कुलाल चक्र को एक बार फिरा देता है, बाद में लकड़ी हटा लेने पर भी पूर्वप्रयोगवश वह चक्र फिरता रहता है अथवा बाण छोड़ते समय एक बार छोड़ने की क्रिया करनी पड़ती है, बाद में वेग

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा उत्पन्न होता है कि वह बाण बिना प्रेरणा के ही आगे चलता चला जाता है। इसी प्रकार जीव ने मुक्ति के लिए जो बहुत-सा निरन्तर संयम धारण कर, मोक्ष जाने का भावनारूप प्रयत्न किया था उसी पूर्वप्रयोग के वश शरीर छूटने पर भी सिद्धस्थान की तरफ गति होती है।

असंगता रूप हेतु का स्वरूप दृष्टान्त—

मृल्लेपसंगनिर्मोक्षाद् यथा दृष्टाप्स्वलाम्बुनः।
कर्मबन्धविनिर्मोक्षात् तथा सिद्धगतिः स्मृता॥ 29॥

अर्थ—असंगता का अर्थ है—बन्धन छूटना। बन्धन छूटने से बहुत-सी चीजें नीचे से ऊपर की तरफ आया करती हैं। जैसे, माटी का लेप लगी हुई तूमड़ी लेप गलने-हटने से पानी के ऊपर आ जाती है, उसी प्रकार कर्मबन्धन छूटने पर सिद्ध जीवों की ऊर्ध्वगति होती है।

बन्धनच्छेद हेतु का स्वरूप दृष्टान्त—

एरण्डस्फुटदेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः।
कर्मबन्धनविच्छेदात् जीवस्यापि तथेष्यते॥ 30॥

अर्थ—एरण्ड का बोंड़ सूखकर जब फूटता है तब एरण्ड के बीज उसमें से उछलकर ऊपर जाते हैं। उसी प्रकार बन्धनच्छेद होने पर जीवात्मा भी ऊर्ध्व की तरफ गमन करता है। इसलिए विशिष्ट बन्धनच्छेद ऊर्ध्वगति करानेवाला मानना चाहिए।

ऊर्ध्व गौरव हेतु का स्वरूप दृष्टान्त—

यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्ट-वाय्वग्नि-वीचयः।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते यथोर्ध्वगतिरात्मनाम्॥ 31॥

अर्थ—पदार्थों के स्वभाव तर्कणीय नहीं हो सकते हैं। जो जिसका स्वभाव जैसा दिख पड़ता है उसका वह वैसा ही स्वभाव मानना चाहिए। जिस प्रकार माटी, पत्थर आदि का स्वभाव है कि उन्हें कोई रोकनेवाला न हो तो नीचे की तरफ गिरते हैं एवं, वायु का स्वभाव तिरछा चलने का है। अग्नि का स्वरूप ऊर्ध्वगामी है। उसी प्रकार जीव मुक्त होने पर ऊपर जाता है, इसलिए ऊर्ध्वगति जीव का स्वभाव मानना चाहिए।

अग्नि का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर वह वायु के झकोरों से तिरछा चलने लगती है। अनेक वायु परस्पर टकराते हैं उस समय वायु का भी ठीक तिरछा गमन नहीं रहता है। पत्थर को ऊपर की तरफ फेंका जाए तो ऊपर की तरफ भी वह चला जाता है। ये सब प्रकार के गमन स्वाभाविक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, इनकी प्रवृत्ति परनिमित्तों से होती है। परनिमित्त न रहने पर इनकी जो गति होती है वह एक प्रकार की ही होती है और वही गति स्वाभाविक समझनी चाहिए। इसी प्रकार कर्माधीन जीव की भी जो गति होती है वह सब औपाधिक समझनी चाहिए।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जीव, पुद्गलों के गति भेद का हेतु—

ऊर्ध्व-गौरव-धर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः।
अधो-गौरव-धर्माणः पुद्गला इति चोदितम्॥ 32॥

अर्थ—कुछ लोग गुरुत्व शब्द का अर्थ ऐसा करते हैं—जो नीचे की ओर जाता है वह गुरुत्व धर्म है, परन्तु इसका अर्थ करना चाहिए जो किसी तरफ किसी चीज को ले जाए वह गुरुत्व है। वह चाहे नीचे की तरफ ले जानेवाला हो अथवा ऊपर की तरफ। नीचे की तरफ ले जाने का सामर्थ्य तथा ऊपर की तरफ ले जाने का सामर्थ्य इत्यादि उसी गुरुत्व के उत्तर भेद हो सकते हैं। इन उत्तर भेदों में से पुद्गल अधोगुरुत्व धर्मवाले होते हैं और जीव ऊर्ध्वगुरुत्व वाले होते हैं। पुद्गलद्रव्य मात्र का यदि गुरुत्व धर्म देखना हो तो अधोगुरुत्व ही है। तिर्यग्गुरुत्व आदि जो वायु आदिकों में दिख पड़ता है वह भी पर्याय विशेषों का धर्म है, इसलिए पुद्गल का अर्थ यहाँ पर लोष्ठ पाषाणादि करने से वायु आदिकों में से दोष परिहार हो सकता है। अतः मानना चाहिए कि जिनेन्द्र भगवान ने जो गुरुत्व के उत्तर भेद किये हैं वे ठीक हैं।

जीव की नाना गतियों का हेतु—

अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते।
कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते॥ 33॥

अर्थ—ऊर्ध्वगमन जीव का स्वभाव होने से जो गति इस शुद्ध ऊर्ध्वगति से विकृत दिख पड़ती है वह सब कर्म की प्रेरणा से और कर्म के आघात से होनेवाली समझनी चाहिए।

प्रश्न—ऊर्ध्वगति के अतिरिक्त जो अधोगति अथवा तिर्यग्गति हैं वे तो कर्मजन्य हो सकती हैं, क्योंकि वे शुद्धगति से विरुद्ध हैं, परन्तु जो स्वर्गगामी संसारी जीवों का ऊर्ध्वगमन होता है, उसे विकृत गमन समझना चाहिए या शुद्ध?

उत्तर—शुद्ध उसे कहते हैं जो कि पर निमित्त के बिना ही हो और एक रूप ही सदा परिणमती हो। संसारी जीव की गति चाहे तिरछी हो चाहे ऊर्ध्व, परन्तु वह सभी कर्मजन्य होती है, इसलिए संसारी जीव की ऊर्ध्वगति को भी विकृत गति ही कहना चाहिए।

उपसंहार—

अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः।
ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम्॥ 34॥

अर्थ—जीवों की कर्मजन्य गति तीनों प्रकार से हो सकती है, अधोगति भी हो सकती है और तिर्यक् तथा ऊर्ध्वगति भी हो सकती है, परन्तु जो कर्मों का नाश कर चुके हैं उन जीवों की ऊर्ध्वगति ही होती है और वह स्वाभाविक है।

द्रव्यस्य कर्मणो यद् वद् उत्पत्त्यारम्भवीतयः।
समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात्॥ 35॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—जिस प्रकार द्रव्यकर्मों की उत्पत्ति होने के साथ-साथ ही प्रदेश परिस्पन्द आदि रूप अशुद्धता के कार्य शुरू हो जाते हैं उसी प्रकार कर्मबन्धन पूरा नष्ट होते ही जीव का संसारवास नष्ट हो जाता है और मोक्षस्थान की तरफ गमन हो जाता है।

अर्थात् शुद्ध गमन का कारण भवक्षय होना है और अशुद्ध प्रवृत्ति का कारण कर्म का सहवास है। सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो कारण कार्य का एक ही समय होता है, इसीलिए जीव का जैसे ही भव क्षीण हुआ कि है उसी समय ऊर्ध्वगमन कार्य शुरू हो जाता है।

उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाश-तमसोरिह।
युगपद्भवतो यद्वत् तद्वन्निर्वाणकर्मणोः ॥ 36 ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार के उत्पाद तथा नाश युगपत् होते हैं, उसी प्रकार कर्म का नाश और निर्वाण का उत्पाद युगपत् होते हैं।

परस्पर विरोध रखनेवालों में यही नियम होता है कि एक नाश हो तो दूसरा उत्पन्न हो। अथवा किसी भी कार्य के कारण दो प्रकार के होते हैं; एक तो उसके साधक रूप, दूसरे बाधक अभावरूप। जो साधकरूप होते हैं वे कार्य के पूर्वक्षण में रह सकते हैं, परन्तु जो बाधक अभावरूप होते हैं वे जिस क्षण में उत्पन्न होते हैं उसी क्षण में कार्य सिद्ध होता है।

उदाहरणार्थ, प्रकाश अन्धकार का विरोधी है, इसलिए इन दोनों में यही नियम स्वयं सिद्ध बना हुआ है कि जब एक हो तो दूसरा न हो। अथवा तम प्रकाश का बाधक है और प्रकाश तम का बाधक है, इसलिए बाधकरूप तम का अभाव जिस क्षण में होगा उसी क्षण में निर्वाणावस्था का प्रादुर्भाव भी होगा।

कर्मजन्य अवस्था को संसारावस्था कहते हैं। कर्म आठ हैं। संसारावस्था के भी इसीलिए आठ प्रकार किये जाते हैं :

(1) ज्ञानावरण के रहने से अज्ञानांश का होना—यह एक भेद हुआ।
(2) दर्शनावरण के रहने से दर्शनांश का अभाव रहना—यह दूसरा भेद हुआ।
(3) वेदनीय के रहने से आकुलता रहना अथवा व्याबाधा बनी रहना—यह तीसरा भेद हुआ।
(4) मोहनीय के रहने से आत्मा का मोहित होकर रहना—यह चौथा भेद हुआ।
(5) आयु के रहने से शरीर सहित स्थूल होकर रहना—यह पाँचवाँ भेद हुआ।
(6) नामकर्म के रहने से अपने अवगाहन में न रहकर शरीरावगाहन में रहना—यह छठा भेद हुआ।
(7) गोत्रकर्म के होने से पराधीन ऊँचपना या नीचपना रहना—यह सातवाँ भेद हुआ।
(8) अन्तराय के रहने से निर्बल होकर रहना—यह आठवाँ भेद हुआ।

इस प्रकार कर्मजन्य जीव की आठ अवस्थाएँ हो सकती हैं। इन्हीं आठ अवस्थाओं को समुदायरूप से कहा जाए तो एक असिद्धत्व अथवा संसार—यह नाम प्राप्त होता है। इन आठों विकारों के हट जाने से जो अवस्था होती है उसका सामान्य एक नाम निर्वाण है। विशेष नाम देखें तो आठ होंगे। आगे प्रत्येक नामों को क्रम से सहेतुक दिखाते हैं—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानस्वभाव (पहला)—

ज्ञानावरणहानात्ते केवलज्ञानशालिनः।

अर्थ—ज्ञानावरण कर्म का पूर्णनाश हो जाने से जीव को केवलज्ञान प्राप्त होता है। यह निर्वाण अवस्था का एक मुख्य स्वरूपविशेष है।

दर्शन (दूसरा)—

दर्शनावरणोच्छेदादुद्यत्केवलदर्शनाः ॥ 37 ॥

अर्थ—दर्शनावरण का पूरा ध्वंस हो जाने से जीव केवलदर्शनयुक्त होता है यह मुक्ति का दूसरा विशेष स्वरूप है।

अव्याबाध (तीसरा)—

वेदनीय-समुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः।

अर्थ—वेदनीयकर्म का नाश हो जाने से मुक्त जीवों में अव्याबाध नाम का तीसरा गुण प्रकट होता है।

सम्यक्त्व (चौथा)—

मोहनीयसमुच्छेदात् सम्यक्त्वमचलं श्रिताः ॥ 38 ॥

अर्थ—मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से अचल सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। यह निर्वाण का एक चौथा स्वभावविशेष है। मोह के भेद यद्यपि दर्शनमोह और चारित्रमोह ये दो होते हैं, परन्तु मोहित करना—ऐसा सामान्य अर्थ मानने से मोह एक ही कहा जाता है। उसी प्रकार उस मोह के अभाव से प्रगट होनेवाले गुण को भी सामान्यरूप से कहें तो मोह का उल्टा सम्यक्त्व हो जाता है। उसी के उत्तरभेद दर्शन व चारित्र हो जाते हैं। यहाँ पर सामान्य की विवक्षा होने से सम्यक्त्व—ऐसा एक गुण इसलिए कहा है। चारित्र का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी बात को ग्रन्थकार ने अचल विशेषण द्वारा सूचित किया है। अचलता अर्थात् मोह के सर्वसामान्य अभाव से ही प्रकट होनेवाला सम्यक्त्व है। केवल दर्शनमोहनीय के अभाव से जो सम्यक्त्व का प्रकाश होता है उसमें अचलता नहीं आ सकती है, इसीलिए चारित्र को जुदा न कहने पर भी चारित्रमोह के अभाव से होनेवाली अवस्था का ग्रहण हो जाता है।

अवगाहन स्वभाव (पाँचवाँ)—

आयुःकर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः।

अर्थ—आयुकर्म का अभाव हो जाने से आत्मा अवगाहनत्व गुण को प्रकाशित करता है।

सूक्ष्मत्व स्वभाव (छठा)—

नामकर्मसमुच्छेदात्परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः ॥ 39 ॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—नामकर्म का उच्छेद होने से आत्मा सूक्ष्मत्व गुणधारी हो जाता है।

अगुरुलघुत्व (सातवाँ)—

गोत्रकर्मसमुच्छेदात् सदाऽगौरव-लाघवाः।

अर्थ—गोत्रकर्म के अभाव से गुरुता और लघुता—ये दोनों ही बातें हटकर अगुरुलघुत्व गुण प्रकट होता है। सन्तान क्रम से जो जीवों में आनुवंशिक संस्काराधीन प्रवृत्ति होती है उसे गोत्र कहते हैं। उसके सामान्य भेद दो हैं—उच्चता और नीचता। इसी उच्चता अथवा नीचता की प्राप्ति में जो कर्म असाधारण सहायक होता है उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इस गोत्रकर्म का निर्मूल नाश हो जाने से वंशानुविधायी उच्चत्व भी नष्ट हो जाता है और नीचत्व भी नष्ट हो जाता है। इसी अवस्था विशेष को अगुरुलघुत्व कहते हैं।

बलगुण (आठवाँ)—

अन्तरायसमुच्छेदादनन्तवीर्यमाश्रिताः ॥ 40 ॥

अर्थ—अन्तराय कर्म का नाश हो जाने से परिपूर्ण बल प्रकट होता है। किसी प्रकार की निर्बलता अथवा निर्बलता सम्बन्धी कार्य की अपूर्णता न दिख पड़ने से इस गुण का सद्भाव माना जाता है। निर्वाणरूप सामान्य अवस्था का यह एक भेद है।

इस प्रकार निर्वाण अवस्था में प्रकट होनेवाले ये आठ विशेष स्वभाव ऐसे हैं जो कि संसारावस्था में कर्म के सम्बन्ध से नष्टप्राय होकर रहते हैं। जो गुण अथवा स्वभाव कर्मों से नष्ट नहीं होते, वे यहाँ इसलिए नहीं गिनाये हैं कि उनके द्वारा निर्वाण की विशेषता जानने में कोई सहायता नहीं होती। इसका कारण यह है कि वे संसारावस्था में भी रहते हैं और सिद्धावस्था में भी रहते हैं। इन दोनों ही प्रकार के स्वभाव गुणों के उत्तरभेद देखें तो अनन्त दिख पड़ते हैं।

सिद्धावस्था प्राप्त हो जाने पर जीवों के सभी गुण स्वभाव बाधक—घातक न रहकर पूर्ण रूप से और एक से प्रकट हो जाते हैं। इसीलिए सिद्ध जीवों में साक्षात् देखा जाए तो परस्पर में कोई अन्तर नहीं होता। समान होने पर भी प्रदेशादिक जुदे-जुदे तो रहते ही हैं फिर भी समानता के कारण उन्हें जुदे-जुदे कहना नहीं बनता, क्योंकि, जुदेपने का व्यवहार विसदृश वस्तुओं में ही होता है और जुदापन करने का कारण विसदृशता ही होती है। सिद्धावस्था में किसी भी प्रकार की विसदृशता न रहने से जुदेपन का व्यवहार कैसे हो? इस आकांक्षा को मिटाने के लिए ग्रन्थकार उपचरित जुदापन सिद्ध करने वाले कुछ कारण दिखाते हैं। वे कारण बारह प्रकार से दिखाये गये हैं।

सिद्धों में भेद-साधक कारणों के नाम—

काल-लिंग-गति-क्षेत्र-तीर्थ-ज्ञानावगाहनैः।
बुद्धबोधित-चारित्र-संख्याल्पबहुत्वान्तरैः ॥ 41 ॥

अर्थ—1. काल, 2. लिंग, 3. गति, 4. क्षेत्र, 5. तीर्थ, 6. ज्ञान, 7. अवगाहन, 8. प्रतिबोध, 9. चारित्र,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

10. संख्या, 11. अल्पबहुत्व, 12. अन्तर—इन बारह बातों से सिद्धों में परस्पर उपचरित भेद सिद्ध होता है।

कालादिकों के विनियोग नियम—

प्रत्युत्पन्ननयादेशात् ततः प्रज्ञापनादपि।
अप्रमत्तैर्बुधैः सिद्धाः साधनीया यथागमम्॥ 42॥

अर्थ—प्रत्युत्पन्न नयों की अपेक्षा से और प्रज्ञापन नयों की अपेक्षा से सावधान विद्वान् मनुष्य आगमानुसार कालादिकों का विनियोग कर के सिद्धों में परस्पर भेद सिद्ध कर सकते हैं। ऋजुसूत्र[1] नय को तथा तीनों शब्द नयों को प्रत्युत्पन्न नय कहते हैं। शेष तीनों नयों को प्रत्युत्पन्न भी कहते हैं और प्रज्ञापन नय भी कहते हैं।

(1) काल का विनियोग—सिद्ध होने का काल देखकर सिद्धों में परस्पर भेद मानना कालकृत भेद हैं। सामान्य रूप से देखें तो हर एक समय में जीव सिद्ध होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि कोई उत्सर्पिणी में व कोई अवसर्पिणी में सिद्ध होता है। एक समय में सिद्ध होना ऐसा कहना प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा से ठीक है। प्रज्ञापन नय यहाँ पर भूत अथवा भावी हो सकता है। उसके भी फिर दो प्रकार से विनियोग होंगे, जन्म से और संहरण से। जन्म नाम उत्पत्ति, संहरण नाम मरण या अपहरण का है। जन्म से देखें तो अवसर्पिणी के तीसरे काल के अन्त भाग में जन्मा हुआ अथवा चौथे काल में जन्मा हुआ सिद्ध होता है। जिसका जन्म तीसरे काल में हुआ वह तीसरे में भी सिद्ध हो सकता है और चौथे में भी सिद्ध हो सकता है। चौथे काल में उत्पन्न हुआ चौथे में सिद्ध हो सकता है और पाँचवें में भी सिद्ध हो सकता है। परन्तु पाँचवें काल में जन्मनेवाला सिद्ध नहीं हो सकता है। पहले, दूसरे तथा छठे काल में जन्मनेवाला भी सिद्ध नहीं होता है। यह जन्म की अपेक्षा सिद्ध होने का काल विभाग हुआ। निर्वाण की अपेक्षा से चाहे जिस काल में निर्वाण करनेवाला सिद्ध हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि विदेह में सदा ही चतुर्थ काल रहता है और मुक्त होने का क्रम भी सदा ही जारी रहता है। वहाँ का जन्मा हुआ जीव यदि सिद्ध होने की सन्मुख अवस्था होने पर भरत, ऐरावत में प्रथमादि कालों के समय लाकर रख दिये जाएँ तो उस काल में उसका निर्वाण हो सकता है, परन्तु यह बात उपसर्ग की अपेक्षा से सँभवती है। इस प्रकार कालकृत भेद सिद्धों में परस्पर होता है।

(2) लिंग का अर्थ वेद भी है और निर्ग्रन्थ तथा सग्रन्थ वेश भी है। वेद दो हैं—भाववेद और द्रव्यवेद। भूतनय की अपेक्षा से तीनों भाववेद सहित की मुक्ति होती है। कोई किसी भाववेद सहित वेद का नाश करके मुक्त होता है और कोई किसी भाववेद सहित। द्रव्य वेद सभी का पुरुष वेद ही हो सकता है। ऋजुसूत्र नय से देखें तो सब भाववेद नष्ट होने पर मुक्ति होती है और द्रव्यवेद अन्तपर्यन्त रहता है। लिंग का अर्थ वेश किया जाए तो भूतनय से सग्रन्थ लिंगी भी मुक्त होता है। ऋजुसूत्र नय से निर्ग्रन्थ लिंगी ही मुक्त होता है।

---

1. ऋजुसूत्रनयः शब्दभेदाश्च त्रयः प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिणः। शेषा नया उभयभावविषयाः। रा.वा., 10/9, वा. 2

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(3) वर्तमान की अपेक्षा सिद्धगति में ही सिद्ध अवस्था होती है। नैगमनय से देखें, तो अनन्तरभव से देखनी चाहिए अथवा एक अनन्तर पूर्वभव से देखनी चाहिए। अनन्तर भव तो मनुष्यभव ही है। एकान्तरित भव से चारों गति हो सकती हैं। चारों गति से आकर मनुष्य होनेवाला सिद्ध हो सकता है।

(4) ऋजुसूत्र नय से देखें तो अपने प्रदेशों में ही सिद्ध अवस्था होती है अथवा सिद्धक्षेत्र के आकाश क्षेत्र में सिद्ध होता है। भूतनय की अपेक्षा से पन्द्रह कर्मभूमियों का जन्मा हुआ जीव सिद्ध होता है। मरण की अपेक्षा से अढ़ाई द्वीप के व दोनों समुद्रों के बीच कहीं से भी सिद्ध हो सकता है।

(5) कुछ जीव तीर्थंकर के रहते हुए सिद्ध होते हैं और कुछ पीछे से होते हैं—यह तीर्थ की अपेक्षा सिद्धों में भेद है।

(6) मुक्त होने से पूर्व जो ज्ञान है वह प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा से तो एक केवलज्ञान ही होता है, परन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा से किसी को मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय—ये चारों भी रह सकते हैं। जिसको जितने ज्ञान रहे हों, उसकी मुक्ति उतने ही ज्ञानपूर्वक हुई कहनी चाहिए। यह ज्ञान भेद से सिद्धों का भेद हुआ।

(7) शरीर की ऊँचाई-नीचाई की अपेक्षा से अवगाहन है। सिद्ध होनेवाले जीवों में से कुछ का अवगाहन उत्कृष्ट होता है, कुछ का जघन्य होता है और कुछ मध्यवर्ती अवगाहनवाले होते हैं। मोक्षोपयोगी जघन्य अवगाहन साढ़े तीन हाथ का होता है। उत्कृष्ट सवा पाँच सौ धनुष का होता है। इसके बीच जितनी हीनाधिकता होगी वे सब मध्यम अवगाहन समझना चाहिए। इन अवगाहनों में भेद होने से सिद्ध जीवों का परस्पर में भेद किया जा सकता है। जघन्य अवगाहनावाले खड्गासन से ही सिद्ध होते हैं।

(8) प्रतिबोध होने के दो मार्ग हैं। कोई तो स्वयं प्रतिबोध को प्राप्त होकर विरक्त होकर मुक्त होते हैं। कोई दूसरों के उपदेश द्वारा प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा लेकर मुक्त होते हैं। जो स्वयं प्रतिबुद्ध होते हैं, उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहते हैं। जो परोपदेश सुनकर प्रतिबुद्ध होते हैं उन्हें बोधित अथवा बोधिबुद्ध कहते हैं। इन दो भेदों से भी सिद्धों में परस्पर भेद कहा जा सकता है।

(9) किसकी किस चारित्र से सिद्धि हुई—इस दृष्टि से भी सिद्ध अवस्था में भेद आरोपित किया जा सकता है। सिद्धि होने के समय में देखें तब तो चारित्र में कोई भेद होता नहीं है। उस समय केवल यथाख्यातचारित्र अथवा अनिर्वचनीय शुद्धभावरूप परिणाम रहता है और वह सभी का एक-सा होता है। परन्तु पूर्वप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से देखें तो चार अथवा पाँच चारित्रों से सिद्धि होती है। जिनको परिहारविशुद्धि चारित्र प्रकट नहीं होता उनको चार चारित्र प्राप्त होते हैं। जिन्हें परिहारविशुद्धि हो जाती है उनको पाँच चारित्र तक होते हैं।

(10) एक-एक समय में सिद्ध होनेवाले जीवों की संख्या का विचार कर परस्पर भेद मानना सो संख्याकृत भेद हैं। सामान्यत: कम से कम एक समय में एक जीव सिद्ध होता है। विशेष रूप से एक समय में एक सौ आठ जीव भी सिद्ध हो सकते हैं।

(11) अभी तक भेद के कारण दश कहे, एक आगे कहेंगे। उन प्रत्येक के विषय में परस्पर में संख्या की हीनाधिकता देखने को अल्प-बहुत्व कहते हैं। कालकृत अल्प-बहुत्व ऐसे देखना चाहिए कि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्सर्पिणी में बहुत थोड़े जीव सिद्ध होते हैं। अवसर्पिणी में कुछ अधिक सिद्ध होते हैं। जहाँ उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी का भेद नहीं है, वहाँ के काल में बहुत अधिक जीव सिद्ध होते हैं। लिंग की अपेक्षा जो सिद्ध होना माना गया है उसका अल्पबहुत्व नपुंसक, स्त्री तथा पुरुष वेद का उत्तरोत्तर संख्यात गुणा है। गति की अपेक्षा से देखें तो देवगति से मनुष्य होनेवाले जो सिद्ध होते हैं वे सबसे अधिक होते हैं। नरक गतिवाले संख्यातगुणे कम होते हैं। तिर्यंच गतिवाले भी संख्यातगुणे कम होते हैं। इसी प्रकार आगमानुसार सर्वत्र हीनाधिकता समझ लेनी चाहिए।

(12) जिस काल में कोई भी जीव सिद्ध न हो उस काल को अन्तरकाल अथवा विरहकाल कहते हैं। यह नियम है कि आठ समय अधिक, छह महिनों के भीतर छह सौ आठ जीव मुक्त होते हैं। निरन्तर सिद्ध होना यदि बहुत शीघ्र बन्द पड़ जाए तो दो समय के बाद ही पड़ सकता है। यदि बहुत अधिक भी बराबर जीव सिद्ध होते हैं तो आठ समय तक होंगे। बाद में अवश्य ही थोड़े बहुत समय तक अन्तर पड़ेगा। वह अन्तर बहुत थोड़ा हो तो एक ही समय हो। बाद में फिर से जीव सिद्ध होने लगेंगे। यदि बहुत ही अन्तर पड़ा तो छह महीने का पड़ सकता है। बाद में अवश्य ही सिद्ध होने लगेंगे। इस प्रकार निरन्तर तथा सान्तर मिलाकर छह महीने आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्त हो जाते हैं। इसके द्वारा सिद्धों में अन्तर इस प्रकार से देखना चाहिए कि कौन-सा जीव तो सान्तर सिद्ध हुआ है और कौन-सा निरन्तर सिद्ध हुआ है। ऐसा देखने से भी परस्पर में सिद्धों का कुछ भेद सिद्ध हो जाता है, परन्तु ये सब भेद उपचरित हैं। उनके गुणस्वभावों में परस्पर कोई भी भेद नहीं है।

गुण-स्वभावों की अपेक्षा सिद्धों की समानता—

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञान-दर्शने।
सम्यक्त्व-सिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निष्क्रियाः॥ 43॥

अर्थ—केवलज्ञान में, केवलदर्शन में तथा केवलसम्यक्त्व में सिद्ध भगवान् तन्मय होकर रहते हैं और उनकी पर्याय कर्मकलंकों से सर्वथा मुक्त होने के कारण पूर्ण सिद्ध पर्याय कहलाती है। यद्यपि शरीर से छूटने पर ऊर्ध्वलोक की तरफ वे लोक के अन्त पर्यंत गमन करते हैं। उससे ऊपर नहीं जाते। क्योंकि, लोक के ऊपर गमन होने का साधन नहीं रहता है, इसलिए सिद्ध गति में पहुँचकर वे निष्क्रिय[1] होकर ठहरते हैं।

अलोक में गमन न होने का कारण—

ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः।
धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतुर्गतेः परम्॥ 44॥

अर्थ—सिद्ध जीव जिस प्रकार लोकपर्यन्त ऊर्ध्वगमन करते हैं उसी प्रकार आगे और ऊपर क्यों नहीं जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर इतना ही है कि ऊपर धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य नहीं है। धर्मास्तिकाय ही गति होने में प्रधान सहकारी कारण होता है। वह लोक भर में व्याप्त है, इसके बाद नहीं है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धों का सुख—

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः॥ 45॥

अर्थ—सिद्ध जीवों को वह सुख प्राप्त होता है जो संसार में रहनेवाले को विषयों के द्वारा कभी प्राप्त न हुआ हो। वह सुख स्वाधीन होता है, इसीलिए उसका कभी उच्छेद नहीं होता है। उस अविनाशी सुख को परम अव्याबाध कहते हैं। सिद्धों में वेदनीय कर्मोदयजन्य बाधा का अभाव होने से जो अविनाशी, अनन्त, निराकुलता उत्पन्न होती है उसे अव्याबाध कहते हैं।

प्रश्न—

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं शृणु॥ 46॥

अर्थ—सुख का साधन शरीर है। सिद्ध जीव में शरीर का भी उच्छेद हो जाता है और उसके कारणभूत अष्ट कर्मों का भी अभाव जो जाता है। ऐसी अवस्था में मुक्त जीव को सुख क्या होगा—यह समझ में नहीं आता? इस प्रश्न का उत्तर सुनो—

सुख शब्द का अर्थ—

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च॥ 47॥

अर्थ—जगत् में सुख शब्द के चार अर्थ माने जाते हैं : (1) विषय, (2) वेदना का अभाव, (3) पुण्यकर्म का फल प्राप्त होना, (4) मुक्त हो जाना।

विषय का दृष्टान्त—

सुखो वन्हिः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते।

अर्थ—शीत ऋतु में अग्नि का स्पर्श सुखकर होता है। ग्रीष्म ऋतु में ठंडी हवा का स्पर्श सुखकर होता है इत्यादि आभिमानिक (काल्पनिक) सुख के साधनों को यहाँ सुख कहा है। अर्थात् सुख के कारण में कार्य का उपचार किया है। यह सुख शब्द का एक अर्थ हुआ।

वेदना अभाव का दृष्टान्त—

दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते॥ 48॥

अर्थ—पहले तो किसी प्रकार दुःख अथवा क्लेश हो रहा हो और फिर उस दुःख का—उस क्लेश

1. अथवा योग के परिस्पन्दन को भी क्रिया कहते हैं। उस क्रिया का वहाँ कोई साधक कारण न होने से सिद्ध जीव निष्क्रिय हो जाते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का थोड़े समय के लिए अभाव हो जाए तो जीव मानता है कि मैं सुखी हो गया। उदाहरणार्थ, किसी के सिर पर बोझ रखा है, उस बोझ में वह दु:खी हो रहा है। बोझ उतारकर कन्धे पर रख लेने पर वह अपने को सुखी समझने लगता है। सुख शब्द का यह दूसरा अर्थ हुआ।

पुण्यकर्म के उदय से होनेवाले सुख का दृष्टान्त—

पुण्यकर्म-विपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्।

अर्थ—पुराने कर्मों का परिपाक समय आने पर इन्द्रियों के इष्ट विषय की प्राप्ति होने से जो सुख का संकल्प होता है वह सुख शब्द का तीसरा अर्थ है। जैसे, ठंड के दिनों में अग्नि के पास बैठने से सुख प्रतीत होता है। भूख लगने पर भोजन मिल जाने से, प्यास लगने पर पानी मिल जाने से सुख का अनुभव होता है। उस समय जीव अपने को सुखी मानने लगता है।

पहला सुख जो विषय को कहा, उसका मतलब यह था कि सुख के कारण में सुख का उपचार किया है। इस तीसरे अर्थ का यह मतलब है कि उन्हीं विषयों का सम्बन्ध होने पर अपनी आत्मा में सुखोत्पत्ति का अभिमान होता है, इसलिए यह सुख इन विषयों का तथा कर्मोदय का कार्य है। पहला और तीसरा ये दोनों ही सुख-शब्द के अर्थ परस्पर में कारण-कार्य रूप सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए एक-से प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु वास्तव में एक नहीं हैं।

पहले और तीसरे में एक यह भी भेद है कि लाभान्तराय के क्षयोपशम की पहले में अपेक्षा मानी जाती है और दूसरे में सातावेदनीय के उदय की अपेक्षा होती है। अर्थात् विषयों की अनुकूल प्राप्ति लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम का अर्थ है। वह क्षयोपशम होने पर सुख के साधन विषय मिल जाते हैं। असातावेदनीय का उदय हो तो जीव उन प्राप्त हुए साधनों से भी सुखी नहीं होता, परन्तु यह वह स्वीकार करता है कि ये विषय सुखकर हैं, यह प्रथम भेद का अर्थ है। तीसरे प्रकार का सुख हम तब कह सकते हैं जब कि जीव के सातावेदनीय का उदय हो, उसका उदय होने पर जीव सुख-साधनों से सुख उत्पन्न हुआ मानता है। उस समय उसे सुख और सुख-साधन इन दोनों में परस्पर भेद प्रतीति होती है और वह भेदरूप व्यवहार करता है एवं सुख-साधनों का जहाँ सुख कहा है वहाँ सुख से, सुख साधन को अभेदरूप देखने की मुख्यता रहती है। यह तीसरे का और पहले का परस्पर अर्थ भेद हुआ। तीसरे व दूसरे में परस्पर क्या भेद है? इसका उत्तर—

राग की कृति को तीसरे प्रकार का सुख कहते हैं और द्वेष की कृति को दूसरे प्रकार का सुख कहते हैं। दु:ख से तथा दु:खसाधनों से जीव द्वेष करता है, इसलिए द्वेष का फल यह होता है कि दु:खों को और दु:ख के साधनों को जीव दूर करता है। दु:ख तथा दु:ख साधन दूर होते ही जीव अपने को सुखी मानने लगता है। यहाँ पर सुख साधनों के संयोग की अपेक्षा नहीं की जाती है और जो तीसरे प्रकार से सुख कहा है वह रागात्मक है। उसमें सुख साधनों की संयोग की अपेक्षा रहती है। अर्थात् एक तो सुख ऐसा होता है कि जिसमें अनिष्ट संयोग दूर करने की जीव की प्रवृत्ति रहती है और जीव अनिष्ट संयोग के दूर होने से अनिष्ट संयोगजन्य फल का अभाव हुआ मानता है। दूसरा सुख ऐसा होता है कि उसके लिए जीव इष्ट संयोग करने की तरफ प्रवृत्ति करने लगता है और इष्ट संयोग होने पर उस इष्ट संयोग का अपने में फल प्राप्त हुआ मानता है। इन दोनों प्रकार के सुखों में से जो पहले प्रकार का है वह वेदना के अभावरूप दूसरे भेद में गर्भित किया गया है। जो दूसरे प्रकार का है वह सुख, तीसरे भेद में गर्भित होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्दोष मोक्षसुख—

कर्मक्लेश-विमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम्॥ 49॥

अर्थ—कर्मजन्य क्लेशों से छुटकारा हो जाने के कारण मोक्षावस्था में जो सुख होता है वह अनुपम सुख है। यह सुख का चौथा भेद है। पहले तीनों सुख आभिमानिक (काल्पनिक) हैं, नश्वर हैं, पराधीन हैं, ज्ञानादि सुख-साधनों के घातक हैं, वास्तविक रूप में वे दु:ख ही हैं। मोक्षावस्था का सुख आभिमानिक नहीं है, अविनश्वर है, स्वाधीन है, ज्ञानादि सुख-साधनों का अविनाभावी है और पोषक है, इसलिए यही परम और सच्चा सुख है।

अन्य मत में निर्वाण का स्वरूप एवं उसका निराकरण—

सुषुप्तावस्थया[1] तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम्।
तदयुक्तं क्रियावत्वात् सुखातिशयतस्तथा॥ 50॥
श्रम-क्लेम-मद-व्याधि-मदनेभ्यश्च सम्भवात्।
मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मण:॥ 51॥

अर्थ—कुछ लोग सुषुप्ति के समान निर्वाणावस्था को मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना असंगत है, क्योंकि सुषुप्तावस्था जिस प्रकार ज्ञानक्रिया को रोकनेवाली मानी जाती है, वैसी निर्वाण अवस्था ज्ञानक्रिया को रोकनेवाली नहीं होती। जो आज पर्यन्त कभी ज्ञान नहीं हुआ वह ज्ञान मुक्त जीव को रहता है, इसलिए ज्ञानक्रिया प्रवर्तती है। सुषुप्ति का अर्थ गाढ़निद्रा है। उसमें ज्ञान साधकभूत मन का और इन्द्रियों का, विषयों से विराम हो जाना माना है, इसलिए उसके समय क्रिया का निरोध है। जहाँ ज्ञान, दर्शन का निरोध होगा वहाँ सुख का संकल्प भी नहीं हो सकता है। सुख का संकल्प ज्ञान का अविनाभावी है, इसलिए सुषुप्ति के समय जब कि ज्ञान का अभाव मान लिया है तो जागृत अवस्था के बराबर भी वहाँ सुख नहीं कहा जा सकता है। अत: साधारण सुख की जो दशा ह्रास करती है वह सुख की अत्यन्त वृद्धि करनेवाली निर्वाण अवस्था के तुल्य कैसे हो सकती है? मोक्षावस्था में श्रम नहीं, मद नहीं, क्लेद नहीं, आधि-व्याधि नहीं, मदनोद्रेक नहीं, मोह नहीं, और दर्शनावरण कर्म का उदय नहीं, पर सुषुप्ति में ये सभी बातें रहती हैं।

मोक्षसुख की निरुपमता—

लोके तत्सदृशो ह्यर्थ: कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।
उपमीयते तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम्॥ 52॥

अर्थ—सम्पूर्ण जग में मोक्षसुख के समान दूसरा कोई पदार्थ नहीं है जिससे कि इसकी तुलना कर सकें, इसलिए मोक्षसुख को ऋषि, महर्षियों ने निरुपम माना है।

---

1. दूसरे मतों में सुषुप्ति समय ज्ञान का अभाव माना है। जैन सिद्धान्त में दर्शनावरण का उदय होना माना गया है। दर्शनोपयोग के बिना नवीन ज्ञान का होना असम्भव है, इसलिए सुषुप्तावस्था में ज्ञान का अभाव मानना अनुचित नहीं है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

युक्ति मोक्ष सुख की निरुपमता—

लिंगप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः।
अलिंगं चाप्रसिद्धं यत् तत् तेनानुपमं स्मृतम्॥ 53॥

अर्थ—अनुमान तथा उपमान प्रमाण की प्रामाणिकता-असलियत उनके लिंगों की प्रसिद्धि के अधीन है अर्थात् धूम आदि हेतु और सादृश्य रूपलिंग का जब चक्षु आदि से साक्षात्कार हो जाता है उस समय अनुमान और उपमान प्रामाणिक गिने जाते हैं, परन्तु मोक्ष पदार्थ इन्द्रियों के अगोचर है तथा अगोचरता से उसके सादृश्य का भी ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए मोक्ष अनुपम पदार्थ है। वह उपमान ज्ञान के विषयभूत नहीं हो सकता—समस्त पदार्थों से वह एक विजातीय विलक्षण ही पदार्थ है।

मोक्ष सुख की वचन बद्धता—

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैः प्रभाषितम्।
गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्मस्थपरीक्षया॥ 54॥

अर्थ—वह सुख अर्हत् केवली भगवान् को साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। उन्हीं के कहने से परम्परया आचार्यों ने भी माना है कि मोक्ष में निरुपम सुख है। अल्पज्ञ मनुष्य उसकी परीक्षा करके जब ठहरावे तभी मानना चाहिए—यह बात ठीक नहीं है। अत्यन्त परोक्ष वस्तुओं को भला अल्पज्ञानी क्या ठहरा सकता है? यदि कोई अनुमान अथवा उपमान द्वारा उसे ठहराना चाहें तो उसका सामान्य स्वरूपमात्र ठहर सकेगा। विशेषरूप ज्ञान प्रत्यक्ष के बिना नहीं होता, इसलिए साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञ केवली के वचनों से प्रतीति करनी चाहिए।

मोक्ष तत्त्व के श्रद्धान का फल—

इत्येतन्मोक्षतत्त्वं[1] यः श्रद्धत्ते वैत्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत्॥ 55॥

अर्थ—इस प्रकार इस मोक्षतत्त्व का जो छहों तत्त्वों के साथ सम्यक् श्रद्धान करता है, उन्हें सम्यक् जानता है और हेयोपादेयता की कल्पना छोड़कर इनमें मध्यस्थ बनता है वही निर्वाण को पा सकता है।

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य रचित तत्त्वार्थसार में मोक्षतत्त्व का कथन करनेवाला धर्मश्रुतज्ञान हिन्दी टीका में आठवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

---

1. मोक्ष प्रकरण में सिद्धस्थान का वर्णन करनेवाले दो श्लोक कहीं-कहीं पर अधिक दिख पड़ते हैं। वे ये हैं—"तन्वीमनोज्ञा सुरभिः, पुण्या परमभासुरा। प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता॥1॥ त्रिलोकतुल्यविष्कम्भा सितच्छत्रनिभा शुभा। ऊर्ध्वतस्थाः क्षितेः सिद्धा लोकान्ते समवस्थिता॥2॥ अर्थ—अतिसूक्ष्म, मनोज्ञ, पुण्यपरमाणुओं से बनी हुई परम देदीप्यमान इस लोक के अन्त में पृथ्वी है। उसका नाम प्राग्भारपृथ्वी है। त्रिलोक के तुल्य वह पसरी हुई है। सफेद छत्र के समान धवलवर्ण तथा ऊर्ध्वमुख छत्र के आकार के समान है, अति शुभ है। उस पृथ्वी भाग के ऊपर लोक के अन्त में मुक्त जीव जाकर ठहरते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नौवाँ अधिकार

ग्रन्थ का सारांश

सात तत्त्वों को जानने के उपाय—

प्रमाण-नय-निक्षेप-निर्देशादि-सदादिभिः।
सप्ततत्त्वमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत्॥ 1॥

अर्थ—सात तत्त्वों का स्वरूप क्रम से जो कहा है उसे प्रमाण के द्वारा, नय के द्वारा, निर्देशादि तथा सत् आदि अनुयोगों के द्वारा जान कर मोक्षमार्ग में प्रवेश करना चाहिए। प्रमाणादिकों का स्वरूप प्रथम प्रकरण में कह चुके हैं, मोक्षमार्ग का स्वरूप भी कहा जा चुका है।

मोक्षमार्ग का क्रम—

निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥ 2॥

अर्थ—मोक्षमार्ग के दो भेद हैं—निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग। अन्तिम दशा में प्राप्त होनेवाले सम्पूर्ण प्रयत्न की फलस्वरूप अवस्था को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। व्यवहार मोक्षमार्ग इस निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है।

निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्व-ज्ञान-वृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः॥ 3॥

अर्थ—शुद्ध निजात्मा का अभेदरूप से श्रद्धान करना, उसे अभेदरूप से ही जानना और अभेदरूप से ही उसमें लीन होना—इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय की प्रवृत्ति होती है वह निश्चय मोक्षमार्ग है।

व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः याः पुनः स्युः परात्मनाम्।
सम्यक्त्व-ज्ञान-वृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः॥ 4॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र भेद की मुख्यता से प्रकट हो रहा हो उस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को व्यवहार मोक्षमार्ग समझना चाहिए। अर्थात् उसी एक तत्त्व का व्यवहार रत्नत्रय में भी प्रकाश होता है और उसी का निश्चय रत्नत्रय में भी प्रकाश होता है परन्तु जबतक भेदरूप से होता है तब तक उसे व्यवहाररूप कहते हैं। जब वह अभेदरूप से होता है तब उसे निश्चयरूप कहा जाता है।

व्यवहारावलम्बी की प्रवृत्ति—

श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानः तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः॥ 5॥

अर्थ—जो सातों तत्त्वों का भेदरूप से श्रद्धान करता है और वैसे ही भेदरूप से उसे जानता है तथा वैसे ही भेदरूप से उसे उपेक्षित करता है, उसे व्यवहारावलम्बी मुनि कहते हैं।

निश्चयावलम्बी का स्वरूप—

स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानः तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः॥ 6॥

अर्थ—जो श्रद्धानमय आत्मा को बना लेता है और ज्ञानमय भी आत्मा को ही बना लेता है अथवा ज्ञान ही ज्ञानरूप जिसे आत्मा भासने लगता है; एवं उपेक्षा रूप ही जिसके आत्मा की प्रवृत्ति हो जाती है वह श्रेष्ठ मुनि निश्चयावलम्बी, निश्चयरत्नत्रययुक्त माना जाता है।

निश्चयी का अभेद समर्थन—

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः।
स्वस्थो दर्शन-चारित्रमोहाभ्यामनुपप्लुतः॥ 7॥

अर्थ—जो जानता है वह आत्मा है। जानता है ज्ञान, इसलिए ज्ञान ही आत्मा है। इसी प्रकार जो सम्यक् श्रद्धान करता है वह श्रद्धानी या आत्मा कहलाता है। श्रद्धान करता है सम्यग्दर्शन, इसलिए वही श्रद्धानी है, वही आत्मा है। जो उपेक्षित होता है वह आत्मा है। उपेक्षित होता है उपेक्षागुण, इसलिए वही आत्मा है अथवा वह आत्मा ही है। यह अभेदरूप रत्नत्रय का स्वरूप है। ऐसी अभेदरूप स्वस्थ दशा उसी तपस्वी की हो सकती जो दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उदयाधीन नहीं रहता है।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष का कारण रत्नत्रय को बताया है। उन रत्नत्रय को मोक्ष का कारण मानकर उसी के स्वरूप को जानने की जब तक इच्छा रहती है तब तक साधु उस रत्नत्रय को विषयरूप मानकर उसी का चिन्तवन करता है। जब तक ऐसी दशा रहती है तब तक अपने विचार से रत्नत्रय भेदरूप ही जान पड़ता है। इसीलिए इस साधु के उस प्रयत्न को भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं। वह व्यवहार की दशा है। ऐसी दशा में रत्नत्रय का अभेदरूप नहीं हो सकता है, परन्तु ऐसी दशा जब तक न हो अथवा इस प्रकार जब तक साधु व्यवहार रत्नत्रय को समझ न ले तब तक रत्नत्रयमय निश्चय दशा कैसे प्राप्त

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती है? इसलिए इस दशा की उत्पत्ति प्रथमावस्था में मानी गयी है और उत्तर की निश्चय दशा का कारण मानी गयी है।

यह दशा हो जाने पर जब साधु स्वतत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र करने लगता है तब वह सम्यग्दर्शनमय, सम्यग्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय स्वयमेव हो जाता है। वह अपने से अभेदरूप रत्नत्रय की दशा है और वही यथार्थ वीतराग दशा होने से निश्चयरत्नत्रयरूप कहलाती है।

इस अभेद-भेद का तात्पर्य समझ जाने पर यह बात भी माननी पड़ेगी कि व्यवहार रत्नत्रय यथार्थरत्नत्रय[1] नहीं है, इसीलिए इसे गौण कहते हैं। गौण होने पर भी प्रथम यही उत्पन्न होता है, इसलिए वह उत्तर के लिए उपयोगी है और वर्तमान समय में उपादेय है परन्तु साधु इसमें लगा रहे तो उसका यह व्यवहार मार्ग मिथ्यामार्ग है, निरुपयोगी है। कहना चाहिए कि उसने उसे गौण रूप से न जानकर यथार्थरूप जान रखा है। जो जिसे यथार्थरूप से जाना हुआ मानता है, वह उसे कभी छोड़ता नहीं है, इसीलिए उस साधु का वह व्यवहार मार्ग मिथ्यामार्ग है अथवा अज्ञानरूप संसार का कारण है।

इस प्रकार जो साधु व्यवहार को गौण समझकर उसका आलम्बन करना ही नहीं चाहता है वह उभयभ्रष्ट है। उसे व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती है और व्यवहार को गौण मानकर आलम्बन ही नहीं करता है। जो व्यवहार को गौण समझकर आलम्बन नहीं करता वह निश्चय तक पहुँच नहीं पाता—यह बात यद्यपि निर्विवाद है तो भी वह मात्र निश्चय का ही बातों-बातों में आलम्बन करना चाहता है, इसलिए उसे उभयभ्रष्ट[2] कहा है।

ऊपर के श्लोकों में अभेदरूप रत्नत्रय का स्वरूप कृदन्त शब्दों द्वारा कृत—भावसाधन शब्दों का अभेद दिखाकर सिद्ध किया। अब आगे क्रियापदों द्वारा कर्ता-कर्मभाव आदिकों में सर्व कारकों के रूप दिखाकर अभेद सिद्ध करते हैं।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप कर्ता के साथ अभेद—

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव स स्मृतः॥ 8॥

अर्थ—जो अपने निज स्वरूप को देखता है, जो अपने जिन स्वरूप को जानता है और जो अपने निज स्वरूप के अनुसार प्रवृत्ति करता है वह आत्मा ही है; इसलिए आत्मा ही दर्शनज्ञानचारित्र रत्नत्रयरूप है।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप कर्म के साथ अभेद—

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव तन्मयः॥ 9॥

अर्थ—जिस निज स्वरूप को देखा जाता है, जिस निज स्वरूप को जाना जाता है और जिस निज स्वरूप को धारण किया जाता है, वही दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु तन्मय आत्मा ही तो है इसलिए आत्मा ही अभेदरूप से रत्नत्रयरूप है।

---

1. निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थं। पु.सि., श्लो. 5
2. निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते नाशयति करणचरणः स बहिःकरणालसो बालः॥ पु.सि., श्लो. 50

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा, रत्नत्रय-रूप करण के साथ अभेद—

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव तन्मयः ॥ 10 ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूप द्वारा देखा जाता है, जिस निज स्वरूप द्वारा जाना जाता है और जिस निज स्वरूप द्वारा स्थिरता होती है, वही दर्शन-ज्ञान-चारित्र नामवाला रत्नत्रय है। वह दूसरी कोई चीज नहीं है, किन्तु तन्मय आत्मा ही है। अथवा आत्मा उस रत्नत्रय से जुदा नहीं है, किन्तु तन्मय ही है।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप सम्प्रदान के साथ अभेद—

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव तन्मयः ॥ 11 ॥

अर्थ—आत्मा अपने जिस निज स्वरूप के लिए देखता है, जानता है और आचरण करता है, वही दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। आत्मा इन तीनों स्वरूप ही है।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप अपादान के साथ अभेद—

यस्मात्पश्यति जानाति स्वस्वरूपाच्चरत्यपि।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव तन्मयः ॥ 12 ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूप से देखता है,जिस निज स्वरूप से जानता है और जिस निज स्वरूप से प्रवर्तता है वही दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय है। वह दूसरा कुछ नहीं है, किन्तु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप सम्बन्ध के साथ अभेद—

यस्य पश्यति जानाति स्वरूपस्य चरत्यपि।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव तन्मयः ॥ 13 ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूप के सम्बन्ध को देखता है, जिस निज स्वरूप के सम्बन्ध को जानता है और जिस निज स्वरूप के सम्बन्ध की प्रवृत्ति करता है वही दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु वह आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरी चीज नहीं है। आत्मा ही तन्मय होता है।

---

1. अपादान वहाँ पर कहा जाता है जहाँ पर कि कोई कर्म किसी जगह से हटकर करना हो। जहाँ से हटना होता है उसी को अपादान कहते हैं, जब कि देखने जानने आदि का ही नाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र है तो वहाँ पर देखने आदि का स्वयं हटाना कैसे सम्भव हो सकता है? और जिससे हटना माना जाएगा वह चीज दर्शनादिरूप नहीं कही जा सकेगी। इसलिए अपादान का स्वरूप यहाँ कैसे सम्भव हो सकता है?

   इस का उत्तर यह है कि कारकों की कल्पना विवक्षाधीन होती है। ऐसा कहा भी है कि "विवक्षाधीना हि कारकप्रवृत्तिः। अब रही बात यह कि यहाँ विश्लेष कैसे सम्भव हो सकता है? इस का उत्तर भी यही है कि भेद की विवक्षा बुद्धि द्वारा ही सिद्ध हो जाती है। जैसे सर्प से डरते समय बुद्धि में ही विश्लेष हो जाता है वैसे ही यहाँ पर भी पदार्थ पदार्थ का विश्लेष नहीं, किन्तु बुद्धि का विश्लेष है। दूसरी बात यह भी है कि ल्यबन्त शब्द का यहाँ अध्याहार माना जाए तो बिना विश्लेष के भी अपादानता सिद्ध हो जाती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा, रत्नत्रय-रूप अधिकरण के साथ अभेद—

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव तन्मयः॥ 14॥

अर्थ—जिस निज स्वरूप में देखता है, जिस निज स्वरूप में जानता है और जिस निज स्वरूप में स्थिर होता है वही दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मा से कोई भिन्न चीज नहीं है, किन्तु आत्मा ही तन्मय होता है।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप क्रिया के साथ अभेद—

ये स्वभावाद् दृशि-ज्ञप्ति-चर्यारूपक्रियात्मकाः।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव तन्मयः॥ 15॥

अर्थ—जो देखनरूप, जाननरूप और चारित्ररूप क्रियाएँ होती हैं वही दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है, वे क्रियाएँ आत्मा से जुदी चीज नहीं हैं। तत्-तत् रूप आत्मा ही परिणत हुआ मानना चाहिए। अथवा आत्मा उनसे कोई निराली चीज नहीं है, तन्मय ही आत्मा है।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप गुण के साथ अभेद—

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-गुणानां य इहाश्रयः।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव स स्मृतः॥ 16॥

अर्थ—जो यहाँ पर दर्शनज्ञानचारित्र गुणों का आश्रय है, वही दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रय है। आत्मा से दर्शनादि गुण कोई जुदी चीज नहीं हैं, आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिए अथवा आत्मा तन्मय ही है।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप पर्यायों के साथ अभेद—

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-पर्यायाणां य आश्रयः।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयमात्मैव स स्मृतः॥ 17॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्यायों का जो आश्रय होता है वही दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मा से कोई जुदी चीज नहीं है। आत्मा ही तन्मय हुआ रहता है।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप प्रदेश के साथ अभेद—

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-प्रदेशा ये प्ररूपिताः।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयस्यात्मन एव ते॥ 18॥

अर्थ—दर्शन के, ज्ञान के, चारित्र के जो प्रदेश बताये गये हैं आत्मा के प्रदेशों से कोई भिन्न नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा के ही वे प्रदेश हैं। अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र के प्रदेशरूप ही आत्मा है और वही रत्नत्रय है। जिस प्रकार आत्मा के प्रदेश और रत्नत्रय के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं, उसी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार परस्पर में भी दर्शनादि के प्रदेश जुदे-जुदे नहीं हैं, इसीलिए आत्मा और रत्नत्रय परस्पर में भिन्न-भिन्न नहीं हैं, किन्तु आत्मा तन्मय है।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप अगुरुलघु के साथ अभेद—

दर्शन-ज्ञान-चारित्रागुरुलघ्वा हि या गुणाः।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयस्यात्मन एव ते॥ 19॥

अर्थ—अगुरुलघु नाम गुण के रहने से वस्तु के भीतर जितने गुण होते हैं वे सीमा से अधिक अपनी हानि तथा वृद्धि नहीं कर पाते हैं। यही अगुरुलघु गुण का प्रत्येक द्रव्य में प्रयोजन रहता है। उस गुण के निमित्त से जो यावत् गुणों में सीमा का उल्लंघन नहीं होता उसको भी अगुरुलघु ही कहते हैं, इसलिए यहाँ पर अगुरुलघु को दर्शनादिकों का विशेषण कहना चाहिए।

अर्थात्, अगुरुलघुरूप प्राप्त होनेवाले जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं वे आत्मा से जुदे नहीं हैं और परस्पर में भी जुदे-जुदे नहीं हैं, किन्तु दर्शनज्ञानचारित्ररूप जो रत्नत्रय है उसी के वे स्वरूप हैं और तन्मय ही हैं। उसी अगुरुलघुरूप रत्नत्रयमय आत्मा है। क्योंकि, आत्मा के वे अगुरुलघुस्वभाव हैं और आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है, इसलिए आत्मा से वे सब अभिन्न हैं।

आत्मा, रत्नत्रय-रूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के साथ अभेद—

दर्शन-ज्ञान-चारित्र ध्रौव्योत्पादव्ययास्तु ये।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयस्यात्मन एव ते॥ 20॥

अर्थ—दर्शनज्ञानचारित्र में जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं वे सब आत्मा के ही हैं। क्योंकि दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप जो रत्नत्रय है वह आत्मा से भिन्न नहीं है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ही आत्मा है। अथवा दर्शनज्ञानचारित्र आत्मामय ही है, इसलिए जो रत्नत्रय के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं वे उत्पादव्ययध्रौव्य भी आत्मा के ही हैं और परस्पर में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भी अभिन्न ही हैं। जब कि रत्नत्रय के जितने विशेषण हैं वे सभी आत्मा के हैं और आत्मा से अभिन्न हैं तो रत्नत्रय को भी आत्मस्वरूप ही मानना चाहिए।

इस प्रकार अभेदरूप से जो निजात्मा के दर्शन, ज्ञान, चरित्र होते हैं वे निश्चय रत्नत्रय हैं। उनके समुदाय को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। इसी मोक्षमार्ग को तथा इसी रत्नत्रय को कर्ता, कर्मादि भेदपूर्वक माना जाए तो व्यवहार रूप हो जाते हैं। इसलिए ऊपर के जितने श्लोक निश्चय रत्नत्रय को दिखानेवाले हैं वे व्यवहार को भी दिखाते हैं।

आत्मा में निश्चय, व्यवहार रत्नत्रय मानने का तात्पर्य—

(शालिनी-छन्द)

स्यात् सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्ररूपः
पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः
स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥ 21 ॥

अर्थ—जो जीव को सम्यग्दर्शनरूप, सम्यग्ज्ञानरूप तथा सम्यक्चारित्ररूप अलग-अलग पर्यायों द्वारा अलग-अलग हुआ मानना है वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से मोक्षमार्ग है। इन सभी पर्यायों में ज्ञाता जीव सदा एक ही रहता है। पर्याय तथा जीव में कोई वस्तु भेद नहीं है। इस प्रकार रत्नत्रय से आत्मा को अभिन्न देखना द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से मोक्षमार्ग है।

अर्थात् रत्नत्रय जीव से अभिन्न है अथवा भिन्न है ऐसा मानना द्रव्यार्थिक का तथा पर्यायार्थिक का स्वरूप है, परन्तु रत्नत्रय में भेदपूर्वक अथवा अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना व्यवहार तथा निश्चय मोक्षमार्ग है। इससे ऊपर के श्लोकों में निश्चय रत्नत्रय का जो समर्थन किया है उसका भी यही तात्पर्य है कि भेदाभेद प्रवृत्ति को व्यवहार तथा निश्चयरूप रत्नत्रय कहना चाहिए और रत्नत्रय के भेदाभेदरूप मानने को पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक नय कहना चाहिए।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थ का प्रयोजन

(वसन्ततिलका छन्दः)—

तत्त्वार्थसारमिति यः समधीर्विदित्वा
निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः।
संसार-बन्धमवधूय स धूतमोह-
श्चैतन्यरूपमचलं शिवतत्त्वमेति॥ 22 ॥

अर्थ—संसार से उपेक्षित हुआ जो बुद्धिमान प्राणी इस तत्त्वार्थसार ग्रन्थ को अथवा तत्त्वार्थ के सार को उक्त प्रकार से समझकर निश्चलता के साथ मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होगा, वह मोह का नाश करता हुआ, संसार-बन्धन को दूर करके निश्चल चैतन्यस्वरूपी मोक्षत्व को प्राप्त करता है।

ग्रन्थकर्ता की नम्रता—

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम्॥ 23 ॥

अर्थ—वर्णों से पद बन गये हैं। पद वाक्यों को बनानेवाले हैं। वाक्यों से यह शास्त्र बन गया है। कोई यह न समझे कि हमने (अमृतचन्द्राचार्य ने) इस शास्त्र को रचा है।

टीकाकार की विनम्र-अभिव्यक्ति—जब कि सम्पूर्ण लेखन ग्रन्थकार का है, फिर भी वह अपनी नम्रता प्रकट कर रहा है, हम सिद्धान्त को न समझते हुए ही इस ग्रन्थ का थोड़ा-सा तात्पर्यार्थ दिखाकर कर्तृत्व का परिहार और अधिक किन शब्दों में कहें? इसलिए हम अब यही कहेंगे कि यदि हमारे लिखने में कुछ तात्पर्यार्थ सत्य हो तो वह हमारे गुरु, जो बीसवीं सदी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्र चक्रवर्ती

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री शान्तिसागरजी महाराज के तृतीय पट्टाधीशाचार्य शिरोमणि श्री धर्मसागरजी महाराज एवं उन्हीं के गुरुभ्राता मम शिक्षागुरु आचार्यकल्प, बहुश्रुतगामी श्रुतसागरजी की ही कृपा है। गुणभद्राचार्य ने कहा ही है कि जो कुछ दिया है, गुरु ने दिया है—

गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः।
तरूणां हि स्वभावोऽयं यत्फलं स्वादु जायते॥

''इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः तत्त्वार्थसारो नाम मोक्षशास्त्रं समाप्तम्।''

॥ इति॥

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य रचित तत्त्वार्थसार नामक मोक्षशास्त्र ग्रन्थ उपसंहार तत्त्व का कथन करनेवाला ग्रन्थ धर्मश्रुतज्ञान नामक हिन्दी टीका में नौवें अध्याय सहित सम्पूर्ण हुआ।

❑❑❑

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पद्यानुक्रमणिका

	पद्य क्र.		पद्य क्र.
अकस्माच्च न बन्धः स्याद्	8.10	अनुक्तस्य ध्रुवस्यातः	1.22
अकामनिर्जरा बाल-	4.42	अनुगोऽननुगामी च	1.26
अकालाधीतिराचार्यों	4.15	अनुदीर्णं तपःशक्त्या	7.4
अजस्रं जीवाघातित्वं	4.31	अनुप्रवृत्तिः सामान्यं	1.39
अणु-स्कन्ध-विभेदेन	3.56	अनुभूय क्रमात्कर्म	7.6
अतस्तु गतिवैकृत्यं	8.33	अनुवीचिवचश्चेति	4.65
अतिक्रमे विरुद्धे च	4.88	अनेक कार्यकारित्वं	6.28
अतिथेः संविभागश्च	4.81	अनेक प्रतिमास्थानं	7.13
अथ तत्त्वार्थसारोऽयं	1.2	अन्तर्नीतैकसमया	3.41
अथ सत्संख्या-क्षेत्र	1.53	अन्तरायस्य वैचित्र्याद्	5.41
अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च	8.34	अन्त्यमापेक्षिकं चेति	3.65
अधो भागे हि लोकस्य	2.179	अन्त्यापेक्षिक भेदेन ज्ञेयं	3.66
अधो वेत्रासनाकारो	2.177	अन्नपानौषधीनां तु विवेकः	7.25
अनगारस्तथाऽगारी	4.79	अन्यत्रानपमृत्युभ्यः	2.134
अनन्तकेवलज्योतिः	3.1	अन्यः सचेतनो जीवो	6.35
अनन्तकेवलज्योतिः	4.1	अन्याः पञ्च नव द्वे च	5.23
अनन्तकेवलज्योतिः	5.1	अन्यासाधारणा भावाः	2.2
अनन्तकेवलज्योतिः	6.1	अन्योन्योदीरितासह्य	2.185
अनन्तकेवल ज्योतिः	7.1	अपरं च व्रतं तेषां	4.82
अनन्तकेवलज्योतिः	8.1	अपूर्वकरणं कुर्वन्	2.25
अनन्तपरमाणूनाम्	3.57	अभावाद् बन्धहेतूनां	8.2
अनन्तानन्त-जीवानाम्	2.1	अभावो योऽभिमानस्य	6.15
अनन्यभूतस्तस्य स्याद्	2.9	अभिव्यक्तप्रतीकारं	7.23
अनादरार्थश्रवण माल	4.14	अभ्युत्थानानुगमनं	7.34
अनादि नित्य सम्बन्धात्	5.17	अर्थव्यञ्जन योगानां	7.47
अनादि बन्धनोपाधि	7.3	अर्थव्यञ्जन योगानां विचारः	7.49
अनित्यं शरणाभावो	6.29	अर्थसंकल्पमात्रस्य	1.44

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानां	8.13	आद्यभावान्नभावस्य	8.6
अल्पक्षेत्रे स्थितिर्दृष्टा	3.29	आभ्यन्तरं भवेत्कृष्ण	2.43
अल्पसंक्लेशता दानं	4.41	आम्नाय: कथ्यते घोषो	7.19
अल्पेऽधिकरणे द्रव्यं	3.28	आयु: कर्मसमुच्छेदाद्	8.39
अवगाहन-सामर्थ्यात्	3.26	आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत्	5.45
अवग्रहस्ततस्त्वीहा	1.21	आरणाच्युतनामानौ	2.229
अवश्यायो हिमबिन्दुस्	2.63	आर्यम्लेच्छ-विभेदेन	2.212
अविग्रहैक समया	2.100	आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च	7.35
अवितर्कमवीचारं	7.51	आलोचनं प्रतिक्रान्ति:	7.21
अवितर्कमवीचारं	7.53	आवेष्ट्य धातकीखण्ड	2.191
अविशेषात्सदसतो	1.36	आहार-देह-करण	2.32
अव्यवस्था न बन्धस्य	8.8	आहारस्य भयस्यापि	2.36
अव्याघाती शुभ: शुद्ध:	2.78	इति प्रवर्तमानस्य	6.22
अष्टधाष्टगुणात्मत्वात्	2.237	इति यो निर्जरातत्त्वं	7.60
अष्टधा स्पर्शनामापि	5.35	इति संवर तत्त्वं य:	6.52
असत्कार-पुरस्कारं	6.25	इति संसारिणां क्षेत्रं	2.233
असद्गुणानामाख्यानं	4.53	इतीहाजीव तत्त्वं य:	3.77
असमीक्ष्याधिकरणं	4.93	इतीहास्रवतत्त्वं य:	4.105
असर्वपर्यायेष्वत्र	1.32	इत्येतज्जीवतत्त्वं य:	2.238
असंख्यात तमो भागो	2.145	इत्येतद् बन्धतत्त्वं य:	5.54
असंख्येय गुणौ स्याताम्	2.73	इत्येतन्मोक्ष तत्त्वं य:	8.55
असंख्येय समायुष्का:	2.135	इत्येता: परिकीर्त्यन्ते	4.64
असंज्ञिनस्तथा मत्स्या:	2.121	इत्थं प्रवर्तमानस्य	6.12
असावनुभवो ज्ञेयो	5.47	इत्वर्योर्गमनं चैव	4.89
अस्त्यानाहारकोऽयोग:	2.95	इन्द्रियं लिङ्गमिन्द्रस्य	2.39
अस्मिन्नानयनं देशे	4.92	इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं	6.18
आकारभावतोऽभावो	8.15	इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षाम्	1.17
आकाशन्ते ऽत्र द्रव्याणि	3.37	इयत्तां नातिवर्तन्ते	3.15
आक्रोशश्च वधश्चैव	6.24	ईर्यापथं तु तच्छुष्क	3.7
आज्ञापाय-विपाकानां	7.39	ईर्याभाषैषणादान	6.6
आतपोऽपि प्रकाश: स्याद्	3.71	उच्चैर्गोत्रं शुभायूंषि	5.52
आत्मन: परिणामो य:	2.46	उच्छ्वास आतपोद्योतौ	5.38
आत्मनोऽपि तथैवेषा	4.4	उत्करश्चूर्णिका चूर्ण:	3.72
आत्मरक्षास्तथा लोक	2.219	उत्कृष्टतामानता शैल	4.30
आत्मना वर्तमानानां	3.42	उत्तरा दक्षिणैस्तुल्या	2.199
आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं	9.7	उत्पत्तिश्च विनाशश्च	8.36
आत्मादिरात्ममध्यश्च	3.59	उत्पद्यन्ते सहस्रारे	2.165

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न-केवलज्ञानो	2.29	औदारिकादि कार्याणां	5.15
उत्पादः खलु देवीनां	2.81	औदारिको वैक्रियिकः	2.71
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ	2.208	औदारिको वैक्रियिकस्तथा	2.72
उपघ्नातस्य घोरेण	6.32	कथं मार्गं प्रपद्येन्नमी	7.41
उपरिष्टान्महीभागात्	2.224	कनकार्जुन-कल्याण	2.196
उपरोधाविधानं च	4.66	कर्मणां स्थूलभावेन	2.26
उपशान्तकषायः स्यात्	2.28	कर्मनोकर्मबन्धो यः	3.68
उपात्तकर्मणः पातो	7.2	कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोऽसौ	6.37
उपादेयतया जीवो	1.7	कल्पोपपन्नास्तथा	2.218
उभौ निरुपभोगौ तौ	2.74	कषायेषु प्रशान्तेषु	6.48
उभौ लान्तव-कापिष्टौ	2.228	कस्यचिच्छृंखला मोक्षे	8.19
उरगाणां द्विसंयुक्ता	2.118	कस्यापत्यं पिता कस्य	6.34
उष्णः शीतश्च देवानां	2.108	कात्स्न्र्येन विरति पुंसां	4.61
ऊर्ध्वगौरव-धर्माणो	8.32	कापोतनील लेश्यात्वम्	4.39
ऊर्ध्वभागे हि लोकस्य	2.226	कामभोगाभिलाषाणां	4.32
ऋजुत्वमीषदारम्भ	4.40	काययोगेऽतिसूक्ष्मे तद्	7.52
ऋजुसूत्रः स विज्ञेयो	1.47	कायवाङ्मनसां कर्म	4.2
एकः क्रोशो जघन्यासु	2.138	कायाक्षायूंषि सर्वेषु	2.35
एकद्वित्र्याद्यसंख्येय	5.48	काललिंग-गति-क्षेत्र	8.41
एकस्य जीवद्रव्यस्य	3.19	कालव्यतिक्रमोऽन्यस्य	4.97
एकवस्तुदशागार	7.12	कटलस्य परमाणोश्च	3.21
एकं त्रीणि तथा सप्त	2.123	किन्नराः किम्पुरुषाश्च	2.216
एकं द्वे त्रीणि पल्यानि	2.122	किंवा भवेन्न वा जैनो	5.5
एकाक्षाः बादराः सूक्ष्मा	2.30	कुतीर्थानां प्रशंसा च	4.19
एकाक्षेषु चतस्रः स्युः	2.33	कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी	2.54
एकाग्रत्वेऽतिचिन्ताया	7.38	कुलानां कोटि लक्षाणि	2.116
एकापवरकेऽनेकप्रकाश	3.27	कुलाल चक्रं दोलायाम्	8.28
एकैकवृत्त्या प्रत्येकम्	3.44	कूटलेखो रहोभ्याख्या	4.86
एकैकं बर्द्धयेदब्धिं	2.131	कृतादिभिस्त्रिभिश्चैव	4.11
एते धर्मादयः पञ्च	3.3	कृत्वा विशेषं गृह्णाति	2.11
एते परस्परापेक्षाः	1.51	कृत्रिमागुरुकर्पूर	4.36
एरण्डस्फुटदेलासु	8.30	कृष्ण नीला च कापोता	2.89
एवं भावयतः साधोः	6.43	कृष्णलेश्यापरिणतं	4.34
एषु वैमानिका देवा	2.231	कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं	8.26
ऐकान्तिकं सांशयिकं	5.3	केवलिश्रुतसंघानां	4.27
औदारिक शरीरस्थं	2.76	कोटीकोट्यः स्मृतास्त्रिंशत्	5.44
औदारिकं शरीरं स्याद्	2.77	क्रिया परिणतानां यः	3.33

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रिया हेतुत्वमेतेषां	3.39	चत्वारोऽर्थनया आद्यास्	1.43
क्रिरोलकाभ्रके चैक	2.60	चारित्र-परिणामानां	2.82
क्रोडी करोति प्रथमं	6.31	चैत्यस्य च तथा गन्ध	4.46
क्रोधोत्पत्ति निमित्तानाम्	6.14	छेदनं भेदनं चैव	4.21
क्रोधो मानस्तथा माया	5.28	जन्तवः सकषाया ये	4.5
क्षान्त्यादि लक्षणो धर्मः	6.42	जन्तुपीड़ा विमुक्तायां	7.14
क्षमामृद्वृजुते	6.13	जम्बूद्वीपं परिक्षिप्य	2.190
क्षयाच्चारित्रमोहस्य	6.49	जम्बूद्वीपोक्तसंख्याभ्यो	2.209
क्षुत्पिपासा च शीतोष्णे	6.23	जम्बूद्वीपोऽस्ति तन्मध्ये	2.188
गंगासिन्धू परीवारः	2.205	जयत्यशेषतत्त्वार्थ-	1.1
गंगासिन्धु उभे रोहिद्	2.202	जानतः पश्यतश्चोर्ध्वं	8.9
गतिर्भवति जीवानां	2.38	जीवत्वं चापि भव्यत्वं	2.8
गत्यक्ष-काययोगेषु	2.37	जीवस्य विग्रहगतौ	2.97
गर्भसूच्यां विनष्टायां	8.23	जीवानां पञ्चताकाले	2.98
गाढोऽपजीर्यते यद्वद्	6.39	जीवानां पुद्गलानां च	3.34
गुणस्य गुणिनश्चैव	5.20	जीवानां पुद्गलानां च कर्त्तव्ये	3.36
गुणो द्रव्यविधानं स्यात्	3.9	जीवानां पुद्गलानां च कालस्य	3.38
गुणैर्विना न च द्रव्यं	3.11	जीवे युगपदेकस्मिन्	1.34
गुप्तिः समितयो धर्मः	6.3	जीवोऽजीवास्रवौ बन्धः	1.6
गृह्णाति देह-पर्याप्ति	2.94	ज्योतिर्गतिपरिच्छिन्नो	3.49
गोत्र कर्म द्विधा ज्ञेयं	5.40	ज्योतिष्काणां स्मृताः सप्ता	2.139
गोत्रकर्मसमुच्छेदात्	8.40	ज्वालांगारास्तथार्चिश्च	2.64
घर्मायां सप्त चापानि	2.136	ज्ञान-चारित्र-शिक्षादौ	6.17
घर्मामसंज्ञिनो यान्ति	2.146	ज्ञान-दर्शनयो रोधौ	5.22
घर्मायाः प्रथमे भागे	2.222	ज्ञानमष्टविधं ज्ञेयं	2.13
घातिकर्मक्षयोत्पन्नं	1.31	ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यास	7.32
चक्षुर्दर्शनमेकं स्याद्	2.87	ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च	4.58
चतस्रो गतयो लेश्याः	2.7	ज्ञानावरणहानात्ते	8.37
चतस्रो गतयः पञ्च	5.31	ज्ञेयः समभिरूढोऽसौ	1.49
चतुर्गति घटीयन्त्रे	6.33	तक्रक्षीरघृतादीनाम्	4.38
चतुर्णां चक्षुरादीनां	5.25	ततः क्षीणकषायस्तु	7.57
चतुर्धा पर्यायार्थः	1.42	ततः परं तु ये देवास्	2.170
चतुर्भिरिन्द्रियैरन्यैः	1.24	ततः परं विकल्प्यन्ते	2.172
चतुर्विधस्य लोभस्य	6.17	ततो धूमप्रभाधस्तात्	2.181
चतुः कषाय-पञ्चाक्षैस्	4.8	ततोऽधो दशलक्षाणि	2.183
चत्वारो हि मनोयोगा	2.68	ततो निर्जीर्ण-निःशेषः	8.4
चत्वारो हि मनोयोगा	5.12	ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां	8.44

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्पर्यायादिभेदेन	1.25	दक्षिणेन्द्रास्तथा लोक	2.175
ततोऽन्तरायज्ञानध्न	8.22	दग्धे बीजे यथात्यन्तं	8.7
तत्पुनारूद्धयोगः सन्	7.54	दया दानं तपः शीलं	4.25
तत्त्वार्थसारमिति यः	9.22	दर्शन-ज्ञान-चारित्र	9.16
तत्त्वार्थस्यावबोधो हि	2.83	दर्शन-ज्ञान-चारित्र	9.17
तत्त्वार्थाः खल्वमी नाम	1.9	दर्शन-ज्ञान-चारित्र-ध्रौव्यो	9.20
तत्त्वार्थाः सर्व एवैते	1.14	दर्शन-ज्ञान-चारित्र-प्रदेशानां	9.18
तत्संशयापनोदाय	7.18	दर्शन-ज्ञान-चारित्र-गुरु	9.19
तत्र प्रवर्तमानस्य	6.5	दर्शन-ज्ञानविनयौ	7.30
तत्राधिकरणं द्वेधा	4.10	दर्शन-ज्ञानयुक्तस्य	7.33
तत्रैका खलु वर्णादि	3.70	दर्शनस्यान्तरायश्च	4.17
ततः क्षीणचतुकर्मा	8.24	दर्शनावरणस्य स्यात्	2.86
तथा च मूर्तिमानात्मा	5.19	दशधा भावना देवा	2.214
तथापि गौरवाभावात्	8.12	दशोनद्विशतीभक्तो	2.206
तथा सुखप्रभावाभ्याम्	2.232	दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो	4.80
तथौपशमिकादीनां	8.5	दिनान्येकोन्पञ्चाशत्	2.119
तदनन्तरमेवोर्ध्वात्मा	8.27	दुःखं शोको वधस्तापः	4.20
तपस्तु द्विविधं प्रोक्तं	7.7	दृङ्मोहक्षपकस्तस्मात्	7.56
तपस्तु वक्ष्यते तद्धि	6.51	दृश्यते येन रूपेण	9.10
तपस्विगर्हणं शील	4.24	देवानां नारकाणां च	1.27
तपस्वि-गुरु-चैत्यानां	4.55	देशसंयम-सम्यक्त्वे	2.5
तपो हि निर्जरा हेतुः	6.27	द्रव्यपर्यायरूपस्य	1.38
तादात्म्यादुपयुक्तास्ते	8.43	द्रव्यभावस्वभावानां	4.74
तानि द्वादश सार्द्धानि	2.114	द्रव्यमेकं तथैकेन	7.48
तामरिष्टांच सिंहास्तु	2.147	द्रव्यस्य कर्मणो यद् वद्	8.35
तिर्यग्व्यतिक्रमस्तद्	4.91	द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादश्	3.6
तीर्थेशरामचक्रित्वे	2.173	द्रव्याण्यनेकभेदानि	7.45
तीव्रमन्द-परिज्ञात	4.9	द्रव्याण्येतानि नित्यानि	3.14
तेष्वेवात्म-प्रदेशेषु	2.42	द्रव्यादिप्रत्ययं कर्म	7.42
तौ भवेतां क्वचिच्छुद्धौ	2.75	द्रव्यान्नपुंसकानि स्युः	2.80
त्रयस्त्रिंशत्समुद्राणां	2.132	द्व्यणुकाद्याः किलानन्ताः	3.76
त्रयाणां खलु कायानां	2.154	द्वयोर्द्वयोरुभौ सप्त	2.129
त्रायस्त्रिंशैस्तथा लोक	2.220	द्वयोस्त्रयश्च कल्पेषु	2.141
त्रिकोशः कथितः कुम्भी	2.144	द्वयोः सप्त द्वयोः षट् च	2.140
त्रिविधं जन्म जीवानां	2.103	द्वाविंशातिर्भुवां सप्त	2.117
त्रिंशन्नरकलक्षाणि	2.182	द्वाविंशतिस्तथा सप्त	2.112
त्रीणि दुष्प्रणिधानानि	4.94	द्विगुण द्विगुणा वर्ष	2.207

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

द्विगुणद्विगुणेनातो	2.189	नीचैर्वृत्यनुत्सेकः	4.54
द्विचतुयोजनं ज्ञेयं	2.200	नेत्रादीन्द्रिय संस्थानौ	2.41
द्विधा वेद्यमसद्वेद्यं	5.27	नैः शील्यं निर्वृतत्वं	4.35
द्विधा वैस्रसिको बन्धस्	3.67	पञ्चत्वजीविताशंसे	4.98
द्विविग्रहां त्रिसमयां	2.101	पञ्चधा बन्धनं चैव	5.32
द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु	2.211	पञ्चेन्द्रियाणि वाक्काय	2.34
धर्मस्य गतिरत्र स्याद्	3.30	पञ्चेन्द्रियाश्च मर्त्याः स्युः	2.56
धर्माधर्मान्तरिक्षाणां	3.17	पद्मस्तथा महापद्मस्	2.197
धर्माधर्मावथाकाशं	3.2	परकीय मनःस्थार्थ	1.28
धर्माधर्मास्तिकायाभ्यां	2.176	परतः परतः पूर्वं	2.133
धर्माधर्मौ नभः कालश्	3.18	परत्वं विप्रकृष्टत्वम्	3.48
धृत्वा निर्ग्रन्थलिंगं ये	2.167	परस्परस्य जीवानाम्	3.32
न कर्मात्म गुणोऽमूर्तेः	5.14	परं कर्मक्षयार्थं यत्	6.19
न च बन्धाप्रसिद्धिः स्यात्	5.16	परात्मनोरनुग्रही	4.99
न च नाशोऽस्त भावस्य	3.13	परिणामवपुर्लेश्या	2.184
न चास्य हेतुकर्तृत्वं	3.43	परिपाट्यानया ज्ञेयाः	2.192
न पर्यायाद्विना द्रव्यं	3.12	परिहारस्तथाच्छेदः	7.22
नयनोत्पाटनं दीर्घ	4.18	परिहारस्तु मासादि	7.26
न लभन्ते मनुष्यत्वं	2.148	परुषासह्यवादित्वं	4.47
नवायुः परिसर्पाणां	2.120	पर्याप्ताः सर्व एवैते	2.31
न विद्यते परं ह्यस्माद्	2.166	पर्यायं चानुभवतां	3.53
नागासुर-सुपर्णाग्नि	2.215	पल्योपमं भवत्यायुः	2.127
नानाकृमिशताकीर्णे	6.36	पल्योपमं भवत्यायुः साति	2.128
नानादीपप्रकाशेषु	8.14	पश्यति स्वस्वरूपं यो	9.8
नारकाणां सुराणां च	2.155	पश्यति स्वस्वरूपं यो	9.9
नारकैकाक्ष-देवानां	2.109	पाकक्षयात्कषायाणाम्	2.22
नाराचमर्द्धनाराचं	5.34	पाकान्नरकगत्यास्ते	2.186
नारी-पुंषण्ढ वेदाश्च	5.30	पातोऽपि स्थानबन्धत्त्वात्	8.11
नित्याध्वगेन जीवेन	6.40	पापकर्मोपजीवित्वं	4.22
नित्येतर निगोदानां	2.110	पार्श्वेषु मणिभिश्चित्रा	2.194
निद्रानिद्रा तथा निद्रा	5.26	पिण्डं तथोपधिं शय्या	6.9
निरवद्योपकरण	4.57	पुण्यकर्म विपाकाच्च	8.49
निर्गताः खलु पञ्चाम्या	2.150	पुद्गलानां शरीरं वाक्	3.31
निर्देशः स्वामित्वं	1.52	पुलाको बकुशो द्वेधा	7.58
निर्वृत्तिश्चोपकरणं	2.40	पुष्करद्वीपमध्यस्थो	2.210
निश्चय व्यवहाराभ्यां	9.2	पूर्णासंज्ञितिरश्चाम्	2.158
नीचैर्गोत्रमसद्वेद्यं	5.53	पूर्वसागरगामिन्यः	2.204

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वार्जितं क्षपयतो	8.21	भूम्यापः स्थूलपर्याप्ताः	2.156
पूर्वे कायप्रवीचारा	2.221	भेदात्तथा च संघातात्	3.58
प्रकृतिस्थितिबन्धौ द्वौ	5.21	भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः	3.55
प्रकाशावरणं यत् स्यात्	3.69	भेदेऽप्यैक्यमुपानीय	1.45
प्रत्यक्षं तद्भगवतां	8.54	भेदौ सम्यक्त्वचारित्रे	2.4
प्रत्याख्यानमभेदेन	6.45	मघ्व्या मनुष्यलाभेन	2.149
प्रत्याख्यान-रूधश्चैव	5.29	मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्त	1.24
प्रत्युत्पन्ननयादेशात्	8.42	मतिः श्रुतावधी चैव	1.35
प्रमत्तयोगतो यत्स्याद्	4.75	मतिः श्रुतावधी चैव	5.24
प्रमत्तयोगतो यत्स्याद्	4.76	मधुपः कीटको दंश	2.55
प्रमत्तसंयतो हि स्यात्	2.23	मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः	5.36
प्रमाणनय-निक्षेप	9.1	मध्यभागे तु लोकस्य	2.187
प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञी	7.40	मनोयोगो भवेत्सत्यो	2.69
प्रयोगविस्रसाभ्यां या	3.47	मनोवाक्कायवक्रत्वं	4.44
प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ	7.36	ममेदमित्युपात्तेषु	6.20
बध्नाति कर्म सद्वेद्यं	8.3	मसूराम्बुपृषत्सूची	2.57
बन्धस्य हेतवः पञ्च	5.2	महान् घनस्तनुश्चैव	2.65
बन्धं प्रति भवत्यैक्यं	5.18	मात्सर्यमन्तरायश्च	4.13
बन्धेऽधिक गुणो यः स्यात्	3.75	माया-निदान-मिथ्यात्व	4.78
बन्धो वधस्तथा छेदो	4.85	मार्गसंदूषणं चैव	4.28
बहुश्रुतावमानश्च	4.16	मार्गोद्योतोप योगानाम्	6.7
बाह्यं तत्रावमौदर्यं	7.8	मार्जारताम्रचूडादि	4.33
बाह्यान्तरोपधि त्यागाद्	7.29	मिथ्यात्वस्योदयाभावे	2.19
बुद्धिर्मेधादयो याश्च	1.20	मिथ्यादृक् सासनो मिश्रो	2.16
ब्रह्मलोके प्रजायन्ते	2.164	मिथ्यादृष्टिर्भवेज्जीवो	2.18
भवन्ति गर्भजन्मानः	2.104	मूलाग्र-पर्वकन्दोत्थाः	5.66
भवेत्तपोऽवमौदर्यं	7.24	मृत्तिका बालुका चैव	5.58
भव्याभव्य-विभेदेन	2.90	मृल्लेपसंगनिर्मोक्षाद्	8.29
भाज्या एकेन्द्रियत्वेन	2.169	मैथुनं मदनोद्रेकाद्	4.77
भाज्यास्तीर्थेशचक्रित्वे	2.174	मोक्षारोहणनिश्रेणिः	6.41
भावन-व्यन्तर-ज्योतिर्	2.213	मोक्षार्थं त्यज्यते यस्मिन्	7.10
भवनानांभवत्यायुः	2.126	मोठो मसार गल्लश्च	2.62
भाववेदस्त्रिभेदः स्याद्	2.79	यज्जीवः सकषायत्वात्	5.13
भावात्पञ्चविधत्वात् स	2.236	यत्र निःशंकितत्वादि	7.31
भाविनः परिणामस्य	1.12	यत्र हिंसादिभेदेन	6.46
भूतश्च वर्तमानश्च	3.50	यत्राभिसन्निवेशः स्याद्	5.4
भूतादि व्यपदेशोऽसौ	3.54	यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च	8.31

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यथानुसरतः पंक्ति	3.51	लोको दुर्लभता बोधेः	6.30
यथाम्रपनसादीनि	7.5	वचोगुप्तिर्मनोगुप्तिर्	4.63
यथोक्तानां हि हेतूनाम्	6.2	वचोयोगो भवेत्सत्यो	2.70
यद्विशेषमकृत्वैव	2.12	वधबन्धनिरोधश्च	4.56
यवनाल-मसूराति	2.50	वनस्पति शरीराणां	2.113
यस्मात् पश्यति जानाति	9.12	वर्णगन्ध-रस-स्पर्श	3.61
यस्मिन् पश्यति जानाति	9.14	वर्णाः पदानां कर्त्तारो	9.23
यस्मै पश्यति जानाति	9.11	वर्तमानेन यद्येन	1.13
यस्य पश्यति जानाति	9.13	वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य	1.37
या निमित्तान्तरं किञ्चिद्	1.10	वंशादिषु तु तान्येकं	2.125
यावत्सर्वार्थ सिद्धिं तु	2.168	वाङ्मनःकाययोगानाम्	6.16
ये तु वैमानिका देवा	2.225	वाचना प्रच्छनाम्नायः	7.16
ये मिथ्यादृष्टयो जीवा	2.162	वाचना सा परिज्ञेया	7.17
ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्ति	9.15	वात्सल्यं च प्रवचने	4.52
योगद्वाराणि रून्धन्तः	6.38	वामनं हुण्डसंज्ञं च	5.33
योगवृत्तिर्भवेल्लेश्या	2.88	विग्रहो हि शरीरं स्यात्	2.96
योगानां निग्रहः सम्यग्	6.4	विजयं वैजयन्तं च	2.230
योजनानां सहस्रं तु	2.143	विधिद्रव्यविशेषाभ्यां	4.100
योनिर्नारकदेवानाम्	2.107	विना कालेन शेषाणि	3.4
यो हि शिक्षा-क्रियालाप	2.93	विरताविरतत्वेन	2.85
रत्नप्रभादिमा भूमिस्	2.180	विशिष्ट परिहारेण	6.47
रत्नप्रभाभुवो मध्ये	2.223	विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चै	4.49
रसत्यागो भवेत्तैल	7.11	विशुद्धप्रतिपाताभ्यां	1.29
रागद्वेषोज्झनान्येषु	4.69	विषक्रियेष्टकापाक	4.45
रूपं पश्यत्यसंस्पृष्टं	2.49	विसदृक्षाः सदृक्षा वा	3.73
रौप्यं सुर्वणं वज्रं च	2.59	वीनां द्वादश तानि स्युः	2.115
लब्धिस्तथोपयोगश्च	2.44	वृत्तमोहस्य पाकेन	2.21
लभन्ते तीर्थकर्तृत्वं	2.152	वृत्तं सामायिकं ज्ञेयं	6.44
लभन्ते निर्वृतिं केचिच्	2.151	वेदनीय-समुच्छेदा	8.38
लिंगप्रसिद्धेः प्रामाण्यम्	8.53	वैडूर्य चन्द्रकान्तश्च	2.61
लिंगसाधनसंख्यानां	1.48	वैयावृत्यमनिर्हाणिः	4.51
लोकसंस्थान पर्याय	7.43	व्यञ्जनस्य तु नेहाद्या	1.23
लोकाकाशस्य तस्यैक	3.25	व्यलीकादि विर्निर्मुक्तं	6.8
लोकाकाशे समस्तेऽपि	3.23	व्याध्याद्युपनिपातेऽपि	7.28
लोकाकाशेऽवगाहः स्याद्	3.22	व्यावहारिक-कालस्य	4.45
लोके चतुर्ष्विहार्थेषु	8.47	व्यावृत्तिश्च विशेषश्च	1.40
लोके तत्सदृशो ह्यर्थः	8.52	व्रतात् किलास्रवेत्पुण्यं	4.59

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व्रतानां स्थैर्यसिद्धयर्थं	4.62	सति वीर्यान्तरायस्य	2.67
शंकनं कांक्षणं चैव	4.84	सत्त्वेषु भावयेन्मैत्रीं	4.72
शतानि पञ्च चापानां	2.137	स द्रव्येन्द्रिय-निर्वृत्तिं	2.45
शब्दरूपरसस्पर्श	3.16	सप्त क्षेत्राणि भरतः	2.193
शब्द-संस्थान-सूक्ष्मत्व	3.62	स मनःपर्ययस्येष्टो	1.33
शब्दो येनात्मना भूतत:	1.50	समयं पाणिमुक्तायां	2.102
शम्बूकः शंख शक्ति वा	2.53	समितिर्दर्शितानेन	6.11
शराव-चन्द्रशालादि	8.17	समुत्पाद-व्यय-ध्रौव्य	2.5
शरीरसंस्क्रियात्यागस्	4.68	समुत्पादव्ययाभावो	3.7
शरीरानुविधायित्वे	8.16	समुद्राः विंशतिश्चैव	2.130
शलाकापुरुषा न स्यु	2.171	समुपात्तानुपात्तस्य	1.16
शलाकापुरुषा नैव	2.161	सम्यक्चारित्रमित्येतद्	6.50
शीलव्रतानतीचारो	4.50	सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र	2.6
शुक्लं पृथक्त्वमाद्यं	7.44	सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र	8.20
शुद्धाशुद्धार्थसंग्राही	1.41	सम्यक्त्व-व्रत-शीलेषु	4.83
शुद्धयष्टके तथा धर्मे	5.10	सम्यक्त्वं खलु तत्त्वार्थं	2.91
शुभाशुभोपयोगाख्य	5.51	सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थ	1.18
शृंखला-वागुरा-पाश	4.23	सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र	1.15
शेषकर्मफलापेक्षः	8.25	सम्यग्दर्शनसम्पन्नः	7.55
श्वभ्रादि गतिभेदात्	5.37	सम्यग्मिथ्यात्व-पाकेन	2.91
श्वभ्रतिर्यङ्नरामर्त्य	2.235	सम्यग्मिथ्यात्व-संज्ञायाः	2.20
श्रद्धानः परद्रव्यं	9.5	सम्यग्योगी मोक्षमार्गं	1.54
श्रद्धानं दर्शनं सम्यग्	1.4	सरसः सलिलावाहि	4.3
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा	1.5	सराग-संयमश्चैव सम्यक्त्व	4.43
श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः	9.3	सराग-संयमश्चैव	4.26
श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः याः	9.4	सर्वकर्म प्रकृत्यर्हान्	5.49
श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः	7.46	सर्वः सामान्यतो लोकः	2.178
श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः	7.49	सर्वं तदवमौदर्यं	7.9
श्रमक्लेम-मदव्याधि	8.51	सर्वेऽपर्याप्तका जीवाः	2.153
श्रीश्च ह्रीश्च धृतिः कीर्तिः	2.201	सवेऽपि तैजसा जीवाः	2.157
षट् तथा विकलाक्षाणां	2.111	सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु	5.50
षड्जीव-काय-पञ्चाक्ष	5.9	सर्वेषामपि देवानां	5.8
षोड़शैव कषायाः स्युर्	5.11	सर्वेषां कर्मणां शेषा	5.42
स कालो यन्निमित्ताः स्युः	3.40	सविग्रहाऽविग्रहा च	2.99
सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो	5.6	सहसा दृष्ट दुर्मृष्ट	6.10
सचित्तशीत-विवृता	2.106	सहस्र योजनायाम	2.198
सचित्रस्तेन सम्बन्धस्	4.96	संख्यातीतायुषां मर्त्य	2.159

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संख्यातीतायुषां नूनं	2.160
संख्यातीतायुषो मर्त्याः	2.163
संख्येयाश्चाप्यसंख्येया	3.20
संग्रहेण गृहीतानाम्	1.46
संप्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन्	3.52
संयतो ह्यप्रमत्तः स्यात्	2.24
संयमः खलु चारित्र	2.84
संयम-श्रुतलेश्याभि	7.59
संयुक्ता ये खलु स्वस्मात्	3.74
संयोगौ द्वौ निसर्गांस्त्रीन्	4.12
संवरो हि भवत्येतान्	6.26
संवेगसिद्धये लोक	4.73
संसारकारणत्वस्य	4.104
संसारभीरूता नित्य	4.48
संसारविषयातीतं	8.45
संसारिणश्च मुक्ताश्च	3.14
संस्तरोत्सर्जनादानम्	4.95
संस्थानं कलशादीनाम्	3.64
संहाराच्च विसर्पाच्च	3.24
संहारे च विसर्पे च	8.18
साकारश्च निराकारो	2.10
साक्षरोऽनक्षरश्चैव	3.63
साधोरधिगतार्थस्य	7.20
सामान्यमन्वयोत्सर्गो	3.10
सामान्यादेकधा जीवो	2.234
साम्परायिकमेतत् स्याद्	4.6
सांप्रतं तु प्ररूप्यन्ते	2.15
सुखो वह्निः सुखो वायुः	8.48
सुवर्णमौक्तिकादीनां	4.37
सुषुप्तावस्थया तुल्यां	8.50
सुस्वरं सुभगादेयं	5.39
सूक्ष्मत्वेन कषायाणां	2.27
सूक्ष्मो नित्यस्तथान्तश्च	3.60
सूक्ष्मोपशान्त-संक्षीण	2.17
सूर्याचन्द्रमसौ चैव	2.217
सूर्य्युपाध्याय साधुनां	7.27
सोऽयमित्यक्षकाष्ठादौ	1.11
सौधर्मैशान कल्पौ द्वौ	2.227
स्तेनाहृतस्य ग्रहणं	4.87
स्तो नारी नरकान्ते	2.203
स्त्रीणां रागकथाश्रावो	4.67
स्त्रीसंसक्तस्य शय्यादेर	6.21
स्थावराणां भवत्येकं	2.51
स्थावराः स्युः पृथिव्यापस्	2.52
स्थितिरन्त मुर्हूतस्तु	5.46
स्थित्या परिणतानां तु	3.35
स्पर्शनं रसनं घ्राणं	2.47
स्पर्शो सप्त तथैका च	5.43
स्पर्शे रसस्तथा गन्धो	2.48
स्यात्तीव्रपरिणामो यः	4.29
स्यात्सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र	9.21
स्यात्सम्यग्दर्शन	1.3
स्यातसागरोपमाण्यायुर्	2.124
स्यादेतदशरीरस्य	8.46
स्यादौपशमिको भावः	2.3
स्याद् विशेषोऽवधिज्ञान	1.30
स्युः सम्मूर्च्छन जन्मानः	2.105
स्वजातेरविरोधेन	3.6
स्वजातेरविरोधेन	3.46
स्वद्रव्यं श्रद्धानस्तु	9.6
स्वसंवेदनमक्षोत्थं	1.19
स्वाध्यायः शोधनं चैव	7.15
हस्त द्वितयमुत्सेधो	2.141
हिताहित विवेकस्य	5.7
हिमवान्महाहिमवान्	2.195
हिरण्यस्वर्णयोः क्षेत्र	4.90
हिंसादिषुविपक्षेषु	4.70
हिंसानृतचुराब्रह्म	4.102
हिंसानृतचुराब्रह्म	4.101
हिंसाया अनृताच्चैव	4.60
हिंसायामनृते स्तेये	7.37
हेतुकार्यविशेषाभ्यां	4.103
हेतुत्वाद् दुःखहेतूनाम्	4.71
हेयोपादानरूपेण	1.8

❑❑

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

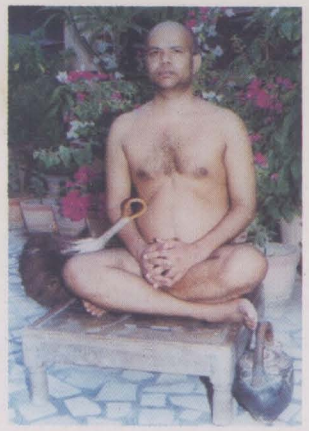

प्रज्ञाश्रमण मुनिश्री अमितसागर

जन्म : 26 जून, 1963 को पावनभूमि दुगाहाकलाँ, जिला : सागर (म.प्र.) में श्री गुलाबचन्द जैन के घर श्रीमती सुमित्राबाई जैन (वर्तमान में आर्यिका प्रवेशमती माताजी) की मंगल कुक्षी से जन्म। दीक्षापूर्वनाम अजितकुमार।

श्री पार्श्वनाथ दि. जैन गुरुकुल, खुरई (सागर) से हाईस्कूल (कृषि विज्ञान) की शिक्षा।

हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अँग्रेजी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओं का परिज्ञान।

आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी से मुनिधर्म की शिक्षा पाकर विजयादशमी, दिनांक 4 अक्टूबर 1984 को अजमेर (राज.) में आचार्यरत्न धर्मसागर जी महाराज से मुनि-दीक्षा।

प्रकाशित कृतियाँ : 'मन्दिर' (अँग्रेजी, कन्नड़, गुजराती एवं मराठी में भी प्रकाशित); 'नैतिकता के आदर्श', बालविज्ञान—पाँच भागों में (जैन चित्रकथाएँ), 'आँखिन देखी आत्मा', 'अनुत्तर यात्रा' (प्रवचन संकलन); 'बोलती माटी' (महाकाव्य); 'धर्मविज्ञान में सम्मेदशिखर', 'जिन कामदेव जिन बाहुबली पूजा'; 'अजेय दिगम्बरत्व जय गोम्मटेश!' आदि।

सम्प्रति स्वाध्याय एवं आत्मसाधना में संलग्न।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003
संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org